प्रकाशक
अशोक प्रकाशन मन्दिर
२।२४९ निर्वाणभवन
रवीन्द्रपुरी वाराणसी–५

वी० नि० सं० २५०४
द्वितीय संस्करण २२००

मूल्य छह रुपये

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

आत्मनिवेदन

यह जैन तत्त्वमीमांसाका दूसरा संस्करण है। इसे द्वितीय भाग भी कह सकते हैं। इसमें प्रथम भागकी अपेक्षा विषयकी विशदताको ध्यान में रख कर पर्याप्त परिवर्धन किया गया है। साथ ही इसमें प्रथम संस्करणका वहुत कुछ अंश भी गर्भित कर लिया गया है। इसलिये इसे द्वितीय संस्करण भी कहा जा सकता है और विषयके विस्तृत विवेचन की दृष्टिसे दूसरा भाग भी कहा जा सकता है।

इसमें अधिकतर अध्यायोंके नाम आदि वे ही हैं। मात्र तीसरे और चौथे अध्यायके नामोंमें परिवर्तन किया गया है। पिछले संस्करणमें तीसरे अध्यायका नाम 'निमित्तकी स्वीकृति' था, किन्तु इस संस्करणमें उसका नाम 'वाह्य साधन मीमांसा' रखा गया है। जैन दर्शनके अनुसार कार्यकालमें अविनाभाव सम्वन्धवश कार्यके प्रति वाह्य साधनकी स्वीकृति अवश्य है, पर वाह्य साधन परका कर्ता होकर परके कार्यको करता है इसका निषेध है। जहाँ भी वाह्य साधनको परकार्यका कर्ता या प्रेरक कहा भी गया है वहाँ अनादि लौकिक रूढ़िको ध्यानमें रख कर ही कहा गया है।

ग्यारहवें गुणस्थानमें कषायका अभाव होनेसे जीवका नियमसे अवस्थित परिणाम रहता है इसे आगम स्वीकार करता है, फिर भी जिन कर्मोका क्षयोपशम होता है ऐसे मतिज्ञानावरण आदि चार, चक्षु-दर्शनावरण आदि तीन और पाँच अन्तरायकी जो लब्धिकर्मांश संज्ञा है उनमेंसे पाँच अन्तरायका तो यह जीव वहाँ अवस्थित वेदक रहता है और चार ज्ञानावरण और तीन दर्शनावरणका अनवस्थित वेदक होता है। इसका अर्थ है कि पाँच अन्तराय कर्मोंके क्षयोपशममें तो न्यूना-धिकता नहीं होती, जब कि शेष उक्त सात कर्मोंके क्षयोपशममें न्यूना-धिकता होती रहती है। वहाँ परिणाम तो अवस्थित है। फिर भी इन कर्मोंके क्षयोपशममें यह विशेषता होती रहती है। सो क्यों ? इससे मालूम पड़ता है कि प्रत्येक द्रव्य कर्ता हो कर स्वयं अपना कार्य करता है। अन्य द्रव्य उससे भिन्न द्रव्यके कार्यका कर्ता नहीं होता। यही कार्यके प्रति वाह्य निमित्तकी स्वीकृतिमें जैन दर्शनका हार्द है। जैन दर्शनमें परके प्रति उससे भिन्न पदार्थमें जो निमित्तता स्वीकार की गई है वह

कहीं ज्ञानके प्रति ज्ञापक निमित्तरूपसे स्वीकार की गई है और कहीं क्रियाके प्रति निमित्त होनेसे वह कारकरूपमें स्वीकार की गई है। विचार कर देखा जाय तो परमार्थसे अन्यमें निमित्तता है ही नहीं, यह तो विवक्षित कार्यका सूचक होनेसे स्वीकार की गई है या ज्ञानकी अपेक्षा उसका नियत विषय होनेसे स्वीकार की गई है। अविनाभाव सम्बन्ध वश कार्यकालमें पर द्रव्यमें निमित्तताको स्वीकार करना अन्य बात है, पर इतने मात्रसे उसे जिनागमके अनुसार कर्ता या प्रेरक कारण मानना अन्य बात है। ये दोनों एक नहीं है दो हैं। जैन दर्शनमें निमित्तता अन्य दृष्टिसे स्वीकार की गई है और कर्तृत्व अन्य दृष्टिसे स्वीकार किया गया है।

निमित्तताकी अपेक्षा भी विचार करने पर परमें निमित्तता केवल अविनाभाव सम्बन्धवश ही स्वीकार की गई है, जब कि प्रत्येक द्रव्यमें अपने नियत कार्यके प्रति निमित्तता एक द्रव्य प्रत्यासत्तिको लक्ष्यमें रख कर अविनाभाव सम्वन्धवश स्वीकार की गई है। उसमें भी इतना विशेष है कि उपादानरूप निमित्त और कार्यमें क्रमभावी अविनाभाव सम्वन्ध स्वीकार किया गया है और बाह्य निमित्त और कार्यमें व्यवहार से सहभावी अविनाभाव सम्वन्ध होता है। यहाँ एक द्रव्य पदसे न केवल सामान्यरूप वस्तु ली गई है और न केवल विशेषरूप ही। किन्तु नियत पर्यायसे युक्त सामान्यरूप वस्तु ली गई है। इसीलिये उसे नियत कार्यका परमार्थसे सूचक माना गया है। और इसीलिये उसे आगममें निश्चय उपादान या समर्थ कारण नामसे भी अभिहित किया गया है। तथा कार्यसे सर्वथा भिन्न वस्तुको बाह्य व्याप्तिवश मात्र निमित्त शब्दसे अभिहित किया गया है। हैं दोनों विवक्षित कार्यके प्रति निमित्त ही। इन्हीं सब तथ्योंको प्रकाशमें लानेकी दृष्टिसे हमने तीसरे अध्यायके नाममें परिवर्तन किया है और उसके अन्तर्गत इन सब तथ्यों पर विशद प्रकाश डाला गया है।

प्रथम संस्करणमें चौथे अध्यायका नाम उपादान और निमित्त मीमांसा' है। किन्तु इस संस्करणमें उसका नाम 'निश्चय उपादान मीमांसा' कर दिया गया है। आगे छटे अध्यायका नाम कर्ता-कर्म-मीमांसा है सो उससे इस अध्यायको स्वतन्त्र रखनेका कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें निश्चय उपादानता अपने नियत कार्यके अव्यवहित पूर्व समयमें ही बनती है, जब कि कर्तापन जिस समय विवक्षित कार्य होता है। उसी समय बनता है। इस तथ्यको स्पष्ट करनेके लिये चौथे अध्यायकी

स्वतन्त्र योजना की गई है। साथ ही निश्चय उपादानको मानकर भी जो महाशय यह आक्षेप करते हैं कि 'निश्चय उपादानकी भूमिकामें द्रव्यके पहुँचने पर भी यदि बाह्य अनुकूल सामग्री नहीं मिलती है तो विवक्षित कार्य नहीं हो सकता है।' सो उनका यह आक्षेप कैसे आगम बाह्य है यह सिद्ध करनेके लिए भी इस अध्यायकी स्वतन्त्र योजना की गई है।

पाँचवें अध्यायका नाम 'उभयनिमित्त मीमांसा' है। सो इस अध्यायको स्वतन्त्र रखनेका कारण भी स्पष्ट है। बात यह है कि जो महाशय 'निश्चय उपादानके अनुसार प्रत्येक द्रव्यके कार्यरूपमें परिणत होते समय उसके अनुकूल बाह्य सामग्रीका योग नियमसे बनता ही है।' इस तथ्यको नहीं मानते उन्हें आगमसे इस तथ्यको हृदयंगम कराना मुख्य प्रयोजन समझकर इस अध्यायकी स्वतन्त्र योजना की गई है।

शेप अध्याय पिछले संस्करणके अनुसार ही रखे गये हैं। इतना अवश्य ही ध्यान रखा गया है कि उन अध्यायोंमें प्ररूपित विषयोंके सम्बन्धमें अबतक जो अन्यथा प्ररूपणाएँ दृष्टिगोचर हुई, इन अध्यायोंमें युक्ति और आगमपूर्वक उनके सम्यक् प्रकारसे निरसनकी भी व्यवस्था की गई है। ऐसा एक भी विषय नहीं है जिसपर जिनागममें प्रकाश न डाला गया हो। मात्र उन सब विषयोंको संकलित करके पाठकोंके सामने रखनेकी आवश्यकता थी उसे इस ग्रन्थ द्वारा पूरा करनेका प्रयत्न किया गया है। इसमें हमारा अपना कुछ भी नहीं है। जिनागमसे जो विषय अवलोकनमें आये उन्हें ही यहाँ ग्रन्थरूपी मालामें पिरोया गया है। वह भी इसलिये किया गया है कि मोक्षमार्गमें तत्त्वस्पर्शके समय इन सब तथ्योंको हृदयंगम कर लेना आवश्यक है। अन्यथा स्वरूपविपर्यास, कारणविपर्यास और भेदाभेदविपर्यास बना ही रहता है, जिससे अनेक शास्त्रोंमें पारंगत होकर प्रांजल वक्ता बन जानेपर भी इस जीवकी मोक्षमार्गमें गति होना सम्भव नहीं है।

देखो, जो मोक्षमार्गपर आरूढ़ होना चाहता है उसे यह सर्व प्रथम समझना चाहिये कि यह ग्रन्थ पर मत खण्डनकी दृष्टिसे नहीं संकलित किया गया है। इसमें जिन तथ्योंको संकलित किया गया है वे जैनतत्त्व मीमांसाके प्राणस्वरूप हैं, इसलिये परमत खण्डनमें जहाँ प्रायः व्यवहारनयकी मुख्यता रहती है वहाँ इसमें परमार्थ प्ररूपणाको मुख्यता दी गई है और साथ ही उसका व्यवहार भी दिखलाया गया है।

प्राय: जैन संस्थाओंमें जो दर्शनशास्त्रका अध्ययन-अध्यापन होता है वह मुख्यत: नयदृष्टिको गौण करके ही होता है, इसलिये अधिकतर विद्वानोंकी वासना उसी परिधिमें वनी रहनेके कारण वे नयदृष्टिसे न तो वस्तुस्थितिको हृदयंगम करनेका प्रयत्न ही करते हैं और न स्वाध्याय-प्रेमियोंके समक्ष इस तथ्यपूर्ण स्थितिको स्पष्ट करनेमें भी समर्थ होते हैं। अधिकतर स्वाध्याय-प्रेमियोंके चित्तमें जो द्विविधा वनी रहती है उसका मुख्य कारण यही है।

हम इस संस्करणमें 'मोक्षमार्ग मीमांसा' अध्याय और लिखना चाहते थे। पर अस्वस्थ वृत्तिके कारण हम ऐसा नहीं कर सके। लगभग चार वर्ष वीत जानेपर भी हम अभी भी पूर्ण स्वस्थ नहीं हो सके हैं। यह तो भगवती जिनवाणी माताका अनुग्रह है साथ ही स्वधर्मके संस्कारोंसे हमारा आत्मा ओत-प्रोत है कि अस्वस्थवृत्तिके रहनेपर भी हम इस संस्करणको यथासम्भव पूर्ण करने सफल हुए हैं।

नियम है कि पूर्णरूपसे निश्चयस्वरूप होनेके पूर्वतक यथासम्भव निश्चयव्यवहारकी युति युगपत् वनी रहती है। जहाँसे निश्चयस्वरूप मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है वहींसे प्रशस्त रागस्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग-का प्रारम्भ होता है। न कोई पहले होता है और न कोई पीछे, दोनों एक साथ प्रादुर्भूत होते हैं। इतना अवश्य है कि निश्चयस्वरूप मोक्षमार्गके उदय कालमें उसके प्रशस्त रागरूप व्यवहार मोक्षमार्गकी चरितार्थता लक्ष्यमें न आवे इस रूपमें वनी रहती है। और जव यह जीव अरुचिपूर्वक हटके विना व्यवहार मोक्षमार्गके अनुसार वाह्य क्रियाकाण्डमें प्रवृत्त होता है तव इसके जीवनमें निश्चयस्वरूप मोक्षमार्गकी जागरूकता निरन्तर वनी रहती है। वह दृष्टिसे ओझल नहीं होने पाती। यह इसीसे स्पष्ट है कि निश्चय मोक्षमार्गका अनुसरण व्यवहार मोक्षमार्ग करता है। व्यवहार मोक्षमार्गका अनुसरण निश्चय मोक्षमार्ग नहीं करता है, क्योंकि जैसे-जैसे निश्चय मोक्षमार्गसे जीवन पुष्ट होता जाता है वैसे-वैसे व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गका पीछा करना छोड़ता जाता है। हम चाहते थे कि इन तथ्योंको आगमकी साक्षीपूर्वक विशदरूपसे स्पष्ट किया जाय, पर हम ऐसा नहीं कर सके। फिर भी जैनतत्त्व-मीमांसाके विविध अध्यायों द्वारा हमने इस विषयपर भी यथासम्भव प्रकाश डालनेका उपक्रम किया ही है। जिज्ञासु धर्मवन्धु इन तथ्योंको ध्यानमें रखकर इसका स्वाध्याय करेंगे ऐसी हमारी अपेक्षा है। १२-२-८४

जैनतत्त्वमीमांसाका प्रथम संस्करण सन् १९६० के उत्तरार्धमें प्रकाशित हुआ था। इसके वाद तत्त्वप्ररूपणाको लक्ष्यकर अनेक उतार चढ़ाव आये हैं, उनके फलस्वरूप सन् १९६३ के आस-पास एक पक्षके कतिपय विद्वानोंके विशेष अनुरोधवश श्री ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई और श्री ब्र० लाडमलजी जयपुरके आमन्त्रणपर ससंघ श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराजकी सन्निधिमें उभय पक्षके विद्वानोंका एक सम्मेलन बुलाया गया था। यह सम्मेलन खानिया (जयपुर) में लगभग १० दिन चला था। यद्यपि इस विषयमें मुझसे अणुमात्र भी परामर्श नहीं किया गया था, फिर भी उभय पक्षको मान्य कतिपय नियमोंके वन जानेसे मैं अपने सहयोगी दूसरे विद्वानोंके साथ इसमें सम्मिलित हो गया था।

नियमानुसार लिखित चर्चा तीन दौरमें पूर्ण होनी थी। उनमेंसे दो दौरकी लिखित चर्चा तो वहीं सम्पन्न कर ली गई थी। तीसरे दौरकी चर्चा परोक्षमें लिखित आदान-प्रदानसे सम्पन्न हो सकी। नियम यह था कि लिखित रूपमें जो भी सामग्री एक-दूसरे पक्षको समर्पित की जायगी उसपर सम्मेलनके समय अपने-अपने पक्षके निर्णीत प्रतिनिधि हस्ताक्षर करेंगे और मध्यस्थके मार्फत वह एक-दूसरेको समर्पित की जायगी। किन्तु तीसरे दौरकी सामग्री समर्पित करते समय उस पक्षकी ओरसे इस नियमकी पूर्णरूपसे उपेक्षा की गई, क्योंकि उस पक्षकी ओरसे जो लिखित सामग्री रजिष्ट्री द्वारा हमें प्राप्त हुई थी उसपर न तो उस पक्षके पाँचमेंसे चार प्रतिनिधियोंने अपने हस्ताक्षर ही किये थे और न ही वह मध्यस्थकी मार्फत ही भेजी गई थी। उसपर केवल एक प्रतिनिधिने हस्ताक्षर कर दिये और सीधी हमारे पास भेज दी गई।

उस पक्षके प्रतिनिधि विद्वानों द्वारा ऐसा क्यों किया गया यह तो हम नहीं जानते। फिर भी इसपरसे यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि उस पक्षकी ओरसे तीसरे दौरकी जो लिखित सामग्री तैयार की गई उसमें उस पक्षके अन्य चार प्रतिनिधि विद्वान् सहमत नहीं होंगे। यदि सहमत होते तो वे नियमानुसार अवश्य ही हस्ताक्षर करते और साथ ही नियमानुसार मध्यस्थकी मार्फत भिजाते भी। उन प्रतिनिधिस्वरूप चार विद्वानोंका हस्ताक्षर न करना अवश्य ही तीसरे दौरकी उस पक्षकी ओरसे प्रस्तुत की गई लिखित पूरी सामग्रीपर प्रश्न चिन्ह लगा देता है। तत्काल इस विषयपर हम और अधिक टिप्पणी नहीं करना चाहते। आवश्यकता पड़ी तो लिखेंगे।

इस प्रकार तीसरे दौरकी प्रतिशंका सामग्रीके प्राप्त होनेपर हमारे सामने अवश्य ही यह सवाल रहा है कि हम इसे स्वीकार कर उसके आधारपर प्रत्युत्तर तैयार करें या नियम विरुद्ध इस लिखित सामग्रीके प्राप्त होनेसे हम उसे वापिस कर दें। अन्तमें काफी विचार विनिमयके वाद यही सोचा गया कि भले ही यह लिखित सामग्री नियम विरुद्ध प्राप्त हुई हो उसके प्रत्युत्तर तैयार करना ही प्रकृतमें उपयोगी है। और इस प्रकार प्रत्युत्तर तैयार होनेपर नियमानुसार हमारे पक्षके तीनों प्रतिनिधियोंने उसका वाचन किया। तथा वाचन पूरा होनेपर तीनों प्रतिनिधि विद्वानोंने हस्ताक्षर किये और मध्यस्थकी मार्फत भिजा दिया गया।

उन नियमोंमें यह व्यवस्था भी थी कि दोनों ओरकी लिखित पूरी सामग्री तैयार होनेपर वह दोनों ओरसे साधन जुटाकर मुद्रित करा दी जायगी। किन्तु पर्याप्त लिखा-पढ़ी करनेपर भी वह पक्ष छपानेके लिये तैयार नहीं हुआ। इसलिये लाचार होकर यथावत्‌रूपमें उसे आ० क० पं० टोडरमल ग्रन्थमालासे छपानेकी व्यवस्था की गई। हाँ दोनों पक्षने एक-दूसरेके लिये कहीं-कहीं कड़ शब्दोंका जो प्रयोग किया था वे निकाल दिये जाँय यह अनुरोध शान्तस्वभावी निष्ठावान् कार्यकर्ता पं० श्री माणिकचन्दजी चवरेने लिखितरूपमें किया था। इसकी सूचना दूसरे पक्षको दी गई। पर वह इसके लिये तैयार नहीं हुआ। हमारी ओरसे अवश्य ही ऐसे शब्द अलग कर दिये गये और अलग किये हुए शब्दोंकी सूची उस पक्षके पास भेज दी गई। उस पक्षने उसपर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, इसलिये उसे अन्तिमरूप दे दिया गया। अर्थात् हमारे पक्षकी तीनों दौरकी उत्तर-प्रत्युत्तर सामग्रीमेंसे कठोर शब्द अलग कर दिये गये।

इस प्रसंगमें उस पक्षके प्रतिनिधि एक वयोवृद्ध विद्वान्‌के द्वारा किया गया यह आक्षेप सुननेमें आया था कि मुद्रणके समय मैंने उसमें फेर-फार कर दिया है। किन्तु इस सम्बन्धमें प्रथम तो मेरा यह कहना है कि जिन विद्वान् महोदय ने यह आक्षेप किया है उन्होंने तीसरे दौरकी लिखित प्रतिशंका सामग्री पर स्वयं हस्ताक्षर न कर एक तो उसके उत्तरदायित्वसे अपनेको बरी रखा है और दूसरी ओर सार्वजनिकरूपसे ऐसा भ्रम फैलानेके लिये उपक्रम भी करते रहते हैं इसका हमें आश्चर्य है।

फिर भी इस आक्षेपके उत्तरस्वरूप सार्वजनिक रूपसे मैं यह स्पष्ट

कर देना चाहता हूँ कि दो दौरकी जो लिखित सामग्री मध्यस्थके पास सुरक्षित है उससे एक वार मिलान करके तो देख लें। वैसे दो दौरकी प्रमाणित सामग्री और तीसरे दौरकी मध्यस्थकी ओरसे प्रमाणित न कराई गई उनकी अपनी सामग्री और हमारी ओरकी प्रमाणित सामग्री उनके पास सुरक्षित होगी ही, उससे मिलान कर लें। इससे अधिक हम और क्या आग्रह कर सकते हैं। वैसे वे यदि उनके निजी विचारोंसे सहमत न होनेवाले दूसरे विद्वानोंको बदनाम करना ही श्रेयोमार्ग समझते हैं तो उसके लिये हमारे पास कोई इलाज नहीं है। न तो कभी हम ऐसे मार्ग पर चले हैं और न चलेंगे। यह जिनमार्ग नहीं है।

हम सोचते थे कि सार्वजनिक रूपमें की गई इस लिखित तत्त्वचर्चाके वाद वह पक्ष विरोधी मार्गका परित्याग कर देगा और मिल-जुलकर सम्यक् मोक्षमार्गकी प्ररूपणामें सहयोगी बनेगा। किन्तु लगता है कि तत्त्वचर्चा मात्र एक वहाना था। उस पक्षका प्रयोजन ही दूसरा है। मालूम पड़ता है कि वह पक्ष नहीं चाहता कि भट्टारक युगसे जो बाह्य क्रियाकाण्डको परमार्थ धर्म या धर्मका परमार्थ साधन मान लिया गया है जो कि वर्तमानमें लोकपूजाका प्रमुख साधन बना हुआ है उस पर किसी प्रकारकी आँच आये। और इसीलिये समाजको भ्रममें रखनेका वह पक्ष उपाय करता रहता है।

यह हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि लोककी दृष्टिमें बाह्य सदाचार-की मुख्यता है और इस दृष्टिसे वह होनी भी चाहिये। इसका कोई निषेध भी नहीं करता। इतना ही नहीं, इस पर यथासम्भव पूरा ध्यान भी दिया जाता है। इतना अवश्य है कि उपदेशके प्रसंगसे यह अवश्य ही वतलाया जाता है कि आत्मधर्मका मूल सम्यग्दर्शन है, उसके होने पर ही वाह्य प्रवृत्ति सम्यक् कहलाती है। इसलिये सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति के लिये आत्मकार्यमें सावधान होना सर्वोपरि है।

जिनागम चार अनुयोगोंमें विभक्त है, उनमें प्रतिपादित होनेवाली विषय वस्तु भी अलग-अलग है। चरणानुयोग सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनिका कैसा वाह्य आचार होता है इसका प्रतिपादन करता है। जबकि अध्यात्मस्वरूप द्रव्यानुयोग अज्ञानभावसे हट कर ज्ञानमार्गमें आनेका दिग्दर्शन कराता है। यह इन दोनों अनुयोगोंकी विषय वस्तु है। जिन मार्गको समझकर इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर तत्त्वप्ररूपणा होनी चाहिये। अध्यात्मप्ररूपणाके समय शुद्ध आध्यात्मको समझाया जाना चाहिए। यतः वाह्य क्रियावस्तु ज्ञानमार्ग नहीं है, इसलिये ज्ञानमार्गकी

प्ररूपणामें उसका सुतरां निषेध होता जाता है। इस पर से यह फलित करना कि देवपूजा आदिका निषेध किया जा रहा है, मिथ्या है, क्योंकि जब चरणानुयोगकी प्ररूपणा हो तब ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न गृहस्थ या मुनिकी कैसी बाह्य मन-वचन-कार्यकी प्रवृत्ति होनी चाहिये इसकी प्रांजलपने प्ररूपणा की जाय। एक अनुयोगकी कथनीमें दूसरे अनुयोगकी कथनीका मिश्रण नहीं किया जाय। साथ ही प्रवचनके समय यह ध्यान रखा जाय कि शास्त्रगद्दीको वीतराग गद्दी समझ कर जिस अनुयोगके शास्त्रका स्वाध्याय हो उसीके आधारसे प्रकरण और गाथा-श्लोक आदिको माध्यम बनाकर प्रवचन किया जाय। प्रवचनके समय निन्दा-स्तुतिपरक लौकिक कथा बिल्कुल नहीं की जाय और न ही स्वाध्याय के समय शास्त्रका आधार छोड़कर व्याख्यानबाजी ही की जाय। स्वाध्यायका तात्पर्य भी यही है कि प्ररूपणाके समय जो आधार हमारे सामने हो उसी पर शास्त्रानुसार विशद विवेचन किया जाय। इसीका नाम ज्ञानविनय है। इस तथ्य पर सर्वोपरि ध्यान रखा जाना चाहिये।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि जैनतत्त्वमीमांसाका प्रथम संस्करण सन् १९६० के उत्तरार्धमें प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशित होनेके बाद साप्ताहिक पत्रों द्वारा तो उसे अपनी टीकाका विषय बनाया ही गया। उसके विरोधमें अनेक पुस्तकें भी लिखी गईं। उनमेंसे कुछ पुस्तकों को मैंने अन्त तक देखा है। उन द्वारा जैनदर्शनकी जो गति की गई है उससे मैं हैरान हूँ। जैनदर्शनकी समस्त तत्त्वप्ररूपणा व्यक्ति स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बनके आधार पर हुई है। उसमें निश्चय-नय और व्यवहारनय तथा उनके यथासम्भव उत्तर भेदोंकी लक्षणमीमांसा भी इसी आधार पर की गई है। उससे प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ स्वातन्त्र्यको कायम रखते हुए कैसे पराश्रित बनती है या बनी हुई है इसका स्पष्टतः भान हो जाता है। पराश्रितपनेका अर्थ जीवकी स्वरूपसे पराधीनता नहीं है, किन्तु उसका अर्थ परकी ओर अपने अनादि अज्ञान-भाव और रागभावसे झुकाव है। जैनतत्त्वमीमांसाकी आलोचना करने-वाले महाशय यदि इस तथ्यको ध्यानमें रखकर लिखते तो सम्भव था कि वे अध्यात्मका अपलाप किये बिना ही व्यवहार पक्षको सम्यक् प्रकारसे रखनेमें समर्थ होते।

किन्तु वे इसे रखनेमें कैसे असमर्थ रहे इस तथ्यको इसीसे समझा

जा सकता है कि उन्होंने अपने लेखनमें यह दृष्टिकोण व्यापक रूपसे अपना लिया है कि यदि विवक्षित कार्यके पूर्व प्रत्येक वस्तु उसके अव्यवहित पूर्व पर्यायकी स्थितिमें पहुँच भी जाय फिर भी उस कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्री उपस्थित न हो तो विवक्षित कार्य अपने नियत उपादानके अनुसार न हो कर बाह्य सामग्रीके आधार पर ही होगा। इससे मालूम पड़ता है कि आगमके अनुसार कार्य-कारण परम्परामें जो क्रमभावी अविनाभावको स्वीकार किया गया है और इसी आधार पर आगममें जो निश्चय उपादानका सुनिश्चित लक्षण उपलब्ध होता है, वह सब इन महाशयोंको मान्य नहीं है। साथ ही व्यवहारनय और उसके उत्तर भेदोंके जो लक्षण आगममें दृष्टिगोचर होते हैं वे भी उन्हें मान्य नहीं हैं, अन्यथा असद्भूत व्यवहारनय और उसके उत्तर भेदोंके आगममें जो लक्षण या स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें माध्यम बनाकर ही वे बाह्य निमित्त पक्षको उपस्थित करते, वे अपने लेखन द्वारा अध्यात्म पक्ष पर किसी प्रकारकी आँच न आने देते और न ही नयप्ररूपणाको प्रयोजनके विना विविध विकल्पोंके चक्करमें ही डालते।

उस ओरसे एक इस नये मतको भी प्रस्तुत किया गया है कि केवलज्ञानके अनुसार तो प्रत्येक कार्य अपने-अपने स्वकालके प्राप्त होनेपर नियत क्रमसे ही होता है तथा उसकी बाह्याभ्यन्तर साधन सामग्री भी अपने-अपने कार्यके अनुसार नियत क्रमसे ही प्राप्त होती है। किन्तु श्रुतज्ञानके अनुसार ऐसा नहीं है। हमें नहीं मालूम कि उनके इस मतके समर्थनमें उनके इस मतका भीतरसे समर्थन करनेवाले और कितने विद्वान् हैं।

देखो, सम्यग्ज्ञानका कार्य मात्र जानना है इसलिये किस समय किन नियत बाह्याभ्यन्तर कारणोंके आधारपर कौन कार्य होता है यह जानना उसका कार्य है। यह कार्य इन कारणोंसे हो, इन कारणोंसे नहीं हो यह व्यवस्था देना उसका कार्य नहीं है। हम पूछते हैं कि जब कार्य-कारण व्यवस्थामें सर्वज्ञ कथित आगमके अनुसार अविर्भावकी मुख्यता है तब प्रत्येक कार्यके अव्यवहित पूर्व पर्यायकी स्थितिमें प्रत्येक द्रव्यके पहुंचने पर तदनन्तर समयमें तदनुसार प्रत्येक कार्य क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा। क्या केवलज्ञानके अनुसार यह कहा जायगा कि अपने-अपने स्वकालके प्राप्त होने पर ही प्रत्येक कार्य होगा और उसके विरोधमें श्रुतज्ञान कहेगा कि नहीं भाई, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्या यह जैन-तत्त्वकी विडम्बना नहीं है।

जैनतत्त्वमीमांसाके लेखनमें अल्प क्षयोपशमके कारण यदि कोई त्रुटि

रह गई थी और वे महाशय अपने लेखन द्वारा उस ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते तो मैं नम्रतासे उनके सामने सिर झुका लेता। किन्तु ऐसा न कर उन्होंने जैनतत्त्वमीमांसाकी आलोचनाके नाम पर जो जैन-दर्शनके मूल पर ही कुठाराघात करना प्रारम्भ कर दिया है उससे मेरा चित्त उनके प्रति करुणासे भर उठता है। मैं समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि सम्यक् नियतिके विरोधमें ये महाशय और क्या करने जा रहे हैं ? क्या व्यवहार पक्षके समर्थनका यही एक मार्ग उनके सामने शेष रहा है ? उनकी दृष्टिमें जिससे निश्चय (अध्यात्म) पक्षका खण्डन न हो और तदनुकूल व्यवहार पक्षका समर्थन हो जाय ऐसा मार्ग शेष नहीं है जो वे तत्त्वकी विडम्बना कर असत् व्यवहार पक्षके समर्थनमें लगे हुए हैं।

हम यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि जैनतत्त्वमीमांसाका विरोध इसलिए नहीं किया जा रहा है कि उसमें जो तत्त्वप्ररूपणा की गई है उसमें किसी प्रकारकी खोट है या जैनतत्त्वमीमांसाकी रचना जैनतत्त्वके विरुद्ध की गई है। उनके इस विरोधका कारण चरणानुयोगके विपरीत वर्तमानमें प्रचलित बाह्य क्रियाकाण्डको जैनतत्त्वमीमांसासे समर्थन नहीं मिलना ही है।

हमें देखना यह चाहिए कि सर्वप्रथम अध्यात्मके विरोधमें वर्तमानमें प्रचलित किस क्रियाकाण्डके हामी विद्वान् थे। वास्तवमें उन्हें तत्त्वप्ररूपणाकी समीचीनता और असमीचीनतासे अणुमात्र भी प्रयोजन नहीं है, उन्हें तो वर्तमानमें प्रचलित विवक्षित क्रियाकाण्डकी सुरक्षा चाहिये है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने इस उद्देश्यकी पूर्तिका मुख्य साधन आम जनताको बनाया है। विद्वानों तक इस चर्चाको सीमित नहीं रहने दिया है। वे जब अमुक सम्प्रदायके मन्दिरोंमें जाते हैं तो उस ढंगसे प्रवचन करते हैं और जब दूसरे सम्प्रदायके मन्दिरोंमें जाते हैं तो उस ढंगसे प्रवचन करते हैं। यही क्या प्रवचनकी पुरानी परम्परा है। क्या वीतराग अरहन्तकी वाणीमें इन परम्पराओं-की देशना हुई थी ? इसके लिए ये विद्वान् आगम परम्पराको नहीं देखना चाहते। कौन परम्परा भट्टारक युगसम्मत है और कौन परम्परा पुरानी है इसे वे विद्वान् यदि समझ लें तो उन्हें न तो अपने पक्षके समर्थनके लिए आम जनताको मुख बनाना पड़े और न ही अध्यात्मके समर्थन-में प्रकाशित साहित्यका निकृष्ट तरीकेसे बहिष्कार ही करना पड़े और न ही किन्हींसे फतवा दिलानेका षड्यन्त्र ही रचना पड़े। पर वे

यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि आगम सम्मत व्याख्याओंके आधार पर यदि हम चर्चा करेंगे तो हमें सफलता नहीं मिलेगी। इसीसे उन्होंने आम जनताके चित्तमें द्विविधा उत्पन्न करनेका मार्ग अंगीकार किया है। अस्तु,

इस प्रसंगसे हम अपने सहयोगी विद्वानोंको लक्ष्यकर एक वातका निर्देश अवश्य कर देना चाहते हैं। वह यह कि वे जिनागमके मुख हैं। अतः उन्हें लोकरीतिको गौणकर ही आगमके अनुसार समाजका मार्गदर्शन करना चाहिये। भगवान् अरहन्तदेवने अपनी वीतराग वाणी द्वारा वीतराग धर्मका ही उपदेश दिया है। वह आत्माका विशुद्धस्वरूप है, इसलिये उसके द्वारा ही परमार्थकी प्राप्ति होना सम्भव है। परमार्थस्वरूप आत्माकी प्राप्तिका अन्य कोई मार्ग नहीं है। ज्ञानमार्गकी प्राप्तिका और ज्ञानमार्गका अनुसरण करनेवाले जीवके लिये क्रमसे आगे बढ़कर अरहन्त और सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेका यदि कोई समर्थ उपाय है तो वह एकमात्र ज्ञानमार्गपर आरूढ़ होकर स्वभावसे शुद्ध त्रिकाली ज्ञायक आत्माका अप्रमादभावसे अनुसरण करना ही है। आचार्य अमृतचन्द्रके शब्दोंमें इस तथ्यको इन शब्दोंमें हृदयंगम किया जा सकता है कि मोक्षमार्गकी प्रारम्भिक भूमिकामें ज्ञानधारा और कर्म (राग) धाराका समुच्चय भले ही वना रहे, किन्तु उसमें इतनी विशेषता है कि ज्ञानधारा स्वयं संवर निर्जरास्वरूप है, इसलिये वही साक्षात् मोक्षका उपाय है। और कर्मधारा स्वयं वन्धस्वरूप है, इसलिये उसके द्वारा संसारपरिपाटी वने रहनेका ही मार्ग प्रशस्त होता है। परमार्थसे न तो वह मोक्षमार्ग है और न ही उसके लक्ष्यसेसाक्षात् मोक्षमार्गकी प्राप्ति होना ही सम्भव है।

कुछ महानुभावोंकी यह धारणा है कि प्रारम्भमें जो सम्यग्दर्शन-ज्ञानस्वरूप मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है वह रागभावकी मन्दतासे ही होती है। किन्तु मिथ्यादृष्टि जीवके अपूर्वकरण आदि परिणामोंके कालमें जो गुणश्रेणिनिर्जरा आदि होती है वह रागकी मन्दतासे न होकर करणानुयोगके अनुसार अपूर्णकरण आदि परिणाम विशेषके कारण प्राप्त हुई विशुद्धिके कारण होती है। इन परिणामोंका ऐसा ही कुछ माहात्म्य है कि इस जीवके उन विशुद्धिरूप परिणामोंके होनेमें न तो गति वाधक होती है, न लेश्या वाधक होती है और कषाय ही वाधक होती है। इसीसे स्पष्ट है कि वे सातिशय परिणाम हैं। उन्हें कषायकी मन्दतारूप कहना अध्यात्मके विरुद्ध तो है ही, करणानुयोग भी इसे स्वीकार नहीं

करता। उस समय यह आत्मा अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावके सन्मुख हुआ है, इसलिए उसके अव्यक्त भावसे ही मिथ्यात्वकी सत्ता शेष है, अतः ऐसे कार्य विशेषके होनेमें कोई बाधा नहीं आती। यहाँ रागकी मुख्यता नहीं है, जानने रागसे पृथक् होनेका कार्य प्रारम्भ कर दिया है। उसीका यह फल है।

इन सब बातोंको समझकर हमने जैनतत्त्वमीमांसाके इस दूसरे संस्करणमें तत्त्वज्ञान सम्बन्धी सभी तथ्योंको आगमके आधारपर स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। हमने इस संस्करणमें इस बातका भी पूरा ध्यान रखा है कि इस संस्करणमें जो भी लिखा जाय उसकी आगमसे सुनिश्चित पुष्टि होनी चाहिये। हमें इस कार्यको सम्पादन करते समय तज्ज्ञ जिन विद्वानोंका वांछित सहयोग मिला है इसके लिये हम उनके हृदयसे आभारी हैं। साथ ही हम श्री महावीर प्रेसके मालिक श्री बाबूलालजी फागुल्लको भी स्मरण कर लेना नहीं भूल जाना चाहते हैं। उन्होंने हमारी अस्वस्थ अवस्थाको देखकर इसके मुद्रणमें हमारी सुविधा-का पूरा ध्यान रखकर शीघ्रातिशीघ्र इसके मुद्रणमें वांछित सहयोग दिया है।

हमने प्रथम संस्करणके समय जो 'आत्मनिवेदन' में अपने भाव व्यक्त किये थे और आदरणीय श्री जगन्मोहनलाल जी शास्त्री ने प्राक्कथन लिखा था वे इस संस्करणके प्रकाशनके समय भी उतने ही उपयोगी हैं जितने उस समय थे। इसलिये यहाँ उन्हें भी यथावत् रूपमें दे रहे हैं। आशा है कि विद्वत्समाज हमारे इस स्वल्प प्रयत्नको हृदयसे स्वीकार कर जिनमार्गकी प्रभावनामें सहायक बनेगा।

विज्ञेपु किमधिकम्।

वी० २।२४९ निर्वाण भवन
रवीन्द्रपुरी वाराणसी–५

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
३–८–७८

आत्म-निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

लगभग तीन वर्ष पूर्व जवलपुर अधिवेशनके समय अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषदने एक प्रस्ताव पारित कर निश्चय-व्यवहार और निमित्त-उपादान आदि विषयोंके सांगोपांग विशद विवेचनको लिए हुए एक निवन्ध लिखे जानेकी आवश्यकता प्रतिपादित की थी। पहले तो मेरा इस ओर विशेष ध्यान नहीं गया था किन्तु इसके कुछ ही दिन वाद जव कलकत्तानिवासी प्रियवन्धु वंशीधरजी शास्त्री, एम० ए० ने मेरा ध्यान इस ओर पुनः पुनः विशेषरूपसे आकृष्ट किया तव अवश्य ही मुझे इस विषयपर विचार करना पड़ा। प्रस्तुत पुस्तक उसीका फल है।

पुस्तक लिखे जानेके वाद अपना कर्तव्य समझकर सर्वप्रथम मैंने इसकी सूचना विद्वत्परिषदको दी। फलस्वरूप मेरे ही नगर वीना इटावामें सव विद्वानोंकी सम्मति पूर्वक विद्वद्गोष्ठीका जो प्रसिद्ध आयोजन हुआ उसमें समाजके लगभग ४२ विद्वानोंने और कतिपय प्रमुख त्यागी महानुभावोंने भाग लिया। उनमेंसे कुछ प्रमुख त्यागी और विद्वानोंके नाम इस प्रकार हैं—१. श्रद्धेय पं० वंशीधरजी न्यायालंकार, २. श्रीमान् ब्र० हुकुमचन्दजी सलावा, ३. श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी, ४. श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी, ५. श्रीमान् पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ इन्दौर, ६. श्रीमान् पं० दयाचन्दजी शास्त्री सागर, ७. श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, ८. श्रीमान् प्रो० खुशहालचन्दजी एम० ए०, साहित्याचार्य वाराणसी, ९. श्रीमान् पं० नाथूलालजी संहितासूरि इन्दौर, १०. श्रीमान् पं० लालवहादुरजी एम० ए०, साहित्याचार्य दिल्ली, ११. श्रीमान् पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य वीना, १२. श्रीमान् पं० वालचन्दजी शास्त्री सोलापुर, १३. श्रीमान् डा० राजकुमारजी एम० ए०, साहित्याचार्य आगरा, और १४. श्रीमान् पं० अभयचन्द्रजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य विदिशा आदि।

विद्वद्गोष्ठीका कार्यक्रम प्रसिद्ध श्रुततिथि श्रुतपंचमीसे प्रारम्भ होकर लगभग एक सप्ताहका रखा गया था। उसमें प्रस्तुत पुस्तकके वाचनके साथ विविध विषयोंपर सांगोपांग चरचा होकर अन्तमें विद्वत्परिषदकी

कार्यकारिणीने इस सम्बन्धमें सर्वसम्मतिसे एक प्रस्ताव पारित किया। प्रस्ताव पं० दयाचन्द्रजी शास्त्री सागरवालोंने उपस्थित किया था। तथा उसका समर्थन और अनुमोदन श्रीमान् पं० वंशीधरजी न्यायतीर्थ और ब्र० हुकुमचन्दजीने किया था। पूरा प्रस्ताव इन शब्दोंमें है—

'भारतवर्षीय दि० जैनविद्वत्परिषद्के जबलपुर अधिवेशनके प्रस्ताव संख्या २ से प्रेरणा पाकर माननीय पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसीने निमित्त-उपादान आदि विषयोंपर शोधपूर्ण स्वतन्त्र पुस्तक लिखी है। शास्त्रीजीकी इच्छा थी कि इस पुस्तकपर भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के द्वारा आयोजित विद्वद्गोष्ठीमें विचार विनिमय हो। तदनुसार दि० जैन समाज बीना सागरने श्रुतपंचमीसे ज्येष्ठ शुक्ला १२ (३० मई-से ६ जून तक) अपने यहाँ विद्वद्गोष्ठीका उत्तम आयोजन किया। दि० जैन समाजके वर्तमान इतिहासमें यह पहला अवसर था जब इतने समय तक ५ घंटे प्रतिदिन सब विचारोंके विद्वानोंने मतभेद होनेपर भी महत्त्व-पूर्ण विषयोंपर गम्भीरता, सरलता तथा सौहार्दपूर्वक विवेचन किये और उस अवसरपर अनेक सुझावोंका आदान-प्रदान किया गया। यह कार्य-कारिणी शास्त्रीजी द्वारा पुस्तक लेखनमें किये गये अथक परिश्रमकी सराहना करती है।

प्रस्तुत पुस्तकका नाम बहुत कुछ सोच विचारकर और श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रभृति विद्वानोंसे सम्मति मिलाकर 'जैनतत्त्व-मीमांसा' रखा है जो उसमें प्रतिपादित विषयके अनुरूप है। इसका 'प्राक्कथन' समाजमान्य प्रसिद्ध विद्वान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीने लिखा है। मेरी समझमें अपने प्राक्कथनमें उन्होंने बड़े ही व्यव-स्थित ढंगसे नपे-तुले शब्दोंमें उन सभी विषयोंकी चरचा कर दी है जिनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत पुस्तकमें किया गया है। प्राक्कथनमें पण्डितजीने और भी अनेक विषयोंकी प्रासंगिक चरचा की है। प्रसंगसे मेरे विषयमें भी दो शब्द लिखे हैं। मैं उनका किन शब्दोंमें आभार मानूं यह समझके बाहर है। पण्डितजीके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हुआ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वस्तुतः मुझमें प्रशंसाके योग्य एक भी गुण नहीं है। दूसरेको बढ़ावा देना इसे उनकी सहज प्रकृति ही कहनी चाहिए। उनकी ओरसे हमें प्रायः प्रत्येक कार्यमें प्रोत्साहन और सहयोग मिलता आ रहा है। उसका यह भी एक उदाहरण है।

यहाँ इतनी बात विशेषरूपसे उल्लेखनीय है कि 'अशोक प्रकाशन

मन्दिर' इस नामसे प्रस्तुत पुस्तकके प्रकाशनका भार मैंने स्वयं वहन किया है। यदि अनुकूलता रही और उचित सहयोग मिल सका तो कविवर बनारसीदासजी, कविवर दौलतरामजी, कविवर भूधरदासजी, कविवर भैया भगवतीदासजी, कविवर भागचंदजी आदि प्रौढ़ अनुभवी विद्वानोंने अध्यात्मके रहस्यको प्रकाशमें लानेवाला जो भी साहित्य लिखा है उसे संकलित करके योग्य सम्पादन और टिप्पण आदिके साथ इस नामसे प्रकाशित करनेका मेरा विचार है। तथा इसी प्रकारका जो भी संस्कृत प्राकृत साहित्य होगा उसे भी इसी नामके अन्तर्गत यथावसर प्रकाशित किया जायगा। इतना अवश्य है कि यह स्वयं कोई संस्था नहीं है और न इसे संस्थाका रूप देनेका मेरा विचार है, अतएव जिन जिन महानुभावोंके सहयोगसे यह साहित्य प्रकाशित होगा वह प्रकाशित होनेके बाद उनके स्वाधीन करता जाऊँगा। अध्यात्म जैनधर्मका प्राण है और ऐसे साहित्यसे उसके रहस्यके प्रकाशमें आनेमें सहायता मिलती है तथा साहित्यका यह प्रमुख अंग पूरा होना चाहिए, मात्र इसी पुनीत अभिप्रायसे मेरी इसे व्यवस्थित सम्पादन संशोधनके साथ प्रकाशित करनेकी भावना है, अन्य कोई हेतु नहीं है। तथा इसी भावनावश यह पुस्तक अति स्वल्प मूल्यमें सर्व-साधारणके लिए सुलभ रहे, इसलिए मैंने इसका मूल्य मात्र १) रखा है। इससे लागतमें जो भी कमी होगी उसकी भविष्यमें पूर्ति हो जानेकी आशा है।

इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तकका प्रारम्भसे लेकर उसके प्रकाशित होने तकका यह संक्षिप्त इतिहास है। इसमें पूर्वमें उल्लिखित विद्वान्, त्यागी तथा अन्य प्रगट और अप्रगट जिन-जिन पुण्य पुरुषोंका हाथ है उन सबका मैं आभारी ही नहीं कृतज्ञ भी हूँ। अब तो यह पुस्तक प्रकाशित होकर सबके समक्ष आ ही रही है। हमें भरोसा है कि मार्गप्रभावनाके लिए प्रवचन भक्तिसे प्रेरित होकर किये गये इस मंगल कार्यमें अब तक हमें सबका जो उत्साहपूर्ण सहयोग मिला है, उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होगी। मोक्षमार्गमें जो मेरी अनन्य अभिरुचि है यह उसीका फल है। निश्चयसे इसमें मेरा कर्तृत्व नामको भी नहीं है। इसलिए उसी अभिप्रायसे तत्त्व-जिज्ञासु इसे स्वीकार करें।

२/३८ भदैनी,
वाराणसी

फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री
२०-८-६०

प्राक्कथन

(प्रथम संस्करणसे)

जैनधर्म 'जिन' का धर्म है। जिन वे हैं जिन्होंने अपने विकारों पर पुरुषार्थ द्वारा विजय प्राप्त कर निज स्वरूप प्राप्त कर लिया है। जैनधर्म का मुख्य नाम आत्मधर्म है। यह तो आगम, अनुभव और युक्तिसे ही सिद्ध है कि संसारमें जड़ और चेतन जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वतन्त्र हैं। जो शरीर संसारी जीवके साथ बाह्य दृष्टिसे एक क्षेत्रावगाही हो रहा है वह भी पृथक् है। वस्तुतः इस सनातन सत्यका बोध न होनेसे ही यह जीव अपने को भूला हुआ है। उसके दुखका निदान भी यही है। यद्यपि यह संसारी जीव दुखसे मुक्ति चाहता है, परन्तु जब तक आत्मा-अनात्माका भेदविज्ञान होकर इसे ठीक तरहसे अपने आत्मस्वरूप-की उपलब्धि नहीं होती तब तक इसका दुखसे निवृत्त होना असम्भव है। सबसे पहले इसे यह जानना जरूरी है कि मेरे ज्ञान-दर्शनस्वभाव आत्मासे भिन्न अन्य जितने जड़चेतन पदार्थ हैं वे पर हैं। उनका परिण-मन उनमें होता है और आत्माका परिणमन आत्मामें होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको बलात नहीं परिणमा सकता। यद्यपि काकतालीय न्यायसे कभी ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाता है कि हम पदार्थका जैसा परिणमन चाहते हैं और उसके लिए प्रयत्न करते हैं, पदार्थका वैसा परिणमन होता हुआ देखा जाता है, इसलिए हम मान लेते हैं कि इसे हमने परिणमाया, अन्यथा इसका ऐसा परिणमन न होता। किन्तु यह मानना कोरा भ्रम है और यही भ्रम संसारकी जड़ है। अतएव सबसे पहले इस संसारी जीवको अपने आत्मस्वरूपकी पहिचानके साथ इसी भ्रमको दूर करना है। इसके दूर होते ही इसके स्वावलम्बनका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। स्वालम्बनका मार्ग कहो या मुक्तिका मार्ग कहो, दोनों कथनोंका एक ही अभिप्राय है। अतीत कालमें जो तीर्थंकर सन्त महापुरुष हो गये हैं वे स्वयं इस मार्गपर चलकर मुक्तिके पात्र तो हुए ही। दूसरे संसारी प्राणियोंको भी उन्होंने अपनी चर्या और उपदेश द्वारा इस सन्मार्गके दर्शन कराये।

यह तो अतीत कालकी बात हुई। वर्तमान युगकी दृष्टिसे यदि

विचार करते हैं तो इस युगमें भी ऐसे अगणित सन्त महामुनि हो गये हैं जो स्वयं तीर्थंकरोंके मार्गपर चलकर अपने उपदेश द्वारा उसका दर्शन कराते आ रहे हैं। उनमें परम पूज्य कुन्दकुन्द आचार्य प्रमुख हैं। उनके द्वारा प्रणीत समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और नियमसार आदि ग्रंथ संसारकी चालू परिपाटीसे भिन्न आत्मस्वरूपका दर्शन कराते हैं। उनके इन उपदेशोंसे लौकिक जन विचकते हैं। उन्हें ऐसा मालूम पड़ता है कि जिन आधारों पर हम अपना अस्तित्व मानते आ रहे हैं वे खिसक रहे हैं। उनके खण्डित हो जाने पर हम निराधार हो जावेंगे और हमारे अस्तित्वका लोप हो जावेगा। पर उनका यह भय वृथा है। वास्तविक खतरा तो परके आश्रयमें ही है। उसे तो अनादिकालसे उठाते आये। अब तो 'स्व' की भूमिका पर आनेकी बात है। आत्मामें स्वाधीन सुखका विकास उसीसे होगा। यह हम मानते हैं कि इस जीवकी अनादिकालसे परावलम्बनकी वासना बनी हुई है, इसलिए उसे छोड़नेमें दुख होता है। परन्तु स्वाधीन सुखको प्राप्त करनेके लिए पराधीनताका त्याग करना ही होगा। स्वाधीन सुखको प्राप्त करनेका अन्य कोई मार्ग नहीं है। इस दृष्टिसे आचार्य महाराजने अपने ग्रंथमें जो तात्त्विक विवेचन किया है वह जैनधर्मका प्राणभूत है। अन्य समस्त आचार्यों ने जैनधर्मके सिद्धान्तों, आचारों और विचारोंके विषयमें जो कुछ भी लिखा है उसकी आधार शिला आचार्य कुन्दकुन्दकी तत्त्वप्ररूपणा ही है। इस संसारी जीवको शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि उनके बताये हुए मार्गपर चलनेसे ही होगी, इसकी प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। इस दृष्टिसे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस विषयका सरल सुबोध भाषामें स्पष्टीकरण करनेके लिए तथा अन्य अनुयोगोंके शास्त्रोंमें प्रतिपादित विषयोंका अध्यात्मशास्त्रके साथ कैसे मेल बैठता है इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए एक पुस्तक लिखी जाय। प्रसन्नताकी बात है कि भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ और उसने अपने जबलपुरके अधिवेशनमें इस आशयका एक प्रस्ताव पारित कर विद्वानोंका इस पुनीत कार्यके लिए आह्वान किया।

उक्त आधारपर सिद्धान्तशास्त्रके मर्म वेत्ता श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्र जी सि० शा० वाराणसीने इस ओर ध्यान देकर यह 'जैनतत्त्वमीमांसा' पुस्तककी रचना की है। पण्डितजी जैन सिद्धान्तके मननीय उच्चकोटिके विद्वानोंमें गणनीय विद्वान हैं। इन्होंने दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा लिखित मूल सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागमका अनेक वर्षोतक अध्ययन मनन किया

है। तथा ग्रन्थराजका हिन्दी भाषामें भाषान्तर सम्पादन किया है। अलभ्य दर्शनशास्त्रके योग्य माने जानेवाले ग्रन्थोंको और उनकी महान् विस्तृत गम्भीर संस्कृत-प्राकृत टीकाओंको हिन्दी भाषामें सुगम सुबोध शैलीमें प्रतिपादन करना सरल कार्य नहीं है। इस समय भी इनके द्वारा कसायपाहुड (जयधवला) और मूलाचारके भाषान्तरका कार्य हो रहा है। ऐसे अनुभवी ज्ञानी विद्वान्‌की लेखनीसे लिखा जाकर प्रस्तुत ग्रन्थ जनता के सामने आ रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें १२ अधिकार हैं। उनके नाम ये हैं—१ विषयप्रवेश, २ वस्तुस्वभावमीमांसा ३ निमित्तकी स्वीकृति, ४ उपादान-निमित्तकारण-मीमांसा, ५ कर्तृकर्ममीमांसा, ६ षट्कारकमीमांसा, ७ क्रमनियमित-पर्यायमीमांसा, ८ सम्यक् नियतिस्वरूपमीमांसा, ९ निश्चय-व्यवहार-मीमांसा, १० अनेकान्त-स्याद्वादमीमांसा, ११ सर्वज्ञस्वभावमीमांसा और १२ उपादान-निमित्तसंवाद।

प्रत्येक अध्यायमें वर्णित विषय अपनेमें पूर्ण है। विषय प्रतिपादन अनेक उच्चकोटिके आगम, दर्शन, न्याय आदि ग्रन्थोंके प्रमाण देकर किया गया है। अनेक महान् ग्रन्थोंके जो प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं और उनके आधारसे जो तत्त्व फलित किये गये हैं वे मेरी श्रद्धानुसार वर्तमान में तत्त्वजिज्ञासुओंके बहुतसे उलझे हुए विचारोंके सुलझानेमें मार्गदर्शन करते हैं। साथ ही अनेक धर्मग्रन्थोंमें कहाँ किस दृष्टिकोणसे तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है इसे समझनेमें सहायता करते हैं। इस दृष्टिसे इस ग्रन्थकी रचना बहुत ही उपयोगी हुई है।

इस वर्ष बीना इटावा (सागर) की जैन समाजके आमन्त्रण पर विद्वत्परिषदने श्रुतपञ्चमीके पुण्य अवसर पर विद्वद्‌गोष्ठी (ज्ञानगोष्ठी) का आयोजन किया था। उसमें एक सप्ताह तक इस पुस्तकका सांगोपांग वाचन हुआ, जिसमें सब विषयोंके जानकार प्रौढ़ विद्वानों व त्यागियोंने भाग लिया था। चरचा होते समय अनेक नगरोंके अन्य गण्यमान्य सज्जन भी उपस्थित रहते थे। प्रसन्नता है कि गोष्ठीके समय दर्शन और न्याय शैलीसे विविध दृष्टिकोण एक दूसरेके सामने आये। उन्हें विद्वानोंने समीपसे समझा और उनका परस्परमें आदान-प्रदान किया। परस्पर वात्सल्यकी भावनाको बढ़ाते हुए वीतराग कथाके रूपमें जिस स्नेह और श्रद्धापूर्ण वातावरणमें यह गोष्ठी हुई उसका बड़ा मूल्य है। परस्पर तत्त्वचरचाका वीतराग प्रतिपादित मार्ग क्या हो सकता है यह उसका

सम्यक् उदाहरण है। हमने अपने जीवनकालमें विद्वानोंकी इस प्रकारकी चरचा कभी न देखी और न सुनी। मैं समझता हूँ कि सैकड़ों वर्ष पूर्व भी कभी ऐसा संगठित धार्मिक चरचा सम्मेलन हुआ होगा यह हमारी जानकारीमें नहीं आया। सब विद्वानोंका योगदान इसका मुख्य कारण रहा है यह तो है ही, साथ ही इस सम्बन्धमें 'बीना इटावा (सागर) की जैन समाजकी आन्तरिक सद्भावना और सहयोग भी सराहनीय है। उसने आगत सब विद्वानोंकी सब प्रकारकी सुख सुविधा व सम्मानका ध्यान रखते हुए इस महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक धार्मिक कार्यमें अपना बहुत बड़ा योगदान दिया है। उक्त कार्यके सुन्दरता और प्रशस्त वातावरणमें सम्पन्न होनेका यह भी एक कारण है।

पुस्तक वाचनके समय उपादान-निमित्तमीमांसाके प्रसंगसे एक बातकी ओर पण्डितजीका ध्यान आकर्षित किया गया था। वह यह कि जिस कथन पद्धतिकी मुख्यतासे यह पुस्तक लिखी गई है उसे आप अवश्य ही स्पष्ट कर दें। इससे प्रस्तुत ग्रन्थको समझनेमें सरलता तो हो जायगी ही। साथ ही जिनागममें प्रतिपादित स्वातन्त्र्यमार्ग (मोक्षमार्ग) का रहस्य क्या है यह समझनेमें भी सहायता मिलेगी। और यह आवश्यक भी था, क्योंकि जब पण्डितजी पुस्तकका वाचन करते थे तब चर्चित विषय पर विवाद खड़ा होने पर उनसे विषयको स्पष्ट करनेके लिए पृच्छा करनी पड़ती थी और जब वे चर्चित विषयके गर्भमें क्या रहस्य है यह बतलाते थे तब अनेक विवाद समाप्त हो जाते थे। प्रसन्नता है कि पण्डितजीने उक्त सुझावको मान देकर पुस्तकके प्रारम्भमें एक नया प्रकरण जोड़ दिया है जिसका नाम 'विषयप्रवेश' है। इस प्रकरणके जोड़ देनेसे आगममें कहाँ किस दृष्टिकोणसे कथनपद्धति स्वीकार की गई है यह स्पष्ट होनेमें पूरी सहायता मिलती है। साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थका विषय स्पष्ट हो जाता है।

पण्डितजीने डेढ़ दो वर्ष लगकर अनवरत परिश्रम और एकाग्रतापूर्वक तत्त्वका मननकर साहित्यसृजनका यह श्लाघनीय कार्य किया है। इस प्रसंगसे हम अन्य विद्वानोंका ध्यान भी इस बातकी ओर विशेषरूपसे आकर्षित करना चाहते हैं कि विद्वान् केवल समाजके मुख नहीं हैं। वे आगमके रहस्योद्घाटनके जिम्मेदार हैं। अतः उन्हें, हमारे अमुक वक्तव्यसे समाजमें कैसी प्रतिक्रिया होती है, वह अनुकूल होती है या प्रतिकूल, यह लक्ष्यमें रखना जरूरी नहीं है। यदि उन्हें किसी प्रकारका

भय हो भी तो सबसे बड़ा भय आगमका होना चाहिए। विद्वानोंका प्रमुख कार्य जिनागमकी सेवा है और यह तभी सम्भव है जब वे समाज-के भयसे मुक्त होकर सिद्धान्तके रहस्यको उसके सामने रख सकें। कार्य बड़ा है। इस कालमें इसका उनके ऊपर उत्तरदायित्व है, इसलिए उन्हें यह कार्य सब प्रकारकी मोह-ममताको छोड़कर करना ही चाहिए। समाजका संधारण करना उनका मुख्य कार्य नहीं है। यदि वे दोनों प्रकारके कार्योंका यथास्थान निर्वाह कर सकें तो उत्तम है। पर समाज-के संधारणके लिए आगमको गौण करना उत्तम नहीं है। हमें भरोसा है कि विद्वान् मेरे इस निवेदनको अपने हृदयमें स्थान देंगे और ऐसा मार्ग स्वीकार करेंगे जिससे उनके सद्प्रयत्नस्वरूप आगमका रहस्य और विशदताके साथ प्रकाशमें आवे।

संसारी प्राणीके सामने मुख्य प्रश्न दो हैं—प्रथम तो यह कि वह वर्तमानमें परतन्त्र क्यों हो रहा है ? क्या वह अपनी कमजोरीके कारण परतन्त्र हो रहा है या कर्मोंकी बलवत्ताके कारण परतन्त्र हो रहा है। दूसरा प्रश्न है कि वह इस परतन्त्रतासे छुटकारा पाकर स्वतन्त्र कैसे होगा। अन्य निमित्त कारण उसे स्वतन्त्र करेंगे या वह निमित्तोंकी उपेक्षा कर स्वयं पुरुषार्थ द्वारा स्वतन्त्र होगा। ये दो प्रश्न हैं जिनका जैनदर्शनके सन्दर्भमें उसे उत्तर प्राप्त करना है।

यह तो प्रत्येक विचारक जानता है कि जैनदर्शनमें जितने भी जड़-चेतन द्रव्य स्वीकार किये गये हैं वे सब अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्वको लिए हुए प्रतिष्ठित हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको अपना कुछ भी अंश प्रदान करता हो या जिस द्रव्यका जो व्यक्तित्व अनादिकालसे प्रतिष्ठित है उसमें कुछ भी न्यूनाधिकता करता हो ऐसा नहीं है। ये दो जैनदर्शन-के अकाट्य नियम हैं। अतः इनके सन्दर्भमें प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद-व्ययरूप कार्यके सम्बन्धमें विचार करने पर विदित होता है कि जिस द्रव्यमें जो भी स्वभाव या विभावरूप कार्य होता है वह अपने परिणमन स्वभावके कारण उपादानशक्तिके बलसे ही होता है। अन्य कोई द्रव्य उसमें उसे उत्पन्न करता हो और तब उसका वह स्वभाव-विभावरूप कार्य होता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्यसे उसकी उत्पत्ति मानने पर न तो द्रव्यके परिणमन स्वभावकी ही सिद्धि होती है और न ही 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य-को अपना कुछ भी अंश प्रदान नहीं करता' इस तथ्यका ही समर्थन किया जा सकता है। अतएव जहाँ तक प्रत्येक द्रव्यके परिणमन स्वभाव-का प्रश्न है और जहाँ तक उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्वका प्रश्न है वहाँ तक

तो यही मानना उचित है कि प्रत्येक द्रव्यमें जो उत्पाद-व्ययरूप कार्य होता है उसमें वह स्वाधीन है। ऐसा मानना परमार्थ सत्य और वस्तु-स्वभावके अनुरूप है। इसमें किसी भी प्रकारकी 'ननु, न च' करना प्रत्येक द्रव्यके परिणामस्वभाव और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्वकी अवहेलना करना होगा जो उचित नहीं है, क्योंकि इन तथ्योंकी अवहेलना करने पर छह द्रव्यों और उनके भेदोंकी पूरी व्यवस्था गड़वड़ा जायगी। फिर भी जैन-दर्शनमें प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तोंको स्वीकार किया गया है सो उसका कारण अन्य है।

वात यह है कि प्रत्येक द्रव्यके अपने-अपने समर्थ उपादानके अनुसार प्रत्येक समयमें कार्य होते समय अन्य द्रव्यकी पर्याय उसके वलाधानमें स्वयं निमित्त होती है। वलका आधान कर कार्यको (अपने परिणमन स्वभाव और स्वतन्त्र व्यक्तित्वके कारण) स्वयं उपादान उत्पन्न करता है। यह कार्य निमित्तका नहीं है। किन्तु कार्यको उत्पन्न करनेके लिए उपादान जो वलका आधान करता है उसमें अन्य द्रव्यकी पर्याय स्वयं निमित्त हो जाती है यह वस्तुस्थिति है। इसके रहते हुए भी लोकमें निमित्तकी मुख्यतासे कुछ इस प्रकारके तर्क उपस्थित किये जाते हैं—

१. उपादान हो और निमित्त न हो तो कार्य नहीं होगा।

२. समर्थ उपादान हो और वाधक सामग्री आ जाय तो कार्य नहीं होगा।

३. समर्थ उपादान हो, निमित्त हो पर वाधक कारण आ जाय तो कार्य नहीं होगा।

ये तीन तर्क हैं। इन पर विचार करनेसे विदित होता है कि प्रथम दोनों तर्क तीसरे तर्कमें ही समाहित हो जाते हैं, अतः तीसरे तर्क पर समुचित विचार करनेसे शेष दो तर्कोंका उत्तर हो ही जायगा, अतः तीसरे तर्कके आधारसे आगे विचार करते हैं—

सर्वप्रथम विचार इस वातका करना है कि जव समर्थ उपादान और लोकमें निमित्तके रहते हुए भी कार्यकी लोकमें कही जानेवाली वाधक सामग्री आ जाती है तव विवक्षित द्रव्य उसके कारण क्या अपने परिण-मन स्वभावको छोड़ देता है? यदि कहो कि द्रव्यमें परिणमन तो तव भी होता रहता है। वह तो उसका स्वभाव है। उसे वह कैसे छोड़ सकता है तो हम पूछते हैं कि जिसे आप वाधक सामग्री कहते हो वह किस कार्यकी वाधक मानकर कहते हो। आप कहोगे कि जो कार्य हम उससे

उत्पन्न करना चाहते थे वह कार्य नहीं हुआ, इसलिए हम ऐसा कहते हैं। तो विचार कीजिये कि वह सामग्री विवक्षित द्रव्यके आगे होनेवाले कार्य-की बाधक ठहरी कि आपके संकल्प की ? विचार करने पर विदित होता है कि वस्तुतः वह विवक्षित द्रव्यके कार्यकी बाधक तो त्रिकालमें नहीं है। हाँ आप आगे उस द्रव्यका जैसा परिणमन चाहते थे वैसा नहीं हुआ, इसलिए आप उसे कार्यकी बाधक कहते हो सो भाई ! यही तो भ्रम है। इसी भ्रमको दूर करना है। वस्तुतः उस समय द्रव्यका परिणमन ही आपके संकल्पानुसार न होकर अपने उपादानके अनुसार होनेवाला था, इसलिए जिसे आप अपने मनसे बाधक सामग्री कहते हो वह उस समय उस प्रकारके परिणमनमें निमित्त हो गई। अतः इन तर्कोंके समाधानस्वरूप यही समझना चाहिए कि प्रत्येक समयमें कार्य तो अपने उपादानके अनुसार ही होता है और उस समय जो बाह्य सामग्री उपस्थित होती है वही उसमें निमित्त हो जाती है। निमित्त स्वयं अन्य द्रव्यके किसी कार्यको करता हो ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ दीपकके प्रकाशमें एक मनुष्य पढ रहा है। अब विचार कीजिए कि वह मनुष्य स्वयं पढ़ रहा है या दीपक पढ़ा रहा है ? दीपक पढ़ा रहा है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर दीपकके रहने तक उसका पढ़ना नहीं रुकना चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि दीपकके सद्भावमें भी कभी वह पढ़ता है और कभी अन्य कार्य भी करने लगता है। इससे मालूम पड़ता है कि दीपक तो निमित्तमात्र है, वस्तुतः वह स्वयं पढ़ता है, दीपक बलात् उसे पढ़ाता नहीं। इस प्रकार जो नियम दीपकके लिए है वही नियम सब निमित्तोंके लिए जान लेना चाहिए। निमित्त चाहे क्रिया-वान् द्रव्य हो और चाहे निष्क्रिय द्रव्य हो, कार्य होगा अपने उपादानके अनुसार ही। अतः निमित्तका विकल्प छोड़कर प्रत्येक संसारी जीवको अपने उपादानकी ही सम्हाल करनी चाहिए। जो संसारी जीव अपने उपादानकी सम्हाल करता है वह अपने मोक्षरूप इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि-में सफल होता है और जो संसारी जीव उपादानकी उपेक्षा कर अपने अज्ञानके कारण निमित्तोंके मिलानेके विकल्प करता रहता है वह अज्ञानी हुआ संसारका पात्र बना रहता है।

कार्योत्पत्तिमें निमित्तोंका स्थान है इसका निषेध नहीं और इसलिए बाह्य दृष्टिसे विवेचन करते समय शास्त्रोंमें निमित्तोंके अनुसार कार्य होता है यह भी कहा गया है। परन्तु यह सब कथन उपचरित ही जानना

चाहिए। व्यवहारनय पराश्रित होनेसे ऐसे ही कथनको स्वीकार करता है, इसलिए मोक्षमार्गमें उसे गौण कर स्वाधीन सुखके कारणभूत निश्चय-नयका आश्रय लेनेका उपदेश दिया गया है। संसार अवस्थामें निश्चयके साथ जहाँ जो व्यवहार होता है, होओ। पर इस जीवकी यदि ऐसी श्रद्धा हो जाय कि जहाँ जो व्यवहार होता है वह पराश्रित होनेसे हेय है और निश्चय स्वाश्रित होनेसे उपादेय है तो ऐसे व्यवहारसे उसका विगाड़ नहीं। विगाड़ तो व्यवहारको उपादेय मानकर उससे मोक्षकार्यकी सिद्धि माननेमें है। अतः मोक्षेच्छुक प्रत्येक प्राणीको यही श्रद्धा करनी चाहिए कि मोक्षकार्यकी सिद्धि मात्र निश्चयका आश्रय लेनेसे ही होगी, व्यवहार-का आश्रय लेनेसे त्रिकालमें नहीं होगी। संसारी जीवके स्वाधीन होने-का यही प्रशस्त मार्ग है।

यह तो उपादान-निमित्तके आधारपर व्यक्तिस्वातन्त्र्यको प्राप्त करनेका क्या मार्ग है इसकी चरचा हुई। इसी प्रकार और भी वहुतसे विचार हैं जिनके सम्बन्धमें परमार्थसत्य क्या है इसे जानकर ही उसे ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ शास्त्रोंमें यथास्थान निश्चयनय और व्यवहारनयके आश्रयसे कथन किया गया है। उसमें निश्चयनयकी अपेक्षा जो कथन किया गया है वह यथार्थ है क्योंकि निश्चयनय जैसा वस्तुका स्वरूप है उसका उसी रूपमें निरूपण करता है। परन्तु व्यवहारनयकी अपेक्षा जो कथन किया गया है वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि जैसा वस्तुका स्वरूप है उसका यह नय अन्यथा निरूपण करता है। जैसे शास्त्रोंमें कहीं पर प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन लक्षण कार्यका कर्ता है ऐसा लिखा है और कहीं पर अन्य द्रव्यके कार्यका कर्ता है ऐसा लिखा है। सो इन उदाहरणोंमें जहाँ पर प्रत्येक द्रव्यको अपने परिणमन लक्षण कार्यका कर्ता वतलाया है वहाँ उस कथनको यथार्थ जानना चाहिए। और जहाँ पर अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यका कर्ता वतलाया है उसे उपचरित कथन जानना चाहिए, क्योंकि अन्य द्रव्यके कार्यको अन्य द्रव्य करता नहीं। कारण कि एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके कार्यके करनेका कर्तृत्व धर्म नहीं पाया जाता। फिर भी अन्य द्रव्य निमित्त होता है, इसलिए उस द्रव्यकी निमित्तता दिखलानेके लिए उपचारसे उसे कर्ता कह दिया जाता है। इसलिए कहाँ यथार्थ कथन है और कहाँ उपचरित कथन है इसे समझकर ही वस्तुको स्वीकार करना चाहिए।

इसी प्रकार शास्त्रोंमें कहीं तो उपादानकी प्रधानतासे सब कार्य अपने

अपने कालमें होते हैं ऐसा लिखा है और कहीं निमित्तकी प्रधानतासे कार्योंका अनियम बतलाया है सो यहाँ भी ऐसा समझना चाहिए कि प्रत्येक कार्यका उपादान अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य होता है, अतएव अगले समयमें कार्य भी उसीके अनुरूप होगा। कार्यकी उत्पत्तिके समय निमित्त उसे अन्यथा नहीं परिणमा सकेगा, इसलिए जो उपादानकी अपेक्षा कथन है वह यथार्थ है और जो निमित्तकी अपेक्षा कथन है वह यथार्थ तो नहीं है परन्तु वहाँ पर निमित्त क्या है यह दिखलानेके लिए वैसा कथन किया गया है। अतएव ऐसे स्थलों पर भी जहाँ जिस अपेक्षासे कथन हो उसे समझकर वस्तुको स्वीकार करना चाहिये।

इसी प्रकार और भी बहुतसे विषय हैं जिनमें वस्तुका निर्णय करते समय और उनका व्याख्यान करते समय विचारकी आवश्यकता है। हमें प्रसन्नता है कि 'जैनतत्त्वमीमांसा' ग्रन्थमें पण्डितजीने उन सब विषयोंका समावेश कर लिया है जिनमें तत्त्वजिज्ञासुओंकी दृष्टि स्पष्ट होनेकी आवश्यकता है। इस दृष्टिसे यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी बन गई है। इसकी लेखनशैली सरल, सुस्पष्ट और सुबोध है। पण्डितजी के इस समयोपयोगी सांस्कृतिक, साहित्यिक सेवाकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। हमें विश्वास है कि समाज इससे लाभ उठाकर अपनी ज्ञानवृद्धि करेगी।

जैन शिक्षा संस्था
कटनी

जगन्मोहनलाल शास्त्री

विषय-सूची

★

१. क्रम संख्या ८ दो बार लिपिबद्ध हो गया है।

जैनतत्त्वमीमांसा

जैनतत्त्वमीमांसा

विषय-प्रवेश

करि प्रणाम जिनदेवको मोक्षमार्ग-अनुरूप ।
विविध अर्थ-गर्भित महा कहिए तत्त्वस्वरूप ॥१॥
है निमित्त उपचारविधि निश्चय है परमार्थ ।
तजि[1] व्यवहार निश्चय गहि साधो सदा निजार्थ ॥२॥

इस लोकमें ऐसा एक भी प्राणी नहीं है, जो दुःखनिवृत्ति और सुख-प्राप्तिका इच्छुक न हो । यही कारण है कि बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके धर्मतीर्थके प्रवर्तक तीर्थंकर अनादि कालसे निराकुललक्षण सुखप्राप्तिके प्रधान साधनभूत मोक्षमार्गका उपदेश देते आ रहे हैं । मोक्षमार्ग कहो, निराकुललक्षण सुखकी प्राप्तिका मार्ग कहो या आकुलतालक्षण दुःखसे निवृत्त होनेका मार्ग कहो इन सबका एक ही अर्थ है । जिस मार्गका अनुसरण कर यह जीव चतुर्गतिसम्बन्धी दुःखसे निवृत्त होता है वह मोक्ष-मार्ग है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । मोक्षमार्ग यह विधिगर्भ निषेध-परक वचन है । ऐसा नियम है कि जहाँ विरोधी धर्मका निषेध किया जाता है वहाँ उसकी प्रतिपक्षभूत विधि स्वयं फलित हो जाती है, अतएव जो दुःखनिवृत्तिका मार्ग है वही सुखप्राप्तिका मार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।

१. तीर्थंकरोंका उपदेश

इस प्रसंगसे विचार यह करना है कि तीर्थंकरोंका जो उपदेश चारों अनुयोगोंमें संकलित है उसे वचन व्यवहारकी दृष्टिसे कितने भागोंमें विभक्त किया जा सकता है ? आगमकी साक्षीपूर्वक विविध प्रमाणोंके प्रकाशमें विचार करने पर विदित होता है कि उसे हम मुख्यरूपसे दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—उपचरित कथन और अनुपचरित[2] कथन । जिस कथन का प्रतिपाद्य अर्थ तो असत्यार्थ है (जो कहा गया है, पदार्थ वैसा नहीं है) । किन्तु उससे परमार्थभूत अर्थकी प्रसिद्धि होती है उसे

---

१. गौण करके । २. समय० गा० २७ ।

उपचरित कथन कहते हैं और जिस कथनसे जो पदार्थ जैसा है उसकी उसी रूपमें प्रसिद्धि होती है उसे अनुपचरित कथन कहते हैं।

२. कथनके भेदोंका स्पष्टीकरण

प्रायः देखा जाता है कि कहाँ किस प्रयोजनसे भाषाका प्रयोग किया गया है इससे अपरिचित जन उपचरित कथन और असत्य कथनमें भेदको न जानकर उपचरित कथन असत्यकी कोटिमें परिगणित न हो जाय इस भयसे उसके अभिधेयार्थको ही परमार्थभूत माननेकी चेष्टा करते हैं। किन्तु वस्तुस्वरूपको ध्यानमें रखकर विचार करने पर विदित होता है कि इन दोनों प्रकारके कथनोंमें मौलिक अन्तर है, क्योंकि जहाँ उपचरित कथनका वाच्यार्थ असत्यार्थ होकर भी (जैसा कहा गया वैसा न होकर भी) वह बाह्य निमित्त, हेतु, साधन, उपाधि, कारण या विशेषण बनकर अपनेसे भिन्न निश्चयार्थकी प्रसिद्धि करता है वहाँ असत्य कथनका वाच्यार्थ असद्भूत तो होता ही है (जिस वस्तुको लक्ष्यकर वह वचन बोला गया वह वस्तु उसरूप तो नहीं ही होती) फिर भी वह वचन उस वस्तुमें ही अन्य वस्तुकी प्रसिद्धि करता है। इस प्रकार अनुपचरित कथन, उपचरित कथन और असत्य कथन के भेदसे कथन तीन प्रकारका हो जाता है। जिनागममें असत्य कथनरूप प्ररूपणाका सर्वथा अभाव होने से प्रयोजन वश दो प्रकारकी ही प्ररूपणा पाई जाती है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनुपचरित कथनका उदाहरण—'निश्चय रत्नत्रयरूपसे परिणत यह आत्मा स्वयं ही मोक्षमार्ग है' यह अनुपचरित कथनका उदाहरण है। (नियम० गा० १६, तात्पर्यवृत्ति टीका). क्योंकि निश्चय रत्नत्रय परिणत एक आत्मा स्वयं ही साध्य है और निश्चय रत्नत्रय परिणत वही आत्मा स्वयं ही साधन है। समयसार कलशमें इसी तथ्यको इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है—

> एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
> साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

स्वात्म प्राप्तिके इच्छुक पुरुषों द्वारा ज्ञानस्वरूप यह आत्मा साध्य-साधक भावकी अपेक्षा दो प्रकारका होने पर भी एक ही नित्य सेवन करने योग्य है ॥१५॥

यहाँ एक तो बाह्य व्यावहारिक उपचरित रत्नत्रय आदिमें जो मोक्षमार्ग-पना स्वीकार किया जाता है उसमें परमार्थसे मोक्षमार्गपना नहीं होनेसे उसे मोक्षमार्गके साधनरूपसे नहीं स्वीकार किया गया है। दूसरे निश्चय

रत्नत्रय और आत्मामें स्वभावसे अभेद होनेके कारण साध्य और साधनमें भेद नहीं स्वीकार किया गया है। इसलिए परमार्थको सूचित करनेवाला होनेसे उक्त वचन अनुपचरित कथनका उदाहरण है। मोक्षके इच्छुक पुरुषके लिए निश्चयसे ज्ञायकस्वरूप एक आत्मा ही उपादेय है यह बतलाना इस कथनका मुख्य प्रयोजन है।

उपचरित कथन दो प्रकारका है—उपचरित सद्भूत कथन और उपचरित असद्भूत कथन।

उपचरित सद्भूत कथनका उदाहरण—अनन्त पर्यायोंकी वर्तनाका हेतु होनेसे एक कालाणुको अनन्त कहना यह उपचरित सद्भूत कथनका उदाहरण है (तत्त्वार्थवा० ५-३९), क्योंकि एक कालाणुमें अनन्त पर्यायरूपसे परिणमनकी योग्यता होनेसे अथवा एक ही कालाणु क्रमसे अनन्त पर्यायरूपसे परिणमता है, इसलिए यहाँ एक कालाणुको अनन्त कहा गया है। यहाँ अनन्त पर्यायोंका कालाणुसे कथंचित् भेद होते हुए भी पर्यायोंको ही विशेषण बनाकर कालाणुको अनन्त कहा गया है। एक ही कालाणु क्रमसे अनन्त पर्यायरूपसे परिणमता है यह बतलाना इसका मुख्य प्रयोजन है।

उपचरित असद्भूत कथनका उदाहरण—शुभोपयोगरूप व्रत, शील और तप आदिको मोक्षमार्ग कहना यह उपचरित असद्भूत कथनका उदाहरण है। बृहद् द्रव्यसंग्रह (गा० ४५ टीका) यद्यपि शुभोपयोगरूप व्रत, शील और तप आदिमें यथार्थ मोक्षमार्गपना असद्भूत है। फिर भी बाह्य व्याप्तिवश उन्हें उपचारसे मोक्षमार्ग कहा गया है, इसलिए यह उपचरित असद्भूत कथनका उदाहरण है। यहाँ ज्ञायकस्वभाव आत्मा और उसमें उपयुक्त होनेसे जो स्वभाव पर्याय उत्पन्न होती है उन दोनोंसे शुभोपयोगरूप व्रत, शील और तप आदि कथञ्चित् आश्रयभेद या आलम्बन भेद होनेके कारण भिन्न हैं (समयसार गा० १८१-१८३ आ० ख्या०, टी०), फिर भी प्रयोजनवश उन सबमें बुद्धिसे अभेद स्वीकार करके शुभोपयोगरूप व्रत, शील और तप आदिमें मोक्षमार्गपना कल्पित्त किया गया है। बाह्य व्याप्तिवश उपचरित मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि करता है यह बतलाना इस कथनका मुख्य प्रयोजन है।

असत्य कथनका उदाहरण—मन्द प्रकाशमें रज्जुको देखकर उसे सर्प कहना असत्य कथनका उदाहरण है, क्योंकि रज्जु यथार्थमें सर्प नहीं है, फिर भी सादृश्य सामान्यके कारण रज्जुमें 'यह सर्प है' ऐसा भ्रम हुआ

है। यदि रज्जुको देखकर 'सर्प भी इसी प्रकारका होता है' ऐसा ज्ञान होता तो वह अयथार्थ कथन न माना जाता, परन्तु प्रकृतमें रज्जुको ही सर्प मान लिया गया है, इसलिए इसे असत्य कथनका उदाहरण स्वीकार किया गया है।

असत्य कथन और उपचरित कथनमें क्या अन्तर है यह उक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है। साथ ही परमागममें अनुपचरित कथनके साथ उपचरित कथनको क्यों स्थान दिया गया है यह भी उक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है।

३. प्रकृतमें कतिपय उपयोगी सिद्धान्त

(१) कथा चार प्रकारकी होती है—आक्षेपणी कथा, विक्षेपणी कथा, संवेदनी कथा और निर्वेदनी कथा। इनमेंसे विक्षेपणी कथा किसे कहते हैं इसका निर्देश करते हुए बतलाया है कि जिसमें सर्वप्रथम परसमयके द्वारा स्वसमयमें दोष बतलाये जाते हैं, अनन्तर परसमयकी आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना कर छह द्रव्य और नौ पदार्थोका प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। विक्षेपणी कथाके स्वरूपका विचार करने पर विदित होता है कि जैन दर्शन और जैन न्यायका जो भी साहित्य उपलब्ध होता है उसका मुख्यतासे विक्षेपणी कथामें ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि जैनदर्शन और न्यायके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम अन्य दर्शनके मन्तव्यकी स्थापना कर उसका निरसन किया जाता है और ऐसा करते हुए उभय पक्ष मान्य हेतुओंके बलसे परसमयके निरसनपूर्वक स्वसमयकी स्थापना की जाती है। वहाँ उपादानकी विवक्षा न कर जो बाह्य (उपचरित) हेतुओंको मुख्यता दी जाती है उसका एकमात्र यही कारण है।

(२) शेष तीन प्रकारकी कथाओंमें स्वसमयकी प्ररूपणाकी मुख्यता होते हुए भी उनमें जो यहाँ-वहाँ परसापेक्ष कथनकी बहुलता दिखलाई देती है सो उसका यह आशय नहीं है कि धर्म या धर्मी किसीका भी स्वरूप परसापेक्ष होता है। इतना अवश्य है कि कर्ता और कर्ममें अविनाभाव होनेके कारण जिस प्रकार यह व्यवहार किया जाता है कि यह इसका कर्त्ता है और यह इसका कर्म है या प्रमाण और प्रमेयमें अविनाभाव होनेके कारण जिस प्रकार यह व्यवहार किया जाता है कि यह इसका ज्ञापक है और यह इसका ज्ञाप्य है उसी प्रकार धर्म और धर्मीमें भी अविनाभाव होनेके कारण यह व्यवहार किया जाता है कि यह इसका

धर्मी है और यह इसका धर्म है (अष्टसहस्त्री पृ० २३३)। इतना अवश्य है कि स्वभावसे अभेद होनेपर भी जहाँ एक सत्ताक वस्तुमें धर्म और धर्मीका भेद विवक्षित होता है वहाँ सद्भूत व्यवहार होता है और जहाँ स्वतन्त्र सत्ताक दो द्रव्योंमें धर्म-धर्मीपना और कर्ता-कर्मपना आदिका अभाव होते हुए भी प्रयोजन विशेषवश किसी भी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है वहाँ असद्भूत व्यवहार होता है और असद्भूत व्यवहारका ही दूसरा नाम उपचार है (आलापपद्धति)।

(३) प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे नित्यानित्यस्वरूप है। अपने अन्वय स्वभावके कारण वह नित्य है और व्यतिरेक स्वभावके कारण वह अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य परिणामी-नित्य सिद्ध होता है। यह उसका स्वभाव है, इसलिए नित्य रहते हुए भी वह स्वयं परिणमन करता है, इसके लिए वह परिणमन करानेवाले दूसरे द्रव्यकी अपेक्षा नहीं करता (समय०, आ० ख्या० टी० ११६–१२० गा०, अष्टसह० पृ० ११२)। इससे स्पष्ट है कि जितना भी परसापेक्ष कथन आगममें उपलब्ध होता है उसे उपचरित ही समझना चाहिए।

(४) जीव क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकार अजीव भी क्रम नियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जिस प्रकार सुवर्णका अपने कंकण आदि परिणामोंके साथ तादात्म्य पाया जाता है उसी प्रकार सर्व द्रव्योंका अपने-अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य पाया जाता है। इस प्रकार जीवका अपने परिणामोंके साथ उत्पन्न होते हुए भी अजीवके साथ कार्य-कारण भाव नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि सर्व द्रव्योंका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादकभावका अभाव है। और उसके सिद्ध नहीं होने पर अजीव (ज्ञानावरणादि कर्म) जीवका कर्म है यह नहीं सिद्ध होता और इसके सिद्ध नहीं होने पर कर्ता-कर्मकी परसापेक्ष सिद्धि नहीं होती, अतः जीव अजीवका कर्ता है यह नहीं सिद्ध होता है, इसलिए जीव परके परिणामोंका अकर्ता है यह सिद्ध होता है (समय० ३०८–३११, आ० ख्या० टी०)। यह परमार्थसे वस्तु व्यवस्था है। इसे साक्षी कर विचार करने पर विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें स्वभावसे परसापेक्ष नहीं होती, इसलिए एकके कार्य आदिका दूसरेको कर्त्ता आदि मानना लौकिक विकल्प ही है जो असद्भूत होनेसे उपचरित ही है।

(५) जो जिसके बाद होता है उसे कारण कहते हैं और जो होता है उसे कार्य कहते हैं (तत्त्वार्थश्लोक पृ० १५१)। अविनाभाववश सूचित होनेवाला यह कारण-कार्यभावका निर्दोष लक्षण है। नयदृष्टिसे इसका विचार करने पर विदित होता है कि यह इसका कार्य है और यह इसका कारण है इस प्रकार दो में सम्बन्धको स्थापित करनेवाला जो भी विकल्प होता है वह संकल्प प्रधान नैगमनयका विषय होनेसे उपचरित ही है। यह संग्रह नयका विषय तो हो नहीं सकता, क्योंकि संग्रहनय मुख्यरूपसे अभेदको विषय करता है। व्यवहारनयका भी विषय नहीं हो सकता, क्योंकि व्यवहारनय मुख्यरूपसे द्रव्य आदि भेदको विषय करता है। दोमें सम्बन्ध स्थापित करना इन नयोंका विषय नहीं हो सकता। ऋजु सूत्रनय एक समयवर्ती वर्तमान पर्यायको ही विषय करता है, इसलिए इस नयकी अपेक्षा उत्पाद और विनाश दोनों ही निर्हेतुक सिद्ध होते हैं। इस नयमें उत्पाद्य-उत्पादकभाव विशेषण-विशेष्यभाव, ग्राह्य-ग्राहकभाव और वाच्य-वाचकभाव आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होते (जयध० पृ० २००–२११)। ये सब संकल्पप्रधान नैगमनयमें ही घटित होते हैं।

४. निश्चय-व्यवहारका स्वरूप निर्देश

ये कतिपय आगम प्रमाण हैं। इनको लक्ष्यमें रखकर अपनी सुबोध भाषामें पण्डितप्रवर टोडरमलजी निश्चय और व्यवहारका स्वरूप निर्देश करते हुए मोक्षमार्ग-प्रकाशकमें लिखते हैं—

वहाँ जिन आगममें निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। उनमें यथार्थका नाम निश्चय है, उपचारका नाम व्यवहार है।

[अ० ७ पृ० १९३]

व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूपका निरूपण नहीं करता; किसी अपेक्षा उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्धनय जो निश्चय है वह भूतार्थ है, जैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है। इस प्रकार इन दोनोंका स्वरूप तो विरुद्धता सहित है।

एक ही द्रव्यके भावको उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है, उपचार से उस द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यके भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है। जैसे मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका घड़ा निरूपित किया जाय सो निश्चय और घृतसंयोगसे उपचारसे उसीको घृतका घड़ा कहा जाय सो व्यवहार। ऐसे ही अन्यत्र जानना।

[अध्याय ७ पृ० २४९]

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको व उनके भावोंको व कारण-कार्यादिक को किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हींको यथावत् निरूपण करता है, किसीको किसीमें नहीं मिलाता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना।

[अध्याय ७, पृ० २५१]

जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे ऐसे हैं नहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। तथा दोनोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंका ग्रहण करना नहीं कहा है।

[अध्याय ७, पृ० २५१]

उक्त प्रमाणोंके प्रकाशमें यह पण्डितप्रवर टोडरमलजीका वक्तव्य है। इससे स्पष्ट है कि जिन आगममें वचन व्यवहारकी दृष्टिसे यथावस्थित वस्तुस्वरूपका निर्णय करनेके लिए दो प्रकारका कथन उपलब्ध होता है। इनकी संक्षेपमें मीमांसा हम पहले ही कर आये हैं। फिर भी जो मनीषी उपचरित कथनको भी अनुपचरित कथनके समान यथार्थ माननेका आग्रह करते हैं उनके उस अभिप्रायका निरसन करनेके लिए यहाँ उपचरित कथनके कतिपय उदाहरण उपस्थित कर वे उपचरित क्यों हैं इसकी अलगसे मीमांसा करेंगे। 20-2-88·

५. उपचरित कथनके कतिपय उदाहरण

१. एक द्रव्य अपनी विवक्षित पर्याय द्वारा दूसरे द्रव्यके कार्यका कर्त्ता है और दूसरे द्रव्यकी वह पर्याय उसका कर्म है।

२. अन्य द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यको परिणमाता है या उसमें अतिशय उत्पन्न करता है।

३. अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायके होनेमें हेतु है, उसके विना वह कार्य नहीं होता।

४. व्यवहार धर्म और निश्चय धर्ममें साध्य-साधकभाव है अर्थात् व्यवहारधर्मकी आराधना करनेसे निश्चय धर्मकी उत्पत्ति होती है।

५. शरीर मेरा है, तथा देश, धन और पुत्रादि मेरे हैं आदि।

ये उपचरित कथनके कतिपय उदाहरण हैं। जैसा कि हम पहले निर्देश कर आये हैं इनका केवल जैन दर्शन और न्यायके ग्रन्थोंमें ही नहीं, चारों अनुयोगोंके ग्रन्थोंमें भी बहुलतासे कथन किया गया है। जो प्रमुखतासे अध्यात्मका प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ हैं उनमें भी जहाँ प्रयोजन विशेषवश उपचार कथनकी मुख्यतासे प्रतिपादन करना इष्ट रहा है वहाँ भी यह पद्धति स्वीकार की गई है (समय० गा० २७, ४६ आदि तथा उनकी आ० ख्या० टी०), इसलिए इस प्रकारके कथनको चारों अनुयोगोंके शास्त्रोंमें स्थान नहीं मिला है यह तो कहा नहीं जा सकता। फिर भी यह कथन उपचरित क्यों है इसकी विशदरूपसे यहाँ मीमांसा करनी है।

६. उक्त उदाहरण उपचरित वचन हैं इसका खुलासा

यह द्रव्यगत स्वभाव है कि किसी कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान मुख्य (अनुपचरित) हेतु होता है और अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्याय प्रतिविशिष्ट काल प्रत्यासत्तिवश व्यवहार (उपचरित) हेतु[1] होता है[1]। इस तथ्यको दृष्टिपथमें रखकर जिसने अपनी बुद्धिमें यह निर्णय किया है कि जो उपादान स्वरूप वस्तु है। अपने कार्यकालमें वही कर्त्ता है और वही कर्म है, क्योंकि वस्तुपनेकी अपेक्षा वे एक हैं,[3] अतएव उसका वैसा निर्णय करना परमार्थरूप है। कारण कि जीवादि प्रत्येक द्रव्यमें छह कारक शक्तियाँ तादात्म्यरूपसे सदाकाल विद्यमान रहती हैं, अतः उनके आधार से उस-उसद्रव्यमें कर्तृत्व आदिकी अपने ही आश्रयसे सिद्धि होती है। फिर भी विशिष्ट काल प्रत्यासत्तिमूलक बाह्य व्याप्ति वश दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें व्यवहारसे कर्त्ता, करण आदिरूपसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। यह देखकर अनादिरूढ़ लोक व्यवहारवश पृथक् सत्ताक दो द्रव्योंमें कर्त्ता-कर्म आदिरूप व्यवहार किया जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृतमें कहते हैं—

> जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
> जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवके निमित्त होने पर बन्धके परिणामको देखकर जीवने कर्म किया यह उपचारमात्रसे कहा जाता है ॥१०५॥

---

१. पञ्चा० गा० ८९ और ९६ की टीका।

२. स्वयंभूस्तोत्र।

३. समयसार कलश ५१।

इसी अर्थको स्पष्ट करते हुए उक्त गाथाकी टीकामें आचार्य अमृत-चन्द्र कहते हैं—

इह खलु पौद्गलिककर्मण: स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञाना-त्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात्पौद्गलिकं कर्मात्मनाकृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपराणां परेपामस्ति विकल्प: । स तूपचार एव न तु परमार्थ:॥१०५॥

इस लोकमें आत्मा निश्चयत: स्वभावसे पुद्गल कर्मका निमित्तभूत नहीं है तो भी अनादिकालीन अज्ञानवश उसके निमित्तभूत अज्ञान भाव-रूप परिणमन करनेसे पुद्गलकर्मका निमित्तरूप होनेपर पुद्गलकर्मकी उत्पत्ति होती हैं, इसलिए आत्माने कर्मको किया ऐसा विकल्प उन जीवोंके होता है जो निर्विकल्प विज्ञानघनसे भ्रष्ट होकर विकल्पपरायण हो रहे हैं। परन्तु वह विकल्प उपचार ही है अर्थात् उपचरित अर्थको ही विपय करनेवाला है।

यह आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्रका कथन है। किन्तु उन्होंने इसे उपचरित क्यों कहा, इसका कोई हेतु तो होना ही चाहिए, अत: इसीका यहाँपर साङ्गोपाङ्ग नयदृष्टिसे विचार करते हैं—

परमागममें वाह्य व्याप्तिवश लौकिक व्यवहारको स्वीकार कर असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण करते हुए लिखा है कि जो अन्य द्रव्यके गुण-धर्मोको अन्य द्रव्यके कहता है वह असद्भूत व्यवहारनय है। नयचक्र-में कहा भी है—

अण्णेसिं अण्णगुणो भणइ असब्भूद्‌.......॥२२३॥

अन्यके गुणधर्मको अन्यका असद्भूत व्यवहारनय कहता है।

इसीको विशदरूपसे स्पष्ट करते हुए आलापपद्धतिमें भी वत-लाया है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहार: ।

अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका हुए अन्यमें समारोप करना असद्भूत व्यवहार है।

इसके मुख्य दो भेद हैं—उपचरित असद्भूत व्यवहारनय और अनुप-चरित असद्भूत व्यवहारनय। वृहद्द्रव्यसंग्रहमें 'पुग्गल कम्मादीणं कत्ता' इस गाथाके व्याख्यानके प्रसंगसे उदाहरण पूर्वक इन नयोंका खुलासा करते हुए लिखा है—

मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्नुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां, 'आदि' शब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्‌गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघट-पटादीनां च कर्ता भवति ।

मन, वचन और कायके व्यापारसे होनेवाली क्रियासे रहित ऐसा जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसकी भावनासे रहित हुआ यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका, आदि शब्दसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारकरूप तीन शरीर और आहार आदि छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्‌गल पिण्डरूप नोकर्मोंका तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा बाह्य विषय घट-पट आदिका कर्ता होता है।

उक्त कथनका तात्पर्य है कि परमार्थसे कर्म, नोकर्म और घट-पट आदिका जीव कर्ता हो और वे उसके कर्म हों ऐसा नहीं है। परन्तु जैसा कि नयचक्र और आलापपद्धतिमें बतलाया है उसके अनुसार एक द्रव्यके गुणधर्मोंको दूसरे द्रव्यका कहनेवाला जो उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है उस अपेक्षासे यहाँपर जीवको पुद्‌गलकर्मो, नोकर्मों और घट-पट आदिका कर्ता कहा गया है तथा पुद्‌गलकर्म, नोकर्म और घट-पट आदि उसके कर्म कहे गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि जहाँ शास्त्रोंमें भिन्न कर्तृ-कर्म आदिरूप व्यवहार किया गया है वहाँ उसे उपचरित अर्थात् प्रयोजन विशेषसे कल्पित ही जानना चाहिए, क्योंकि किसी एक द्रव्यके कर्तृत्व और कर्मत्व आदि छह कारक धर्मोंका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्त अभाव है और यह ठीक भी है, क्योंकि जब कि एक द्रव्यकी विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायमें बाह्य निमित्त है' यह कथन ही व्यवहारनयका विषय है[1] तब भिन्न कर्तृ-कर्म आदि रूप व्यवहारको वास्तविक कैसे माना जा सकता है? तात्पर्य यह है कि जहाँ दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्ता-कर्म आदिरूप व्यवहार करते हैं वहाँ जिसमें अन्य द्रव्यके कर्तृत्व आदि धर्मोंका उपचार किया गया है वह स्वतन्त्र द्रव्य है और जिसमें अन्य द्रव्यके कर्मत्व आदि धर्मोंका उपचार किया गया है वह स्वतन्त्र द्रव्य है, उन दोनों

---

१. व्यवहारनयस्यापितौ उदासीनौ पञ्चा० गा० ८९ टीका। व्यवहारेण गति-स्थित्यवगाहनरूपेण। पञ्चा० गा० ९६ टीका।

द्रव्योंका परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध न होनेसे व्याप्य-व्यापकभाव भी नहीं है तथा उनमें एक-दूसरेके कर्तृत्व और कर्मत्व आदिरूप धर्म भी नहीं उपलब्ध होते। फिर भी प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर लोकानुरोधवश उनमें यह इसका कर्ता है और यह इसका कर्म है इत्यादि रूप व्यवहार होता हुआ देखा जाता है। इससे विदित होता है कि शास्त्रोंमें ऐसे व्यवहारको जो असद्भूत व्यवहारनयका विपय कहा है वह ठीक ही कहा है। स्पष्ट है कि यह व्यवहार उपचरित ही है, परमार्थभूत नहीं। इसी तथ्यको दूसरे शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए श्री आ० देवसेन भी अपने श्रुतभवनदीपक नयचक्रमें 'ववहारोऽभूयत्थो' इत्यादि गाथाओंके व्याख्यानके प्रसंग से क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

उपनयोपजनितो व्यवहारः प्रमाण-नय-निक्षेपात्मा। भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः। कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत् ? सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तु उपचारोत्पादकत्वात् उपचरितासद्भूतस्तु उपचारादपि उपचारोत्पादकत्वात्। योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थः।.... अतएव व्यवहारोऽपरमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थः।

प्रमाण, नय और निक्षेपात्मक जितना भी व्यवहार है वह सब उपनयसे उपजनित है। भेद द्वारा और उपचार द्वारा वस्तु व्यवहृत की जाती है, इसलिए इसकी व्यवहार संज्ञा है।

शंका—इस व्यवहारका उपनय जनक है यह कैसे ?

समाधान—भेदका उत्पादक सद्भूत व्यवहार है, उपचारका उत्पादक असद्भूतव्यवहार है और उपचारसे भी उपचारका उत्पादक उपचरित असद्भूतव्यवहार है। और जो यह भेद लक्षणवाला तथा उपचार लक्षणवाला अर्थ है वह अपरमार्थ है।....अतः व्यवहार अपरमार्थका प्रतिपादक होनेसे अपरमार्थरूप है। तात्पर्य यह है कि यावन्मात्र व्यवहार विकल्पका विषय है, परमार्थस्वरूप नहीं।

यह आ० देवसेनका कथन है। इस द्वारा इन्होंने जब कि एक अखण्ड द्रव्यमें गुण-गुणी आदिके आश्रयसे होनेवाले सद्भूत व्यवहारको ही अपरमार्थभूत वतलाया है ऐसी अवस्थामें दो द्रव्योंके आश्रयसे कर्ता-कर्म आदि रूप जो उपचरित और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार होता है उसे परमार्थभूत कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जा सकता यह स्पष्ट ही है।

यहाँ पर कोई शंका करता है कि यदि भिन्न कर्तृ-कर्म आदिरूप व्यवहार उपचरित ही है तो शास्त्रोंमें उसका निर्देश क्यों किया गया है? समाधान यह है कि उपचरित कथन द्वारा अनुपचरित अर्थकी प्रसिद्धि होती है इस प्रयोजनको ध्यानमें रखकर शास्त्रोंमें इसका कथन किया गया है। नयचक्रमें कहा भी है—

तह उपयारो जाणह साहणहेऊ अणुवयारे ॥२८८॥

उसी प्रकार अनुपचारकी सिद्धिका हेतु उपचारको जानो ॥२८८॥

इसी तथ्यकी पुष्टि अनगारधर्मामृतके इस वचनसे भी होती है—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१-१०२॥

जिस द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिए वस्तुसे भिन्न कर्त्ता आदि साधे जाते हैं वह व्यवहार कहलाता है तथा जिस द्वारा वस्तुसे अभिन्न कर्त्ता आदिकी प्रतिपत्ति होती है वह निश्चय है ॥१-१०२॥

यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि जो वचन स्वयं असत्यार्थ होकर भी इष्टार्थकी सिद्धि करता है वह आगममें और लोकव्यवहारमें असत्य नहीं माना जाता। उदाहरणस्वरूप 'चन्द्रमुखी' शब्दको लीजिए। यह शब्द ऐसी नारीके लिए प्रयुक्त होता है जिसका मुख मनोज्ञ और आभायुक्त होता है। यह इष्टार्थ है। 'चन्द्रमुखी' शब्दसे इस अर्थका ज्ञान हो जाता है, इसलिए लोक-व्यवहारमें ऐसा वचन प्रयोग होता है तथा इसी अभिप्रायसे साहित्यमें भी इसे स्थान दिया गया है। परन्तु इसके स्थानमें यदि कोई इस शब्दके अभिधेयार्थको ग्रहण कर यह मानने लगे कि अमुक स्त्रीका मुख चन्द्रमा ही है तो वह असत्य ही माना जायगा, क्योंकि किसी भी स्त्रीका मुख न तो कभी चन्द्रमा हुआ है और न हो सकता है।

यह एक उदाहरण है। प्रकृतमें इस विषयको और भी स्पष्टरूपसे समझनेके लिए हम भारतीय साहित्यमें विशेषतः अलंकार शास्त्रमें लोकानुरोधवश विविध वचनप्रयोगोंको ध्यानमें रखकर निर्दिष्ट की गई तीन वृत्तियोंकी ओर विचारकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। वे तीन वृत्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। माना कि शास्त्रोंमें ऐसे वचनप्रयोग उपलब्ध होते हैं जहाँ मात्र अभिधेयार्थकी मुख्यता होती है। जैसे 'जो चेतनालक्षण भावप्राणसे जीता है वह जीव' इस वचन द्वारा जो कहा गया, जीव नामक पदार्थ ठीक वैसा ही है, अन्यथा नहीं है, इसलिए यह वचन मात्र अभिधेयार्थका कथन करनेवाला होनेसे यथार्थ है।

परन्तु इसके साथ शास्त्रोंमें ऐसे वचन भी वहुलतासे उपलब्ध होते हैं जिनमें अभिधेयार्थकी मुख्यता न होकर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थकी ही मुख्यता रहती है। इसे ठीक तरहसे समझनेके लिए उदाहरणस्वरूप 'गङ्गायां घोपः, मञ्चाः क्रोशन्ति, धनुर्धावति' ये वचन प्रयोग लिए जा सकते हैं। 'गङ्गायां घोपः' इसका अभिधेयार्थ है—गंगाकी धारमें घोष, लक्ष्यार्थ है—गंगाके निकटवर्ती प्रदेशमें घोप और व्यंग्यार्थ है—गंगाके निकट शीतल वातावरणमें घोप । 'मंचाः क्रोशन्ति' का अभिधेयार्थ है—मंच चिल्लाते हैं, लक्ष्यार्थ है—मंचपर बैठे हुए पुरुप चिल्लाते हैं। तथा 'धनुर्धावति' का अभिधेयार्थ है—धनुप दौड़ता है और लक्ष्यार्थ है—धनुप युक्त पुरुप दौड़ता है[1]। इस प्रकार एक-एक शब्द प्रयोगके ये क्रमशः तीन और दो-दो अर्थ हैं। परन्तु उनमेंसे प्रकृतमें इन शब्द प्रयोगोंका अभिधेयार्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि न तो गंगाकी धारमें घोपका होना ही सम्भव है और न ही मञ्चका चिल्लाना या धनुपका दौड़ना ही सम्भव है। फिर भी व्यवहारमें ऐसे वचन प्रयोग होते हुए देखे जाते हैं, अतएव साहित्यमें भी इन्हें स्थान दिया गया है। फलस्वरूप जहाँ भी ऐसे वचन-प्रयोग उपलब्ध हों वहाँ उनका अभिधेयार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ही लेना चाहिए। यही वात प्रकृतमें भी जाननी चाहिए। २१-२-४४·

इसमें सन्देह नहीं कि आगममें व्यवहारनयकी अपेक्षा एक द्रव्यको विवक्षित पर्यायकी अपेक्षा दूसरे द्रव्यके परिणामस्वरूप कार्यका कर्ता आदि कहा गया है। परन्तु वहाँ पर वह कथन अभिधेयार्थको ध्यानमें रखकर किया गया है या लक्ष्यार्थको ध्यानमें रखकर किया गया है इसे समझकर ही इष्टार्थका निर्णय करना चाहिए।

प्रकृतमें ऐसे कथन द्वारा निश्चयार्थ की सिद्धि की जाती है, क्योंकि वह वास्तविक है। यदि इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर उक्त प्रकारका वचन प्रयोग किया जाता है तो उसका अभिधेयार्थ असत्य होने पर भी लोक व्यवहारमें लक्ष्यार्थ (इष्टार्थ) की दृष्टिसे वह असत्य नहीं माना जाता। साथ ही आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें जो '**जह ण वि सक्कमणज्जो**' इत्यादि सूत्रगाथा निवद्ध की है वह भी इस गर्भित अर्थको सूचित करनेके लिए ही निवद्ध की है। उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार अनार्य पुरुपको अनार्य भापाके विना किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करनेके लिए कोई

---

१. लक्षणा दो प्रकारकी होती है—रूढ़िमूला और प्रयोजनवती। रूढ़िमूला

इसकी सिद्धि करनेके लिए ही किया गया है, इसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। विशेष खुलासा हम आगेके प्रकरणोंमें करनेवाले हैं ही।

इस प्रकार एक द्रव्यकी विवक्षित पर्याय दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायका कर्ता आदि है या उसे परिणमाता है या उसमें अतिशय उत्पन्न करता है यह कथन परमार्थभूत न होकर उपचरित कैसे है इसकी संक्षेपमें मीमांसा की। साथ ही परमागममें जो इस प्रकारका कथन उपलब्ध होता है वह भी परमार्थभूत अर्थकी प्रसिद्धि करनेरूप प्रयोजनको ध्यानमें रखकर ही किया गया है इसका भी प्रसंगसे विचार किया।

'व्यवहार धर्म साधन और निश्चय धर्म साध्य' इसको भी उक्त प्रकारसे व्यवहार कथन जानना चाहिए, क्योंकि परमागममें जहाँ भी इसे साधनरूपसे स्वीकार किया गया है वहाँ बाह्य व्याप्तिवश व्यवहार धर्मको साधन कहा गया है, क्योंकि अहिंसा, सत्य आदि व्यवहाररूप प्रवृत्ति करने मात्रसे यदि परमार्थ धर्मकी उत्पत्ति होना मान लिया जाय तो आगममें जो द्रव्यलिंगका कथन दृष्टिगोचर होता है वह नहीं बन सकता। अतः आगममें द्रव्यलिंग और भावलिंगके भेदसे जो दो प्रकारके लिंग बतलाये हैं वे तभी बन सकते हैं जब अहिंसा, सत्य आदि व्यवहाररूप मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति करते-करते निश्चयधर्मकी प्राप्ति हो जाती है अपनी इस अज्ञानमूलक मान्यताका परित्याग कर दिया जाय[1]। इससे सिद्ध है कि आगममें जहाँ भी परमार्थ धर्मकी प्रसिद्धिका व्यवहार हेतु जानकर व्यवहारधर्ममें साधनपनेका व्यवहार किया गया है इसके लिये १५२ से १५६ तककी गाथाओं पर तथा समयसारकलश १०५ से लेकर ११० तकके कलशोंपर दृष्टिपात कीजिये।

अब 'शरीर मेरा, धन-स्त्री-पुत्रादि मेरे, देश मेरा इत्यादि रूपसे जितना भी व्यवहार होता है वह उपचरित कैसे है इसका विचार करते हैं। यह तो आगम, गुरु उपदेश, युक्ति और स्वानुभवप्रत्यक्षसे ही सिद्ध है कि स्वतःसिद्ध, अनादि-अनन्त, विशदज्योति, सदा प्रकाशमान 'अहम् पद वाच्य' ज्ञायकस्वरूप यह आत्मा नामक पदार्थ स्वतन्त्र द्रव्य है और धन, शरीर, स्त्री-पुत्रादि पदार्थ स्वतन्त्र द्रव्य हैं, फिर भी इन धन आदि पदार्थोंको विशेषण बनाकर किसीको धनवाला आदि कहना उसे भी पूर्वोक्त उपचरित कथनके समान उपचरित ही जानना चाहिए। इस प्रकार शरीर मेरा, धन मेरा, स्त्री-पुत्रादि मेरे, देश मेरा इत्यादि रूपसे जितना भी कथन उपलब्ध होता है वह भी उपचरित क्यों है इसकी संक्षेपमें मीमांसा की।

---

(१) समय० कलश २४३।

६. नयप्ररूपणा

अब प्रसंगसे उपचरित कथनपर विस्तृत प्रकाश डालनेके लिए नैगमादि कतिपय नयोंका विषय किस प्रकार उपचरित है इसकी संक्षेपमें मीमांसा करते हैं—यह तो सुविदित सत्य है कि आगममें नैगमादि नयोंकी परिगणना सम्यक् नयोंमें की गयी है, इसलिये शंका होती है कि जो इनका विषय है वह परमार्थभूत है, इसलिए इनकी परिगणना सम्यक् नयोंमें की गई है या इसका कोई अन्य कारण है। समाधान यह है कि जो इनका विषय है उसे दृष्टिमें रखकर ये सम्यक् नय नहीं कहे गये हैं, किन्तु इन द्वारा भूतार्थकी प्रसिद्धि होती है, इसीलिए ये सम्यक् नय कहे गये हैं।

इन नयोंमें प्रथम नैगमनय है। यह संकल्पप्रधान नय है। इसके भावी वर्तमान और अतीत नैगम ऐसे तीन भेद हैं[1]। जो अनिष्पन्न अर्थको निष्पन्न के समान कहता है वह भावी नैगम है। जैसे प्रस्थ बनानेके लिए लायी गयी लकड़ीको प्रस्थ कहना। यहाँ संकल्प द्वारा लकड़ीमें प्रस्थका उपचार किया गया हैं। वर्तमानमें प्रारम्भ की गयी क्रियाको देखकर उसे निष्पन्न कहना यह वर्तमान नैगम है। जैसे पकते हुये चावलको देखकर चावल पक गया कहना। यहाँ संकल्प द्वारा पकते हुए चावलमें 'चावल पक गया' ऐसा उपचार किया गया है। जो कार्य हो चुका उसका वर्तमानमें आरोप कर कथन करना यह भूत नैगमनय है। जैसे आज भगवान् महावीरका निर्वाण दिन है यह कहना। यहाँ अतीत कालका वर्तमान कालमें संकल्प द्वारा उपचार किया गया है। इसी प्रकार नैगमनयके अन्य जितने भी भेद किये जाते हैं वे सब उपचार द्वारा ही अर्थको विषय करते हैं, इसलिए नैगमनयका विषय उपचरित होनेसे इसकी परिगणना उपचरित नयोंमें ही होती है।[1]

संग्रहनयके दो भेद हैं—पर संग्रह और अपर संग्रह। उनमेंसे सर्वप्रथम पर संग्रहके विषय महासत्ताकी दृष्टिसे विचार कीजिए। यह तो प्रत्येक आगमाभ्यासी जानता है कि जैनदर्शनमें स्वचतुष्टयरूप स्वरूपसत्ताके सिवाय ऐसी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है जो सब द्रव्यों और उनके गुण-पर्यायोंमें व्याप्त होकर तात्त्विकी एकता स्थापित करती हो। फिर भी अभिप्राय विशेषवश अर्थात् लोकमें जितने भी द्रव्य, गुण और पर्याय हैं वे सब पृथक्-पृथक् होकर भी स्वरूपसे सत् है इस लक्ष्यको स्पष्ट करनेके लिए जैनदर्शनमें सादृश्य सामान्यरूप महासत्ताको कल्पित किया गया है।

---

(१) तत्त्वार्थ श्लो० अ० १, सू० ३३ टीका।

इस द्वारा यह बतलाया गया है कि यदि कोई अद्वैतवादी कल्पित युक्तियों द्वारा जड़-चेतन सब पदार्थोंमें एकता स्थापित करना चाहता है तो वह उपचरित महासत्ताको स्वीकार करके उसके द्वारा ही ऐसा कर सकता है। परमार्थभूत स्वरूपास्तित्वके द्वारा नहीं। इसप्रकार इस नयके विषय पर विचार करनेसे विदित होता है कि जो इस नयका कथन है वह है तो उपचरित है ही, पर उससे फलितार्थ रूपमें सबके स्वरूपास्तित्वकी ही प्रसिद्धि होती है, इसलिए इसे आगममें स्थान मिला हुआ है। अपर संग्रह और स्थूल ऋजुसूत्र नयका विषय क्यों उपचरित है इसका भी इसी दृष्टिसे ऊहापोह कर लेना चाहिए, क्योंकि ये नय भी विवक्षावश अनेकमें एकत्वकी स्थापना कर अपने विषयको स्वीकार करते हैं।

व्यवहारनय विवक्षित धर्मों द्वारा भेद करके ही जीवादि द्रव्योंको स्वीकार करता है, इसलिये अध्यात्ममें इसकी भी उपचरित नयोंमें परिगणना होती है।

अब शेष रहे ऋजुसूत्र आदि चार पर्यायार्थिक नय सो इनका अन्तर्भाव सद्भूत व्यवहार नयमें होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें स्वभावसे अभेद होनेपर भी इनमें पर्यायाश्रित और शब्दाश्रित भेद कल्पना मुख्य है। पण्डितप्रवर आशाधरजी सद्भूत व्यवहार नयके लक्षणका निर्देश करते हुए अनगारधर्मामृत अ० १ श्लो० १०४ की स्वरचित टीकामें लिखते हैं—

तत्र सद्भूतः स्यात्। किंरूपः? भिदुपचारो भेदकल्पना। कस्यां सत्याम्? अभिदायामपि अभेदेऽपि।

इस प्रकार विचार करनेपर विदित होता है कि परमागममें प्रतिपादित इन सातों नयोंका अन्तर्भाव यथासम्भव सद्भूत व्यवहारनयमें और असद्भूत व्यवहारनयमें हानेसे ये उपचरित अर्थको ही विषय करते हैं। फिर भी इन द्वारा अनुपचरित अर्थकी प्रसिद्धि होती है, इसलिए इन्हें परमागममें सम्यक् नयरूपसे स्वीकार किया गया है। प्रकृतमें 'भिदुपचारः' का अर्थ पण्डितप्रवर आशाधरजीने 'भेदकल्पना' किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपचार और कल्पना इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए नयचक्रमें यह गाथा आई है—

णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेउं पज्जय-दव्वत्थियं मुणह ॥१८२॥

सब नयोंके मूल भेद निश्चयनय और व्यवहारनय हैं। पर्यायार्थिक नय और द्रव्यार्थिकनयको निश्चयकी सिद्धिका हेतु जानो ॥१८२॥

यहाँ पर्यायार्थिकनयसे ऋजुसूत्र आदि और द्रव्यार्थिक नयसे नैगमादि नय लिये गये हैं।

यह उपचरित कथनकी सर्वांग मीमांसा है। अब इस दृष्टिसे एकमात्र यह प्रश्न यहाँ विचार करनेके लिए शेष रहता है कि शास्त्रोंमें अखण्ड-स्वरूप एक वस्तुमें भेद करनेको भी भेद उपचार कहा गया है। इस तथ्यकी पुष्टि हम अनगारधर्मामृतका एक प्रमाण उपस्थित कर कर ही आये हैं। नयचक्रके इस वचनसे भी इसकी पुष्टि होती है। यथा—

> जो चिय जीवसहावो णिच्छयदो होइ सव्ववत्थूणं।
> सो चिय भेदुवयारा जाण फुडं होइ ववहारो ॥२३८॥

निश्चयनयसे सब जीवोंका जो जीव-स्वभाव है, भेदोपचार द्वारा वह भी व्यवहार है ऐसा स्पष्ट जानो ॥२३८॥

सो ऐसा क्यों? समाधान यह है कि अनन्त धर्मस्वरूप अखण्ड एक वस्तुमें विकल्प द्वारा भेद करनेको भेद-उपचार कहा गया है।[1] इसलिए प्रश्न होता है कि प्रत्येक द्रव्यमें 'यह ज्ञान है, दर्शन है, सुख है अथवा रूप है, रस है, गन्ध है, स्पर्श है इत्यादि रूपसे जो गुण-पर्यायभेद परिलक्षित होता है वह क्या वास्तविक नहीं है और यदि वास्तविक नहीं है तो प्रत्येक द्रव्यको भेदाभेदस्वभाव क्यों माना गया है? और यदि वास्तविक है तो भेदकथनको उपचरित नहीं मानना चाहिए। एक ओर तो गुण-पर्याय भेदको वास्तविक कहो और दूसरी ओर उसे उपचरित भी मानो ये दोनों बातें एक साथ नहीं बन सकतीं? समाधान यह है कि प्रत्येक द्रव्य वास्तवमें अनन्त धर्मात्मक एक अखण्ड वस्तु है, परन्तु जिन्हें इसकी खबर नहीं ऐसे जीवोंको उसके वास्तविक स्वरूपको समझानेके लिए अभेद स्वरूप उस वस्तुमें बुद्धिद्वारा धर्मोंकी अपेक्षा भेद उपजाकर ऐसा कथन किया जाता है कि जिसमें ज्ञान है, दर्शन है और चारित्र है वह आत्मा है या जिसमें रूप है, रस है, गन्ध है और स्पर्श है वह पुद्गल है आदि[2]। इससे विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य वास्तवमें अभेदस्वरूप होते हुए भी प्रयोजनविशेष आदिको लक्ष्यमें रखकर ही उसमें भेद कल्पना की जाती है और इसीलिए व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंको ध्यानमें रखकर उसे परमागममें भेदाभेदस्वभाव कहा गया है, केवल परमार्थको लक्ष्यमें रखकर

---

१. समय० गा० ७।

२. समय० गाथा ७, आ० ख्या० टीका।

नहीं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्रीमें ये कारिकाएँ आई हैं—

> द्रव्य-पर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
> परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभेदतः ॥७१॥
> संज्ञा-संख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
> प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥७२॥

द्रव्य और पर्यायोंमें अव्यतिरेक होनेसे उनमें ऐक्य अर्थात् अभेद है, उनमें जो भेद लक्षित होता है वह परिणामविशेष, शक्ति-मान्-शक्तिभेद, संज्ञाविशेष, संख्याविशेष, स्वलक्षणविशेष और प्रयोजनविशेष आदिकी अपेक्षा ही लक्षित होता है। द्रव्य और पर्यायोंमें यह नानात्व सर्वथा नहीं है। २२-२-४४.

यह भेदरूप उपचारकी संक्षेपमें मीमांसा है। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जितने भी अध्यवसान भाव हैं वे सब छोड़ने योग्य हैं, इस कथनका आशय यह है कि सद्भूत और असद्भूत जितना भी व्यवहार है वह सब छोड़ने योग्य है, अर्थात् मोक्षमार्गमें आरूढ़ होनेके लिए उनके आश्रयसे प्रवृत्ति करना उचित नहीं है[१]। आशय यह है कि यह जीव अनादि कालसे असद्भूत व्यवहार और सद्भूत व्यवहार (भेद-उपचार) को मुख्य मान कर पराश्रित होनेके साथ पर्यायमूढ़ बना चला आ रहा है, जिससे वह संसारका पात्र बना हुआ है। किन्तु यह संसार दुःखदायी और राग, द्वेष, मोहसे व्याप्त है ऐसा समझकर उससे निवृत्त होनेके लिए सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकारके उपचारको गौण करनेके साथ अभेदस्वरूप अखण्ड अपने आत्मापर दृष्टि स्थिर कर तन्मय हो स्वसमयरूपसे प्रवृत्त होना आवश्यक है, क्योंकि वह वस्तुका स्वभाव होनेसे धर्म है। शुद्ध चैतन्यका प्रकाश इसीका दूसरा नाम है[२]। तभी वह राग-द्वेष-अज्ञानमय संसार परिपाटीसे मुक्त हो परमानन्द स्वरूप अपने आत्माका भोक्ता हो सकेगा। मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होनेके लिए वर्तमानमें इस जीवका यह मुख्य प्रयोजन है। यही कारण है कि इस प्रयोजनको ध्यानमें रखकर परमागममें मोक्षेच्छुक जीवको सभी प्रकारके व्यवहारसे परावृत्त करानेका उपदेश दिया जाता है[३]।

---

१. समय० गाथा १५० कलश १०९, ११०।
२ प्रवच० गा० ८ ज्ञा० त० प्र० टी०।

यद्यपि सद्भूत व्यवहारसे असद्भूत व्यवहारमें मौलिक अन्तर है। सद्भूत व्यवहार जहाँ धर्मीसे धर्मोका प्रयोजनादिवश भेद स्वीकार करके प्रवृत्त होता है वहाँ असद्भूत व्यवहार विवक्षित वस्तुसे भिन्न वस्तुमें कर्ता कारक आदिका आरोप करनेसे स्वीकार किया जाता है। इसलिए इन दोनोंको एक कोटिमें परिगणना नहीं की जा सकती। प्रकृतमें एकको सद्भूत व्यवहार और दूसरेको असद्भूत व्यवहार कहनेका कारण भी यही है। इतना अवश्य है कि मोक्षमार्गमें ये दोनों प्रकारके व्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं हैं। चिन्मूर्ति एक अखण्ड ज्ञायकस्वरूप आत्मापर दृष्टि स्थापित करनेके लिए जहाँ सद्भूत व्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है वहाँ पराश्रित बुद्धिसे परावृत्त होकर जीवनमें स्वाश्रितपनेकी प्रसिद्धि करनेके लिए असद्भूत व्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है।

इस प्रकार आगममें उपचरित कथन कितने प्रकारसे किया गया है और वह कहाँ किस आशयसे किया गया है इसका सम्यक् विचार कर अब अनुपचरित कथनकी संक्षेपमें मीमांसा करते हैं—

अनुपचरित कथनका विस्तृत विचार

(१) यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणामी-नित्य है। इसलिए वह अपने नित्य स्वभावको न छोड़ते हुए अपने इस परिणमनस्वभावके कारण ही परिणमन कर पूर्व-पूर्व पर्यायके व्ययपूर्वक उत्तर-उत्तर पर्यायको प्राप्त करता है। अन्य कोई परिणमन करावे तब वह परिणमन करे, अन्यथा न करे ऐसी वस्तु व्यवस्था नहीं है[1]। कार्य-कारणपरम्परामें यह सिद्धान्त परमार्थभूत अर्थका प्रतिपादन करनेवाला है। इससे परमार्थको लक्ष्यमें रखकर ये तथ्य फलित होते हैं—

१. यह जीव अपने ही कारणसे स्वयं संसारी बना हुआ है और अपने ही कारणसे मुक्त होता है, इसलिए यथार्थरूपसे कार्य-कारण भाव एक ही द्रव्यमें घटित होता है। नयचक्रमें कहा भी है—

> बंधे च[2] मोक्खहेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
> णिच्छयदो पुण जीवो भणियो खलु सव्वदरसीहिं ॥२३७॥

व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहारसे) बन्ध और मोक्षका हेतु अन्य

१. समय० गा० ११६ से १२५ आ० ख्या० टी०।

२. 'बंधेय इति पाठः' ना० ज्ञा०। इस पाठ के अनुसार 'व्यवहारसे बन्धके समान मोक्षका हेतु अन्यको जानना चाहिए' ऐसा होता है। आशय दोनों का एक ही है।

पदार्थको जानना चाहिए। किन्तु निश्चयसे (परमार्थसे) यह जीव स्वयं ही बन्धका हेतु है और यही जीव स्वयं ही मोक्षका हेतु है ऐसा सर्वदर्शी जिनने कहा है।

हरिवंशपुराणमें इसी अर्थको इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥५२-५८॥

यह जीव स्वयं ही कर्मको करता है, स्वयं ही उसके फलको भोगता है, स्वयं ही संसारमें भ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त होता है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तुका परिणाम परनिरपेक्ष ही होता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए जयधवला पु० ७ पृ० ११७ में यह वचन उपलब्ध होता है—

वज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद-व्ययरूप जितने भी कार्य होते हैं वे सब बाह्य कारण निरपेक्ष ही होते हैं।

२. जो स्वयं कार्यरूप परिणमता है वह कर्ता है, उसका जो परिणाम होता है वह कर्म है। करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही स्वयं है[1]। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें स्वयं षट् कारकरूपसे अवस्थित है।

३. प्रत्येक द्रव्यकी अपनी प्रत्येक समयकी पर्याय अपने उपादानके अनुसार स्वयं (परकी अपेक्षा किये बिना) अपने परिणमन स्वभावके होनेसे क्रमनियमित ही होती है[2]। बाह्य उपाधि स्वयं (परकी अपेक्षा किये बिना) व्यवहार हेतु है, इसलिए वह स्वयं या अन्य किसीके द्वारा आगे-पीछे की जा सके ऐसा नहीं है। वह बाह्य हेतुवश आगे-पीछे की जा सकती है ऐसा जो कहते हैं वह उनका विकल्पमात्र है।

४. प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। इसमें उसके गुण और पर्याय भी उसी प्रकार स्वतन्त्र हैं यह कथन आ ही जाता है। इसलिए विवक्षित किसी एक द्रव्यका या उसके गुणों और पर्यायोंका अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायोंके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है। समयसार कलशमें कहा भी है—

१. प्रवच० ज्ञा० न० प्र० टी०।
२. समय० कलश १६८।

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः
कर्तृ-कर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

यह परमार्थ सत्य है। इसलिए एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ जो संयोगसम्बन्ध, संश्लेशसम्बन्ध या आधार-आधेयभाव आदि कल्पित किया जाता है उसे अपरमार्थभूत ही जानना चाहिए। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए कटोरीमें रखा हुआ घी लीजिए। हम पूछते हैं कि उस घीका परमार्थभूत आधार क्या है—कटोरी है या घी ? आप कहोगे कि घीके समान कटोरी भी है, तो हम पूछते हैं कि कटोरीको औंधा करनेपर वह गिर क्यों जाता है ? 'जो जिसका वास्तविक आधार होता है उसका वह कभी भी त्याग नहीं करता।' इस सिद्धान्तके अनुसार यदि कटोरी भी घीका वास्तविक आधार है तो उसे कटोरीको कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। परन्तु कटोरीके औंधा करनेपर वह कटोरीको छोड़ ही देता है। इससे मालूम पड़ता है कि कटोरी घीका वास्तविक आधार नहीं है। उसका वास्तविक आधार तो घी ही है, क्योंकि वह उसे कभी भी नहीं छोड़ता। व्यवहारसे वह चाहे कटोरीमें रहे, चाहे भूमिपर रहे या चाहे उड़कर हवामें कण-कण होकर विखर जाये, वह रहेगा घी ही[1]। (यहाँपर यह दृष्टान्त घीरूप पर्यायको द्रव्य मानकर दिया है, इसलिए घीरूप पर्यायके बदलनेपर वह वदल जाता है यह कथन प्रकृतमें लागू नहीं होता।) यह एक उदाहरण है। इसीप्रकार प्रयोजनवश कल्पित किये गये जितने भी सम्बन्ध हैं उन सबके विषयमें इसी दृष्टिकोणसे विचार कर लेना चाहिए। स्पष्ट है कि माने गये सम्बन्धोंमें एकमात्र तादात्म्य सम्बन्ध ही परमार्थभूत है। इसके सिवा बाह्य संयोग आदिकी दृष्टिसे अन्य जितने भी सम्बन्ध कल्पित किये जाते हैं उन्हें उपचरित अतएव अपरमार्थभूत ही जानना चाहिए। वहुतसे मनीषी यह मानकर कि इससे व्यवहारका लोप हो जायगा ऐसे कल्पित सम्बन्धोंको परमार्थभूत माननेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु यह उनकी सबसे बड़ी भूल है, क्योंकि इस भूलके सुधरनेसे यदि उनके व्यवहारका लोप होकर परमार्थकी प्राप्ति होती है तो अच्छा ही है। ऐसे व्यवहारका लोप भला किसे इष्ट नहीं होगा। इस संसारी जीवको स्वयं निश्चयस्वरूप बननेके लिए अपनेमें अनादिकालसे चले आ रहे इस अज्ञानमूलक व्यवहारका ही तो लोप करना है। उसे और करना ही क्या है। वास्तवमें देखा जाय तो यह

१. सर्वा० अ० ५, सू० १२।

उसका परम (सम्यक्) पुरुषार्थ है, इसलिए व्यवहारका लोप हो जायगा इस भ्रान्तिवश परमार्थको भूलकर व्यवहारको ही परमार्थरूप समझनेकी चेष्टा करना उचित नहीं है।

५. जीवकी संसार और मुक्त अवस्था है और वह वास्तविक है इसमें सन्देह नहीं।[1] पर इस आधारसे कर्म और आत्माके अन्योन्यावगाहरूप सम्बन्धको परमार्थभूत मानना उचित नहीं है। जीवका संसार उसीकी पर्यायमें है और मुक्ति भी उसीकी पर्यायमें है। ये वास्तविक हैं और कर्म तथा आत्माका अन्योन्यावगाहरूप सम्बन्ध[2] उपचरित है। स्वयं अन्योन्यावगाहरूप सम्बन्ध यह शब्द ही जीव और कर्मके पृथक्-पृथक् होनेका ख्यापन करता है। इसीलिए यथार्थ अर्थका ख्यापन करते हुए शास्त्रकारोंने यह वचन कहा है कि जिस समय आत्मा रागादिवश शुभ भावरूपसे परिणत होता है उस समय वह स्वयं शुभ है, जिस समय अशुभ भावरूपसे परिणत होता है उस समय वह स्वयं अशुभ है और जिस समय स्वाश्रित शुद्ध भावरूपसे परिणत होता है उस समय वह स्वयं शुद्ध है[3]। यह कथन एक ही द्रव्यके आश्रयसे किया गया है, अपनेसे सर्वथा भिन्न द्रव्यके आश्रयसे नहीं, इसलिए परमार्थभूत है और कर्मोंके कारण जीव शुभ या अशुभ होता है और कर्मोंका अभाव होनेपर शुद्ध होता है यह कथन परके आश्रयसे किया गया होनेसे अपरमार्थभूत पराश्रित व्यवहारनयका विषय है।[4] क्योंकि जब ये दोनों द्रव्य स्वतन्त्र हैं और एक द्रव्यके गुण धर्मका दूसरे द्रव्यमें संक्रमण होता नहीं तब एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका कारणरूप धर्म और दूसरे द्रव्यमें उसका कर्मरूप धर्म कैसे रह सकता है, अर्थात् नहीं रह सकता[5]। यह कथन थोड़ा सूक्ष्म तो है, परन्तु वस्तुस्थिति यही है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम तत्त्वार्थसूत्रका एक वचन उद्धृत करना चाहेंगे। तत्त्वार्थसूत्रके १० वें अध्यायके प्रारम्भमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति कैसे होती है इसका निर्देश करते हुए कहा है—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१०-१॥

---

१. हरिवंश अ० ५२, श्लो० ५८।

२. समय० गा० ७३ आ० ख्या० टी०।

३. प्रवच० गा० ९, ज्ञा० त० प्र० टी०।

४. पराश्रितो व्यवहारनयः समय० गा० २७२ आ० ख्या० टी०।

५. प्रवच० गा० १६ ज्ञा० त० प्र० टी०।

मोहनीय कर्मके क्षयसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मके क्षयसे केवलज्ञान होता है ॥१०-१॥

यहाँपर केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बाह्य हेतु क्या है इनका निर्देश करते हुए बतलाया है कि वह मोहनीय कर्मके क्षयके बाद ज्ञानावरणादि तीन कर्मोंके क्षयसे होता है। यहाँपर क्षयका अर्थ प्रध्वंसाभाव है, अत्यन्ताभाव नहीं, क्योंकि किसी भी द्रव्यका पर्यायरूपसे ही व्यय होता है, द्रव्यरूपसे नहीं। अब विचार कीजिए कि ज्ञानावरणादिरूप जो कर्मपर्याय है उसके नाशसे उसकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय प्रकट होगी कि जीवकी केवलज्ञान पर्याय प्रगट होगी[1]। एक बात और है वह यह कि जिस समय स्वाश्रित केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है उस समय तो ज्ञानावरणादि कर्मोंका अभाव ही है, इसलिए यह प्रश्न होता है कि यहाँ ज्ञानावरणादि कर्मके अभाव रूप क्षयसे कौनसा अभाव लिया गया है—भावान्तर स्वभाव अभाव लिया गया है या सर्वथा अभाव लिया गया है ?

यदि कहो कि यहाँपर अभावसे सर्वथा अभाव नहीं लिया गया है। किन्तु भावान्तर स्वभावरूप अभाव लिया गया है, तो हम पूछते हैं कि वह भावान्तर स्वभावरूप अभाव क्या वस्तु है ? इसका नाम निर्देश करना चाहिए। यदि कहो कि यहाँ पर भावान्तर स्वभाव अभावसे ज्ञानावरणादि कर्मोंकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय ली गई है तो हम पूछते हैं कि यह आप किस आधारसे कहते हैं ? उक्त सूत्रसे तो यह अर्थ फलित होता नहीं। स्पष्ट है कि यहाँ पर जीवकी केवलज्ञान पर्याय प्रगट होनेका जो मूल हेतु उपादान कारणरूपसे परिणत स्वयं आत्मा है उसे तो गौण कर दिया गया है और जो ज्ञानकी मतिज्ञान आदि पर्यायोंका उपचरित हेतु था उसके अभावको हेतु बनाकर उसकी मुख्यतासे यह कथन किया गया है। यहाँ दिखलाना तो यह है कि जब केवलज्ञान अपने स्वभावके लक्ष्यसे प्रगट होता है तब ज्ञानावरणादि कर्मरूप उपचरित हेतुका सर्वथा अभाव रहता है, । क्योंकि निमित्तका अभाव होने पर नैमित्तिकका अभाव होता ही है, परन्तु इसे (अभावको) बाह्य हेतु बनाकर यों कहा गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रगट होता है। यह व्याख्यानकी शैली है जिसके शास्त्रोंमें पद पदपर दर्शन होते हैं।[1] परन्तु यथार्थ बातको समझे बिना इसे ही कोई यथार्थ मानने लगे तो उसे क्या कहा जाय ? यह तो हम मानते हैं कि व्यवहारकी मुख्यतासे

---

१ द्व गतिमनन्तचतुष्टयं प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति लोकाग्रमिति। मूला० समय० अधिकार गाथा १०, टीका।

कथन करनेवाले जितने भी शास्त्र हैं उनमें प्रायः उपादानको गौण करके कहीं बाह्य निमित्तकी मुख्यतासे कथन किया गया है, कहीं लौकिक व्यवहारकी मुख्यतासे कथन किया गया है और कहीं अन्य प्रकारसे कथन किया गया है। पर ऐसे कथनका प्रयोजन क्या है इसे तो समझे नहीं और उसे ही यथार्थ कथन मानकर श्रद्धान करने लगे तो उसकी इस श्रद्धाको यथार्थ कहना कहाँ तक उचित होगा इसका विचक्षण पुरुष स्वयं विचार करें। वास्तवमें बाह्य वस्तु उपचरित हेतु होता है, मुख्य हेतु नहीं। मुख्य हेतु तो सर्वत्र अपना उपादान ही होता है, क्योंकि वास्तवमें कार्यकी उत्पत्ति उसीके अनुसार होती है। फिर भी वह बाह्य वस्तु (उपचरित हेतु) होनेसे उस द्वारा सुगमतासे इष्टार्थका ज्ञान हो जाता है, इसलिए आगममें बहुलतासे उसकी मुख्यतासे कथन किया गया है। इसलिए जहाँ जिस दृष्टिकोणसे कथन किया गया हो उसे समझकर ही तत्त्वका निर्णय करना चाहिए।

ये उपचरित और अनुपचरित कथनके कुछ उदाहरण हैं जो गौण-मुख्यभावसे यथा प्रयोजन शास्त्रोंमें स्वीकार किये गये हैं। उदाहरणार्थ जो दर्शनशास्त्रके ग्रन्थ हैं उनकी रचनाका प्रयोजन ही भिन्न है, इसलिए वहाँ पर मोक्षमार्गकी दृष्टिसे स्वसमयके प्रतिपादनकी मुख्यता न होकर परसमयके निरसनपूर्वक स्वसमयकी स्थापना करना उनका मुख्य प्रयोजन है। फलस्वरूप उनमें कहीं तो उपचरित अर्थकी मुख्यतासे कथन किया गया है, कहीं अनुपचरित अर्थकी मुख्यतासे कथन किया गया है और कहीं उपचरित और अनुपचरित दोनों अर्थोंकी मुख्यतासे कथन किया गया है। किन्तु साक्षात् मोक्षमार्गकी दृष्टिसे स्वसमयका विवेचन करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्रके ग्रंथ हैं उनकी स्थिति इनसे भिन्न है[1]। यदि विचार कर देखा जाय तो इनकी रचनाका प्रयोजन ही जुदा है। इन द्वारा प्रत्येक जीवको अपनी उस शक्तिका ज्ञान कराया गया है जो उसकी संसार और मुक्त अवस्थाका मुख्य हेतु है, क्योंकि जबतक इस जीवको अपनी निज शक्तिका ठीक तरहसे ज्ञान नहीं होता और विकल्पों तथा मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिद्वारा वह बाह्य द्रव्यादिके जोड़-तोड़में लगा रहता है तो तब तक उसका संसार बन्धनसे मुक्त होना तो दूर रहा वह मोक्षमार्गका पात्र भी नहीं बन सकता। अतः इन शास्त्रोंमें हेयोपादेयका ज्ञान करानेके

१ सर्वस्यागमस्य स्वसमयपरसमयानाञ्च सारभूतं समयसाराख्यमधिकारम् ………। मूलाचार समयसार अधिकारकी प्रारम्भकी उत्थानिका।

लिए उपचरित कथनको और भेदरूप व्यवहारको गौण करके अनुपचरित और अभेदरूप (निश्चय) कथनको मुख्यता दी गयी है और उस द्वारा निश्चयस्वरूप आत्माका ज्ञान कराते हुए एकमात्र उसीका आश्रय लेनेका उपदेश दिया गया है।

यह तो सुनिश्चित बात है कि जितना भी व्यवहार है वह पराश्रित होनेसे हेय है, क्योंकि यह जीव अनादिकालसे अपने स्वरूपकी सम्हाल किये बिना राग, द्वेष, मोहद्वारा परका आश्रय लिए हुए है, अतएव संसारका पात्र बना हुआ है। अब इसे जिसमें पराश्रयपनेका लेश भी नहीं है ऐसे अपने स्वाश्रयपनेको अपनी श्रद्धा, ज्ञान और चर्याके द्वारा अपनेमें ही प्रगट करना है तभी वह अध्यात्मवृत्त होकर मोक्षका पात्र बन सकेगा। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थामें ऐसे जीवका चारित्रकी अपेक्षासे पराश्रयपना सर्वथा छूट जाता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि उसमेंसे पराश्रयपनेकी अन्तिम परिसमाप्ति विकल्पज्ञानके निवृत्त होनेपर ही होती है। फिर भी सर्वप्रथम यह जीव अपनी श्रद्धा द्वारा पराश्रयपनेसे मुक्त होता है। उसके बाद वह चर्याका रूप लेकर विकल्प ज्ञानसे निवृत्त होता हुआ क्रमशः निर्विकल्प समाधिदशामें परिणत हो जाता है। जीवकी यह स्वाश्रय वृत्ति अपनी श्रद्धा, ज्ञान और चर्यामें किस प्रकार उदित होती है इसका निर्देश करते हुए छहढालामें कहा भी है—

> जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डार अन्तर भेदिया।
> वरणादि अरु रागादि तैं निज भावको न्यारा किया॥
> निजमांहि निजके हेत निजकरि आपको आपे गह्यो।
> गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय मझार कछु भेद न रह्यो॥

इस छन्दमें सर्वप्रथम उत्तम बुद्धिरूपी पैनी छैनीके द्वारा अन्तरको भेदकर वर्णादिक और रागादिकसे निज भाव (ज्ञायक-स्वभाव आत्मा) को जुदा करनेकी प्रक्रियापूर्वक, निज भावको अपनेमें ही अपने द्वारा अपने लिए ग्रहणकर यह गुण है, यह गुणी है, यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है और यह ज्ञेय है इत्यादि विकल्पोंसे निवृत्त होनेका जो उपदेश दिया गया है सो इस कथन द्वारा भी उसी स्वाश्रयपनेका निर्देश किया गया है जिसका हम पूर्वमें उल्लेख कर आये हैं। इस द्वारा बतलाया गया है कि सर्वप्रथम इस जीवको यह जान लेना आवश्यक है कि वर्णादिकका आश्रयभूत पुद्गल द्रव्य भिन्न है और ज्ञायकस्वभाव आत्मा भिन्न है। किन्तु उसका इतना जानना तभी परिपूर्ण समझा जायगा जब उसकी व्यवहारसे परको

निमित्त कर होनेवाले रागादि भावोंमें भी परत्व बुद्धि हो जायगी, इसलिए इस जीवके ये रागादिक भाव ज्ञायक-स्वभाव आत्मासे भिन्न हैं यह जान लेना भी आवश्यक है। अब समझो कि किसी जीवने यह जान भी लिया कि मेरा ज्ञायक-स्वभाव आत्मा इन वर्णादिकसे और रागादिक भावोंसे भिन्न है तो भी उसका इतना जानना पर्याप्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि जबतक इस जीवकी यह बुद्धि बनी रहती है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति परसे होती है तबतक उसके जीवनमें परके आश्रयका ही बल बना रहनेसे उसने पराश्रय वृत्तियोंको त्याग दिया यह नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जो वर्णादिक और रागादिकसे अपने ज्ञायकस्वभाव आत्माको भिन्न जानता है वह यह भी जानता है कि प्रत्येक द्रव्यकी प्रति समयकी पर्याय परसे उत्पन्न न होकर अपने उपादानके अनुसार स्वयं ही उत्पन्न होती है। यद्यपि यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब कि प्रत्येक द्रव्यको प्रति समयकी पर्याय परसे उत्पन्न न होकर अपने उपादानके अनुसार स्वयं ही उत्पन्न होती है तब रागादि भाव परके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं यह क्यों कहा जाता है? समाधान यह है कि रागादि भावोंकी उत्पत्ति होती तो अपने उपादानके अनुसार स्वयं ही, अन्यसे त्रिकालमें उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि अन्य द्रव्यमें तद्भिन्न अन्य द्रव्यके कार्य करनेकी शक्ति ही नहीं पाई जाती। फिर भी रागादिभाव परके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं यह परकी ओर झुकाव-रूप दोष जतानेके लिए ही कहा जाता है। वे परसे उत्पन्न होते हैं इस-लिए नहीं। स्व-परकी एकत्व बुद्धिरूप मिथ्या मान्यताके कारण ही यह जीव संसारी हो रहा है। जीव और देहमें एकत्व बुद्धिका मुख्य कारण भी यही है। इस जीवको सर्वप्रथम इस मिथ्या मान्यताका ही त्याग करना है। इसके त्याग होते ही वह जिनेश्वरका लघुनन्दन बन जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी आगेकी स्वातन्त्र्य मार्गकी प्रक्रिया सुगम हो जाती है। अतएव व्यवहारनयकी मुख्यतासे कथन करनेवाले शास्त्रोंकी कथन शैलीसे अध्यात्मशास्त्रोंकी कथन शैलीमें जो दृष्टि भेद है उसे समझकर ही प्रत्येक मुमुक्षुको उनका व्याख्यान करना चाहिए। लोकमें जितने प्रकारके उपदेश पाये जाते हैं उनकी स्वमतके अनुसार किस प्रकार संगति बिठलाई जा सकती है यह दिखलाना जैनदर्शनका मुख्य प्रयोजन है, इसलिए उसमें कौन उपचरित कथन है और कौन अनुपचरित कथन है ऐसा भेद किये बिना यथासम्भव दोनोंको स्वीकार किया जाता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्रके कथनका मुख्य प्रयोजन जीवको स्व-परका विवेक

कराते हुए संसार बन्धनसे छुड़ानेका साक्षात् उपाय बतलाना है, इसलिए इसमें उपचरित कथनको गौण करके अनुपचरित कथनको ही मुख्यता दी गई है। इस प्रकार तीर्थंकरोंका समग्र वाङ्मय उपचरित कथन और अनुपचरित कथन इन दो भागोंमें कैसे विभाजित है इसकी विषय-प्रवेशकी दृष्टिसे संक्षेपमें मीमांसा की।

वस्तुस्वभावमीमांसा

उपजे विनशै थिर रहे एक काल त्रयरूप।
विधि-निषेधसे वस्तु यों वरते सहज स्वरूप॥

जीवन संशोधनमें तत्त्वनिष्ठाका जितना महत्त्व है, कर्ता-कर्म मीमांसा का उससे कम महत्त्व नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दने भूतार्थरूपसे अव-स्थित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष के श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहकर जीवा-जीवाधिकारके बाद कर्तृकर्म-अधिकार लिखा है, उसका कारण यही है। तथा आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें 'सदसतो:' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए मिथ्यादृष्टिके स्वरूपविपर्यास और भेदाभेदविपर्यासके समान कारणविपर्यास होता है यह उल्लेख इसी अभिप्रायसे किया है।

यह तो मानी हुई बात है कि विश्वमें जितने भी दर्शन प्रचलित हैं उन सबने तत्त्वव्यवस्थाके साथ कार्यकारणका जो क्रम स्वीकार किया है उसमें पर्याप्त मतभेद है। प्रकृतमें प्रत्येक दर्शनके आधारसे उनकी मीमांसा नहीं करनी है। वह इस पुस्तकका विषय भी नहीं है। यहाँ तो मात्र जैनदर्शनके आधारसे विचार करना है। तत्त्वार्थसूत्रमें द्रव्यका लक्षण सत् करके उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाव बतलाया गया है। गुण अन्वयस्वभाव होनेसे ध्रौव्यके अविनाभावी हैं और पर्याय व्यतिरेक-स्वभाव होनेसे उत्पाद और व्ययके अविनाभावी हैं, इसलिए प्रका-रान्तरसे वहाँपर द्रव्यको गुण-पर्यायवाला भी कहा गया है। चाहे द्रव्यको गुण-पर्यायवाला कहो और चाहे सत् अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव कहो, दोनों कथनोंका अभिप्राय एक ही है।

यों तो अपने-अपने विशेष लक्षणके अनुसार जातिकी अपेक्षा सब द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। उसमें भी

जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं, पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य असंख्यात हैं। फिर भी द्रव्यके इन सब भेद-प्रभेदोंमें द्रव्यका पूर्वोक्त एक लक्षण घटित हो जानेसे वे सब एक द्रव्य शब्द द्वारा अभिहित किये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि लोकमें अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताको लिए हुए चेतन और जड़ जितने भी पदार्थ हैं वे सब अन्वयरूप शक्तिकी अपेक्षा ध्रौव्यस्वभाववाले होकर भी पर्यायकी अपेक्षा प्रति समय स्वयं उत्पन्न होते हैं और स्वयं विनाशको प्राप्त होते हैं। कर्मने जीवको बाँधा है या जीव स्वयं कर्मसे बन्धको प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार कर्म जीवको क्रोधादिरूपसे परिणमाता है या जीव स्वयं क्रोधादिरूपसे परिणमन करता है। इन दोनों पक्षोंमें कौन-सा पक्ष जैनधर्ममें तत्त्वरूपसे ग्राह्य है इस विषयकी आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें स्वयं मीमांसा की है। उनका कहना है कि जीव द्रव्य यदि स्वयं कर्मसे नहीं बंधा है और स्वयं क्रोधादिरूपसे परिणमन नहीं करता है तो वह अपरिणामी ठहरता है और इस प्रकार उसके अपरिणामी हो जानेपर एक तो संसारका अभाव प्राप्त होता है दूसरे सांख्यमतका प्रसंग आता है। यह कहना कि जीव स्वयं तो अपरिणामी है परन्तु उसे क्रोधादि भावरूपसे क्रोधादि कर्म परिणत करा देते हैं उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जीवको स्वयं परिणमन स्वभाववाला नहीं माननेपर क्रोधादि कर्म उसे क्रोधादि भावरूपसे कैसे परिणमा सकते हैं? अर्थात् नहीं परिणमा सकते। यदि इस दोषका परिहार करनेके लिए जीवको स्वयं परिणमनशील माना जाता है तो क्रोधादि कर्म जीवको क्रोधादि भावरूपसे परिणमाते हैं यह कहना तो मिथ्या ठहरता ही है। साथ ही इस परसे यही फलित होता है कि जब यह जीव स्वयं क्रोधरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं क्रोध है, जब स्वयं मानरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं मान है, जब स्वयं मायारूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं माया है और जब स्वयं लोभरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं लोभ है।[1] आचार्य कुन्दकुन्दने यह मीमांसा केवल जीवके आश्रयसे ही नहीं की है। कर्मवर्गणायें ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे कैसे परिणमन करती हैं इसकी मीमांसा करते हुए भी उन्होंने इसका मुख्य कारण परिणामस्वभावको ही बतलाया है।[2]

१. समयप्राभृत गाथा ११६ से १२० तक।
२. समयप्राभृत गाथा १२१ से १२४ तक।

एक द्रव्य अन्य द्रव्यको क्यों नहीं परिणमा सकता इसके कारणका निर्देश करते हुए वे इसी समयप्राभृतमें कहते हैं—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३ ॥

जो जिस द्रव्य या गुणमें अनादि कालसे वर्त रहा है उसे छोड़कर वह अन्य द्रव्य या गुणमें कभी भी संक्रमित नहीं होता। वह जब अन्य द्रव्य या गुणमें संक्रमित नहीं होता तो वह उसे कैसे परिणमा सकता है, अर्थात् नहीं परिणमा सकता ॥१०३॥

तात्पर्य यह है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं वे सब अपने उपादानके अनुसार स्वयं ही होते हैं। यह नहीं हो सकता कि उपादान तो घटका हो और उससे पटकी निष्पत्ति हो जावे। यदि घटके उपादानसे पटकी उत्पत्ति होने लगे तो लोकमें न तो पदार्थोंकी ही व्यवस्था बन सकेगी और न उनसे जायमान कार्योंकी ही। 'गणेशं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' जैसी स्थिति' उत्पन्न हो जावेगी।

जिसे जैनदर्शनमें उपादान कारण कहते हैं उसे नैयायिकदर्शनमें समवायीकारण कहा है। यद्यपि नैयायिकदर्शनके अनुसार जड़-चेतन प्रत्येक कार्यका मुख्य कर्ता इच्छावान्, प्रयत्नवान् और ज्ञानवान् सचेतन पदार्थ ही हो सकता है, समवायीकारण नहीं। उसमें भी वह सचेतन पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे प्रत्येक समयमें जायमान सब कार्योंके अदृष्टादि कारकसाकल्यका पूरा ज्ञान हो। इसीलिए उस दर्शनमें सब कार्योंके कर्तारूपसे इच्छावान्, प्रयत्नवान् और ज्ञानवान् ईश्वरकी स्वतन्त्ररूपसे स्थापना की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस दर्शनमें सब कार्योंके कर्तारूपसे ईश्वरपर इतना बल दिया गया है वह दर्शन ही जब कार्योत्पत्तिमें समवायी कारणोंके सद्भावको स्वीकार करता है। अर्थात् अपने अपने समवायीकारणोंसे समवेत होकर ही जब वह घटादि कार्योंकी उत्पत्ति मानता है ऐसी अवस्थामें अन्य कार्यके उपादानके अनुसार अन्य कार्यकी उत्पत्ति हो जाय यह मान्यता तो त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। यही कारण है आचार्य कुन्दकुन्दने परमार्थसे जहाँ भी किसी कार्यका कारणकी दृष्टिसे विचार किया है वहाँ उन्होंने उसके कारणरूपसे उपादान कारणको ही प्रमुखता दी है। वह कार्य चाहे संसारी आत्माका शुद्धि सम्बन्धी हो और चाहे घट-पटादिरूप अन्य कार्य हो, परमार्थसे होगा वह अपने उपादानके अनुसार स्वयं ही यह उनके कथनका

आशय है। जैनदर्शनमें प्रत्येक द्रव्यको परिणामस्वभावी माननेकी सार्थकता भी इसीमें है।

प्रश्न यह है कि जव प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है तो वह प्रत्येक समयमें वदलकर अन्य-अन्य क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि प्रथम समयमें जो द्रव्य है वह जव दूसरे समयमें वदल गया तो उसे प्रथम समयवाला मानना कैसे संगत हो सकता है? इसलिए या तो यह कहना चाहिए कि कोई भी द्रव्य परिणमनशील नहीं है या यह मानना चाहिए कि जो प्रथम समयमें द्रव्य है वह दूसरे समयमें नहीं रहता। उस समयमें अन्य द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे समयमें जो द्रव्य है वह तीसरे समयमें नहीं रहता, क्योंकि उस समयमें अन्य नवीन द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। यह क्रम इसी प्रकार अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। प्रश्न मार्मिक है, जैन दर्शन इसकी महत्ता-को स्वीकार करता है। तथापि इसको महत्ता तभी तक है जवतक जैनदर्शनमें स्वीकार किये कये 'सत्' के स्वरूप निर्देश पर ध्यान नहीं दिया जाता। वहाँ यदि 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी माना गया होता तो यह आपत्ति अनिवार्य होती। किन्तु वहाँ 'सत्' को केवल परि-णामस्वभावी न मानकर यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप धर्मके कारण ध्रुवस्वभाव है तथा उत्पाद-व्ययरूप धर्मके कारण परिणामस्वभावी है। इसलिए 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी मानकर जो आपत्ति दी जाती है वह प्रकृतमें लागू नहीं होती। हम 'सत्' के इस स्वरूपपर तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार पहले ही प्रकाश डाल आये हैं। इसी विपयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारके ज्ञेया-धिकारमें क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढिए—

समवेदं खलु दव्वं संभव-ठिदि-णाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्हि चेव समए तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०॥

द्रव्य एक ही समयमें उत्पत्ति, स्थिति और व्ययसंज्ञावाली पर्यायोंसे समवेत है अर्थात् तादात्म्यको लिए हुए है, इसलिए द्रव्य नियमसे उन तीनमय है ॥१०॥

इसी विपयका विशेप खुलासा करते हुए वे पुनः कहते हैं—

पादुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥११॥

द्रव्यकी अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और अन्य पर्याय व्ययको प्राप्त होती है। तो भी द्रव्य स्वयं न तो नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही हुआ है ॥११॥

यद्यपि यह कथन थोड़ा विलक्षण प्रतीत होता है कि द्रव्य स्वयं उत्पन्न और विनष्ट न होकर भी अन्य पर्यायरूपसे कैसे उत्पन्न होता है और तद्भिन्न अन्य पर्यायरूपसे कैसे व्ययको प्राप्त होता है। किन्तु इसमें विलक्षणताकी कोई बात नहीं है। स्वामी समन्तभद्रने इसके महत्त्वको अनुभव किया था। वे आप्तमीमांसामें इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

हे भगवन्! आपके दर्शनमें सत् अपने सामान्य स्वभावकी अपेक्षा न तो उत्पन्न होता है और न अन्वय धर्मकी अपेक्षा व्ययको ही प्राप्त होता है फिर भी उसका उत्पाद और व्यय होता है सो यह पर्यायकी अपेक्षा ही जानना चाहिए, इसलिए सत् एक ही वस्तुमें उत्पादादि तीनरूप है यह सिद्ध होता है ॥५७॥

आगे उसी आप्तमीमांसामें उन्होंने दो उदाहरण देकर इस विषयका स्पष्टीकरण भी किया है। प्रथम उदाहरण द्वारा वे कहते हैं—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

घटका इच्छुक एक मनुष्य सुवर्णकी घट पर्यायका नाश होने पर दुखी होता है, मुकुटका इच्छुक दूसरा मनुष्य सुवर्णकी घट पर्यायका व्यय होकर मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होने पर हर्षित होता है और मात्र सुवर्णका इच्छुक तीसरा मनुष्य घट पर्यायका नाश और मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होने पर न तो दुखी होता है और न हर्षित ही होता है, किन्तु माध्यस्थ्य रहता है। इन तीन मनुष्योंके ये तीन कार्य अहेतुक नहीं हो सकते। इससे सिद्ध है कि सुवर्णकी घट पर्यायका नाश और मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होने पर भी सुवर्णका न तो नाश होता है और न उत्पाद ही, सुवर्ण अपनी घट, मुकुट आदि प्रत्येक अवस्थामें सुवर्ण ही बना रहता है ॥५९॥

दूसरे उदाहरण द्वारा इसी विषयको स्पष्ट करते हुए वे पुनः

कहते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

जिसने दूध पीनेका व्रत लिया है वह दही नहीं खाता, जिसने दही खानेका व्रत लिया है वह दूध नहीं पीता और जिसने गोरस सेवन नहीं करनेका व्रत लिया है वह दूध और दही दोनोंका सेवन नहीं करता। इससे सिद्ध है कि तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनमय हैं ॥६॥

आशय यह है कि गोरसमें दूध और दही दोनों गर्भित हैं, इसलिये प्रत्येक तत्त्व (द्रव्य) द्रव्यदृष्टिसे ध्रौव्यस्वरूप है, किन्तु दूध और दही इन दोनोंमें भेद है, क्योंकि दूधरूप पर्यायका व्यय होनेपर ही दहीकी उत्पत्ति होती है, इसलिए विदित होता है कि वही तत्त्व पर्यायदृष्टिसे उत्पाद और व्ययस्वरूप भी है।

सर्वार्थसिद्धिमें इस विषयका और भी विशदरूपसे स्पष्टीकरण किया गया है। उसमें आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—

चेतनस्याचेतनस्य द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशात्[1] भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः, मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत् । तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः । यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः । अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोत्पादाभावाद् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः । ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम् । यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः । तैरुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैर्युक्तं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् ।

[तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ सू० ३०]

अपनी-अपनी जातिको न छोड़ते हुए चेतन और अचेतन द्रव्यकी उभय निमित्तके वशसे अन्य पर्यायका उत्पन्न होना उत्पाद है। जैसे मिट्टी के पिण्डका घट पर्यायरूपसे उत्पन्न होना उत्पाद है। उन्हीं कारणोंसे पूर्व पर्यायका प्रध्वंस होना व्यय है। जैसे घटकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डरूप आकृतिका नाश होना व्यय है। तथा अनादि कालसे चले आ रहे अपने

१. यहाँ पर निमित्त शब्द व्यवहार और निश्चय उभय कारणवाची है। तदनुसार निमित्त शब्दसे बाह्य निमित्त और निश्चय उपादान दोनोंका ग्रहण हुआ है। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार कार्यकी स्वयं उत्पत्तिमें अज्ञानी जीव अपने प्रयत्न द्वारा या अन्य द्रव्य अपनी क्रिया द्वारा या उसके बिना ही निमित्त होता है। इसलिये टीकामें उभय निमित्तके वशसे उत्पन्न होना ऐसा कहा है।

पारिणामिक स्वभावरूपसे तत्त्वका न व्यय होता है और न उत्पाद होता है। किन्तु वह स्थिर रहता है। इसीका नाम ध्रुव है। ध्रुवका भाव या कर्म ध्रौव्य है। तात्पर्य यह है कि पिण्ड और घटादि अवस्थाओंमें मिट्टी अन्वयरूपसे तदवस्थ रहती है, इसलिये जिसप्रकार एक ही मिट्टी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाव है उसीप्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय सत् है।

इसप्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतन और अचेतन अपने-अपने व्यक्तित्वस्वरूप जितने भी द्रव्य हैं उनका प्रत्येक समयमें अर्थ और व्यञ्जन पर्यायरूपसे जो भी परिणमन होता है वह अन्य किसी तद्भिन्न द्रव्यकी सहायतासे उत्पन्न हुआ कार्य न होकर[1] उसकी अपनी स्वयं हुई विशेपता है तथा पर्यायरूपसे स्वयं परिणमन करते हुए भी जो वह अपने अनादिकालीन पारिणामिक स्वभावरूपसे स्थिर अर्थात् तदवस्थ रहता है, उसका वह पारिणामिक स्वभाव न तो उत्पन्न ही होता है और न व्ययको ही प्राप्त होता है, अतएव सदा अपने त्रैकालिक एक स्वभावरूपसे तदवस्थ रहना यह भी उसकी अपनी विशेपता है। इन दोनों विशेपताओंका समुच्चयरूप (तादात्म्यभावसे मिलित स्वभावरूप) द्रव्य या सत् है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

लोकमें जो यह सद्रूपसे अवस्थित द्रव्य है वह सामान्यसे एक प्रकार-का होकर भी उत्तर भेदोंकी अपेक्षा मूलमें दो प्रकारका है—जीव और अजीव। उसमें भी अजीवके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव अपनी-अपनी स्वरूप सत्ताकी अपेक्षा अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं। तथा काल द्रव्य लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, उनमेंसे प्रत्येक प्रदेशपर पृथक्-पृथक् एक-एक अवस्थित होनेके कारण असंख्यात हैं। इसप्रकार जो ये छह द्रव्य हैं उनके समुच्चयका नाम लोक है। 'लोक्यन्ते यस्मिन्

---

१. एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको नहीं परिणमाता है, अन्यथा प्रत्येक द्रव्यका ध्रुवस्वभावसे अवस्थित रहते हुए भी परिणमन करना उसका अपना स्वभाव है यह नहीं सिद्ध होता। और इसीलिये सर्वत्र जिनागममें द्रव्यका आत्मभूत लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप कहा गया है। सर्वत्र जिनागममें कार्यकी उत्पत्तिमें बाह्य निमित्तका कथन बाह्य व्याप्ति वश किया गया है। कार्यकी उत्पत्तिमें वह परमार्थसे सहायक होता है, इसलिये नहीं। विशेप स्पष्टीकरण आगे करनेवाले हैं ही।

षट् द्रव्याणि इति लोकः' जिसमें छह द्रव्य अवलोकित किये जाते हैं उसका नाम लोक है ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। यह लोक अकृत्रिम, अनादि-अनिधन और स्वभावनिष्पन्न है।

यहाँपर यह जितना द्रव्य विस्तार कहा गया है वह सब अस्तित्व स्वरूप होनेसे सत्ता शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है और इसीलिये सत्ताके स्वरूपका निर्देश करते हुए पञ्चास्तिकायमें आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥७॥

सत्ता अस्तित्वका दूसरा नाम है। यह न तो सर्वथा नित्य है और न ही सर्वथा क्षणिक है, क्योंकि यदि वस्तुमात्रको सर्वथा नित्य स्वीकार कर लिया जाय तो उसमें क्रमसे होनेवाली पर्यायोंका अभाव होनेसे जो प्रत्येक वस्तुमें परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है वह नहीं बन सकता। और यदि उसे सर्वथा क्षणिक स्वीकार कर लिया जाय तो उसमें यह वही है, ऐसे प्रत्यभिज्ञानका अभाव होनेसे एक सन्तानपनेका अभाव प्राप्त होता है।

प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तस्वरूप सिद्ध करते हुए वस्तुको सर्वथा नित्यस्वरूप या सर्वथा क्षणिकस्वरूप स्वीकार करनेपर जो दोष आता है उसे स्पष्ट करते हुए स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षामें स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं—

परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेय।
णो उप्पज्जेदि सया एवं कज्जं कहं कुणदि ॥२२७॥

परिणामसे रहित नित्य द्रव्य न तो कभी नष्ट हो सकता है और न कभी उत्पन्न हो सकता है, ऐसी अवस्थामें वह कार्य कैसे कर सकता है ॥२२७॥

पज्जयमित्तं तच्चं विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइदव्वविहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि ॥२२८॥

क्षण-क्षणमें अन्य-अन्य होनेवाला विनश्वर तत्त्व अन्वयी द्रव्यके बिना कुछ भी कार्य नहीं कर सकता ॥२२८॥

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु न तो सर्वथा नित्य है और न ही सर्वथा क्षणिक है, किन्तु नित्य-अनित्यस्वरूप है। यही

कारण है कि प्रकृतमें सत्ताको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप स्वीकार किया गया है। आशय यह है कि सब पदार्थोंमें व्याप्त जो यह सत्ता है वह प्रत्यभिज्ञानके कारणभूत किसी स्वरूपसे ध्रुव है और क्रमवर्ती किन्हीं दो स्वरूपोंसे नष्ट होती और उत्पन्न होती है, इसलिये एक ही समयमें एक साथ तीन अंशोंवाली अवस्थाको धारण करती है। यतः भाव और भाववान्‌में कथञ्चित् अभेद होता है, अतः वह एक है, क्योंकि वह त्रिलक्षणवाले समस्त वस्तुजातमें अनुस्यूत है।

यहाँ पर प्रत्येक समयमें प्रत्येक वस्तुको त्रिलक्षणस्वरूप बतलाया है, इस पर यह प्रश्न होता है कि जो वस्तु जिस समय उत्पादस्वरूप है उसी समय वह व्ययस्वरूप कैसे हो सकती है? समाधान यह है कि पूर्व पर्यायका त्याग व्ययका लक्षण है और उत्तरस्वरूप (पर्याय) की अवाप्ति उत्पादका लक्षण है, इसलिये इन दोनोंमें लक्षण भेद होनेसे भेद अवश्य है। इसी तथ्यको विद्यानन्द स्वामीने अष्टसहस्रीमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात् कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युति-लक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वसिद्धेः। पृ० २१०।

कार्यकी उत्पत्तिका लक्षणस्वरूपका लाभ है और कारण (निश्चय उपादान) का लक्षण स्वभावका त्याग है, इसलिए इन दोनोंका भिन्न-भिन्न लक्षण यह सिद्ध होता है। पृ० २१०।

तथापि पूर्वोक्त प्रकारसे उत्पाद और व्यय इन दोनोंमें समय भेद नहीं है, क्योंकि घट पर्यायका व्यय ही कपालरूप पर्यायका उत्पाद है, इसलिये इन दोनोंका एक समय है तथा जिस समय निश्चय उपादान कारणका व्यय और कार्यका उत्पाद है उसी समय तदवस्थरूपसे द्रव्यका उन दोनोंमें अन्वय है, इसलिये सत्ता या द्रव्य प्रत्येक समयमें त्रिलक्षणवाली है यह सिद्ध होता है।

यतः यह सत्ता लोक-और अलोक सहित समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है, अतः सर्व पदार्थस्थित है, क्योंकि सत्ताके कारण ही सब पदार्थोंमें 'सत्' ऐसे कथनकी और 'सत्' ऐसे ज्ञानकी उपलब्धि होती है।

यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि सत्ता दो प्रकारकी है—एक सादृश्य-मूलक सामान्य सत्ता और दूसरी व्यतिरेकमूलक स्वरूप सत्ता। परमाणु-से लेकर आकाश तक जितने भी अपने-अपने व्यक्तित्वको लिये हुए स्वतन्त्र द्रव्य हैं उनका वह स्वरूप है, अतः वह परमार्थभूत है। किन्तु सामान्य सत्ता

स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है, मात्र स्वरूपसत्ताको लक्ष्य कर वह कल्पित की गई हैं। यही कारण है कि प्रकृतमें सब पदार्थोंमें 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान होनेसे व्यवहारसे उसे स्वीकार किया गया है।

तथा वह सत्ता सविश्वरूप है, क्योंकि वह समस्त विश्वके रूपों सहित अर्थात् त्रिलक्षणवाले स्वभावोंके साथ सदा काल विद्यमान रहती है, क्योंकि विश्वके समस्त पदार्थोंमें त्रिलक्षणरूप स्वभावका कभी भी अभाव नहीं होता।

तथा वह अनन्त पर्यायस्वरूप है, क्योंकि वह त्रिलक्षणस्वरूप अनन्त द्रव्य-पर्यायस्वरूप व्यक्तियोंके द्वारा परिगम्यमान है। यहाँ पर त्रिलक्षणके अन्तर्गत ध्रौव्य पदसे समस्त द्रव्य अभिहित किये गये हैं ओर उत्पाद-व्यय शब्दसे उनकी पर्यायें अभिहित की गई हैं।

यद्यपि सामान्य सत्ता ऐसी है तथापि वह प्रतिपक्ष सहित है। सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है, त्रिलक्षणाका अत्रिलक्षणा प्रतिपक्ष है, एकका अनेकपना प्रतिपक्ष है, सर्व पदार्थ स्थिताका एक पदार्थ स्थितत्त्व प्रतिपक्ष है, सविश्वरूपाका एकरूपत्व प्रतिपक्ष है, अनन्त पर्यायोंका एक पर्यायत्व प्रतिपक्ष है।

सत्ता दो प्रकार की है—महासत्ता और अवान्तर सत्ता। उनमेंसे सर्व पदार्थ-व्यापिनी सादृश्य अस्तित्त्वका सूचन करनेवाली महासत्ताका पहले ही कथन कर आये हैं। यहाँ जो उसकी प्रतिपक्ष असत्ता कही गई है वही अवान्तर सत्ता है। वही प्रत्येक वस्तुयें रहकर उसके स्वरूपास्तित्वको सूचित करती है। यहाँ पर महासत्ता अवान्तर सत्तारूपसे असत्ता है और अवान्तर सत्ता महासत्तारूपसे असत्ता है, इसलिये महासत्ताकी अवान्तर सत्ता प्रतिपक्ष है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप होनेसे सत्ता त्रिलक्षणा है यह पहले ही लिख आये हैं। सत्ता इस स्वभाववाली होकर वह प्रतिपक्ष सहित है। त्रिलक्षणा सत्ताका प्रतिपक्ष अत्रिलक्षणा है, क्योंकि जिस स्वरूपसे उत्पाद है उसका (अत्रिलक्षणा सत्ताका) उस स्वरूपसे उत्पाद ही लक्षण है, जिस स्वरूपसे व्यय है उसका उस स्वरूपसे व्यय ही लक्षण है और जिस स्वरूपसे ध्रौव्य है उसका उस स्वरूपसे ध्रौव्य ही लक्षण है। तात्पर्य यह है कि उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य परस्पर अनुस्यूत होकर भी कथञ्चित् भिन्न हैं, इसलिये

स्वरूपकी अपेक्षा इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके त्रिलक्षणपनेका अभाव होनेसे त्रिलक्षणस्वरूप सत्ताका अत्रिलक्षणस्वरूप सत्ता प्रतिपक्ष है।

वह एक है यह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। इस प्रकार सत्ता एक होकर भी अनेक है, क्योंकि जो एक वस्तुकी स्वरूप सत्ता है वह अन्य वस्तुकी स्वरूप सत्ता नहीं है। इस प्रकार महासत्ताकी अपेक्षा एक पदके द्वारा व्यवहृतकी जानेवाली सत्ताकी व्यक्तिनिष्ठ स्वरूपकी अपेक्षा अवान्तर सत्ता अनेक है। महासत्ताकी अपेक्षा सत्ता सर्वपदार्थस्थित है इसका स्पष्टीकरण हम पहले कर आये हैं। इस प्रकार सत्ता सर्वपदार्थस्थित होकर भी वह एक पदार्थस्थित भी है, क्योंकि प्रतिनियत पदार्थस्थित सत्ताओंके द्वारा ही पदार्थोंका प्रतिनियम होता है, इसलिये सर्व-पदार्थ-स्थित सत्ताका एक-पदार्थस्थित सत्ता प्रतिपक्ष है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आगममें सादृश्य सामान्यको ध्यानमें रखकर ही महासत्ता स्वीकार की गई है, स्वरूपसत्ता तो वस्तुभूत ही है।

सविश्वरूप सत्ताकी प्रतिपक्ष एकरूप सत्ता है, क्योंकि प्रतिनियत एक-रूप सत्ताओंके द्वारा ही वस्तुओंका प्रतिनियत एकरूपपना दृष्टिगोचर होता है। इसलिए सविश्वरूप सत्ताका प्रतिनियत एकरूप सत्ता प्रति-पक्ष है।

अनन्त पर्यायस्वरूप सत्ताका प्रतिनियत एक पर्यायस्वरूप सत्ता प्रति-पक्ष है, क्योंकि प्रत्येक पर्यायके प्रति नियत अनन्त सत्ताओंके द्वारा ही अनन्तपर्यायस्वरूप वह (सत्ता) परिलक्षित होती है, इसलिये अनन्तपर्याय-स्वरूप सत्ताका एकपर्यायस्वरूप सत्ता प्रतिपक्ष है।

इस प्रकार जैन दर्शनमें स्वरूपसत्ताकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके आत्म-भूत स्वतन्त्र स्वरूपको किस प्रकारसे स्वीकार किया गया है और महा-सत्ताको किस प्रकार कल्पित कर उसकी स्थापना की गई है और यही कारण है कि आगममें द्रव्यका लक्षण सत् करके उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वरूप स्वीकार किया गया है।

बाह्यकारण-मीमांसा

उपादान निज गुण जहाँ तहँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोय ॥

[भैया भगवतीदासजी]

१. उपोद्घात

पिछले प्रकरणमें युक्ति और आगमसे चेतन और अचेतन प्रत्येक द्रव्यका पर्यायरूपसे उत्पन्न होना और व्ययको प्राप्त होना तथा परम पारिणामिक स्वभावमय अन्वयरूपसे स्वयं उत्पाद और व्ययकी अपेक्षा किये विना ध्रुव (एक रूप) रहना उसका स्वभाव है, वह अन्य किसीका कार्य नहीं है। आगममें छह द्रव्योंसे व्याप्त इस लोकको अकृत्रिम और अनादिनिधन कहनेका तथा उनसे उत्पाद-व्ययरूप कार्यों (पर्यायों)के कर्तारूपसे ईश्वरके निषेध करनेका तात्पर्य भी यही है।

इतना विशेष है कि एक वस्तु अन्य वस्तुके कार्यका परमार्थसे कारण कभी नहीं है यह उपलक्षण वचन है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तुके प्रति परमार्थसे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण कुछ भी नहीं है दूसरी विशेषता यह है कि जगतके कर्तारूपसे ईश्वरकी सत्ता तो है ही नहीं, जीवादी वस्तुओंकी सता अवश्य है। इसलिये उनपर दूसरोंके कार्योंके प्रति असद्भूत व्यवहार लागू हो जाता है।

इसलिये यह प्रश्न होता है कि क्या यह एकान्त है कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप स्वभावके कारण ध्रुव है, वह अन्य किसीका कार्य नहीं है इसी प्रकार उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करना उसका अपना स्वभाव होनेसे मात्र वह अपने इस परिणमन स्वभावके कारण ही उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करता है या उसे अपने इस परिणमन रूप कार्यमें अन्य किसीकी सहायता अपेक्षित रहती है। प्रश्न मार्मिक है। आगममें इसका दो दृष्टियोंसे विचार किया गया है—द्रव्यदृष्टिसे और पर्यायदृष्टिसे। द्रव्यदृष्टिमें नैगमनय मुख्य है, क्योंकि कार्य-कारण भावका ऊहापोह मुख्यतया इसी नयका विषय है। तथा पर्यायार्थिक नयमें ऋजुसूत्रनय मुख्य है, क्योंकि यह नय दोमें कारण-कार्यरूप या अन्य किसी प्रकारका सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता। इस नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्यय दोनों ही निर्हेतुक होते हैं। जयधवला पुस्तक १ पृ० २०६-२०७ में व्यय निर्हेतुक कैसे है इसका निर्देश करते हुए लिखा है—

अस्य नयस्य निर्हेतुकः विनाशः। तद्यथा—न तावत्प्रसज्यरूपः परतः उत्पद्यते, कारकप्रतिषेधे व्यापृतात्परस्मात् घटाभावविरोधात् । न पर्युदासो व्यतिरिक्त उत्पद्यते, ततो व्यतिरिक्तघटोत्पत्तावर्पितघटस्य विनाशविरोधात् । नाव्यतिरिक्तः, उत्पन्नस्योत्पत्तिविरोधाद् । ततो निर्हेतुको विनाश इति सिद्धम् ।

इस नय (ऋजुसूत्रनय) की दृष्टिमें विनाश निर्हेतुक होता है। यथा—व्ययका अर्थ यदि प्रसज्यरूप अभाव लिया जाता है तो उसकी उत्पत्ति परसे मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रसज्यरूप अभावमें कारकके प्रतिषेधमें अर्थात् 'करोति' क्रियाके निषेधमें ही निषेधपरक नञ्का व्यापार होनेसे घटका अभाव माननेमें विरोध आता है। अर्थात् व्ययका अर्थ प्रसज्यरूप अभाव मानने पर 'मुद्गर घटका अभाव करता है' इसका अर्थ होता है 'मुद्गर घटको नहीं करता है।' इसलिये प्रकृतमें व्ययका अर्थ प्रसज्यरूप अभाव तो हो नहीं सकता। यदि कहा जाय कि व्ययका अर्थ पर्युदासरूप अभाव लिया गया है तो प्रश्न है कि इस प्रकारका अभाव परसे भिन्न उत्पन्न होता है कि अभिन्न ? भिन्न तो उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि पर्युदासरूप अभावसे भिन्न घटकी उत्पत्ति होनेपर विवक्षित घटका मुद्गरसे विनाश मानने पर विरोध आता है। तात्पर्य यह है पर्युदास अभावरूप व्ययकी उत्पत्ति घटसे भिन्न माननेपर घटका विनाश नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि पर्युदास अभावरूप व्यय घटसे अभिन्न होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो उत्पन्न हो चुका है उसकी पुनः उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। अर्थात् जब पर्युदास अभावरूप व्यय घटसे अभिन्न है तब घट और पर्युदास अभावरूप व्यय दोनों एक वस्तु हुए और ऐसा होनेसे पर्युदास अभावरूप व्ययकी उत्पत्ति और घटकी उत्पत्ति एक वस्तु हुई। ऐसी अवस्थामें पर्युदास अभावरूप व्ययकी उत्पत्ति मानने पर प्रकारान्तरसे घटकी उत्पत्ति सिद्ध हुई, क्योंकि दोनों एक वस्तु हैं। किन्तु घट तो पहले ही उत्पन्न हो चुका है, अतः उत्पन्नकी पुनः उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है, इसलिये ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें विनाश निर्हेतुक है यह सिद्ध होता है।

इस नयकी दृष्टिमें जिसप्रकार विनाश निर्हेतुक सिद्ध होता है उसीप्रकार उत्पाद भी निर्हेतुक होता है यह भी स्पष्ट है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए इसी परमागमके पृष्ठ २०८-२०९ पर स्पष्ट किया है। यथा—

उत्पादोऽपि निर्हेतुकः। तद्यथा—नोत्पद्यमान उत्पादयति, द्वितीयक्षणे त्रिभुवनाभावप्रसङ्गात् । नोत्पन्न उत्पादयति, क्षणिकपक्षक्षतेः। न विनष्टं उत्पादयति, अभावाद्भावोत्पत्तिविरोधात् । न पूर्वविनाशोत्तरोत्पादयोः समानकालतापि, कार्य-

कारणभावसमर्थिका। तद्यथा—नातीतार्थाभावत उत्पद्यते, भावाभावयोः कार्य-कारणभावविरोधात्। न तद्भावात्, स्वकाल एव तस्योत्पत्तिप्रसंगात्। किंच, पूर्वक्षणसत्ता यतः समानसन्तानोत्तरार्थक्षणसत्त्वविरोधिनी ततो न सा तदुत्पादिका, विरुद्धयोःसत्तयोरुत्पाद्योत्पादकभावविरोधात्। ततो निर्हेतुक उत्पाद इति सिद्धम्।

इस नयकी दृष्टिमें उत्पाद भी निर्हेतुक होता है। यथा—जो उत्पन्न हो रहा है वह तो उत्पन्न करता नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दूसरे क्षणमें तीनों लोकोंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। अर्थात् जो उत्पन्न हो रहा है वह यदि उसी क्षणमें अपने कार्यभूत दूसरे क्षणको उत्पन्न करने लगे तो इसका मतलव यह हुआ कि दूसरा क्षण भी प्रथम क्षणमें उत्पन्न हो जायगा। इसी प्रकार प्रथम क्षणमें ही उत्पन्न होता हुआ वह दूसरा क्षण भी अपने कार्यभूत तीसरे क्षणको भी प्रथम क्षणमें उत्पन्न कर देगा। और इसी न्यायसे आगेके सव क्षणोंकी प्रथम समयमें ही उत्पत्ति हो जायगी। और इस प्रकार प्रथम क्षणमें ही सवकी उत्पत्ति हो जाने पर दूसरे क्षणमें सवका अभाव हो जायगा। और इस प्रकार दूसरे क्षणमें तीनो लोकोंके सव पदार्थोंके विनाशका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। जो उत्पन्न हो चुका है वह उत्पन्न करता है ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर क्षणिक पक्षकी क्षति प्राप्त होती है। कारण कि प्रथम समयमें वह स्वयं उत्पन्न हुआ और दूसरे क्षणमें उसने कार्यको उत्पन्न किया और इसलिए उसे कमसे कम दो समय तक तो ठहरना ही होगा। किन्तु ऋजुसूत्र नय किसी वस्तु के दो क्षण तक रहना स्वीकार करता नहीं, अतः जो उत्पन्न हो चुका है वह उत्पन्न करता है यह पक्ष भी ठीक नहीं। यदि कहा जाय कि जो नाशको प्राप्त हो गया है वह उत्पन्न करता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभावसे भावकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। तथा पूर्व क्षणका विनाश और उत्तर क्षणका उत्पाद इन दोनोंकी समानकालतासे भी कार्य-कारणभावका समर्थन नहीं वन सकता। यथा—अतीत पदार्थके अभावसे तो नवीन पदार्थ उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि भाव और अभावमें कार्य-कारणभाव माननेमें विरोध आता है। अतीत पदार्थके सद्भावसे नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि ऐसा मानने पर अतीत पदार्थके सद्भाव कालमें ही नवींन पदार्थकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरे चूंकि पूर्व क्षणकी सत्ता अपनी सन्तानमें होनेवाले उत्तर अर्थ-क्षणको सत्ताकी विरोधिनी है, इसलिये पूर्व क्षणकी सत्ता उत्तर क्षणकी

सत्ताकी उत्पादक नहीं हो सकती, क्योंकि विरुद्ध दो सत्ताओंमें परस्पर उत्पाद्य-उत्पादकभावके माननेमें विरोध आता है, अतएव ऋजुसूत्रकी दृष्टिमें उत्पाद भी निर्हेतुक होता है यह सिद्ध होता है।

समग्र कथनका तात्पर्य यह है कि ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें पर्याय स्वतन्त्र है, वह अपने कालमें स्वयं है। वह किसी द्रव्य या योग्यताके अधीन नहीं है। यह नय द्रव्य या योग्यताकी उपेक्षा कर मात्र अपने विषयको ही स्वीकार करता है। परसापेक्ष कथन इस नयका विषय नहीं है, वह द्रव्यार्थिकनय या नैगमनयका विषय है, क्योंकि नैगमनय एक तो संकल्पप्रधान नय है, वह सत्-असत् दोनोंको विषय करता है। दूसरे वह गौण-मुख्यभावसे द्रव्य और पर्याय दोनोंको विषय करता है, मुख्यतः उसका विषय उपचार है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए जयधवला पु० ९ पृ० २०१ में आचार्य वीरसेन क्या कहते हैं, यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

यदस्ति न तद् द्वयमतिलंघ्य वर्तत इति नैकं गमो नैगमः। शब्द-शील-कर्म-कार्य-कारणाधाराधेय-सहचार-मान-मेयोन्मेय-भूत-भविष्यद्वर्तमानादिकमाश्रित्य स्थितोपचारविषयः।

जो है वह दोनोंको छोड़कर नहीं वर्तता, इसलिये जो केवल एकको ही प्राप्त नहीं होता है, किन्तु गौण-मुख्यभावसे दोनोंको ग्रहण करता है वह नैगमनय है। शब्द, शील, कर्म, कार्य-कारण, आधार-आधेय, सहचार, मान-मेय, उन्मेय, भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदिकके आश्रयसे होनेवाला उपचार नैगमनयका विषय है।

यद्यपि अध्यात्ममें व्यवहारको अनेक प्रकारका स्वीकार किया गया है। उनमेंसे उपचारकी परिगणना व्यवहारनयमें की गई है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए नयचक्रमें यह वचन आया है—

जं चि य दव्वसहावं उवयारं तं पि ववहारं। गा० ६५, पृ० ३४।

जो उपचाररूप द्रव्यका स्वभाव है वह भी व्यवहार है।

इस प्रकार संक्षेपरूपमें किये गये इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्य-कारणभावका कथन मुख्यतया नैगमनय (व्यवहारनय) का विषय है। अब आगे विस्ताररूपसे इसका विवेचन किया जाता है—

२ कार्यसामान्यका लक्षण

प्रत्येक द्रव्यकी प्रति समय अपने परिणमनशील स्वभावके कारण जो उत्पाद-व्ययरूप अवस्था होती है उसीकी लोकमें कार्य संज्ञा है। इसीको

जिनागममें पर्याय शब्दद्वारा व्यवहृत किया गया है। वह पर्याय दो प्रकारकी है—स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। इन दोनों प्रकारकी पर्यायोंका निर्देश करते हुए नियमसारमें आचार्य कुन्दकुन्ददेव लिखते हैं—

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

पर्याय दो प्रकार की है—स्वपरसापेक्ष और निरपेक्ष अर्थात् पर-निरपेक्ष या स्वसापेक्ष ॥१४॥

इस सूत्रगाथामें विभाव पर्यायको स्व-परसापेक्ष और स्वभावपर्यायको निरपेक्ष अर्थात् परनिरपेक्ष या स्वसापेक्ष कहा गया है। इसका मतलब है कि प्रति समय विभावरूप जो भी पर्याय होती है उसके होते समय नियमसे उपाधिरूपसे अलग-अलग बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रता पाई जाती है, किन्तु स्वभाव पर्यायके होनेमें बाह्य सामग्रीके रहते हुए भी केवल आभ्यन्तर सामग्री ही प्रयोजनीय मानी गई है, इसलिये यहाँ प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें सामग्रीरूपसे कारणका विचार करना आवश्यक है। उसमें भी आभ्यन्तर सामग्रीका विचार तो हम आगे निश्चय उपादान कारण मीमांसा इस प्रकरणमें करेंगे। यहाँ मात्र बाह्य कारणोंका विचार करते हुए सर्व प्रथम उसके लक्षणपर दृष्टिपात कर लेना चाहते हैं। कारणका सामान्य लक्षण है—

यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत् तस्य कारणमिति। ध पु० १२ पृ० २८९।

जो जिसके होनेपर ही होता है, नहीं होनेपर नहीं होता वह उसका कारण कहलाता है।

इसका अर्थ है कि कारण और कार्यमें अविनाभाव सम्बन्ध नियमसे होता है तभी उनमें कार्य-कारणपना घटित होता है। चाहे बाह्य साधन हो और चाहे अन्तरंग साधन हो। कार्यके साथ इन दोनोंका अविनाभावसम्बन्ध अवश्य पाया जाता है। सामान्य कारणका यह लक्षण दोनों प्रकारके कारणोंमें घटित होता है।

३. बाह्य कारणका लक्षण

आगममें जिस प्रकार निश्चय उपादान कारणका लक्षण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है उस प्रकार बाह्य कारणका स्वतन्त्र लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता। इतना अवश्य है कि ऊहापोहके द्वारा इसके स्वरूपपर प्रकाश पड़ जाता है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें शंका-समाधान करते हुए लिखा है—

सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत् स्यात्, एकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्?

कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धेः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सह-कारि कारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम् ॥१२४॥

शंका—सहकारी कारणके साथ कार्यका कार्य-कारणभाव कैसे हो सकता है, क्योंकि सहकारी कारण भिन्न द्रव्य है और कार्यरूपसे परिणत द्रव्य उससे भिन्न द्रव्य है, इन दोनोंमें एक द्रव्यप्रत्यासत्तिका अभाव है?

समाधान—इन दोनों द्रव्योंमें कालप्रत्यासत्ति विशेष होनेसे कार्य-कारणभावकी सिद्धि हो जाती है। यह प्रतीतसिद्ध है कि जिसके अनन्तर जो नियमसे होता है वह सहकारी कारण है इतर कार्य है।

यहाँ सहकारी कारण और कार्यमें कालप्रत्यासत्ति होनेपर ही उनमें कार्य-कारणभाव स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि परीक्षामुखसे भी होती है।

बौद्ध मानते हैं कि रात्रिमें सोते समयका ज्ञान प्रातःकालके ज्ञानका कारण है और भावी मरण पूर्वमें हुए अरिष्टोंका कारण है। किन्तु उनका यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। इस कथनकी पुष्टि परीक्षामुखके इन सूत्रों और उनकी प्रमेयरत्नमाला टीकासे होती है। यथा—

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।३,५७।

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।३,५८।

हि शब्दो यस्मादर्थे। यस्मात्कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भाव-भावित्वम्। तच्च तद् व्यापाराश्रितम्। तस्मान्न प्रकृतयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः। अयमर्थः—अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशं प्रति। न चातिव्यव-हितेषु तद्व्यापाराश्रितत्वम्।

भावी मरणकी अतीत अरिष्टके प्रति तथा अतीत जाग्रत् बोधकी उद्बोधके प्रति कारणता नहीं है ।३,५७।

क्योंकि कारणके होनेपर कार्यका होना कारणके व्यापारके आश्रित है ॥३,५८॥

इसमें 'हि' शब्द 'क्योंकि'के अर्थमें आया है। क्योंकि कारणके होने-पर कार्यका होना कारणके व्यापारके आश्रित है, इसलिये भावी मरण और अतीत अरिष्टके मध्य तथा अतीत जाग्रत् बोध और उद्बोधके मध्य कारण-कार्यभाव नहीं है। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेकसे जाना जाता है। और वे दोनों कार्यके प्रति कारणके व्यापारकी अपेक्षासे ही घटित होते हैं। जैसे कि

कुम्भकारके व्यापारकी कलश कार्यके होनेमें अपेक्षा रहती है। किन्तु जिनमें कालका अति व्यवधान होता है उन पदार्थोंमें परस्पर कारणके व्यापारका आश्रितपना नहीं पाया जाता। अतएव उनमें कार्य-कारण-भाव नहीं सिद्ध होता।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य कारणमें कारणता बाह्य व्याप्तिके आधारपर कालप्रत्यासत्तिरूप ही स्वीकार की गई है।

४. शंका-समाधान

शंका—बुद्धिमान् व्यक्ति अरिष्ट और करतलरेखा आदिके आधार-पर आगे होनेवाली घटनाओंका निर्णय कर लेते हैं, अतः इनमें अपने-अपने कार्योंके प्रति कारणता स्वीकार करनेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—बुद्धिमान् व्यक्ति अरिष्ट और करतल रेखा आदिसे आगे होनेवाली घटनाओंका जो अनुमान कर लेते हैं उसके वे ज्ञापक निमित्त हैं, आगे होनेवाली घटनाओंके कारक निमित्त नहीं।

शंका—आगममें वेदनाभिभव आदिको नारकियोंमें भी सम्यग्दर्शन-की उत्पत्तिका कारण कहा है। परन्तु जिस समय नारकी वेदनासे अभिभूत होते हैं उसी समय उनके सम्यग्दर्शन होनेका कोई नियम तो है नहीं, क्योंकि सब नारकियोंमें वेदनाभिभवके साथ सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होने-का अन्वय-व्यतिरेक नहीं देखा जाता। इसलिये अन्य जिस पदार्थकी दूसरे पदार्थरूप कार्यके साथ कालप्रत्यासत्ति हो वही उसका बाह्य कारण है, अन्य नहीं; यह कहना उचित नहीं है?

समाधान—धवला पुस्तक ६ पृ० ४२३ में इस प्रश्नका समाधान इन शब्दोंमें किया गया है—

ण वेयणासामण्णं सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं, किंतु जेसिमेसा वेयणा एदम्हादो मिच्छत्तादो इमादो असंजमादो (वा) उप्पण्णेति उवजोगो जादो, तेसिं चेव वेयणा सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं, णावरजीवाणं वेयणा, तत्थ एवंविहउवजोगाभावा।

वेदना सामान्य सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नहीं है। किन्तु जिन नारकियोंके ऐसा ज्ञान होता है कि यह वेदना इस मिथ्यात्वरूप परिणति-के कारण उत्पन्न हुई है या यह वेदना इस असंयमरूप परिणतिके कारण उत्पन्न हुई है उन्हीं नारकियोंकी वेदना सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कारण है, अन्य नारकी जीवोंके नहीं, क्योंकि उनमें इस प्रकारके उपयोगका अभाव है।

आशय यह है कि प्रकृतमें वेदना यद्यपि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका साक्षात् कारक निमित्त तो नहीं है, वह है तो 'किस कारणसे मैं नारकी हो कर इस प्रकारकी वेदनाका पात्र वना' इस प्रकारके ज्ञानका ज्ञापक निमित्त ही। फिर भी ऐसा ज्ञान होनेपर कालान्तरमें उसके सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना सम्भव है, इसलिये यहाँ पर वेदनाको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका बाह्य निमित्त कहा है। यहाँ ज्ञापक निमित्तमें कारक-निमित्तपनेका उपचार किया गया है यह उक्त कथनका आशय है।

शंका—ज्ञापक निमित्त और कारक निमित्तमें क्या अन्तर है।

समाधान—जो इन्द्रिय और मनके समान ज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त न होकर आलोक आदिके समान ज्ञानका मात्र ज्ञेय हो उसे ज्ञापक निमित्त कहते हैं और जो पदार्थोंकी परिणामलक्षण और परिस्पन्द लक्षण क्रियाका निमित्त हो उसे कारक निमित्त कहते हैं। यही इन दोनोंमें अन्तर है।

आगममें भौम, अन्तरीक्ष आदि आठ महानिमित्त कहे गये हैं सो उनके विषयमें भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिए। तीर्थंकरकी माताके तीर्थंकर होनेवाले बालकके गर्भमें आनेके पूर्व उनके भावी जीवनके सूचक जो १६ स्वप्न होते हैं सो उनके विषयमें भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिए। इतनी विशेषता है कि उस समय तीर्थंकर माताके जो प्रशस्त कर्मका उदय-उदीरणा होती है उसके वे कारक निमित्त हैं। करणानुयोगमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भवको जो बाह्य निमित्त कहा गया है उसका आशय भी यही है। देखो कर्मकाण्ड गाथा ६९ से गाथा ८६ तक। 6-3-88.

५. बाह्य पदार्थमें निमित्तता किस नयसे कब और क्यों ?

जब यह नियम है कि प्रत्येक वस्तु स्वका उपादान और अपनेमें परका अपोहन (त्याग) करके रहती है, यही प्रत्येक वस्तुका वस्तुत्व है। जब यह भी नियम है कि प्रत्येक वस्तुका वस्तुत्व अपना-अपना अर्थक्रियाकारीपना है। और जब वस्तुको अनेकान्तस्वरूप स्वीकार करते हुए आगम यह भी उद्घोष करता है कि प्रत्येक वस्तु स्वरूप आदि चारकी अपेक्षा सत् ही है और पर रूप आदि चारकी अपेक्षा असत् ही है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो प्रत्येक वस्तुकी स्वतन्त्र व्यवस्था ही नहीं वन सकती। आगममें, इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेका भी यही कारण है कि जिस द्रव्य या गुणमें जो है वह अन्य द्रव्य या गुणमें संक्रमित नहीं

होता, अतः परमार्थसे अन्य अन्यको परिणमाता है यह त्रिकाल में नहीं वन सकता। ऐसा न्याय भी है कि जो शक्ति जिसमें नहीं हो उसे दूसरा त्रिकालमें पैदा करनेमें समर्थ नहीं है। समयसार गा० १०३ टीका।

यह वस्तु स्थिति है, इसीलिये समग्र जिनागम दृढ़ताके साथ यह स्वीकार करता है कि परमार्थसे दो द्रव्यों और उनके गुण-पर्यायोंमें परमार्थसे किसी प्रकारका भी सम्वन्ध नहीं है, चाहे वह निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध हो या ज्ञेय-ज्ञायक सम्वन्ध आदि कोई भी सम्वन्ध क्यों न हो। सभी द्रव्य और उनके गुण-पर्याय अपने-अपने स्वरूपमें निमग्न और स्वतन्त्र हैं। विश्वमें यही मात्र एक ऐसा दर्शन है जो परमार्थसे ऐसी वस्तु व्यवस्थाके आधारसे सभीकी वास्तविक स्वतन्त्रताका उद्घोष करता है। समयसारमें इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर यह कलश उपलब्ध होता है—

नास्ति सर्वोऽपि सम्वन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृ-कर्मत्वसम्वन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

पर द्रव्य और आत्मतत्त्वमें सभी प्रकारका सम्वन्ध नहीं है, तव फिर उनमें परस्पर कर्ता-कर्म सम्वन्ध भी नहीं वनता, इसलिये आत्मा पर द्रव्यका कर्ता कैसे हो सकता है ॥२००॥

यह वस्तु स्थिति है। इसके ऐसा होनेपर भी जिनागममें नैगमनय या असद्भूत व्यवहार नयसे प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर वाह्य निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध आदि सभी प्रकारके जो भी सम्वन्ध स्वीकार किये गये हैं वे किस नयसे स्वीकार किये गये हैं इसकी यहाँ विस्तारसे मीमांसा करनी है—

सर्व प्रथम प्रश्न यह है कि जो जिस वस्तु या गुणमें नहीं है उसे उसका स्वीकार ही क्यों किया गया? समाधान यह है कि जो जिस वस्तु या गुणमें न भी हो, परन्तु यदि प्रयोजन विशेषसे वह उसकी सिद्धि करता है अर्थात् उसकी सिद्धिका हेतु होता है तो लोकमें व्यवहारसे वह उसका माना जाता है। जैसे 'यह घोड़ा किसका है' ऐसी जिज्ञासा होनेपर लोकमें यह स्वीकार किया जाता है कि 'यह घोड़ा राजाका है।' यहाँ पर यदि स्वस्वभावी सम्वन्धकी अपेक्षा विचार किया जाय तो वास्तवमें घोड़ा राजा आदि अन्य किसीका नहीं है, घोड़ा स्वयंका है, राजा आदि अन्य किसीका नहीं। प्रयोजनवश केवल लौकिक व्यवहारके चलानेके लिये यह कहा जाता है कि यह घोड़ा राजाका है। अन्य लौकिक

सम्वन्धोंके साथ दो पदार्थोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्धके विषयमें भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिए।

इतना विशेष है कि जिन पदार्थोंका द्रव्यरूपसे अस्तित्व हो, वे सद्भूत-रूपसे किसी न किसी ज्ञानके विषय अवश्य होते हैं, अतः उन्हींमें प्रयोजन विशेषसे ऐसा व्यवहार किया जाता है। जिनका अस्तित्व ही न हो उनमें ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता है। जैसे जव कि वन्ध्याके पुत्र होता ही नहीं, इसलिये यह पुत्र वन्ध्याका है ऐसा व्यवहार लौकिक दृष्टिसे भी स्वीकार नहीं किया जाता है।

परमार्थके प्रति उपेक्षा रखनेवाले या उससे अनभिज्ञ कुछ विद्वानोंका कहना है कि व्यवहार नय सम्यग्ज्ञानका एक भेद है, इसलिये इसके द्वारा जो भी जाना जाता है उस सवको वास्तविक ही मानना चाहिए। उन मनीषियोंका यह ऐसा कहना है जो स्वाध्याय प्रेमियोंको केवल भ्रममें रखनेके अभिप्रायसे ही कहा जाता है। जव कि जैन-दर्शनके अनेकान्त सिद्धान्तके अनुसार ही एक वस्तुके गुण धर्म दूसरी वस्तुमें पाये ही नहीं जाते तो जो नय इसके निषेध पूर्वक केवल अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर एक वस्तुके कार्यकी निमित्तता अन्य वस्तुमें प्रयोजन विशेषसे स्वीकार करता है तो इसमें उस नयके सम्यग्ज्ञान होनेमें वाधा ही कहाँ आती है। जयधवला पृ० २७०-२७१ के इस वचनसे भी इसका समर्थन होता है—

होदु पिंडे घडस्स अत्थित्तं, सत्त-पमेयत्त-पोग्गलत्त-णिच्चेयणत्त-मट्टिय-सहावत्तादिसरूवेण, ण दंडादिसु घडो अत्थि, तत्थ तब्भावाणुवलंभादो त्ति ? ण, तत्थ वि पमेयत्तादिसरूवेण तदत्थित्तुवलंभादो।

शंका—पिण्डमें सत्त्व, प्रमेयत्व, पुद्गलत्व, अचेतनत्व और मिट्टी स्वभाव आदि रूपसे घटका सद्भाव भले ही पाया जाओ, परन्तु दण्डादिकमें घटका सद्भाव नहीं है, क्योंकि दण्डादिकमें तद्भावलक्षण सामान्य अर्थात् ऊर्ध्वता सामान्य या मिट्टी स्वभाव नहीं पाया जाता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दण्डादिक अर्थात् दण्ड, चीवर, चक्र और पुरुषप्रयत्न आदिमें भी प्रमेयत्व आदि रूपसे घटका अस्तित्व पाया जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक वस्तुके कार्यकी कारणता स्वरूपसे दूसरी वस्तुमें नहीं ही पाई जाती, केवल सादृश्य सामान्यके आधार पर उन दोनों या दोसे अधिक वस्तुओंमें अभेद करके कारणता

आरोपितकी जाती है, तो वास्तविक न होकर मात्र उपचरित होती है। और इसीलिये इसे उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयका विषय बतलाया गया है और इसीलिये आलाप-पद्धतिमें असद्भूत व्यवहार नयका यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूत-व्यवहार एव उपचारः।

किसी अन्य वस्तुमें प्रसिद्ध हुए धर्मका अन्य वस्तुमें समारोप करना असद्भूत व्यवहार है। तथा असद्भूत व्यवहारका ही दूसरा नाम उपचार है।

हम पहले असद्भूत व्यवहारनयको नैगम नयमें गर्भित कर आये हैं, क्योंकि नैगमनय संकल्पप्रधान नय होनेसे संकल्प द्वारा जो जिसमें नहीं है, सादृश्य सामान्यके आधार पर उसे भी उसमें स्वीकार कर लेता है। हमारे इस कथनकी पुष्टि जयधवला पृ० २७० के इस वचनसे भी होती है—

जं मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो तत्तो पुधभूदो संतो कथं कोहो? होंत एसो दोसो जदि संगहादिणया अवलंबिदा, किंतु णइगमणओ जइवसहाइरिएण जेणावलंबिदो तेण ण एस दोसो। तत्थ कथं ण दोसो? कारणम्मि णिलीण-कज्जब्भुवगमादो।

शंका—जिस मनुष्यको अवम्बन कर क्रोध उत्पन्न हुआ है वह मनुष्य उससे पृथक् होता हुआ क्रोध कैसे कहला सकता है?

समाधान—यदि यहाँ पर संग्रह आदि नयोंका अवलम्बन लिया होता तो यह दोष होता, किन्तु यतिवृषभ आचार्यने चूंकि यहाँपर नैगम नयका अवलम्बन लिया है, इसलिये यह कोई दोष नहीं है।

शंका—नैगमनयका अवलम्बन लेनेपर दोष कैसे नहीं है?

समाधान—क्योंकि नैगमनयकी अपेक्षा कारणमें कार्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है, इसलिये दोष नहीं है।

इसी तथ्यका समर्थन धवला पु० १२ पृ० २८० के इस वचनसे भी होता है—

सव्वस्स कज्जकलावस्स कारणादो अभेदो सत्तादीहिंतो त्ति णए अव-लंबिज्जमाणे कारणादो कज्जमभिण्णं, कज्जादो कारणं पि।

सभी कार्यकलापका सत्त्वादिककी अपेक्षा कारणसे अभेद है, इस प्रकार इस नयका अवलम्बन करनेपर कारणसे कार्य अभिन्न है तथा कार्यसे कारण भी अभिन्न है यह स्वीकार किया गया है।

यह कथन नैगम नयका है। इसको मुख्यतासे अध्यात्ममें सद्भूत व्यवहारनयके साथ असद्भूत व्यवहार नय कहा गया है। इसकी पुष्टि इस वचनसे भी होती है—

वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यस्थानीय मोह-राग-द्वेषैः कषायितो रंजितः परिणतो मंजीष्ठस्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते।—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति।

लोध्र आदि द्रव्य स्थानीय मोह, राग और द्वेषसे कषायित अर्थात् रंजित हुआ वस्त्रस्थानीय आत्मा मजीठस्थानीय कर्मपुद्गलोंसे संश्लिष्ट होता हुआ असद्भूतव्यवहारनयसे बन्ध कहा जाता है।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रदेवने समयसार कलश १०७ में तथा आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र १२ में ऐसे व्यवहारको क्रमसे विकल्प और कल्पना कहा है। तथा आ० अमृतचन्द्रदेवने यह विकल्प उपचरित है यह भी स्वीकार किया है। ११-३-७८.

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह तो भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य पदार्थमें निमित्तता क्यों स्वीकार की गई है। यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, अन्वय-व्यतिरेकके सिद्धान्तके आधार पर काल प्रत्यासत्ति देखकर जब एक द्रव्यकी पर्यायको कार्य कहा गया हो तो दूसरे द्रव्यको उस समयकी पर्यायको कारण कहा जाता है। कहीं-कहीं यह व्यवहार दोनों तरफसे भी देखा जाता है। जैसे किसी मनुष्यके एक ग्रामसे दूसरे ग्राम पहुँचनेके बाद एक पूँछता है कि आप कैसे आये, वह उत्तर देता है—साइकिलसे आये हैं। कालान्तरमें दूसरा पूँछता है—यह साइकिल कौन लाया—वह उत्तर देता है—'मैं लाया हूँ।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एककी कारणता या कार्यता दूसरेमें तथा दूसरेकी कारणता या कार्यता पहलेमें स्वरूपसे नहीं है यह केवल व्यवहार है। जिनागममें जहाँ भी इस प्रकारकी कारणता या कार्यता स्वीकार की गई है वह केवल असद्भूत व्यवहारसे ही स्वीकार की गई है।

अब देखना यह है कि बाह्य पदार्थमें इस प्रकारकी व्यवहार हेतुता

दूसरे पदार्थके कार्य होनेके पहले मानी जाय, या वादमें मानी जाय या जिस समय कार्य हो रहा है उसी समय मानी जाय। समाधान यह है कि दो द्रव्योंकी पर्यायोंमें काल व्यवधानसे व्यवहारसे कार्य-कारणभाव नहीं हो सकता इसका विचार हम पहले ही कर आये हैं। साथ ही तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक (पृ० १५१) का एक प्रमाण उपस्थित कर यह भी सिद्ध कर आये हैं कि जिन दो द्रव्योंकी पर्यायोंमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिकता घटित की जाती है उनमें वाह्य व्याप्तिके आधारपर काल-प्रत्यासत्ति अवश्य होनी चाहिये। अब आगे इस विषयकी पुष्टिमें हम और भी आगम प्रमाण दे देना चाहते हैं। द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

(क) दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ॥२७॥

मुनि निश्चय-व्यवहार दोनों ही प्रकारके मोक्षमार्गको नियमसे ध्यानमें प्राप्त करते हैं ॥४७॥

जिस समय यह आसन्न भव्य जीव स्वभाव सन्मुख होकर विकल्पकी भूमिकासे निवृत्त होकर निर्विकल्प भूमिकाको प्राप्त होकर निश्चय रत्न-त्रयरूपसे परिणत होता है उसी समय वाह्य मन-वचन-कायपूर्वक हुई वाह्य प्रवृत्तिमें मोक्षमार्गका व्यवहार होता है। और तभी व्यवहार मोक्षमार्ग साधक अर्थात् निश्चय मोक्षमार्गकी सिद्धिका हेतु और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य यह व्यवहार किया जाता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

(ख) अध्यात्ममें सर्वत्र मुनि शब्द ज्ञानीके अर्थमें आया है। इसकी पुष्टि समयसार गाथा १५१ के इस वचनसे होती है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

परमार्थ, समय, शुद्ध, केवली, मुनि और ज्ञानी ये एकार्थवाचक शब्द हैं, इसलिये जो मुनि अर्थात् ज्ञानी स्वभावमें स्थित हैं वे नियमसे मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥१५१॥ इस वचनके अनुसार चतुर्थ गुणस्थानवाला भी ज्ञानी है।

इस कथनके अनुसार चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सभी भव्य जीव निश्चय मोक्षमार्ग प्राप्त होते समय ही व्यवहार मोक्षमार्गी कहलानेके अधिकारी होते हैं, इसके पहले नहीं।

शंका—निश्चय सम्यग्दर्शन आदिरूप निश्चय मोक्षमार्गकी प्राप्तिके समय जब प्रशस्त मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिरूप व्यवहार मोक्षमार्ग होता ही नहीं तब उस समय उसको निश्चय मोक्षमार्गकी सिद्धिका हेतु कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—जिस समय यह जीव निश्चय सम्यग्दर्शन आदिको प्राप्त होता है उसी समय उसके मिथ्यात्वके अभावके साथ अनन्तानुबन्धी कषायोंका यथा सम्भव अभाव होनेसे ऐसा प्रशस्त राग ही नियमसे पाया जाता है जिसमें मोक्षमार्गपनेका व्यवहार किया जाता है। यही कारण है कि परमागममें एक ही समयमें ऐसे व्यवहार मोक्षमार्गको साधन—सिद्धिका हेतु और निश्चय मोक्षमार्गको साध्य कहा गया है। परमागममें दोमें साध्य-साधक भावका व्यवहार इसी दृष्टिसे किया गया है। बाह्य पदार्थमें कारकपनेका व्यवहार भी इसी आधारपर किया जाता है, क्योंकि जिन दो पदार्थोंमें उपचारसे भी निमित्त-नैमित्तिकव्यवहार न हो और कारक व्यवहार बन जाय ऐसा नहीं है। परमार्थसे साध्य-साधक भाव एक पदार्थमें कैसे बनता है इसके लिये यह कलश द्रष्टव्य है—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

यह ज्ञानघन आत्मा यद्यपि सद्भूत व्यवहारनय—साध्य-साधकके भेदसे दो प्रकारका है पर परमार्थसे वही साध्य और वही साधन इस प्रकार एक ही प्रकारका है। इसलिये मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको इसी एक आत्मा की उपासना करनी चाहिये ॥१५॥ शुभभाव और स्वभाव पर्यायमें साध्य-साधक-भाव असद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार प्रसंगसे व्यवहार-निश्चय साध्य-साधक भावका खुलासा करने के साथ अब दो पदार्थोंमें यह निमित्त-नैमित्तिकभाव कब होता है इसके समर्थनमें कुछ और प्रमाण दे देना चाहते हैं—

(१) संसारकी भूमिकामें संसारी जीव अपने परिणाम स्वभावके कारण जिस समय विवक्षित भावको प्राप्त होता है उसी समय उस भाव में निमित्त व्यवहारके योग्य विवक्षित कर्मका उदय-उदीरणा पाई जाती है। और इसलिये यह व्यवहार किया जाता है कि इस कर्मके उदय-उदीरणासे यह भाव हुआ। जैसे जिस समय क्रोध कर्मका उदय-उदीरणा होती है उसी समय क्रोध पर्याय पाई जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र कर्मके उदय-उदीरणाके साथ जीवके औदयिक भावोंकी व्याप्ति जाननी चाहिये।

(२) औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावोंके सम्बन्धमें भी यही नियम लागू होता है।

शंका—परमागममें विवक्षित कर्मका क्षय एक समय पहले स्वीकार किया गया है और क्षायिक भाव उससे अव्यवहित अनन्तर समयमें स्वीकार किया गया है जैसे १४वें गुणस्थानके अन्तिम समयमें चारों अघातिया कर्मोका क्षय स्वीकार किया गया है, किन्तु सिद्ध पर्यायकी प्राप्ति उससे अव्यवहित अनन्तर समयमें स्वीकार की गई है सो क्यों?

समाधान—ऐसे स्थल पर सद्भावमें ही अभावका उपचार कर यह कथन किया गया है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें चारों अघातिया कर्मोकी यथासम्भव प्रकृतियोंका सत्त्व व उदय पाया जाता है। यतः यह सत्त्व और उदय और आगेकी पर्यायमें नहीं है, इसलिये वहीं उनमें क्षय व्यवहार कर लिया गया है।

(३) प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यग्दर्शनके कालमें कम से कम एक समय और अधिकसे अधिक छह आवलि काल शेष रहनेपर यदि संक्लेश परिणामकी वहुलताके कारण नीचे गिरता है तो नियमसे सासादन गुणस्थानको प्राप्त होता है। यहाँ जिस समय सासादन गुण-स्थानकी प्राप्ति है उसी समय अनन्तानुवन्धी चारोंमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदय-उदीरणा है ऐसा परमागम स्वीकार करता है। इन दोनों में कालभेद नहीं है।

(४) द्विणुक आदि पुद्गलवन्धमें भी 'द्वयधिकादिगुणानां तु' सिद्धान्त के अनुसार दोनोंके मध्य निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्धके स्वीकारमें समय भेद नहीं स्वीकार किया गया है।

ये कुछ आगमिक प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि व्यवहारसे स्वीकार किये गये निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्धमें समय भेद नहीं स्वीकार किया जा सकता है। और इसी आधारपर वौद्धोंके द्वारा अनुमान प्रमाण-में कारण हेतुका निषेध करनेपर उसका परीक्षामुख आदि न्याय ग्रन्थोंमें व्यवहार निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्धमें समय भेदका निषेध करनेके साथ अनुमान प्रमाणमें कारण हेतुका दृढ़तासे समर्थन किया गया है। देखो परीक्षामुख अ० ३ सूत्र ५६ से लेकर ५९ तक।

इस प्रकार एक द्रव्यके कार्यको दूसरे द्रव्यमें व्यवहार हेतुता कव वनती है इसका संक्षेपमें विचार किया।

अब एक द्रव्यके कार्यकी व्यवहार हेतुता दूसरे द्रव्यमें क्यों अर्थात् किस प्रयोजनसे की गई है इसका विचार करते हैं—

(१) प्रश्न यह है कि जब एक द्रव्यके कार्यकी कारणता दूसरे द्रव्यमें परमार्थसे नहीं ही पाई जाती तो ऐसा स्वीकार ही क्यों किया गया? समाधान यह है कि लोकमें या परमागममें सद्भूत या असद्भूत जितना भी व्यवहार स्वीकार किया गया है वह परमार्थकी सिद्धिका हेतु होनेसे ही स्वीकार किया गया है। इसी तथ्यका समर्थन नयचक्रके इस वचनसे होता है—

णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ पज्जय-दव्वत्थियं मुणह ॥१८२॥

सब नयोंके मूल भेद दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। उनमेंसे नैगमादि द्रव्यार्थिकनय और ऋजुसूत्र आदि पर्यायार्थिकनय निश्चयनय अर्थात् निश्चयनयके विषयभूत परमार्थस्वरूप अर्थकी सिद्धिके हेतु जानो ॥१८२॥

(२) समयसार जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थोंमें भी यत्र-तत्र व्यवहारनय और उसके विषयभूत अर्थकी प्ररूपणा की गई है, पर वह क्यों की गई है और उसे परमार्थस्वरूप माननेपर क्या आपत्ति आती है इसका भी वहाँ विशद रूपसे स्पष्टीकरण किया गया है। जब व्यवहार अभूतार्थ है तो मात्र परमार्थका ही कथन करना चाहिये ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य-देव उत्तर देते हैं—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥८॥

जैसे अनार्य पुरुषको अनार्य भाषा बोले बिना परमार्थको हृदयंगम कराना अशक्य है वैसे ही व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश देना अशक्य है ॥८॥

इस सूत्र गाथामें उस प्रयोजनका निर्देश किया गया है जिसको ध्यानमें रखकर परमागममें सद्भूत और असद्भूत व्यवहारको स्वीकार किया गया है। किन्तु जो मनीषी प्रयोजन विशेषसे स्वीकार किये गये व्यवहारको ही परमार्थ मानकर उसका समर्थन करते हैं उनका वैसा करना कैसे सदोष है इसकी विशेष चर्चा आचार्य देवने समयसार सूत्र गाथा ८५ और ९९ में विशेषरूपसे की है। गाथा ८५ में वे कहते हैं—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदि सो जिणावमदं ॥८५॥

यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करे और उसीको भोगे तो वह अपने आत्मा और पुद्गल दोनोंकी दो क्रियाओंका परमार्थसे कर्ता हो जानेके कारण दोनों क्रियाओंसे उसका अभेद मानना पड़ता है जो जिन देवको सम्मत नहीं है ॥८५॥

इस आपत्तिको आचार्यदेवने ९९वीं सूत्र गाथामें इन शव्दोंमें व्यक्त किया है—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि आत्मा पर द्रव्योंको अर्थात् पर द्रव्योंके कार्योंको करे तो वह नियमसे पर द्रव्यमय हो जाय। यतः वह पर द्रव्यमय नहीं होता, अतः वह उनका कर्ता नहीं है।

शंका—आचार्यदेवने तो समयसार गाथा ८०-८१ में दो द्रव्योंके मध्य निमित्त-नैमित्तिक भावका निषेध नहीं किया, मात्र कर्ता-कर्म भावका ही निषेध किया है, निमित्त-नैमित्तिक भावका नहीं?

समाधान—कर्तानिमित्त, कारणनिमित्त, अधिकरणनिमित्त इत्यादि रूपसे प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर व्यवहारसे परमें निमित्तता अवश्य स्वीकार की है पर वह परमार्थस्वरूप नहीं है इसे भी उन्होंने आगे स्वीकार कर लिया है। इसलिये निश्चित होता है कि जिस प्रकार दो द्रव्योंमें परमार्थसे कर्ता-कर्म आदि रूप कथन नहीं वन सकता, उसी प्रकार दो द्रव्योंमें परमार्थसे निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध भी नहीं वन सकता। अतः यावन्मात्र व्यवहार परमागममें व्यवहारनयसे ही स्वीकार किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

(३) निश्चयकी सिद्धिका हेतु होनेसे व्यवहार कहा गया है इसका समर्थन चरणानुयोगसे भी होता है। मूलाचार मूलगुणाधिकार गाथा ३ की टीकाके इस वचन द्वारा उक्त कथनका समर्थन होता है। यथा—

व्रतशव्दोऽपि सावद्यनिवृत्तौ मोक्षावाप्तिनिमित्ताचरणे वर्तते।

व्रत शव्द भी सावद्यकी निवृत्तिके साथ मोक्षकी प्राप्तिके निमित्त रूप आचरणमें व्यवहृत होता है।

यहाँ पर निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रशस्त मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति रूप आचरणमें व्रत व्यवहार मोक्षका निमित्त मानकर किया गया है। किन्तु यह आचरण किस नयसे स्वीकार किया गया है इसका विचार वृहद्द्रव्य संग्रह गाथा ४५ की टीकासे हो जाता है। वहाँ कहा है—

तत्र योऽसौ वहिर्विपये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भुत-व्यवहारेण । पृ० १९३ ।

वहाँ यह जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयादिका परित्यागरूप चारित्र है वह उपचरित्त असद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार किया गया है।

इस समग्र कथनका यह तात्पर्य है कि आगममें जितना भी भेद व्यवहार या उपचार व्यवहार स्वीकार किया गया है वह व्यवहारनयसे मात्र प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर ही स्वीकार किया गया है। और इसीलिये समयसार गाथा १२ की आत्मख्याति टीकामें 'परिज्ञायमानः तदात्वे प्रयोजववान्' (जिस समय यह जीव भेदरूपसे वस्तुको जानता है या उपचार व्यवहार किया जाता है उस समय जाना हुआ यह व्यवहार प्रयोजनवान् है) इस कथन द्वारा व्यवहारको मात्र प्रयोजनवान् वतला कर उसका समर्थन किया गया है।

इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक आदि व्यवहार किस नयसे, कब और क्यों स्वीकार किया गया है इसका विचार किया।

६. वाह्य कारणके दो भेदोंका विचार

वाह्य कारणके दो भेद हैं—प्रयोग और विस्रसा। आगममें निमित्त, कर्ता, प्रेरक, उत्पादक, वन्धक, परिणामक, उपकारक, सहायक आधार-निमित्त, आश्रयनिमित्त और उदासीननिमित्त आदि इन शब्दोंका व्यवहार यत्र-तत्र वाक्योंमें हुआ है उनका अन्तर्भाव उक्त दोनों भेदोंमें होता है। जहाँ अज्ञानी जीवका योगप्रवृत्ति और विकल्प निमित्त होता है वहाँ प्रयोग-निमित्त व्यवहार होता है और जहाँ स्वभाव परिणत जीव तथा पुद्गलादि द्रव्य निमित्त होते हैं वहाँ विस्रसानिमित्त व्यवहार होता है। पंचास्ति-काय समय टीकासे यही ज्ञात होता है—

यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेव आपद्यते। कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। किन्तु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्गलानामाश्रयकारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतेः प्रसरो भवति। गा० ८८।

जैसे गतिपरिणत वायु पताकाओं के गतिपरिणामका हेतु कर्ता देखा जाता है वैसे धर्मद्रव्य हेतुकर्ता नहीं देखा जाता, क्योंकि वह परमार्थसे परिस्पन्द लक्षण क्रियासे रहित होनेके कारण कभी भी गतिक्रियाको ही

नहीं प्राप्त होता है, इसलिये वह सहकारी कारणरूपसे दूसरोंकी गति क्रियाका हेतुकर्ता कैसे हो सकता है ? किन्तु मछलियोंके लिये जलके समान जीव-पुद्गलोंका आश्रय कारणमात्र होनेसे वह (धर्मद्रव्य) गतिका उदासीन ही प्रसर है ।

यहाँ इस उदाहरणमें प्रभंजन पदसे वायुकायिक जीव लिये गये हैं अतः यह प्रयोग निमित्तका उदाहरण है । जहाँ पुद्गल द्रव्यकी पर्याय ली गई हो वहाँ यह पुद्गल द्रव्यकी पर्यायकी अपेक्षा विस्रसानिमित्त का उदाहरण होता है, क्योंकि जीवकी स्वभाव पर्याय योग और विकल्पसे रहित होती है । तथा शेष द्रव्य जड़ हैं । इनमें ज्ञान भी नहीं, वल भी नहीं । जीवका त्रिकाली स्वभाव न किसीका कारण है ओर न कार्य है । इतना विशेष है कि जीवकी स्वभाव पर्यायमें प्रेरक, वन्धक, परिणामक, उत्पादकरूप व्यवहार नहीं होगा । समयसारमें कहा है—

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता ।
ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं ।।५९।।

जीवभाव यदि कर्मकृत हो तो जीव द्रव्यकर्मका कर्ता ठहरता है । परन्तु यह कैसे हो सकता है, क्योंकि जीव अपने भावोंको छोड़कर अन्य किसीको नहीं करता है ।।५९।।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्योंके कार्यको त्रिकालमें करनेमें समर्थ नहीं है ।

शंका—इस वचन द्वारा आचार्यदेवने दो द्रव्योंमें मात्र कर्ता-कर्म भावका ही निषेध किया है, इससे निमित्त-नैमित्तिक भावका निषेध कहाँ होता है । अतः एक द्रव्यकी दूसरे द्रव्योंके कार्यमें सहायकता उपकारकता तथा वलाधान निमित्तता आदि यथार्थ माननी चाहिये । अन्यथा आगममें जो स्व-परसापेक्ष परिणमन माने गये हैं वे घटित नहीं होते । इससे स्पष्ट है कि स्व-परसापेक्ष परिणमनोंमें प्रत्येक स्व-परसापेक्ष परिणमनके लिये स्वके समान परकी भी अपेक्षा होती है । और तभी उसे स्व-परसापेक्ष परिणमन कहना संगत प्रतीत होता हैं । इसलिये परमागममें वाह्य निमित्तोंके कथनको निरर्थक न मानकर कार्यकारी ही मानना चाहिये ?

समाधान—यहाँ सर्व प्रथम देखना यह है कि परमागममें उक्त

कार्योंके प्रति बाह्य निमित्तोंको किस नयसे स्वीकार किया गया है इसका स्पष्टीकरण पञ्चास्तिकाय गाथा ८९ और समयसार व्याख्यासे भले प्रकार हो जाता है। यथा—

> विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
> ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥८९॥

जिनका गमन होता है उन्हींका पुनः ठहरना होता है, क्योंकि वे पदार्थ अपने परिणामोंसे ही गमन और स्थिति करते हैं ॥८९॥

………धर्मः किल न जीव-पुद्गलानां कदाचिद् गतिहेतुत्वमभ्यस्यति, न कदाचित् स्थितिहेतुत्वमधर्मः। तौ हि परेषां गति-स्थित्योर्यदि मुख्यहेतू स्यातां तदा येषां गतिस्तेषां गतिरेव न स्थितिः, येषां स्थितिस्तेषां स्थितिरेव न गतिः। तत एकेषामपि गति-स्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किन्तु व्यवहार-नयव्यवस्थापितौ उदासीनौ। कथमेवं गति-स्थितिमतां पदार्थानां गति-स्थिती भवतः इति चेत्? सर्वे हि गति-स्थितिमन्तः पदार्थाः स्वपरिणामैरेव निश्चयेन गति-स्थिती कुर्वन्तीति।

धर्मद्रव्य कदाचित् वास्तवमें जीव और पुद्गलोंकी गतिमें हेतु होने का अभ्यास नहीं करता और अधर्म द्रव्य कदाचित् स्थितिमें हेतु होनेका अभ्यास नहीं करता, क्योंकि वे दोनों यदि दूसरोंकी गति और स्थितिके मुख्य हेतु होवें तब जिनकी गति हो उनकी गति ही होती रहे स्थिति न हो और जिनकी स्थिति हो उनकी स्थिति ही बनी रहे, गति न हो। यतः एक-एक करके उन जीवों और पुद्गलोंकी गति और स्थिति देखी जाती है—अतः अनुमान होता है कि वे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य व्यवहारनयसे स्थापित किये गये उदासीन हेतु हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो गति और स्थिति करनेवाले पदार्थोंकी गति और स्थिति कैसे होती है?

समाधान—क्योंकि सभी गति और स्थिति करनेवाले पदार्थ निश्चयसे देखा जाय तो अपने परिणामोंसे ही गति और स्थिति करते हैं ॥८९॥

इस कथनसे ये तथ्य फलित होते हैं—

(१) अज्ञानीके जो योग और विकल्परूप क्रिया होती है उससे रहित होनेके कारण नित्यरूपसे जिन धर्मादिक चार द्रव्योंको आगममें स्वीकार किया गया है उनमें मात्र उदासीनपनेसे विस्रसा हेतु होनेका ही व्यवहार घटित होता है।

(२) उक्त टीकामें यह तो स्वीकार किया ही गया है कि गति और स्थिति करनेवाले पदार्थों की गति और स्थिति निश्चयसे अपने-अपने गमन क्रियारूप और ठहरनेरूप परिणाम करनेसे ही होती है तव इससे क्या यह सुतरां फलित नहीं हो जाता कि लोकमें स्व-परसापेक्ष जितने भी कार्य स्वीकार किये गये हैं वे भी सव परमार्थसे स्वयं अपने-अपने परिणामके ही मुख्य कर्ता हैं। अवश्य फलित हो जाता है।

(३) यदि इन दोनों धर्म और अधर्म द्रव्योंकी मुख्य हेतुमें परिगणना की जाती है और यह स्वीकार किया जाता है कि ये दोनों द्रव्य जीवों और पुद्गलोंकी गमन क्रिया और स्थिति क्रियाके मुख्य कारण हैं। तो ऐसा मानने पर एक तो अन्तर्व्याप्तिके वल पर इन दोनोंके जीव और पुद्गल-मय प्राप्त होनेका प्रसंग आता है और ऐसी अवस्थामें ये दोनों क्रमसे अपने गति हेतुत्व और स्थिति हेतुत्व गुणोंके कारण सदा ही जिनकी गति होगी उनकी गति ही करते रहेंगे और जो स्थित होंगे उनकी सदा स्थिति ही वनाये रखेगें। यदि कहा जाय कि हम इनको जीवों और पुद्गलोंकी गति और स्थितिका वास्तविक कारण नहीं मानते, हमने तो इन्हें मुख्य रूपसे वाह्य निमित्त स्वीकार किया है तो यतः ये नित्य स्वीकार किये गये हैं, अतः व्यवहार निमित्त-नैमित्तिक भावसे भी ये जिनकी गति होगी उनकी गतिमें सदा वाह्य निमित्त होते रहेंगे और जिनकी स्थिति होगी उनकी स्थितिमें भी ये सदा वाह्य निमित्त होते रहेंगे यह दोष आता है, जिसे टाला नहीं जा सकता।

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सिद्धोंके समान नित्य स्वीकार किये गये हैं, इसलिये ये गति और स्थितिके उपादान निमित्त तो हो ही नहीं सकते, वाह्य प्रयोग निमित्त भी नहीं हो सकते है। इसलिये ये दोनों द्रव्य मात्र वाह्य उदासीन निमित्त रूपसे स्वीकार किये गये हैं। आकाश द्रव्य और काल द्रव्यके सम्वन्धमें भी इसी दृष्टिसे समझ लेना चाहिये।

अव मुख्यतः उन व्यवहार निमित्तोंके विषयमें विचार करना है जिन्हें लोकमें और आगममें परिणामक, उत्पादक आदि निमित्त रूपसे स्वीकार किया गया है। यद्यपि आगममें व्यवहार हेतुओंके विषयमें कर्तानिमित्त, प्रेरक निमित्त, उत्पादकनिमित्त परिणामकनिमित्त इत्यादि शब्दोंका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, अतः यदि आगममें अज्ञानी जीवके योग और विकल्प के अर्थमें इनका प्रयोग हुआ तो इनका प्रयोगकर्ता निमित्तमें अन्तर्भाव

होता है और पुद्‌गलोंके लिए हुआ है तो विस्रसानिमित्तोंमें अन्तर्भाव होता है। व्यवहारसे प्रयोग निमित्तके अर्थमें समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीकाका यह वक्तव्य दृष्टव्य है। यथा—

बहिर्व्याप्य-व्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः······ कुलालः कलशं करोति ······इति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्वचवहारः।

वाह्य व्याप्य-व्यापक भावसे कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार करनेवाला कुम्भकार कलशको करता है ऐसा लोगोंका अनादि कालसे रूढ़ व्यवहार चला आ रहा है।

यहाँ सर्वप्रथम सादृश्य सामान्यके आधारपर वाह्य व्याप्तिको स्वीकार करके कुम्भकार और मिट्टी द्रव्यको एक स्वीकार किया गया है और व्यवहारसे कुम्भकारके घट उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको देखकर उसमें मिट्टीके व्यापार करनेको स्वीकार किया गया है तब जाकर लौकिक लोग अनादि कालसे इस जातिका व्यवहार करते आ रहे हैं कि कुम्भकार घट बनाता है, वह खदानसे मिट्टी लाता है आदि। यह प्रयोगनिमित्तिका उदाहरण है।

फिर भी जो मनीषी अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभवकी दुहाई देकर जीवों और पुद्‌गलोंको व्यवहारसे कहे जानेवाले उत्पादक, कर्ता आदि निमित्तको मुख्य कर्ताके स्थानपर बिठलाकर यह लिखते और कहते हुए नहीं थकते कि कार्यसे अव्यवहित पूर्व समयवर्ती उपादानमें कार्य करनेके सन्मुख अनेक उपादान शक्तियाँ होती हैं, इसलिये जब जैसे वाह्य निमित्त मिलते हैं उन्हींके अनुसार कार्य होता है तो उनका ऐसा लिखना और कहना कैसे भ्रान्त है इस तथ्यका उक्त उल्लेखोंसे विशद रूपसे ज्ञान हो जाता है।

प्रकृतमें पुद्‌गलरूप कर्मके विस्रसा निमितत्त्वके विषयमें तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक अ० ५ सू० २० का यह वचन दृष्टव्य है—

अत्रोपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्मणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्वेनानुग्राहकत्व-प्रतिपत्त्यर्थम्, परिणामकारणं जीवः, तस्यैव तथ्यपरिणामात्।

यहाँ सूत्रमें जो उपग्रह वचन आया है वह सुखादिकी उत्पत्तिमें साता-वेदनीय आदि कर्मोंके निमित्त मात्र होनेसे अनुग्राहकपनेकी प्रतिपत्तिके लिये आया है, वस्तुतः सुखादिरूप परिणामका यथार्थ कारण तो जीव ही है, क्योंकि उसीके सुखादिरूप परिणाम होता है।

इस कथनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कर्मोदयको जो करण-निमित्त या अनुग्राहक, उपकारक आदि कहा जाता है वह उसके व्यवहार से निमित्तमात्र होनेसे ही कहा जाता है, परमार्थसे तो कर्मोदयके कालमें जीवके जितने भी कार्य होते हैं उन्हें जीव ही अपने उस-उस समयके निश्चय उपदानके अनुसार परिणमन स्वभावके कारण ही करता है।

इसी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ में जो यह वचन आया है—

तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्य-कारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः सयोगसमवायादिवन् प्रतीतसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्। संग्रहर्जुसूत्रसमाश्रयणे तु न कदाचित् कश्चित् सम्बन्धः अन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वमविरुद्धम्।

इसलिये इस प्रकार व्यवहारनयका आश्रय करने पर कार्य-कारण भावरूप दो द्रव्योंमें स्थित सम्बन्ध संयोगसम्बन्ध और समवायसम्बन्ध के समान प्रतीतिसिद्ध होनेसे परमार्थस्वरूप ही है, किन्तु कल्पनारोपित नहीं है, क्योंकि यह सभी प्रकारसे अनवद्य है। संग्रहनय और ऋजुसूत्रका आश्रय करने पर तो किसीका अन्यके साथ कल्पना मात्रको छोड़कर कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार सब कथन विरोध रहित है।

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। किन्तु बौद्ध पर्यायमात्र वस्तुको मानते हैं, वस्तु सामान्यात्मक भी होती है इसे सत्त्व, प्रमेयत्व आदि धर्मोंके आधारपर वे स्वीकार ही नहीं करते। उन्हींको लक्ष्यकर आचार्य विद्यानन्दने उक्त उत्तर दिया है। संग्रहनय वस्तुको मात्र सामान्यमात्र स्वीकार करता है और ऋजुसूत्रनय मात्र पर्यायमात्र स्वीकार करता है। किन्तु नैगमनय गौणमुख्यभावसे सामान्य और विशेष दोनोंको स्वीकार कर दो द्रव्योंके संयोगसम्बन्धको और एक द्रव्यमें सामान्य-विशेषकी अपेक्षा समवाय सम्बन्ध-तादात्म्य सम्बन्धको भी स्वीकार करता है। इसलिये यहाँ पर व्यवहारनय नैगमनय) से दो द्रव्योंमें किये गये कार्य-कारणभावको प्रयोजन विशेषकी अपेक्षा प्रतीतिसिद्ध होनेसे परमार्थस्वरूप बतलाया गया है। फिर भी वह काल्पनिक है यह बात संग्रह नय और ऋजुसूत्र नयसे स्पष्ट की गई है।

इसी प्रकार अष्टसहस्रीमें जो यह वचन आया है—

तदसामर्थ्यमखंडयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्? तत्खण्डने वा स्वभावहानिः, अव्यतिरेकात्। पृ० १०५।

नित्य शब्दकी सामर्थ्यका खण्डन नहीं करता हुआ सहकारी कारण अकित्कर कैसे नहीं हो जाता, अर्थात् अवश्य हो जाता है। यदि मीमांसक कहे कि सहकारी कारण नित्य शब्दकी सामर्थ्यका खण्डन कर देता है तो उसके नित्य स्वभावकी हानिका प्रसंग आता है, क्योंकि नित्य शब्द की सामर्थ्य उससे अभिन्न है।

मीमांसक शब्दको सर्वथा नित्य मानकर उसकी व्यंजना (अभिव्यक्ति) ध्वनिरूप सहकारी कारणसे मानता है। उसीको लक्ष्यकर उक्त वचन आया है। मीमांसकसे उसकी मान्यताको ध्यानमें रखकर यह पृच्छा की गई है कि ध्वनिके द्वारा जब शब्दकी व्यंजना होती है तब शब्दसे सर्वथा अभिन्न उस ध्वनिसे शब्दके नित्य स्वभावका (सामर्थ्यका) खंडन होता है या नहीं? यदि मीमांसक कहे कि ध्वनिसे सर्वथा नित्य शब्दकी सामर्थ्यका खण्डन नहीं होता है तो यह आपत्ति दी गई है कि तब सहकारी कारणकी व्यर्थता सिद्ध होतीहै—वह अकिंचित्कर हो जाता है। यदि वह कहे कि इससे सर्वथा नित्य शब्दकी सामर्थ्यका खण्डन हो जाता है तो उसने शब्दको जो सर्वथा नित्य माना है उसके उस स्वभाव-की हानिका प्रसंग आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य विद्यानन्दने उक्त कथन द्वारा मीमांसककी मान्यतानुसार दोनों तरफसे उसे जकड़ कर उसकी मान्यताका ही खण्डन किया है। किन्तु दुर्भाग्य है कि ऐसे भी व्यवहाराभासी हैं जो इस उद्धरणका दुरुपयोग अपने व्यक्तिगत अभिमतके समर्थनमें करते हैं। अस्तु।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आगममें प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर व्यवहारसे चाहे प्रयोगरूप निमित्त स्वीकार किया गया हो या विस्रसा निमित्त, हैं दोनों ही अपनेसे भिन्न द्रव्यकी कार्यकी उत्पत्तिके समय उस द्रव्यकी क्रिया करनेकी अपेक्षा अकिंचित्कर ही। इनमें जो व्यवहारसे कारणता स्वीकार की गई है वह केवल अन्वयव्यतिरेकको देखकर कालप्रत्यासत्तिवश प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य किस पर्यायको कर रहा है इस निश्चयकी सिद्धि करने के लिये ही स्वीकार की गई है।

परमार्थसे एक द्रव्य कारण रूपसे दूसरे द्रव्यका कार्य करनेमें कुछ भी समर्थ नहीं है—वह अकिंचित्कर है इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य पूज्यपादने इष्टोपदेशमें यह वचन कहा है—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अज्ञ पुरुष विज्ञपनेको प्राप्त नहीं होता और विज्ञ पुरुष अज्ञपनेको प्राप्त नहीं होता। अन्य पदार्थ (व्यवहारसे) दूसरे द्रव्यके कार्यमें ऐसे ही निमित्तमात्र हैं जैसे गति क्रियाका निमित्त धर्म द्रव्य होता है।

तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सूत्र २० के भाष्यमें यह वचन आया है—

यथा मृदः स्वयमन्तर्भवनघटपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि-निमित्तमात्रं भवति।

जैसे मिट्टीके स्वयं (स्वभावसे) घट होने रूप परिणामके सन्मुख होने पर दण्ड, चक्र और पौरुषेय प्रयत्न निमित्तमात्र होता है। सो उससे भी उक्त तथ्यका ही समर्थन होता है।

इस प्रकार परमागममें व्यवहारसे जो प्रयोग निमित्त और विस्रसा निमित्त इन दो प्रकारके हेतुओंका कथन किया गया है वह किस दृष्टिसे किया गया है इसका यहाँ विचार किया।

शंका—जयधवला भाग १ पृ० २६१ आदि में प्रत्यय कषाय और समुत्पत्तिकषायमें जो भेद किया गया है सो क्यों?

समाधान—यतिवृषभ आचार्यने स्वयं इन दोनोंमें अन्तरका खुलासा किया है। उसका आशय यह है कि यतः कर्मोदयको निमित्तकर कषाय होती है, अतः कर्मोदयका नाम प्रत्यय कषाय है और अन्य मनुष्य तथा लकड़ी आदिको निमित्त कर जो कषाय उत्पन्न होती है, उन मनुष्य तथा लकड़ी आदिको समुत्पत्ति कषाय कहते हैं। इन दोनोंका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

जीवादो अभिण्णो होदूण जो कसाए समुप्पादेदि सो पच्चओ णाम, भिण्णो होदूण जो समुप्पादेदि सो समुप्पत्तिओ त्ति दोण्हं भेदुवलंभादो।

जो जीवसे अभिन्न होकर कषायको उत्पन्न करता है वह प्रत्यय कषाय है और जो जीवसे भिन्न होकर कषायको उत्पन्न करता है वह समुत्पत्तिकषाय है।

इस कथनसे असद्भूत व्यवहारनयके जो अनुपचरित और उपचरित ये भेद किये गये है उनका ज्ञान हो जाता है।

शंका—कर्मोदयको जीवसे अभिन्न कैसे माना जाय?

समाधान—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४३० में इस शंकाका समाधान करते हुए कहा है—

जीव-कर्मणोर्बन्धः कथमिति चेत्? परस्परं प्रदेशानुप्रवेशान्न त्वेकपरिणामात्

तयोरेकन्द्रव्यानुपपत्तेः। 'चेतनाचेतनावेतौ बन्धं प्रत्येकतां गतौ' इति वचनात्तयोरेकत्वपरिणामहेतुः बन्धोऽस्तीति चेत्, न, उपसरतस्तयोरेकत्ववचनात् भिन्नौ लक्षणतोऽत्यन्तमिति द्रव्यभेदाभिधानात्।

शंका—जीव और कर्मका बन्ध कैसे होता है ?

समाधान—जीव और कर्मके प्रदेशोंके परस्पर अनुप्रवेशसे बन्ध होता है, किन्तु इनके एकरूप परिणमनसे बन्ध नहीं होता, क्योंकि जीव और कर्म एक द्रव्य नहीं है।

शका—इनमेंसे 'जीव चेतन और कर्मपुद्गल अचेतन है, वे दोनों बन्धकी अपेक्षा एकपनेको प्राप्त हैं' इस वचनके अनुसार बन्धको उन दोनोंके एकरूप परिणमनका हेतु माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वे दोनों एक-दूसरेका उपसरण करते हैं, इसलिये उन दोनोंका एकपना स्वीकार किया गया है। लक्षणकी अपेक्षा वे दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि आगममें इसी आधार पर द्रव्योंमें भेदका कथन किया गया है।

स्पष्ट है कि परमागममें जो बन्धको उपचरित कहा गया है सो वह इसी आधार पर कहा गया है।

तत्त्वार्थवार्तिकमें जो प्रयोग और विस्रसा ये शब्द आये हैं। उनमेंसे अध्याय ५ सूत्र २२ में इनका यह अर्थ किया गया है—

तत्र प्रयोगः पुद्गलविकारस्तदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा।

वहाँ पुद्गलका विकार प्रयोग कहलाता है और उसकी अपेक्षाके विना होनेवाली विक्रयाका नाम विस्रसा है। अर्थात् पुद्गल विकारकी अपेक्षा किये बिना जो विक्रया (परिणाम) होती है उसका नाम विस्रसा है।

आगे इनका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

तत्र परिणामो द्विविधः—अनादिरादिमांश्च। अनादिर्लोकसंस्थान-मन्दराकारादिः। आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमकादिर्भावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वात् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञान-शील-भावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। अचेतनस्य च मृदादेः घट-संस्थानादिपरिणामः कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। इन्द्रधनुरादिनानापरिणामो वैस्रसिकः।

वहाँ परिणाम दो प्रकारका है—अनादि और आदिमान्। लोक-

संस्थान और मन्दराकारादि अनादि परिणाम है। आदिमान् परिणाम दो प्रकारका है—प्रयोगज और वैस्रसिक। वहाँ चेतन द्रव्यके औपशमादिक भाव कर्मोंके उपशम आदिकी अपेक्षासे होकर भी अपौरुषेय होनेसे वैस्रसिक ऐसा कहा जाता है। ज्ञान, शील और भावना आदि लक्षणवाला परिणाम आचार्यादि पुरुषोंके प्रयोगके निमित्तसे होता है, इस लिये प्रयोगज है। तथा अचेतन मिट्टीका घट संस्थान आदि परिणाम कुलालादि पुरुषोंके प्रयोगके निमित्तसे होता है इसलिये प्रयोगज है। इन्द्रधनुष आदि नाना परिणाम वैस्रसिक हैं।

आगे अ० ५ सू० २४ में वन्धके प्रसंगसे लिखा है—

विस्रसा विधिविपर्यये निपातः ।११। प्रयोगः पुरुषकाय-वाङ्-मनःसंयोगलक्षणः ।१२।

पौरुषेय परिणामकी अपेक्षाका नाम विधि है और उससे विपरीत अर्थमें विस्रसा निपातन सिद्ध जानना चाहिये। तथा पुरुषके काय वचन और मनके संयोगका नाम प्रयोग है। जिस वन्धमें प्रयोग निमित्त हो उससे प्रायोगिक वन्ध लिया गया है तथा अजीव वन्धमें लाख-लकड़ी आदिका वन्ध लिया गया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिकमें प्रयोगके दो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि सूत्र २२ में प्रयोगका लक्षण लिखनेके वाद जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे तो सूत्र २४ में दिया गया प्रयोगका लक्षण ही फलित होता है। फिर भी यह सवाल वना ही रहता है कि सूत्र २२ में पुद्गल विकारको प्रयोग क्यों कहा? जव इस सवाल पर गहराईसे विचार करते हैं तो सूत्र २२ में दिये गये उदाहरणोंसे ही उसका समाधान हो जाता है। वहाँ सादि वैस्रसिक जीव परिणामोंमें औपशमिक आदि भाव लिये गये हैं। लिखा है कि ये भाव कर्मोंके उपशमादिकी अपेक्षासे होकर भी अपौरुषेय होनेसे वैस्रसिक हैं। इन्हें अपौरुषेय तो इस लिये कहा, क्योंकि इनकी उत्पत्तिमें पुरुषके काय, वचन और मनके प्रयोगकी अपेक्षा नहीं होती। और सूत्र २२ में प्रयोगके लक्षणके अनुसार इन्हें प्रायोगिक इसलिये नहीं कहा, क्योंकि कर्मोंका उपशम आदि पुद्गलका विकार होनेपर भी वे उन भावोंकी उत्पत्तिके करण निमित्त नहीं हैं, कर्मोदयके अभावमें या उनका क्षय हो जाने पर जीवके सम्यग्दर्शनादि परिणामोंके अनुकूल आत्मपुरुषार्थ करने पर वे स्वकालमें स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं। आगममें काललब्धिकी मुख्यतासे इनका कथन इसीलिये किया गया है।

इस कथनसे यह फलित हुआ कि करणानुयोगके अनुसार जिन्हें औपशमिक आदि भाव कहा जाता है वास्तवमें वे जीवके स्वभाव ही हैं और उनकी उत्पत्तिमें लौकिक पुरुषार्थ, जिसे आचार्यदेवने अष्टशतीमें (पुरुषार्थः पुन इहचेष्टितं दृष्टम्) इह चेष्टा कहा है उसकी अणुमात्र भी अपेक्षा नहीं पड़ती। वह तो मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिपूर्वक होनेवाले मानसिक विकल्पोंसे मुक्त होकर अपने त्रिकाली ज्ञायक भावमें उपयोग द्वारा लीनता प्राप्त करने पर ही होता है। यह जीवका उक्त लौकिक पुरुषार्थसे भिन्न अलौकिक पुरुषार्थ है। यतः इन औपशमिक आदि भावोंके होनेमें जीवका यह लौकिक पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं है, इसीलिये उन्हें अपौरुषेय कह कर विस्रसा कहा है। तात्पर्य यह है कि इन औपशमिक आदि भावोंकी उत्पत्तिके न तो कर्मोंकी उपशमादिरूप अवस्था करण निमित्त हैं और न ही इनकी उत्पत्ति जीवोंके प्रशस्त मन, वचन और कायके व्यापार परक व्रत-नियमादिरूप लौकिक पुरुषार्थसे ही होती है। जीवके जितने भी स्वभाव भाव उत्पन्न होते हैं उनकी उत्पत्तिका मार्ग ही जुदा है। अध्यात्म उसी मार्गका प्रतिपादन करता है। इसकी पुष्टिमें तत्त्वार्थवार्त्तिक अ० १ सूत्र २ का यह कथन भी दृष्टव्य है—

कर्माभिधायित्वेऽप्यदोष इति चेत् ? न, मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विक्षितत्वात् ।१०। स्व-परनिमित्तत्वादुत्पादस्येति चेत् ? न, उपकरणमात्रत्वात् ।११। आत्मपरिणामादेव तद्रसघातात् ।१२। अहेयत्वात् स्वधर्मस्य ।१३। प्रधानत्वात् ।१४। प्रत्यासत्तेः ।१४।

शंका—मोक्षका कारण सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्मको कहने पर भी कोई दोष नहीं है।

समाधान—नहीं, क्योंकि मोक्षके कारणरूपसे आत्माका परिणाम ही विवक्षित है। सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है, इसलिये मोक्षके कारणरूपसे वह विवक्षित नहीं है।

शंका—सम्यक्त्वकी उत्पत्ति स्व और पर (सम्यक्त्व कर्म) दोनोंके निमित्तसे होती है, इसलिये सम्यक्त्व नामक द्रव्य कर्मको भी मोक्षका कारण मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि बाह्य साधन उपकरणमात्र है।

दूसरे सम्यक्त्व आदि आत्मपरिणामोंसे सम्यक्त्व कर्मका उत्तरोत्तर रसघात ही होता है, (२) तीसरे आत्माका यह सम्यक्त्व परिणाम त्यागा

नहीं जाता, क्योंकि उसके होने पर ही आत्मा सम्यग्दर्शन पर्यायरूपसे परिणमन करता है, इसलिये अहेय है। परन्तु सम्यक्त्व नामक कर्म पुद्गल हेय है, क्योंकि उसके विना ही क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती है। (३) चौथे आत्माका सम्यग्दर्शन परिणाम प्रधान है, क्योंकि भीतर उसके होनेपर बाह्य सम्यक्त्व नामक द्रव्य कर्म बाह्य निमित्तमात्र है, अतः अप्रधान है। (४) पाँचवें आत्माका परिणाम सम्यग्दर्शन प्रत्यासत्तिवश मोक्षका कारण है, क्योंकि उसकी तादात्म्यभावसे उत्पत्ति होती है। किन्तु सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म विप्रकृष्टतर है, वह तादात्म्यरूपसे परिणमन नहीं करता। इसलिये अहेय होनेसे, प्रधान होनेसे और प्रत्यासन्न होनेसे सम्यग्दर्शन नामक आत्मपरिणाम ही मोक्षका कारण होना युक्त है, सम्यक्त्व नामक द्रव्यकर्म नहीं।

७. पर्यायोंकी द्विविधता

परमागममें दो प्रकारकी ही पर्यायें स्वीकार की गई हैं, स्वसापेक्ष स्वभाव पर्याय, स्व-परसापेक्ष स्वभाव पर्याय और स्व-परसापेक्ष विभाव पर्याय इस तरह तीन प्रकारकी नहीं। वस्तुतः स्वसापेक्ष स्वभाव पर्याय से स्व-परसापेक्ष स्वभाव पर्याय पृथक् नहीं है, दोनों एक ही हैं, क्योंकि जितनी भी स्वभाव पर्यायें होती हैं वे स्वके लक्ष्यसे अपने परिणाम द्वारा तन्मय होने पर ही उत्पन्न होती हैं, इसलिये उन्हें आगममें परनिरपेक्ष या स्वसापेक्ष ही स्वीकार किया गया है। अनन्तर पूर्व दिये गये तत्त्वार्थ भाष्यके उक्त वचनसे ही इसकी पुष्टि हो जाती है। इस विषयमें प्रवचन सारका यह सूत्र वचन भी दृष्टव्य है—

> सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं त्ति भणियमण्णेसु।
> परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

अन्य द्रव्यको लक्ष्यकर जो शुभ परिणाम होता है उसका नाम पुण्य है और अशुभ परिणामका नाम पाप है। किन्तु जो परिणाम अन्यको लक्ष्य कर नहीं होता उसे परमागममें दुःखके क्षयका कारण कहा गया है ॥१८१॥

परद्रव्य प्रवृत्त शुभाशुभका नाम पुण्य-पाप है, ये दोनों जीवके अशुद्ध परिणाम हैं। परद्रव्य प्रवृत्तपनेकी अपेक्षा इनमें कोई भेद नहीं है। इन्हीं परिणामोंका नाम स्व-परसापेक्ष पर्याय है। इस भूमिकामें रहनेवाला जीव भी अशुद्ध कहा जाता है। तथा स्वद्रव्य प्रवृत्त परिणामका नाम धर्म है। इस भूमिकामें स्थित जीव नियमसे अपने कालमें मोक्षका पात्र

होता है। इस अपेक्षा जीव शुद्ध कहा जाता है। इसीकी स्वसापेक्ष या परनिरपेक्ष परिणाम संज्ञा है।

इस तथ्यको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये समयसारका यह सूत्र वचन भी द्रष्टव्य है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥१६८॥

जीवको शुद्ध रूपसे-परनिरपेक्ष अकेले एकरूपसे अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है। तथा जीवको अशुद्धरूपसे परसापेक्ष संयुक्तरूपसे अनुभवनेवाला जीव संसारी रूपसे अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

इस प्रकार निश्चित होता है कि जीव और पुद्गल द्रव्यकी केवल स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय ये दो ही पर्यायें होती हैं। तथा धर्मादि अन्य चार द्रव्योंकी एकमात्र स्वभाव पर्याय ही होती है। उसीको सर्वार्थसिद्धि आदि परमागममें उत्पादकी अपेक्षा स्वप्रत्यय उत्पाद कहा गया है। यह षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय उत्पाद अकेले अगुरुलघु गुणका ही न होकर सभी गुणोंका होता है। वहाँ 'अनन्तानां अगुरुलघु-गुणानां' का अर्थ अनन्त अविभागप्रतिच्छेद है, न कि अगुरुलघुगुणके अनन्त अविभाग परिच्छेदरूप अर्थ विवक्षित है। वहाँ धर्मादिक तीन द्रव्योंका प्रकरण है। इसलिये उनकी स्वप्रत्यय स्वभाव पर्याय कैसे होती है यह समझाया गया है। साथ ही उस पर्याय पर आश्रय निमित्तरूप व्यवहार कैसे घटित होता है यह भी वहाँ स्पष्ट किया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस या इसी प्रकारके दूसरे आगमिक आधारपर जो स्वभाव पर्यायके स्वप्रत्यय या परनिरपेक्ष स्वभाव पर्याय और स्व-परप्रत्यय स्वभाव पर्याय ऐसे दो भेद करते हैं उनकी वैसी चेष्टा आगम विरुद्ध है। आशय यह है कि सभी स्वभाव पर्यायोंमें चाहे वे अगुरुलघुगुणकी ही क्यों न हों व्यवहारसे आश्रय निमित्त अवश्य होते हैं, उनके कर्तानिमित्त और करणनिमित्त नहीं होते, इसीलिये उनकी परनिरपेक्ष या स्वसापेक्ष संज्ञा है। साथ ही उक्त कथनसे यह भी समझ लेना चाहिये कि जो जीव स्वभाव सन्मुख या स्वभावलीन होता है उसकी शुद्ध संज्ञा है और जो जीव स्वभावको गौण कर या उसको न समझकर परमें राग-द्वेष मोह करता है उसकी अशुद्ध संज्ञा है। इसी आधारपर प्रत्येक जीव क्रमसे शुद्ध और संसारी बनता है। इस दृष्टिसे किस निश्चय उपादानकी भूमिका

में आकर इसने इस अवस्थाको प्राप्त किया है यह मुख्य नहीं हैं, मुख्य उसका झुकाव है कि उसका झुकाव स्वभावकी ओर है या राग पूर्वक परकी ओर। जव विभाव या स्वभावकी ओर झुकाव रहता है तव निश्चय उपादान भी उनके अनुकूल रहता है। ऐसा ही अन्वय-व्यतिरेक है।

शंका—जैसे मिट्टीमें जिस प्रकार कुम्भ निर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है उसी प्रकार कुम्भकार व्यक्तिमें भी कुम्भ निर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है। फरक यह है कि मिट्टी कुम्भरूप परिणत होती है और कुम्भकार कुम्भरूप परिणत होनेमें सहायक होता है।

समाधान—मिट्टी कुम्भकी स्वरूपसे कर्ता हैं, कुम्भकार स्वरूपसे कर्ता नहीं है, क्योंकि कुम्भकारमें कुम्भ कार्यके कर्तृत्व गुणका अत्यन्त अभाव है। मात्र उसमें प्रयोजनवश कर्तृत्वका उपचार किया जाता है। अतएव मिट्टी कुम्भरूप केवल परिणत ही नहीं होती, किन्तु परिणमन करती है। कुम्भकार मिट्टीके घट कार्यका वास्तवमें सहायक नहीं होता है, सहायक होता है ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है। और ऐसे व्यवहार का कारण कुम्भकार का योग और विकल्प है।

शंका—पहले आपने शुद्ध आत्माका अर्थ अकेला परनिरपेक्ष एकरूप किया है, सो इसे और अधिक स्पष्ट कीजिये ?

समाधान—समयसार गाथा ३८ की आत्मख्याति टीकामें शुद्ध शब्द का अर्थ करते हुए वतलाया है—

नर-नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जरावन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णज्ञायकस्वभावभावेनात्यन्तविवक्तत्वाच्छुद्धः।

मैं नर-नारकादि जीव विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा वन्ध और मोक्षस्वरूप व्यावहारिक नौ तत्त्वोंसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप भावके द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिये शुद्ध हूँ।

मोक्षमार्गीके लिये एकमात्र स्वतःसिद्ध, अनादि-अनन्त, नित्य उद्योतस्वरूप और विशद ज्ञान-दर्शन ज्योतिस्वरूप एक ज्ञायक भाव ही अनुभवने योग्य है इस तथ्यको स्पष्ट करनेके लिये शुद्ध शव्दका उक्त अर्थ किया गया है।

कर्ता-कर्मभावके विकल्पसे मुक्त करनेकी दृष्टिसे शुद्ध शव्दके अर्थको स्पष्ट करते हुए गाथा ७३ आत्मख्याति टीकामें आचार्यदेव कहते हैं—

समस्तकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।

कर्ता-कर्म आदि समस्त कारकोंके समूहकी प्रक्रियासे पारको प्राप्त निर्मल अनुभूति मात्र होनेसे मैं शुद्ध हूँ।

उक्त समग्र कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मोक्षमार्गीके लिये न तो पर्यायाश्रित विकल्प ही मुक्ति प्राप्तिका यथार्थ साधन है और न ही कर्ता-कर्म आदि रूप कारक विकल्प ही मुक्ति प्राप्तिका यथार्थ साधन है। इस प्रकार समस्त विकल्पोंसे मुक्त होकर जो मात्र अखण्ड एक ज्ञायकस्वरूप आत्माको अनुभवता है वही यथार्थमें मोक्षमार्गी होकर संसारसे मुक्त होता हुआ परमात्मस्वरूप अवस्थाका अधिकारी होकर स्वात्मोत्थ अनन्त सुखका भोक्ता बनता है, इसके सिवाय पराश्रित अन्य जितने उपाय हैं वे सब परमार्थसे संसार तत्त्वको ही बढ़ानेवाले हैं। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर वीतराग सर्वज्ञदेवने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जिस मार्गको दर्शाया उसे स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें क्या कहते हैं, यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोपसूतेर्निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमाभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥५९॥

जिस गुण-दोपकी उत्पत्तिका अभ्यन्तर (निश्चय उपादान रूप आत्मा) मूल हेतु है उस कार्यका जो वस्तु निमित्तमात्र है, अध्यात्मवृत्त—मोक्षके साधक मोक्षमार्गीकी दृष्टिमें वह गौण है, क्योंकि हे जिनेन्द्रदेव आपके शासनके अनुसार मोक्षमार्ग निश्चयनय प्रधान होनेसे उस मोक्षमार्गीको दृष्टिमें अभ्यन्तर हेतु ही पर्याप्त है ॥५९॥

और इसी लये प्रवचनसार गाथा १६ की तत्त्वदीपिका टीकामें स्वयंभू पदकी व्याख्या करते हुए आचार्यदेव अमृतचन्द्र लिखते हैं--

अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणतया परतन्त्रैर्भूयते।

इसलिये निश्चयसे आत्माका परके साथ कारकसम्बन्ध नहीं है, जिससे कि ये जीव शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिये सामग्रीका अनुसन्धान करनेके प्रयोजनसे परतन्त्र होते हैं।

स्पष्ट है कि व्यवहारसे आगममें प्रतिपादित कार्य-कारणपरम्परासे अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर कालप्रत्यासत्तिवश बाह्य कारणकी स्वीकृति होनेपर भी जिससे परमार्थस्वरूप कार्य-कारण परम्पराको यथार्थतामें बाधा न आये इसी पद्धतिसे उसका कथन करना परमागममें व्यवहारसे स्वीकार किया गया है। विज्ञेषु किमधिकम्।

•

४. निश्चयउपादान-मीमांसा

उपादान विधि-निरवचन है निमित्त उपदेश ।
वसै जु जैसे देशमें धरै सु तैसे भेप ।।
[पण्डित प्रवर बनारसीदासजी]

पिछले प्रकरणमें हम बाह्य निमित्त कारणकी सांगोपांग विवेचना कर आये हैं। यह तो निर्विवाद सत्य है कि बाह्य निमित्त कारण ऐसे ही उपकरणमात्र है जैसे राजाकी पहिचानके बाह्य साधन छत्र, चमर और विशिष्ट सिंहासन आदि होते हैं। या भागते हुए चोरके पीछे उसको गिरफ्तमें लेनेके लिए भागते हुए पुलिसके सिपाही आदि होते हैं। इसलिये यह प्रश्न होता है कि स्वयं प्रत्येक द्रव्यकी प्रतिसमय जो पर्याय होती है वह पृथक्-पृथक् या एक सदृश कैसे होती है। उनके वैसा होनेके स्वयं वस्तुनिष्ठ अन्तरंग कोई कारण हैं या केवल बाह्य निमित्त कारणके अनुसार ही वे होती हैं। यदि केवल बाह्य निमित्तोंके अनुसार वस्तुओंकी प्रत्येक पर्यायकी उत्पत्ति मानी जाय तो प्रत्येक वस्तुको स्वरूपसे ही परतन्त्र माननेका प्रसंग उपस्थित होता है। और ऐसी अवस्थामें जीवों की स्वाश्रित बन्ध-मोक्षव्यवस्था, परमाणुओं, धर्मादिचार द्रव्योंकी स्वभाव पर्यायें तथा अभव्यों और दूरांदूर भव्योंका निरन्तर संसारी बना रहना नहीं बन सकता। इसलिये प्रत्येक द्रव्यमें उसके अपने-अपने स्वभाव आदिके कारणस्वरूप ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिसके कारण प्रत्येक समयका उत्पाद-व्यय स्वयं होता है। प्रत्येक समयके पृथक्-पृथक् जो वस्तुनिष्ठ कारण हैं उनकी ही आगममें निश्चय उपादान संज्ञा स्वीकार की गई है।

(१) प्रकृत विषयका स्पष्टीकरण

प्रकृतमें इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम सर्व प्रथम घटका उदाहरण लेते हैं। घट मिट्टीकी पर्याय है, क्योंकि घटमें मिट्टीका अन्वय देखा जाता है। इसलिए घटका उपादान मिट्टी कही जाती है। परन्तु यदि केवल मिट्टीसे ही घट बनने लगे तो मिट्टीके बाद घटकी ही उत्पत्ति होनी चाहिए। मिट्टी और घटके बीचमें जो पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल आदिरूप विविध सूक्ष्म और स्थूल पर्यायें होती है वे नहीं होनी चाहिए। माना कि ये सब पर्यायें मिट्टीमय हैं। परन्तु जो मिट्टी खानसे

जाती है वह पूर्वोक्त अन्य पर्यायोंको प्राप्त हुए बिना घट पर्यायरूपसे परिणत नहीं हो सकती। इससे मालूम पड़ता है कि केवल मिट्टीको घटका उपादान कारण कहना द्रव्यार्थिक नयका कथन है। वस्तुतः घटकी उत्पत्ति अमुक पर्याय विशिष्ट मिट्टीसे होती है, जिस अवस्थामें मिट्टी खानसे आती है उस अवस्थाविशिष्ट मिट्टीसे नहीं। अतएव इस अपेक्षासे घटका निश्चय उपादान कारण विवक्षित अवस्था विशिष्ट मिट्टी ही होती है, अन्य अवस्था विशिष्ट मिट्टी नहीं[1]।

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए दूसरा उदाहरण हम जीवका ले सकते हैं। मुक्त अवस्था जीवकी स्वाश्रित पर्याय है, क्योंकि मुक्त अवस्थामें जीवका अन्वय देखा जाता है। इसलिए द्रव्यार्थिक नयसे मुक्त अवस्थाका उपादान कारण जीव कहा जाता है। परन्तु यदि केवल जीवसे मुक्त अवस्था उत्पन्न होने लगे तो निगोदिया जीवको भी उस पर्यायके बाद मुक्त अवस्था उत्पन्न हो जानी चाहिए। निगोद अवस्था और मुक्त अवस्थाके बीचमें जो दूसरी अनेक पर्यायें दृष्टिगोचर होती हैं वे नहीं होनी चाहिए। माना कि इन दोनों अवस्थाओंके बीच कम या अधिक जो दूसरी पर्यायें होती हैं वे सब जीवमय हैं। परन्तु जो जीव निगोदसे निकलता है वह पूर्वोक्त संसारकी अन्य पर्यायोंको प्राप्त हुए बिना मुक्त अवस्थाको नहीं प्राप्त होता। इससे मालूम पड़ता है कि केवल जीवको मुक्त अवस्थाका उपादान कारण कहना द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य है। वस्तुतः मुक्त अवस्थाकी उत्पत्ति अन्तिम क्षणवर्ती अयोगिकेवली अवस्था विशिष्ट जीवसे ही होती है। इसके पूर्व क्रमसे सयोगिकेवली, क्षीणकषाय, सूक्ष्मसाम्पराय, अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अप्रमत्तसंयत आदि अवस्थाएँ प्रचुर अवस्थाएँ नियमसे होती हैं। अप्रमत्तसंयत अवस्थाके पूर्व कौन-कौन अवस्थाएँ हों इनका नाना जीवोंकी अपेक्षा एक नियम नहीं है। अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार दूसरी-दूसरी अवस्थाएँ यथासम्भव होती हैं। जिस प्रकार सब पुद्गल घट नहीं बनते उसी प्रकार यह भी नियम है कि सब जीव इन अवस्थाओंको प्राप्त नहीं होते। जो निकट भव्य हैं वे ही अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार यथा-

---

१. इसके लिए देखो अष्टसहस्री श्लोक १० की टीका। वहाँ पर व्यवहार-नय (द्रव्यार्थिक नय) से मिट्टीको घटका उपादान कहा है, ऋजुसूत्रनयसे पूर्व पर्यायको घटका उपादान कहा है तथा प्रमाणसे पूर्व पर्यायविशिष्ट मिट्टीको घटका उपादान कहा है।

समय इन अवस्थाओंको प्राप्त कर मुक्त होते हैं। इतना स्पष्ट है कि मुक्त होनेके अनन्तर पूर्व अयोगी अवस्था नियमसे होती है। अतएव निश्चय उपादान कारण और कार्यके ये लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

(२) निश्चय उपादानका स्वरूप

नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम्। नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्। अष्टसहस्री टिप्पण पृ० २११।

नियत पूर्व समयमें रहना कारणका लक्षण है और नियत उत्तर क्षण में रहना कार्यका लक्षण है।

यद्यपि इसमें जो नियत पूर्व समयमें स्थित है उसे कारण और जो नियत उत्तर समयमें स्थित है उसे कार्य कहा गया है पर इससे निश्चय उपादान कारण और उसके कार्यका सम्यक् बोध नहीं होता, क्योंकि नियत पूर्व समयमें द्रव्य और पर्याय दोनों अवस्थित रहते हैं, इसलिए इतने लक्षणसे कौन किसका निश्चय उपादान कारण है और किस निश्चय उपादानका कौन कार्य है यह बोध नहीं होता। फिर भी उक्त कथनसे निश्चय उपादान कारण और कार्यमें एक समय पूर्व और बादमें होनेका नियम है यह बोध तो हो हो जाता है। निश्चय उपादान कारणका अव्यभिचारी लक्षण क्या है इसका स्पष्ट उल्लेख अष्टसहस्री (पृ० २१०) में एक श्लोक उद्धृत करके किया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्॥

जो द्रव्य तीनों कालोंमें अपने रूपको छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ पूर्वरूपसे और अपूर्वरूपसे वर्त रहा है वह उपादान कारण है ऐसा जानना चाहिए।

यहाँपर द्रव्यको उपादान कहा गया है। उसके विशेषणों पर ध्यान देनेसे विदित होता है कि द्रव्यका न तो केवल सामान्य अंश उपादान होता है और न केवल विशेष अंश उपादान होता है। किन्तु सामान्य विशेषात्मक द्रव्य ही निश्चय उपादान होता है। द्रव्यके केवल सामान्य अंशको और केवल विशेष अंशको उपादान माननेमें जो आपत्तियाँ आती हैं उनका निर्देश स्वयं आचार्य विद्यानन्दने एक दूसरा श्लोक उद्धृत करके कर दिया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा॥

जो अपने स्वरूपको छोड़ता ही है केवल वह (पर्याय) और जो अपने स्वरूपको सर्वथा नहीं छोड़ता केवल वह (सामान्य) अर्थ (कार्य) का उपादान नहीं होता। जैसे क्षणिक और शाश्वत।

यद्यपि सर्वथा क्षणिक और सर्वथा शाश्वत कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु जो लोग पदार्थको सर्वथा क्षणिक मानते हैं उनके यहाँ जैसे सर्वथा क्षणिक पदार्थ कार्यका उपादान नहीं हो सकता और जो लोग पदार्थको सर्वथा शाश्वत मानते हैं उनके यहाँ जैसे सर्वथा शाश्वत पदार्थ कार्यका उपादान नहीं हो सकता उसी प्रकार द्रव्यका केवल सामान्य अंश कार्य का उपादान नहीं होता और न केवल विशेष अंश कार्यका उपादान होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस विषयको और स्पष्ट करते हुए स्वामी कार्तिकेय स्वरचित द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं:—

जं वत्थु अणेयतं तं चिय कज्जं करेई णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसए लोए ॥२२५॥

जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है वही नियमसे कार्यकारी होती है, क्योंकि बहुत धर्मोंसे युक्त अर्थ ही लोकमें कार्यकारी देखा जाता है ॥२२५॥

एयंतं पुण दव्वं कज्ज ण करेदि लेसमित्तं पि।
जं पुण ण कीरदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥२२६॥

किन्तु एकान्तरूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता और जव वह कार्य नहीं कर सकता तो उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है, अर्थात् नहीं कहा जा सकता ॥२२६॥

आगे एकान्तस्वरूप द्रव्य या पर्याय कार्यकारी कैसे नहीं होता इसका समर्थन करते हुए वे कहते हैं:—

परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव।
णो उप्पज्जदि य सदा एवं कज्जं कहं कुणइ ॥२२७॥
पज्जयमित्तं तच्चं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइदव्वविहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि ॥२२८॥

अपने परिणामसे हीन नित्य द्रव्य सर्वदा न तो विनाशको ही प्राप्त होता है और न उत्पन्न ही होता है, इसलिए वह कार्यको कैसे कर सकता है। तथा पर्यायमात्र तत्त्व क्षण क्षणमें अन्य-अन्य होता रहता है,

इसलिए अन्वयी द्रव्यसे रहित वह किसी भी कार्यको नहीं साव सकता ॥२२७-२२८॥

इसलिए स्वामी कार्तिकेयने फलितार्थरूपमें उपादान कारण और कार्यका जो लक्षण किया है वह इस प्रकार है:—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३०॥

अनन्तर पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य कारणरूपसे प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्य होता है ॥२३०॥

स्वामी विद्यानन्दने भी उपादानकारण और कार्यका क्या स्वरूप है इसका बहुत ही संक्षेपमें समाधान कर दिया है। वे श्लोक ५८ की अष्टसहस्री टीकामें कहते हैं:—

उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव, हेतोर्नियमात्।

उपादानका पूर्वाकारसे क्षय कार्यका उत्पाद ही है, क्योंकि ये दोनों एक हेतुसे होते हैं ऐसा नियम है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अनन्तर पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्य है उसकी उपादान संज्ञा है और जो अनन्तर उत्तर पर्यायविशिष्ट द्रव्य है उसकी कार्य संज्ञा है। उपादान-उपादेयका यह व्यवहार अनादि कालसे इसी प्रकार चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम पहले एक उदाहरण घट कार्य का दे आये हैं। उससे स्पष्ट है कि खानसे प्राप्त हुई मिट्टीसे यदि घट बनेगा तो उसे क्रमसे उन पर्यायोंमेंसे जाना होगा जिनका निर्देश हम पूर्वमें कर आये हैं। व्यवहारनयसे कितना ही चतुर व्यवहार हेतुरूपसे उपस्थित कुम्हार क्यों न हो वह खानकी मिट्टीसे घट पर्याय तककी निष्पत्तिका जो क्रम है उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। खानसे लाई गई मिट्टी जैसे-जैसे एक-एक पर्याय रूपसे निष्पन्न होती जाती है तदनुकूल कुम्हारके हस्त-पादादिका क्रिया व्यापार भी बदलता जाता है और उसी क्रमसे मिट्टीके आश्रित विकल्पात्मक उपयोगमें भी परिवर्तन होता जाता है। अन्तमें मिट्टीमेंसे घट पर्यायकी निष्पत्ति इसी क्रमसे होती है और जब मिट्टीमेंसे घट पर्यायकी निष्पत्ति हो जाती है तो कुम्हारका व्यवहार से तदाश्रित योग-उपयोगरूप क्रिया व्यापार भी रुक जाता है। एक द्रव्याश्रित उपादान-उपादेयसम्बन्धके साथ बाह्य द्रव्याश्रित निमित्त-

नैमित्तिकसम्बन्धकी यह व्यवस्था है जो अनादि कालसे यथासम्भव इसी क्रमसे एक साथ चली आ रही है और अनन्त काल तक इसी क्रम से चलती रहेगी ।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार सर्वत्र एक ओरसे नहीं होता, किन्तु कहीं-कहीं दोनों ओरसे भी होता है। उदाहरण स्वरूप जब घट कार्यकी मुख्यता होती है तब विवक्षित योग और उपयोगसे युक्त कुम्हार उसका व्यवहार हेतु कहा जाता है और घट कार्य नैमित्तिक कहा जाता है। किन्तु जब कुम्हारका विवक्षित योग और उपयोगरूप क्रिया व्यापार किस बाह्य निमित्तसे हुआ इसका विचार किया जाता है तो जो मिट्टी घट पर्यायरूपसे परिणत हो रही है वह उसका बाह्य निमित्त कहा जायगा और विवक्षित योग-उपयोगविशिष्ट कुम्हार उसका नैमित्तिक कहा जायगा। अनुभवमें तो यह बात आती ही है, आगमसे भी इसका समर्थन होता है। ऐसा नियम है कि जिस उपशम सम्यग्दृष्टिके उपशम सम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छह आवलि काल शेष रहता है उसके अनन्तानुबन्धीचतुष्कमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदीरणा होने पर सासादन गुणस्थानकी प्राप्ति होती है। अब एक ऐसा उपशमसम्यग्दृष्टि जीव लीजिए जिसने अनन्तानुबन्धीचतुष्ककी विसंयोजना की है। ऐसे जीवको द्वितीय गुणस्थानकी प्राप्ति तब हो सकती है जब अनन्तानुबन्धीचतुष्कका सत्त्व होकर उसमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदीरणा हो और अनन्तानुबन्धीचतुष्कका सत्त्व और उसमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदीरणा तब हो सकती है जब उसे सासादन गुणकी प्राप्ति हो। स्पष्ट है कि यहाँ पर सासादन गुणकी प्राप्तिका निमित्त अनन्तानुबन्धीकी उदीरणा है और उसके सत्त्वके साथ उदीरणाका निमित्त सासादन गुण है। फिर भी ऐसे जीवको सासादन गुणकी प्राप्ति किस निमित्तसे होती है इतना दिखलाना प्रयोजन रहनेसे यह कहा जाता है कि अनन्तानुबन्धीचतुष्कमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदीरणाके निमित्तसे होती है। इस विषयको और भी स्पष्टरूपसे समझनेके लिए द्व्यणुकका उदाहरण पर्याप्त है, क्योंकि द्व्यणुकके दोनों परमाणु अपनी-अपनी बन्धपर्यायकी उत्पत्तिके प्रति उपादान होकर भी परस्पर दोनोंमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक भाव भी है। इतना अवश्य है कि यहाँ पर है यह वैस्रसिक बन्ध का ही उदाहरण, क्योंकि इसमें पुरुष प्रयोग निमित्त नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिये।

यह निमित्त-नैमित्तिकव्यवहारकी व्यवस्था है। इसके रहते हुए भी कितने ही व्यवहाराभासी व्यवहार हेतुके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति मानने वाले महानुभाव निश्चय उपादान कारणके वास्तविक रहस्यको न स्वीकार कर ऐसी शंका करते हैं कि खानसे लाई गई मिट्टीसे यदि घटकी उत्पत्ति होगी तो उसमें क्रमसे ही होगी इसमें सन्देह नहीं। परन्तु खानसे लाई गई अमुक मिट्टी घटका निश्चय उपादान होगा और अमुक मिट्टी सकोराका निश्चय उपादान होगा यह मिट्टी पर निर्भर न होकर कुम्हार पर निर्भर है। कुम्हार जिस मिट्टीसे घट बनाना चाहता है उससे घट बनता है और जिससे सकोरा बनाना चाहता है उससे सकोरा बनता है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि कार्यकी उत्पत्ति अपने निश्चय उपादानसे होकर भी वह बाह्य निमित्तके अनुसार ही होती है। इतना ही नहीं यदि कोई विशिष्ट घट बनवाना होता है तो उसके लिए विशिष्ट कुम्हारकी शरण लेनी पड़ती है। यदि ऐसा हो कि केवल अमुक प्रकार-की मिट्टीसे ही विशिष्ट घट बन जाय, उसमें कुम्हारकी विशेषताको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता न पड़े तो फिर मात्र योग्य मिट्टीका ही संग्रह किया जाना चाहिए, विशिष्ट कारीगिरकी ओर ध्यान देनेकी क्या आवश्यकता? यतः लोकमें योग्य उपादान सामग्रीके समान योग्य कारीगिरका भी विचार किया जाता है और ऐसा योग मिल जाने पर कार्य भी विशिष्ट होता है। इससे मालूम पड़ता है कि कार्यकी उत्पत्ति अपने निश्चय उपादानसे होकर भी वह बाह्य निमित्तके अनुसार ही होती है। तात्पर्य यह है कि किस समय किस द्रव्यकी क्या पर्याय हो यह निश्चय उपादान पर निर्भर न होकर बाह्य निमित्तके आधीन है। वास्तवमें व्यवहार हेतुकी सार्थकता इसीमें है, अन्यथा कार्यमात्रमें व्यवहार हेतुको स्वीकार करना कोई मायने नहीं रखता।

यह एक प्रश्न है जो दो द्रव्योंके निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध और एक द्रव्याश्रित उपादान-उपादेयसम्बन्धके वास्तविक रहस्यको न स्वीकार कर व्यवहाराभासी महाशय उपस्थित किया करते हैं। यद्यपि इस प्रश्नका समाधान पहिले हम जो निश्चय उपादान कारणका स्वरूप दे आये हैं उससे ही हो जाता है, क्योंकि उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कार्यसे अनन्तर पूर्व समयमें जैसा उपादान होगा, अनन्तर उत्तर क्षणमें उसी प्रकारका कार्य होगा। व्यवहार हेतु उसे अन्यथा नहीं परिणमा सकता।

इसीलिये निश्चय उपादानके साथ व्यवहार हेतुकी मर्यादाका कथन करते हुए अष्टसहस्री पृ० २१० का यह वचन द्रष्टव्य है—

असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिपूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते।

असाधारण द्रव्य प्रत्यासत्ति और पूर्वाकाररूप भावविशेष प्रत्यसत्ति ही अपने उपादेयरूप परिणामके प्रति उपादानपनेरूपसे कारण है ऐसा निश्चित होता है।

प्रत्येक कार्यके प्रति यथासम्भव व्यवहार हेतु किस प्रयोजनसे स्वीकार किया गया है यह बात तो अन्य है। प्रश्न यह है कि नियत पूर्वाकार परिणत द्रव्य नियत उत्तराकार परिणत द्रव्यका निश्चय उपादान है या नहीं? परमागममें इस तथ्यपर बारीकीसे विचार करते हुए यह दृढ़ताके साथ स्पष्ट किया गया है कि अव्यवहित नियत पूर्व पर्यायसे परिणत द्रव्य जैसा होगा उससे अव्यवहित उत्तर कालमें वही कार्य होगा। कोई भी व्यवहार हेतु उसे नियत कार्यसे अन्यथा नहीं परिणमा सकता। और इसीलिये आप्तमीमांसाके दोषावरणयोर्हानिः इसमें प्रयुक्त द्विवचनका समर्थन करते हुए आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्रीमें कहते हैं—

तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च।

अतः जीवमें अज्ञानादि दोषका हेतु आवरण कर्म और जीवका अव्यवहित पूर्व समयवाला अपना परिणाम है।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि नियत कार्यका नियत उपादान नियमसे होता है। ऐसा नहीं है कि निश्चय उपादान अन्य हो और कार्य व्यवहार हेतुके बलपर अन्य हो जाय। जो व्यवहाराभासी ऐसा मानते हैं वे मात्र ऐसे कथन द्वारा परमागमका ही अपलाप करते हैं। यद्यपि वे अपने इस मतके समर्थनमें आगमकी दुहाई देते हैं। पर आगममें उनके इस मतका समर्थन करनेवाला एक भी उल्लेख नहीं उपलब्ध होता। किन्तु उनके इस मतके विरुद्ध ही पूरा जिनागम पाया जाता है। और इसीलिये स्वामी कार्तिकेयने द्वादशानुप्रेक्षामें यह घोषणा की है—

णव-णवकज्जविसेसा तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समये पुव्वुत्तरभावमासेज्ज ॥२२९॥

वस्तुओंमें तीनों ही कालोंमें प्रति समय पूर्व और उत्तर परिणामकी अपेक्षा नये-नये कार्य विशेष होते हैं।

इसी उल्लेख द्वारा आचार्यने तीनों कालोंमें जितने कार्य उतने ही उनके निश्चय उपादान कारण इस तथ्यको स्पष्ट किया है। इसीको प्रत्येक द्रव्यका स्वकाल भी कहते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिसमयके प्रत्येक कार्यका निश्चय उपादान सुनिश्चित है। इस सुनिश्चित व्यवस्थाका अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभवके आधारपर अपलाप करना एक द्रव्याश्रित कार्य-कारण भावको ही मटियामेट करना है। मैं तो इसे आगमकी अवहेलना करनेरूप सबसे बड़ा अपराध मानता हूँ। व्यवहारका समर्थन करना और बात है। परन्तु उसके समर्थन करने के लिए परमार्थका अपलाप नहीं किया जाता। वह कैसा श्रुतज्ञान है जो निश्चय उपादनरूप परमार्थका अपलाप कर मात्र व्यवहारकी स्थापना करता है। नैगमनयका बहुत बड़ा पेट है। पर उसकी एक मर्यादा है। जिससे अजीर्ण हो जाय ऐसी नैगमनयकी प्ररूपणा किस काम की। जहाँ भी नैगमनयसे व्यवहार हेतुकी पुष्टि की गई है वहाँ इन दृष्टियों को सामने रखकर ही व्यवहार हेतुकी पुष्टि की गई है—

(१) सर्वत्र आचार्योंने एक द्रव्याश्रित अन्तर्व्याप्तिको ही मुख्य रूपसे स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य अपने नित्य स्वभावके समान परिणामस्वभावी भी है, इसलिए वह अन्यकी सहायताके बिना स्वयं अपने परिणामको करता है और वह ऐसे ही परिणामको करता है जैसा उसका निश्चय उपादान होता है। ऐसी ही इन दोनोंमें एक द्रव्याश्रित अन्तर्व्याप्ति हैं। वस्तुतः देखा जाय तो उस परिणामको निश्चय उपादान भी नहीं करता है, क्योंकि उसका ध्वंस होकर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। और बारीकीसे देखा जाय तो द्रव्यका नित्य स्वभाव तो स्वयं अपरिणामी है और जिस समय कार्य हुआ उस समय अव्यवहित पूर्व पर्याय स्वभावका ध्वंस हो गया है। तो भी कार्य तो होता ही है, इसलिए यह निश्चित होता है कि विवक्षित कार्य अपने कालमें स्वयं है। बात इतनी है कि निश्चय उपादानके अनुसार स्वयं कार्यकी मर्यादा बनती है। अतः यह एक द्रव्याश्रित कथन है, इसलिए सद्भूत व्यवहारनयसे निश्चय उपादान-उपादेय भाव स्वीकार किया गया है। तथा परिणामी तथा परिणाममें अभेद स्वीकार कर द्रव्यको अपने परिणाम का कर्ता कहा गया है।

(२) अब रही असद्भूत व्यवहार नयसे कार्य कारणकी बात सो इस लोकके षट्द्रव्यमयी होनेके कारण प्रत्येक द्रव्यकी प्रति समयकी पर्यायोंकी अन्य किस द्रव्यकी पर्यायके साथ बाह्य व्याप्ति (व्यवहार व्याप्ति) पूर्वक काल प्रत्यासत्ति बनती है इस तथ्यको ध्यानमें रखकर विवक्षित कार्यका सूचक होनेसे इन दोनोंके मध्य असद्भूत व्यवहारनयसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कल्पित किया गया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्द क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

कथंचित्सत एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोत्पत्तेः सुवर्णस्यैव केयूरादिसंस्थानवत्। सुवर्णं हि सुवर्णत्वादिद्रव्यादेशात् सदेव केयूरादिसंस्थान-पर्यायादेशाच्चासदिति तथापरिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते। ततः सदसदात्मकमेवार्थकृत्। —अष्टसहस्री पृ० १५०।

कथंचित् सत्के ही सामग्रीके सन्निपात होनेपर सुवर्णके केयूरादि संस्थानके समान स्वभावातिशयकी उत्पत्ति होती है। जो सुवर्णत्व आदि द्रव्यार्थिक नयसे सत् ही है और केयूरादि संस्थानरूप पर्यायार्थिक नयसे असत् है वह उस प्रकारके परिणमनरूप शक्ति लक्षणवाली प्रति-विशिष्ट अन्तःसामग्रीका और सुवर्णकारके व्यापारादि लक्षण बहिः-सामग्रीका सन्निपात होनेपर केयूर आदि संस्थानरूपसे उत्पन्न होता है। इसलिये सिद्ध होता है कि सदसदात्मक वस्तु ही अर्थ क्रियाकारी होती है।

इस उल्लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कार्यमें प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्री और बहिःसामग्री उसी प्रकारकी होती है जैसा कार्य होता है। प्रत्येक कार्यके प्रति निश्चय उपादानकी अन्तर्व्याप्ति और व्यवहार साधनकी बहिःव्याप्ति स्वीकार करनेका आशय भी यही है। ऐसा ही निश्चय-व्यवहारका योग है। जो महाशय इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और अनुभवके आधारपर उसकी अन्यथा प्ररूपणा करते हैं उनके उन इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदिको सम्यक् श्रुतज्ञान तो नहीं कहा जा सकता।

इतने कथनसे यह सिद्ध हो जाता है कि अव्यहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यका नाम कारण है और अव्यवहित उत्तर पर्याययुक्त द्रव्यका नाम उसका कार्य है और इसलिये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें निश्चय उपादान-उपादेयका यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२२२॥

नियमसे अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य कारणरूप है और अव्यवहित उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य कार्यरूप है ॥२२२॥

प्रत्येक कार्यका निश्चय उपादान एक ही है

इस प्रकार परमागमसे निश्चय उपादानका लक्षण सुनिश्चित होनेपर जो महाशय इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और अनुभवके आधार पर जोरशोरसे यह कहते हुए नहीं थकते कि अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्य उपादान होते हुए भी उससे अव्यहित उत्तरकालमें कौन कार्य होगा यह निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए जब जैसा निमित्त मिलता है तब उसी प्रकारका कार्य होता है, अतएव कार्यका नियामक निश्चय उपादान न होकर बाह्य निमित्तको ही मानना चाहिए। किन्तु उनका यह कथन कैसे आगम विरुद्ध है इसे स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए आचार्य विद्यानन्दके त० श्लोकवा० पृ० ६५ के इस कथन पर भी दृष्टिपात कीजिये—

तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्ति प्रकीर्तितम् ।
रत्नत्रयमशेषाघविघातकारणं ध्रुवम् ॥४७॥
ततो नाऽन्योऽस्ति मोक्षस्य साक्षान्मार्गो विशेषतः ।
पूर्वावधारणं येन न व्यवस्थामियर्ति नः ॥४८॥

इसलिए अयोगी जिनका अन्त्यक्षणवर्ती रत्नत्रय नियमसे समस्त अघाति कर्मोंका क्षय करनेवाला कहा गया है ॥४७॥ इसलिए परमार्थसे मोक्षका अन्य कोई साक्षात् मार्ग नहीं है, अतः हमने रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है इस प्रकार जो पूर्वावधारण किया है वह अव्यवस्थित न होकर व्यवस्थित ही है ॥४८॥

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट करते हुए वे इसी परमागमके पृ० ६४ पर क्या करते हैं इसपर भी दृष्टिपात कीजीए—

निश्चयनयात्तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनन्तरसमयनिर्वाणजननसमर्थानामेव सद्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः ।

निश्चयनयसे तो दोनों ओरसे अवधारण करना भी हमें इष्ट है, क्योंकि अव्यवहित उत्तर समयमें निर्वाणको पैदा करनेमें समर्थ सम्यग्दर्शनादिकके ही मोक्षमार्गपना बनता है।

यहाँ पर निश्चयनयकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनादि ही मोक्षमार्ग है या सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग ही है इस प्रकार अवधारण करके उस एकान्त को स्वीकार किया गया है जिसे आज कल कुछ लोग सर्वथा एकान्त कह कर उसका निषेध करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्रके इस वचनसे भी इसी तथ्यका समर्थन होता है-

ततो नान्यत्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते । प्रवचनसार गा० ८२ ।

इसलिए निर्वाणका एकमात्र रत्नत्रयको छोड़कर कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।

शंका—चौथे आदि गुणस्थानके सम्यग्दर्शनादिको तो फिर मोक्षमार्ग क्यों कहा जाता है ?

समाधान—सद्भूत व्यवहारनयसे कहा जाता है, क्योंकि निश्चय उपादान उसीकी संज्ञा है जिसके बाद उसीके सदृश कार्य हो ।

इसी तथ्यको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए यह वचन दृष्टव्य है—

न हि द्वयादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्य-कारणभावो विचारयितुमुपक्रान्तो येन तत्र तस्यासामर्थ्य प्रसज्यते । किं तर्हि ? प्रथमसिद्धक्षणेन सह, तत्र च तत्समर्थमेवेत्यसच्चोद्यमेतत् । कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात्, धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूम-क्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः । तथा च न किंचित् कस्यचित् समर्थ कारणम् । न चासमर्थात् कारणादुत्पत्तिरिति क्वेयं वराकी तिष्ठेत् कार्य-कारणता । कालान्तरस्थायिनोऽग्नेः स्वकारणादुत्पन्नो कालान्तरस्थायी स्कन्ध एक एवेनि स तस्य कारणं प्रतीयते, तथा व्यवहारात्, अन्यथा तदभावात् इति चेत् ? तर्हि सयोगिकेवलिरत्नत्रयमयोगिकेवलिचरम-समयपर्यन्तमेकमेव तदनन्तरभाविनः सिद्धत्वपर्यायस्यानन्तरस्यैकस्य कारणमित्या-यातम्, तच्च नानिष्टम्, व्यवहारनयावरोधतस्तथेष्टत्वात् । निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिचरमसमयवर्ति रत्नत्रय-मिति निरवद्यमेतत्तत्त्वविदामाभासते । त० श्लोकवा० पृ० ७१ ।

द्वितीय आदि सिद्धक्षणोंके साथ अयोगिकेवलीके अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रयका कार्य-कारण भाव विचार करनेके लिए प्रस्तुत नहीं है, जिससे कि वहाँ उक्त सिद्धक्षणोंके साथ उक्त रत्नत्रयकी असामर्थ्यका प्रसंग प्राप्त होवे ।

शंका—तो क्या है ?

समाधान—प्रथम सिद्धक्षणके साथ उक्त रत्नत्रयका कार्य-कारण भाव प्रस्तुत है और वहाँपर वह समर्थ ही है, इसलिए इस विषयमें शंका करना व्यर्थ है । यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो अग्नि प्रथम धूम-क्षणको उत्पन्न करती हुई भी उस कार्यके करनेमें समर्थ कैसे होवे, क्योंकि धूमक्षणोंसे उत्पन्न हुए द्वितीयादि धूमक्षणोंके उत्पादमें असमर्थ होनेसे प्रथम धूमक्षणकी उत्पत्तिमें भी असामर्थ्यका प्रसंग प्राप्त होता है और ऐसी

अवस्थामें कोई किसीका समर्थ कारण नहीं ठहरेगा। और असमर्थ कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं। इस प्रकार यह विचारी कार्य-कारणता कहाँ ठहरेगी।

शंका—कालान्तर स्थायी अग्निरूप अपने कारणसे उत्पन्न हुआ कालान्तर स्थायी धूमरूप स्कन्ध एक ही है, इसलिये वह उसका कारण प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा व्यवहार है, अन्यथा ऐसे व्यवहारका अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो सयोगिकेवलीका रत्नत्रय अयोगि-केवलीके अन्तिम समय तक एक ही है, इसलिये वह तदनन्तरभावी एक सिद्ध पर्यायका कारण है ऐसा प्राप्त हुआ और वह हमें अनिष्ट नहीं है, क्योंकि व्यवहारनयके अनुरोधसे वह हमें इष्ट है। किन्तु निश्चयनयका आश्रय करनेपर तो जिसके अनन्तर मोक्षकी उत्पत्ति होती है वही अयोगिकेवलीका अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय मोक्षका मुख्य कारण है यह तत्त्वज्ञोंको निर्दोष प्रतीत होता है।

इस उद्धरणसे जिन तथ्योंपर प्रकाश पड़ता है वे ये हैं—

(१) निश्चयनयसे उपादान कारण उसीकी संज्ञा है जिसके अव्यहित उत्तर समयमें तदनुरूप निश्चित कार्य होता है। इसकी पुष्टि इस वचनसे भी होती है—

उपादानसदृशं कार्यं भवति। —परमात्मप्रकाश पृ० १५१ टीका।

उपादानके सदृश कार्य होता है।

(२) इसी निश्चय उपादानकी समर्थ कारण संज्ञा है, इसकी पुष्टि इस वचनसे भी होती है—

विवक्षितस्वकार्यकरणे अन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णम्।
—तत्त्वार्थ श्लोकवा० पृ० ७०

विवक्षित अपने कार्यके करनेमें अन्त्यक्षण प्राप्तपनेका नाम ही सम्पूर्ण है।

(३) निश्चय उपादानके पूर्व उसको व्यवहार उपादान कहते हैं। जैसे सयोगिकेवलीके रत्नत्रयको या इससे पूर्वके रत्नत्रयको मोक्षका उपा-दान कारण कहना यह व्यवहार उपादान है। यह समर्थ उपादान तो नहीं है, फिर भी इसमें मोक्ष प्राप्तिके कारणरूपी केवल द्रव्य योग्यता विद्यमान

है, इसलिए इसमें मोक्षप्राप्तिकी कारणता नैगमनयसे स्वीकारकर यह मोक्षका कारण है ऐसा व्यवहार स्वीकार किया गया है।

३. कार्यका नियामक निश्चय उपादान ही

यहाँ तक हमने निश्चय उपादानका स्वरूप क्या है यह बतलाया। अब आगे इसका विचार करना है कि परमार्थसे कार्यका नियामक निश्चय उपादानको माना जाय या असद्भूत व्यवहारनयके विषयभूत व्यवहार हेतुको। साधारणतः यह शंका उन व्यवहार हेतुओंको लक्ष्य कर व्यवहारीजनोंके द्वारा उठाई गई है जिन्हें वे प्रेरक निमित्त कारण कहते है। आगममें कुछ ऐसे वचन भी मिलते हैं जिनसे इस शंकाको बल मिलता है। उदाहरणार्थ कर्मकाण्डमें कहा गया है—

विसवेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहिं।
उस्साहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥५७॥

विषजन्य वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, उच्छ्वासनिरोध और आहारनिरोध से आयुका क्षय हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि उक्त कारणोंका समागम होनेपर आयुके क्षयपूर्वक जो मरण होता है उसकी अकाल या कदलीघात मरण संज्ञा है ॥५७॥

इसी बातका समर्थन परमात्मप्रकाशके इस दोहे से भी होता है—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥१-६६॥

आत्मा पंगुके समान है। आत्मा न जाता है और न आता है। तीनों लोकोंमें इस जीवको विधि ही ले जाता है और विधि ही ले आता हैं ॥१-६६॥

करणानुयोगमें कर्मकी जो उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा ये चार अवस्थाओंका उल्लेख आया है उससे भी उन्हें लगता है कि जिन कार्योंमें प्रेरक निमित्तोंकी मुख्यता देखी जाती है उनमें प्रेरक निमित्तोंको ही नियामक माना जाना चाहिये।

स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा १०० में कुम्भादि कार्योंके प्रति कुम्भकारके विकल्प ज्ञान और हस्तादिकी क्रियाको उत्पादक कहा है तथा आचार्य अमृतचन्द्रदेवने इनको निमित्तकर्ता भी कहा है। इसी प्रकार गाथा २७८-७९ में उक्त दोनों आचार्योंने परद्रव्यको परिणमाने वाला कहा है। यही बात आचार्य गृद्धपिच्छने भी कही है। वे तत्त्वार्थ-

सूत्रमें पुद्गलबन्धके प्रसंगसे दो अधिक गुण (शक्त्यंश) वाले पुद्गलको दो हीन गुणवाले पुद्गलको परिणमानेवाला कहते हैं।

इन सब उद्धरणोंसे यही सिद्ध होता है कि जिन्हें वे प्रेरक निमित्त कहते हैं उन्हें ही, उनको निमित्तकर होनेवाले कार्योंका नियामक माना जाना चाहिये। इतना ही क्यों, आगममें जिन्हें उदासीन निमित्त कहा गया है उनके विषयमें भी उन व्यवहारीजनोंका कहना है कि उन्हें भी कार्योंका नियामक माननेमें कोई आपत्ति नहीं दिखलाई देती। अन्यथा तत्त्वार्थसूत्रमें 'धर्मास्तिकायाभावात्' (१०-९) इस सूत्रकी रचना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। सिद्ध जीव तो अपनी उपादान योग्यताके कारण लोकाकाशको उल्लंघन कर अलोकाकाशमें भी जा सकते थे, परन्तु लोकाकाशके ऊपर अलोकाकाशमें धर्मास्तिकाय न होनेसे उनका लोकाकाशके अन्त तक ही गमन होता है, क्योंकि जीवों और पुद्गलोंकी गतिक्रियामें उदासीन निमित्तपनेको प्राप्त होनेवाले धर्मास्तिकायका लोकाकाशके बाहर सद्भाव नहीं पाया जाता।

यह व्यवहाराभासियोंका कथन है। यह ठीक है कि आगममें अनेक स्थलों पर सुनिश्चित व्यवहार हेतुओंके समर्थनमें ऐसे उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं जिनसे उन्हें यह आभास होता है कि उपादान तो मात्र वस्तुगत योग्यता है। किस समय किस प्रकारका कार्य हो यह सब व्यवहार हेतुओं पर निर्भर है। पञ्चास्तिकायमें भी धर्म और अधर्म द्रव्यकी व्यवहारहेतुताके समर्थनमें कहा गया है—

तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरंगहेतू धर्माधर्मौ न भवेतां तदा तयोर्निरर्गलगति-स्थितिपरिणामत्वात् अलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत। गा० ८७ समयव्याख्या टीका।

यदि गतिपरिणाम अथवा गतिपरिणामपूर्वक स्थितिपरिणामको स्वयं अनुभव करनेवाले उन जीव-पुद्गलोंके बहिरंग हेतु धर्म और अधर्म द्रव्य न हों तो उन जीव और पुद्गलोंकी निरर्गल गति और तत्पूर्वक स्थिति परिणाम होनेसे आलोकाकाशमें भी उनकी वृत्तिको कौन रोक सकता है?

इसी आशयका कथन तत्त्वार्थवार्तिकके इस उद्धरणसे भी होता है—

यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्य-कुलालदण्ड-चक्र-सूत्रोदक-कालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाविर्भवति, नैको मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः।

तथा पतत्रिप्रभृति द्रव्यं गति-स्थितिपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं वा प्राप्तुमलमिति । तदनुग्राहककारणधर्माधर्मास्तिकायसिद्धिः । त. वा. ५-१२ पृ० २१४

जिस प्रकार घटकार्यरूप परिणामके प्रति आभ्यन्तर सामर्थ्यसे सम्पन्न मिट्टीका पिण्ड बाह्य कुम्भकार, दण्ड, चक्र, सूत्र, जल, काल और आकाश आदि अनेक उपकरण सापेक्ष घटपर्यायरूपसे प्रकट होता है। अकेला मिट्टीका पिण्ड कुलालादि बाह्य साधनोंकी सन्निधिके विना घटरूपसे उत्पन्न होनेके लिए समर्थ नहीं है। उसी प्रकार पक्षी आदि द्रव्य गति और स्थितिरूप परिणामकी प्राप्तिके प्रति सन्मुख होता हुआ बाह्य अनेक कारणोंकी सन्निधिके विना गति और स्थिति प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये गति और स्थितिके अनुग्राहक धर्म और अधर्म द्रव्यकी सिद्धि होती है।

निश्चय उपादान कार्योंका नियामक नहीं होता, इस मतके समर्थनमें कुछ व्यवहाराभासियोंका यह दृष्टिकोण है। अतः इस विषय पर साङ्गोपाङ्ग विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यथा—

(१) समर्थ उपादान कारण किसे कहा जाय और असमर्थ उपादान कारण क्या है इसकी चर्चा तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकमें शंका-समाधानके प्रसंगसे हम कर आये है। तत्त्वार्थवार्तिकमें 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंकी एकता मोक्षमार्ग है' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए कहा है—

एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ।२८। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः ।२९।

इन सम्यग्दर्शनादि तीनोंमेंसे पूर्वकी प्राप्ति होनेपर उत्तरकी प्राप्ति भजनीय है। किन्तु उत्तरकी प्राप्ति होनेपर पूर्वकी प्राप्ति नियत है ॥२८, २९॥

इसी सरणिका अनुसरण कर तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें यह वचन आया है—

तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणानामवश्यं कार्यवत्त्वाभावात् ।

इसीलिये ही उपादानका लाभ होनेपर उत्तरका लाभ नियत नहीं है, क्योंकि कारण अवश्य ही कार्यवाले होते हैं ऐसा नहीं है।

किन्तु आचार्यने यह कथन व्यवहार उपादानको ध्यानमें रख कर ही किया है, क्योंकि इससे आगे वे स्वयं समर्थ उपादानका समर्थन करते हुए शंका-समाधान करते हुए लिखते हैं—

समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्त्वमेवेति चेत् ? न, तस्येहाविवक्षितत्त्वात् ।

शंका—समर्थ कारण कार्यवाले ही होते हैं ?

समाधान—पूर्वका लाभ होनेपर उत्तरका लाभ भजनीय है इत्यादि वचन आचार्यने समर्थ उपादान कारणको गौण कर ही कहा है, क्योंकि इस कथनमें समर्थ उपादानकी अपेक्षा कथन करनेकी विवक्षा नहीं की गई है ।

समर्थ उपादान किसे कहा जाय इसकी चर्चा भी आचार्य विद्यानन्दने की है । वे लिखते हैं—

विवक्षितस्वकार्यकरणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णम् ।

विवक्षित अपने कार्यके करनेमें जो उपादान अन्त क्षणको प्राप्त होता है उसीको सम्पूर्ण उपादान कारण कहा जाता है । विचार कर देखा जाय तो इसीकी समर्थ उपादान कारण संज्ञा भी है और इसीको निश्चय उपादान कारण भी कहा गया है ।

इतने विवेचनसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि आगममें विवक्षित कार्यसे अव्यवहित पूर्ववर्ती वस्तुको जो निश्चय उपादान कारण कहा गया है वह समर्थ उपादान कारणको लक्ष्यमें रखकर ही कहा गया है । अतः जो व्यवहाराभासवादी महाशय ऐसे उपादानको अनेक योग्यतावाला बतलाकर मात्र व्यवहार हेतुका कार्यकारीरूपसे समर्थन करते हैं उनका वह कथन तर्कसंगत तो है ही नहीं, आगमविरुद्ध भी है ।

२. अब आगे आगमके कतिपय ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनको लक्ष्यमें लेनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्यवहार हेतु अदलते-बदलते रहते हैं, फिर भी अपने निश्चय उपादानके अनुसार कार्य वही होता है । यथा—

(क) सर्वार्थसिद्धि अ० २ सू० १० में भावपरिवर्तनके स्वरूपका निर्देश करते हुए बतलाया है कि समझो कोई एक संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त, मिथ्यादृष्टि जीव अपने योग्य ज्ञानावरणकी जघन्य स्थितिका बन्ध कर रहा है तो उसके उस स्थितिबन्धके व्यवहार हेतु जो स्थिति अध्यवसान स्थान होते हैं वे असंख्यात लोकप्रमाण होकर भी एक समयमें उनमेंसे कोई एक उस जघन्य स्थितिबन्धका हेतु होता है । उनमेंसे यही उस जघन्य स्थितिबन्धका व्यवहार हेतु हो ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं

है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्यका नियामक निश्चय उपादन ही होता है, व्यवहार हेतु नहीं।

(ख) प्रत्येक संसारी जीवके अवगाहरूप क्षेत्रमें अनन्तानन्त प्रमाण विस्रसोपचय रहता है। उनमेंसे किस समय कौन विस्रसोपचय जीवके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप वन्धको प्राप्त हो यह विभाग उक्त जीव तो नहीं करता है, क्योंकि इस विषयमें वह स्वयं अज्ञ है। जो केवली हैं वे भी जानते हुए भी यह विभाग नहीं करते कि इस समय इस विस्रसो-पचयरूप पुद्गल स्कन्धको बाँधेंगे, इसको नहीं। किन्तु जिस समय जो विस्रसोपचय वन्ध योग्य होता है वह जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंमेंसे यथासम्भव किसी एक योगस्थानको निमित्त कर स्वयं ज्ञानावरणादि रूपसे परिणम कर एक क्षेत्रावगाह रूपसे वन्धको प्राप्त हो जाता है। यहाँ यह कथन प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्धकी अपेक्षा किया गया है। स्थितिवन्ध और अनुभागवन्धके विपयमें भी इसी प्रकार से जान लेना चाहिए।

(ग) दो पुद्गल परमाणुओंका श्लेष वन्ध तभी होता है जव एक पुद्गल परमाणुसे दूसरा पुद्गल परमाणु दो अधिक स्पर्श गुणवाला न हो। मात्र एक वालेके लिये यह नियम लागू नहीं होता। इसी प्रकार तीन आदि अनन्त पुद्गल परमाणुके श्लेषवन्धके विषयमें भी जान लेना चाहिये। सो क्यो, विचार कीजिये।

(घ) एक क्षपित कर्मांशिक जीव है और दूसरा गुणित कर्मांशिक जीव है। दोनोंने एक साथ श्रेणि आरोहण किया। समझो अपूर्वकरण में दोनोंका विशुद्धि रूप परिणाम सदृश है। फिर भी क्षपित कर्मांशिकके स्थितिकाण्डका प्रमाण गुणित कर्मांशिकके स्थितिकाण्डकके प्रमाणसे अल्प प्रमाणवाला होता है। सो क्यों, विचार कीजिये।

(ङ) जीवकाण्ड लेश्या मार्गणामें किस लेश्याके किस अंशसे मरा हुआ जीव स्वर्ग या नरकमेंसे किस स्वर्ग या किस नरकमें जन्म लेता है यह स्पष्ट वतलाया गया है। आयु कर्मके वलसे उसका अन्यत्र जन्म क्यों नहीं होता। सो क्यों, विचार कीजिये।

(च) एक जीव अपनी परिणाम विशुद्धिके वलको निमित्त कर अप्रशस्त कर्मका अपकर्षण करता है। प्रश्न यह है कि यह जीव विवक्षित निषेकों के विवक्षित कर्म परमाणुओंका ही उस समय अपकर्षण क्यों कर सकता है, उनके सिवा उस समय अन्य कर्म परमाणुओंका अपकर्षण क्यों नहीं कर पाता? विचार कीजिये।

(छ) उपसर्ग केवली या अन्तःकृतकेवली जीवोंके ऊपर तपस्याके समय घोर उपसर्ग होनेपर भी भुज्यमान आयु अनपवर्त्य ही क्यों रही आती है। घोर उपसर्गसे उसका छेद हो जाय और ये जीव अकालमें ही मुक्तिके पात्र हों जायँ, ऐसा क्यों नहीं होता ? विचार कीजिये।

(ज) पूर्व भवमें जा जीव कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यंचकी आयुका निकाचित, निधत्ति और उपशम करण रूप आयुवन्ध करके कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यंच हुए हैं। विष, शस्त्रादिके द्वारा उनका अकाल मरण क्यों नहीं होता ? विचार कीजिये।

(घ) धवला पुस्तक ६ उत्कृष्ट स्थितिवन्ध चूलिका सूत्र संख्या २४ में देव और नारकियों सम्वन्धी और २८ में मनुष्यों और तिर्यञ्चों सम्वन्धी आयुवन्ध होनेपर भुज्यमान आयुका छेद नहीं होता। भुज्यमान आयुमेंसे उतनी आयु शेष रहते हुए यदि दूसरोंके द्वारा विष-शस्त्रादिका प्रयोग भी किया जाता है तो भी उनका मरण नहीं होता। किन्तु शेष आयुका भोग हो लेता हैं तभी उन देन-नारकियों और मनुष्य-तिर्यञ्चोंका मरण होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यका नियामक निश्चय उपादान ही होता है, क्योंकि उसी समय ही ये भीतरसे मरणके सम्मुख होते हैं, मरणके स्वकालको छोड़कर अन्य कालमें नहीं।

शंका—देव और नारकियोंका तो किसी भी हालतमें मरण नहीं होता, फिर इस नियममें उनको क्यों सम्मिलित किया गया है ?

समाधान—आगममें उनकी आयुको जो अनपवर्त्य वतलाया गया है। सो इससे मात्र यही सिद्ध होता है कि उनका अन्तिम आयुवन्ध निकाचित, निधत्ति, उपशम करणरूप होता है, ऐसी योग्यतासे रहित उनका आयु वन्ध नहीं होता है। सामान्यतः यही नियम भोगभूमि मनुष्य और तिर्यंचोंपर तथा चरम शरीरी जीवोंपर भी लागू होता है। इनके अतिरिक्त अन्य सव जीव इस नियमके अपवाद हैं। 'ततोऽन्येऽपवर्त्यायुषो गम्यन्ते' (त. श्लो. २-५३). इस वचनसे भी यही सिद्ध होता है।

शंका—जिन जीवोंपर यह नियम लागू नहीं होता, उनका अकालमरण माननेमें तो आपत्ति नहीं, अन्यथा खड्गप्रहारादिसे होने वाला मरण नहीं वनेगा तथा आयुर्वेद आदिके द्वारा जीवन रक्षाके उपाय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

समाधान—प्रत्येक कार्यमें वाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है यह द्रव्यगत स्वभाव है (स्वयंभूस्तोत्र ५९) इस नियमके अनुसार

यही कारण है कि हमने परमार्थसे निश्चय उपादानको कार्यका नियामक कहा है, फिर भी व्यवहारसे व्यवहार हेतुको कार्यका नियामक माननेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि व्यवहार निश्चयकी सिद्धिका व्यवहार हेतु है ऐसा आगम वचन है।

४. उपादान-प्रागभाव विचार

कार्य द्रव्यसे अव्यवहित पूर्ववर्ती द्रव्यको प्रागभाव कहते हैं और प्रागभावका अभाव ही कार्य द्रव्य कहलाता है[1]। यहाँ जो प्रागभावका लक्षण दिया है वही निश्चय उपादानका लक्षण है, इसलिये आप्तमीमांसा कारिका १० में जो यह आपत्ति दी गई है कि प्रागभाव न मानने पर कार्य द्रव्य अनादि हो जायगा सो यही आपत्ति निश्चय उपादानके नहीं स्वीकार करने पर भी प्राप्त होती है। प्रागभावका उक्त सुनिश्चित लक्षण किस दृष्टिसे स्वीकार किया गया है इसका विस्तारसे विवेचन करते हुए आचार्य विद्यानन्दने अपनी सुप्रसिद्ध अष्टसहस्री टीकामें जो कुछ भी लिखा है यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावान् कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वानन्तरात्मा। न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्य-सद्भावप्रसंगः, प्रागभाव-विनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्। 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः' इति वक्ष्यमाणत्वात्। प्रागभावतत्प्रागभावादेस्तु पूर्व-पूर्वपरिणामस्य सन्तत्यनादेर्विवक्षितकार्यरूपत्वाभावात्।

यथार्थमें ऋजुसूत्रनयकी मुख्यतासे तो अव्यवहित पूर्ववर्ती उपादान परिणाम ही कार्यका प्रागभाव है। और प्रागभावके इस रूपसे स्वीकार करने पर पूर्वकी अनादि परिणाम सन्ततिमें कार्यके सद्भावका प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि प्रागभावके विनाशमें कार्य रूपता स्वीकार की गई है। 'कार्यका उत्पाद ही क्षय है, क्योंकि इन दोनोंका हेतु एक है' ऐसा आगे शास्त्रकार स्वयं कहनेवाले हैं। प्रागभाव, उसका प्रागभाव इस रूपसे पूर्वतत्पूर्व परिणामरूप सन्ततिके अनादि रूपसे विवक्षित होनेके कारण उसमें विवक्षित कार्यपनेका अभाव है। पृ० १००।

इससे एक तो यह निश्चित हो जाता है कि अव्यवहित पूर्व पर्याय-युक्त द्रव्य नियत कार्यका ही उपादान होता है। दूसरे उक्त कथनसे यह भी निश्चित हो जाता है कि इससे पूर्व क्रमसे वस्तु जिस रूपमें अवस्थित

---

१. कार्यात्प्रागनन्तरपर्यायः तस्य प्रागभावः। तस्यैव प्रध्वंसः कार्यं घटादिः। पृ० ९७।

रहती आई है वह पूर्वोक्त नियत कार्यका व्यवहार उपादान कहलाता है। यह व्यवहार उपादान इसलिये कहलाता है, कारण कि उसमें उक्त नियत कार्य के प्रति ऋजुसूत्रनयसे कारणता नहीं बनती। यतः वह केवल द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उपादान कहा गया है, इसलिये उसकी व्यवहार उपादान संज्ञा है!

शंका—पूर्वमें प्रागभावका लक्षण कहते समय मात्र नियत कार्यसे अव्यवहित पूर्व पर्यायको ही ऋजुसूत्रनयसे उपादान कहा गया है, इसलिये उस कथनको भी एकान्त क्यों न माना जाय ?

समाधान—उक्त कथन द्वारा द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत द्रव्यकी अविवक्षा करके प्रागभावका लक्षण कहा गया है, इसलिये कोई दोष नहीं है। यदि दोनों नयोंकी विवक्षा करके प्रागभावका लक्षण कहा जाय तो अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यको प्रागभाव कहेंगे। इस प्रकार समस्त कथन युक्ति युक्त बन जाता है।

शंका—यदि ऐसा है तो व्यवहार हेतुके कथनके समय उसे कल्पना स्वरूप क्यों कहा जाता है। श्री जयधवला (पृ० २६३) में इस विषयके कथनको स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेनने यह कहा है कि प्रागभाव का अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सापेक्ष होता है ? यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव कल्पनाके विषय हैं तो फिर प्रागभावके अभावको द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव सापेक्ष नहीं कहना चाहिये था। क्या हमारी इस शंकाका आपके पास कोई समाधान है ?

समाधान—हमने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको कहीं भी काल्पनिक नहीं कहा है, वे इतने ही यथार्थ हैं जितना कि प्रकृत वस्तु स्वरूप। हमारा तो कहना यह है कि प्रत्येक कार्यमें पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर काल प्रत्यासत्तिवश निमित्त कहना यह मात्र विकल्पका विषय है और इसलिये उपचरित है! आगम में जहाँ भी यह कहा गया है कि इसने यह कार्य किया, यह इसका प्रेरक है, इसने इसे परिणमाया है, इसने इसका उपकार किया है यह इसका सहायक है यह सब कथन असद्भूत व्यवहारनयका वक्तव्य है। इस नयका आशय भी यह है कि यह नय प्रयोजनवश अन्यके कार्य आदिको अन्यका कहता है।

यह तो सुनिश्चित है कि प्रत्येक वस्तु और उसके गुण-धर्म परमार्थसे पर निरपेक्ष होते हैं, स्वरूप पर सापेक्ष नहीं हुआ करता। वस्तुका नित्य

होना यह जैसे वस्तुका स्वरूप है उसी प्रकार उसका परिणमन करना यह भी वस्तुका स्वरूप है। नय केवल अंश ज्ञान होनेसे वह मात्र उनकी विवक्षासे उनकी सिद्धि करता है, इसलिये विवक्षा या अपेक्षा नयज्ञानमें होती है वस्तु तो धर्म और धर्मी दोनों दृष्टियोंसे पर निरपेक्ष स्वतःसिद्ध है। इतना अवश्य है कि जब एक-एक अंशकी अपेक्षा वस्तु-को जाना जाता है या उसका कथन किया जाता है तो मात्र दूसरे अंशरूप भी वस्तु है इसको भूलकर मात्र उसी अंशरूप वस्तुको न स्वीकार कर लिया जाय इस तथ्यको ध्यानमें रखनेके लिए अपेक्षा या विवक्षा लगाई जाती है। इसलिये अपेक्षा नयज्ञान या नयरूप कथनमें ही होती है, वस्तुमें या उसके स्वरूप सिद्ध धर्मोंमें नहीं। यह सिद्धान्त कार्य-कारणपर भी पूरी तरहसे लागू होता है। निश्चय उपादान स्वरूप से स्वयं है और निश्चय स्वरूप कार्य (पर्याय) स्वरूपसे स्वयं है। विवक्षा या अपेक्षा मात्र उनकी सिद्धिमें लगती है। जैसे यह कहना कि यह इस कारणका कार्य है, या यह कहना कि यह इस कार्यका कारण है। इसलिये यह कथन सद्भूत व्यवहारनयका विषय हो जाता है, क्योंकि निश्चय स्वरूप कारणता भी वस्तुका स्वरूप है और निश्चय स्वरूप कार्यता भी वस्तुका स्वरूप है। मात्र उनका एक-दूसरेकी अपेक्षासे कथन किया गया है, इसीलिये इस कथनको सद्भूत व्यवहारनयका विषय कहा गया है। अब रह गया कर्म और नो कर्मको दृष्टिमें रखकर व्यवहार हेतु और उसकी अपेक्षा व्यवहाररूप कार्यका कथन, सो पहले तो यह देखिये कि ज्ञानावरणादि कर्म और उनसे भिन्न शरीरादि समस्त पदार्थोंकी नो-कर्म संज्ञा क्यों है? ज्ञानावरणादिको आत्माका कर्म क्यों कहा जाता है इस तथ्यको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिये प्रवचनसार अ. २ गा. २५ की तत्त्वदीपिका टीकाके इस कथन पर दृष्टिपात कीजिये—

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात् कर्म। तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।

आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे क्रिया नियमसे आत्माका कर्म है और उस क्रियारूप राग, द्वेष, मोह और योग को निमित्तकर (व्यवहारसे हेतु कर) जिसने अपना परिणाम प्राप्त किया है ऐसा पुद्गल भी उसका कर्म कहलाता है।

ज्ञानावरणादि कर्म वास्तवमें पुद्गलका परिणाम है, फिर उस परिणामकी ज्ञानावरणादि कर्म संज्ञा क्यों रखी गई? उक्त कथन द्वारा इसी तथ्यको स्पष्ट किया गया है।

नोकर्म अर्थात् ईषत् कर्म । सवाल यह है कि शरीरादिको नोकर्म क्यों कहा गया है? समाधान यह है कि नोकर्मके दो भेद हैं, एक तो औदारिक आदि पाँच शरीर और दूसरे उनके अतिरिक्त लोकवर्ती समस्त पदार्थ । इनमेंसे तो औदारिक आदि पाँच शरीरोंको नोकर्म तो इसलिये कहा गया है, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयसे जो-जो अज्ञान आदिक कार्य होते हैं उनमें इनकी निमित्तता अनियत है, नियतरूप निमित्तता नहीं । दूसरे ये अज्ञानादिके समान जीवोंके वैभाविक भाव नहीं हैं । तीसरे घातिया कर्मोंका क्षय हो जाने पर इन औदारिक आदि शरीरोंमें अज्ञानादि भावोंकी उत्पत्तिमें व्यवहारसे निमित्तता भी नहीं रहती । इसीलिये आगममें इन्हें नोकर्म समूहमें सम्मिलित किया गया है । अब रहे अन्य पदार्थ सो वे भी स्वरूपसे निमित्त तो नहीं हैं, व्यवहारसे जब उनका राग, द्वेष और मोह मूलक जीवकार्योंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनता है तभी उनमें इस सम्बन्धको देखकर नोकर्म व्यवहार होता है, सर्वदा नहीं

शंका—घटादि कार्य तो परमार्थसे जीवकार्य नहीं हैं ?

समाधान—घटादि कार्योंके होनेमें अज्ञानी जीवके योग और 'मैं कर्ता' इस प्रकार के विकल्पोंमें निमित्तताका व्यवहार होनेसे व्यवहारसे वे भी जीव-कार्य कहलाते हैं । अतः अज्ञानादि घटादि कार्योंमें अन्य पदार्थोंके समान व्यवहार हेतु होनेसे आगममें इन्हें भी नोकर्म माना गया है ।

शंका—उपयोग स्वरूप ज्ञानके साथ भी तो ऐसा व्यवहार बन जाता है कि घट-पटादि पदार्थोंके कारण मुझे घट ज्ञान, पटज्ञान आदि हुआ । वर्णादिक द्रव्योंके कारण मुझे वर्णादिक द्रव्योंका ज्ञान होता है ? अतः इन घट-पटादि और वर्णादिक द्रव्योंको भी ज्ञानोत्पत्तिका व्यवहार हेतु स्वीकार कर उन्हें नोकर्म कहना चाहिये ।

समाधान—घट-पटादि और वर्णादिक द्रव्योंके साथ ज्ञानका व्यवहारसे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो है । ज्ञानोत्पत्तिके व्यवहार साधन रूपसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है । परीक्षामुखमें कहा भी है—

नार्थालोकौ कारणम्, परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् ।

अर्थ और आलोक ज्ञानोत्पत्तिके (व्यवहार) कारण नहीं हैं, क्योंकि वे ज्ञेय हैं, अन्धकारके समान ।

इस प्रकार ज्ञानावरणादिको कर्म और शरीरादिको नोकर्म क्यों कहा गया इसकी सिद्धि हो जाने पर इनके साथ संसार अवस्थामें जीव

कार्योंके साथ जो कार्य-कारणभाव कहा गया है वह असद्भूत व्यवहार-नयसे ही कहा गया है। तब यह इस कार्यका कारण है या इस कारण का यह कार्य है ऐसा असद्भूत व्यवहार तो बन जाता है। पर निश्चय-नय न तो इस व्यवहारको स्वीकार करता है और न ही सद्भूत व्यवहार को ही स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत अपना निषेधकरूप स्वभाव होनेके कारण वह ऐसे व्यवहारका निषेध ही करता है। 'एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण (समयसार गाथा २७२।) इस प्रकार निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय निषेध करने योग्य जानो यह वचन इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर कहा गया है।

इस प्रकार प्रागभाव और उपादान कारण इनमें एक वाक्यता कैसे है और इस आधार पर निश्चय उपादानमें विवक्षित कार्यकी नियामकता कैसे बनती है इसका सम्यक् विचार किया।

अब आगे प्रकृत विषय उपादान-उपादेयभावको और तदनुषंगी व्यवहार निमित्त-नैमित्तिकभावको ध्यानमें रखकर 'दृष्टिका माहात्म्य' इस प्रकरणके अन्तर्गत कैसी दृष्टि बनानेसे जीवका संसार चालू रहता है और बढ़ता है तथा कैसी दृष्टि बनानेसे जीव मोक्षमार्गी बन कर मुक्तिका पात्र होता है इस विषय पर संक्षेपमें ऊहापोह करेंगे।

५. दृष्टिका माहात्म्य

दृष्टियाँ दो प्रकारकी हैं—एक व्यवहार दृष्टि और दूसरी निश्चय दृष्टि। अनेकान्त स्वरूप वस्तुकी समग्रभावसे स्वीकार करने वाली प्रमाण दृष्टि सकलादेशी होनेसे प्रकृतमें उससे प्रयोजन नहीं है। समय सार गाथा २७२ में इन दोनों दृष्टियोंका स्वरूप निर्देश तथा उनके फल का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन परा-श्रितं समस्तमध्यवसानं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एवं, चायं आत्माश्रित-निश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्। पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमाने-नाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वात्।

आत्माश्रित (स्व. आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (परके आश्रित) व्यवहारनय है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकारसे पराश्रित समस्त अध्यवसान (परमें एकत्व बुद्धिरूप या पर पदार्थोंमें उपादेय रूपसे इष्टानिष्ट बुद्धि रूप समस्त विकल्प) बन्धके कारण होनेसे मुमुक्षुओंको उनका निषेध

करते हुए ऐसे निश्चयनयके द्वारा वास्तवमें व्यवहारनयका ही निषेध कराया गया है, क्योंकि जैसे अध्यवसानभाव पराश्रित हैं वैसे ही व्यवहारनय भी पराश्रित है, उनमें कोई अन्तर नहीं है—वे एक हैं। और इस प्रकार अध्यवसान भाव निषेध करने योग्य ही हैं, क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनयका आश्रय करनेवाले ही (स्वरूपलाभ कर कर्मोंसे) मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहारनयका आश्रय तो एकान्तसे कर्मोंसे नहीं छूटनेवाला अभव्य जीव भी करता है ॥२७२॥

परमें आत्म बुद्धिका नाम या उपादेय भावसे परमें इष्टानिष्ट बुद्धिका नाम पराश्रयपना है और स्वतः सिद्ध होनेसे अनादि-अनन्त नित्य उद्योतरूप और विशद ज्योति एक ज्ञायकमें तल्लीनतारूप आत्म परिणामका होना स्वाश्रितपना है। इनमेंसे जीवनमें पराश्रयपनेका होना एक मात्र संसारका कारण है। संसारपद्धतिको आगममें जो संयोग मूलक कहा है सो उस द्वारा भी उक्त प्रकारके पराश्रयपनेको ही स्वीकार किया गया है। इस तथ्यको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये मूलाचार टीका का यह वचन द्रष्टव्य है—

अनात्मनीनभावस्य आत्मभावः संयोगः अ. १, गा.–४८।

जो भाव आत्माके नहीं हैं उनमें आत्मभावका होना संयोग है, इसी का नाम पराश्रयपना है। तात्पर्य यह है कि कर्मोदयको निमित्त कर जितने भी भाव होते हैं वे तो पर हैं ही, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुनि हूँ, ऐसा कौन कार्य है जिसे परकी सहायताके बिना सम्पन्न किया जा सके। यहाँ तक कि सिद्धोंकी ऊर्ध्व गति भी नियत स्थान तक धर्मास्तिकायकी सहायतासे होती है। यदि वे स्वयं गमन करते होते तो लोकाग्रसे ऊपर उनके गमनको कौन रोक सकता था इत्यादि विकल्प भी पर हैं। तथा इनमें आत्मभावका होना ही संयोग या पराश्रयपना है। इस प्रकार जो पराश्रितरूप उपयोग परिणाम अनादि कालसे इस जीवके वर्तता चला आ रहा है उसीको प्रकृतमें व्यवहारनय कहा गया है। अज्ञानकी भूमिका में सर्वदा रहनेवाला यह भाव अभव्य जीवके तो होता ही है, ऐसे भव्य जीवके भी होता है, क्योंकि अज्ञान अवस्थामें पर्याय दृष्टिवाले दोनों ही एक समान हैं। उनमें कोई भेद नहीं है।

शंका—ज्ञानी या अन्तरात्मा जीवके जो शुभोपयोग होता है उसे तो परम्परा मोक्षका कारण कहा ही है सो क्यों ?

समाधान—परमार्थसे मोक्षका साक्षात् कारण तो निश्चय रत्नत्रय-

परिणत आत्मा ही है। शुभोपयोगको जो मोक्षका परम्परा कारण कहा जाता है सो एक तो सातवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक शुभोपयोग होता ही नहीं। इससे पूर्वके चौथे आदि तीन गुणस्थानोंमें बहुलतासे शुभोपयोग अवश्य होता है और वह निश्चय रत्नत्रयका सहचर होनेके कारण व्यवहारसे अनुकूल माना गया है। तथा स्वरूप परिणमन पूर्वक जो निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धि प्राप्त हुई वह शुभोपयोगके कालमें यथावत् बनी रहती है, उसकी हानि नहीं होती, इसीलिये ही शुभोपयोग-को व्यवहारसे परम्परा मोक्षका कारण कहा है, क्योंकि निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्मा मोक्षका साक्षात् कारण, सविकल्प भूमिकामें कहो या प्राक् पदवीमें कहो व्यवहारसे उसके अनुकूल शुभोपयोग, इस प्रकार शुभोपयोगको व्यवहारसे मोक्षका परम्परा कारण स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि इस प्रमाणसे हो जाती है—

बाह्यपंचेन्द्रियविषयभूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति तस्मादध्यवसानाद् बन्धो भवतीति पारंपर्येण वस्तु बन्धकारणं भवति, न च साक्षात्। परमात्मप्रकाश पृ० ३५४।

पञ्चेन्द्रियोंकी विषयभूत बाह्य वस्तुके होनेपर अज्ञान भावसे रागादि अध्यवसान होता है, इसलिये अध्यवसानसे बन्ध होता है। इस प्रकार बाह्य वस्तु व्यवहारसे परम्परा बन्धका कारण है।

यद्यपि शुभोपयोगको मोक्षका परम्परा व्यवहार हेतु कहा है किन्तु मोक्षप्राप्तिके समय या उससे अव्यवहित पूर्व समयमें शुभोपयोग जब होता ही नहीं तब इस दृष्टिसे तो वह मोक्षका परम्परा व्यवहार कारण तो हो नहीं सकता। किन्तु जो निश्चय रत्नत्रय मोक्षका साक्षात् कारण है वह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकका व्यवहारसे एक ही है ऐसा स्वीकार करने पर ही शुभोपयोगको मोक्षका परम्परा व्यवहार कारण कहना बनता है।

शंका—जीवकी निर्विकल्प अवस्थामें जो अबुद्धिपूर्वक राग होता है उसे भी मोक्षका परम्परा व्यवहार कारण कहना चाहिये?

समाधान—जीवकी निर्विकल्प अवस्थामें जो अबुद्धिपूर्वक राग होता है वह शुभोपयोगकी जातिका ही होता है, इसलिये उसे भी परम्परा व्यवहारसे मोक्षका कारण कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

शंका—कतिपय शास्त्रोंमें यह भी उल्लेख मिलता है कि कोई सम्यग्दृष्टि जीव व्रतादिका आचरण कर स्वर्ग जाता है और वहाँसे

चय हो मनुष्य जन्म पा अन्तमें मोक्षका अधिकारी बनता है और इस दृष्टिसे शुभोपयोग मोक्षका परम्परा कारण है ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—यहाँ भी पिछले मनुष्य जन्मके रत्नत्रयसे लेकर मोक्ष प्राप्त होने तकका रत्नत्रय एक ही है, मात्र इस दृष्टिको सामने रखकर ही उसके साथ बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक वर्तनेवाले शुभरागको मोक्षका परम्परा व्यवहार कारण कहा जा सकता है।

वास्तवमें देखा जाय तो शुभोपयोगके कालमें जो सम्यग्दर्शनादि रूप स्वभाव पर्याय होती है या अबुद्धि पूर्वक प्रशस्त रागके कालमें जो स्वानुभूति और शुद्धोपयोग होता है उस शुभोपयोग और अबुद्धिपूर्वक प्रशस्त रागको ही स्वभाव परिणतिका व्यवहारसे निमित्त कहा गया है, क्योंकि ज्ञानधारा जब तक सम्यक् रूपसे परिपाकको प्राप्त नहीं होती है तभी तक ज्ञानधारा और कर्मधाराके एक साथ होनेको आगम स्वीकार करता है। इन सब दृष्टियोंको ध्यानमें रखकर यह कलश काव्य द्रष्टव्य है—

> यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
> कर्म-ज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षतिः।
> किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्मबन्धाय तत्
> मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

जब तक ज्ञानकी कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तब तक ज्ञान और कर्मका एक साथ रहना आगम सम्मत है, इससे आत्माकी कोई क्षति नहीं होती अर्थात् उस कालमें सम्यग्दर्शनादि परिणाम शुद्धिके अनुसार यथावत् बने रहते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि इस भूमिकामें भी आत्मामें अवशपने (पुरुषार्थकी हीनतावश) जो कर्म प्रकट होता है वह तो बन्धका कारण है और स्वतः विमुक्त स्वभावमात्र जो परम ज्ञान है वह मोक्षका कारण है ॥११०॥

तात्पर्य यह है कि कर्मधारा स्वतः बन्धस्वरूप है, इसलिये वह बन्ध का हेतु है और ज्ञानधारा स्वयं मोक्षस्वरूप है, इसलिये वह मोक्षका हेतु है।

शुद्ध आत्मस्वरूपमें अचलरूपसे जो चैतन्य परिणति होती है उसीका नाम ध्यान है, क्योंकि स्वानुभूति कहो, शुद्धोपयोग कहो या निश्चय ध्यान कहो इन तीनोंका एक ही अर्थ है। जीवके ऐसा ध्यान कब होता है इसका निर्देश करते हुए आचार्यदेव कुन्द-कुन्द पंचास्तिकायमें कहते हैं—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो य जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

जिसके जीवनमें मिथ्यात्वकी सत्ता नहीं है तथा जिसका उपयोग राग, द्वेष और मन, वचन, कायरूप परिणतिको नहीं अनुभव रहा है उसीके शुभाशुभ भावोंको दहन करनेमें समर्थ ध्यानरूपी अग्नि उदित होती है ॥१४६॥

जिसे यहाँ स्वानुभूति, शुद्धोपयोग या ध्यान कहा है उसीका दूसरा नाम स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम भी है, स्वाश्रित निश्चयनय भी यही है। पराश्रित परिणाम इससे भिन्न है जिसे आगममें परद्रव्य-प्रवृत्त परिणाम भी कहते हैं, जो अज्ञानका दूसरा नाम है। समयसार गाथा २ में जो स्वसमय और परसमयका स्वरूप निर्देश किया गया है वह भी उक्त तथ्यको ध्यानमें रखकर ही किया गया है।

शंका—सम्यग्दृष्टि और तत्पूर्वक व्रतीके सविकल्प भूमिकामें जो रागपूर्वक कार्य देखे जाते हैं सो उस समय उनके वे परिणाम परद्रव्य-प्रवृत्त माने जायँ या नहीं ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि या तत्पूर्वक व्रतीके राग परिणति तथा मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति मात्र ज्ञेय है, वह उनका कर्ता नहीं, क्योंकि ज्ञानी के वुद्धिपूर्वक राग, द्वेष और मोहका अभाव होनेसे जो उसके रागपूर्वक प्रवृत्ति देखी जाती है या कर्मवन्ध होता है वह अवुद्धिपूर्वक रागादि कलंकका सद्भाव होनेसे ही होता है।

इस प्रकार इस समग्र कथनका सार यह है कि जो अपने स्वसहाय होनेसे अनादि-अनन्त, नित्य उद्योतरूप और विशद-ज्योति ज्ञायक भाव के सन्मुख होता है उसके मोक्षमार्गके सन्मुख होने पर उसका उपादान भी उसीके अनुकूल प्रवृत्त होता है और जो अपने उक्त स्वभावभूत ज्ञायक भावको भूलकर संसार मार्गका अनुसरण करता है उसका उपादान भी उसीके अनुकूल प्रवृत्त होता है। ऐसी सहज वस्तु व्यवस्था है जिसे वाह्य सामग्री अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं है। इतना विशेष है कि जो जीव मोक्षमार्गके सन्मुख होता है उसके निमित्त व्यवहारके योग्य वाह्य सामग्रीका योग स्वयं मिलता है, वुद्धिका व्यापार उसमें प्रयोजनीय नहीं और जो जीव संसार मार्गके सन्मुख होता है उसके निमित्त व्यवहार के योग्य वाह्य सामग्रीका कभी अवुद्धिपूर्वक योग मिलता है और कभी वुद्धिपूर्वक योग मिलता है। ऐसा ही अनादि कालसे चला आ रहा नियम है। विज्ञेषु किमधिकम्।

●

५. उभयनिमित्त-मीमांसा

पर उपाधि-निज वस्तुका सहज योग है जीव ।
विधि-निषेधसे जानते त्रिभुवनराय सदीव ॥

१. उपोद्घात

अभी तक हमने पिछले दो अध्यायों द्वारा वाह्य कारण और निश्चय उपादानकी क्रमसे मीमांसा की । अव आगे इस अध्यायमें आगमानुसार यह स्पष्ट किया जायगा कि जड़-चेतनके प्रत्येक कार्यमें इन दोनों उपाधियोंका योग सहज ही मिलता रहता है । जिसे अज्ञानीके योग और विकल्परूप प्रयोग निमित्त कहा गया है उसका योग भी अपने कालमें सहज ही होता है । मात्र उस कालमें उसके वुद्धि और प्रयत्नपूर्वक होनेसे उसकी स्वीकृतिको ध्यानमें रखकर उसे प्रायोगिक कहा गया है । इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शन आदि स्वभाव परिणत जीवोंके संसार अवस्थामें जितने भी विभाव कार्य होते हैं वे सव अवुद्धिपूर्वक विस्रसा ही स्वीकार किये गये हैं । कारण कि उनमें इस जीवके स्वपनेका भाव नहीं होता । उनका मात्र वह ज्ञाता दृष्टा ही होता है । समयसार आत्मख्याति टीकामें इसी तथ्यको स्वीकार करते हुए लिखा है—

यो हि ज्ञानी स वुद्धिपूर्वकराग-द्वेष-मोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किन्तु सोऽपि यावत् ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन दृष्टुं ज्ञातुमनुचरितं वाशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानावुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मवन्धः स्यात् ।

जो परमार्थसे ज्ञानी है उसके वुद्धिपूर्वक राग, द्वेष और मोहरूप आस्रव भावोंका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है । इतना विशेष है कि वह जव तक ज्ञानको सर्वोत्कृष्टरूपसे देखने, जानने और आचरनेमें अशक्त होता हुआ जघन्य भावसे ही ज्ञानको देखता, जानता और आचरता है तव तक उसके भी जघन्य भावकी अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती, इससे अनुमान होता है कि उसके अवुद्धिपूर्वक कर्मकलंकरूप विपाकका सद्भाव होनेसे पुद्गल कर्मका बन्ध होता है ।

ज्ञानीके मिथ्यात्वरूप भाव तो होता ही नहीं । नौवें गुणस्थान तक द्वेष और दशवें गुणस्थान तक रागका सद्भाव होनेसे वह उनका स्वामी

नहीं है, इसलिये उसके राग और द्वेषका सद्भाव [illegible] अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार किया गया है। अतः राग-द्वेषके कारण जो कर्मबन्ध होता है स्वभाव सन्मुख होनेसे ज्ञानीके वुद्धिपूर्वक वह नहीं होता। अबुद्धिपूर्वक होनेवाले राग-द्वेष और उदयके साथ ही उसका अविनाभाव सम्वन्ध है।

और यह ठीक भी है, क्योंकि संसारके जितने भी कार्य हैं उनमें ज्ञानीका स्वामित्व न रहनेसे उन सवको उसके अबुद्धिपूर्वक स्वीकार करना ही न्यायोचित है। वह दृष्टिमुक्त होनेसे मुक्त ही है, क्योंकि उसने पर्यायमें परमात्मा वननेके द्वारमें प्रवेश कर लिया है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानीके संसार के सभी कार्य वुद्धिपूर्वक होते ही नहीं, इसलिये परमागमने अज्ञानीके योग और विकल्पके साथ ही उनकी व्याप्ति स्वीकार की है। यतः ऐसे ही कार्योंके साथ अज्ञानीके वुद्धि (अभिप्राय) पूर्वक कर्तृत्व घटित होता है, अतः आचार्योंने इन्हीं कार्योंको प्रायोगिक स्वीकार किया है। इनके सिवाय अन्य जितने भी कार्य होते हैं वे सव विस्रसा ही स्वीकार किये गये हैं।

शंका—यहाँ पर ज्ञानीके वुद्धिपूर्वक रागादि भावोंका अभाव वतलाया है सो यह वात हमारे समझमें नहीं आती, क्योंकि ज्ञानधारा और कर्मधाराके एक साथ रहनेमें आत्माकी किसी प्रकारकी क्षतिको आगम स्वीकार नहीं करता। हम देखते हैं कि सविकल्प अवस्थामें ज्ञानीके गृहस्थ अवस्थाके सभी कार्य तथा भावलिंगी सन्तके भी २८ मूल-गुणोंका पालन, आहारादिका ग्रहण, तत्त्वोपदेश, शिष्योंका ग्रहण-विस-र्जन, गुरुसे अपने द्वारा किये गये दोषोंकी निन्दा गर्हापूर्वक प्रायश्चित्त लेना आदि सभी कार्य वुद्धिपूर्वक होते हुए ही देखे जाते हैं। कर्ता-कर्म अधिकारमें भी जिस द्रव्य का जव जो परिणाम होता है उस समय उस द्रव्यका कर्ता उस द्रव्यको ही स्वीकार किया गया है। यतः राग-द्वेषादि भाव जीवोंकी ही पर्याय है। जीव ही स्वयं उसरूप परिणमता है, इसलिये प्रकृतमें ऐसे जीवको एक तो निरास्रव मानना उचित नहीं है। दूसरे ज्ञानीके भी श्रावक और भावलिंगी साधुके जितने भी कर्तव्य-कर्म कहे गये हैं उन्हें अवुद्धिपूर्वक मानना भी उचित नहीं है। चरणानुयोगकी रचना भी श्रावक और मुनिकी प्रवृत्ति कैसी हो इसी अभिप्रायसे हुई है। वह जिनवाणी है, इसलिये यही मानना उचित है कि ज्ञानी भी जव सविकल्प अवस्थामें वरतता है तव शुभाचारको श्रावक और मुनिके

कर्तव्य-कर्म ही मानने चाहिये। उन्हें आगममें व्यवहार मोक्षमार्गरूपसे स्वीकार करनेका प्रयोजन भी यही है ?

समाधान—प्रश्न मार्मिक है। उसका समाधान यह है कि प्रकृतमें जो वुद्धिपूर्वक और अवुद्धिपूर्वक कार्योंका विभाजन किया गया है वह 'यह मेरा कार्य और मैं इसका करनेवाला, इस कार्यके किये विना मेरा तरणोपयाय नहीं, ऐसे अभिप्रायपूर्वक जो कार्य होते हैं वे वुद्धिपूर्वक कार्य कहलाते हैं तथा इनके सिवाय अन्य सव कार्य अवुद्धिपूर्वक कहलाते हैं। आचार्य विद्यानन्दने अवुद्धिपूर्वक कार्यका अर्थ अतर्कितोपस्थित किया है सो इससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है, क्योंकि प्रकृतमें राग, द्वेष और मोहपूर्वक की गई प्रवृत्ति या अभिप्राय मोक्षप्राप्तिके लिये इष्ट नहीं है। इस दृष्टिसे शुभोपयोग भी अनुपादेय माना गया है। उसका विकल्पकी भूमिका कहो या प्राक् पदवी कहो उस समय होना और वात है और यह मोक्ष प्राप्तिके लिए परमार्थसे करणीय है ऐसे अभिप्रायपूर्वक उसे उपादेय मानना और वात है। ज्ञानीका अभिप्राय तो एकमात्र अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावमें लीनता प्राप्त करनेका ही रहता है। और इसीलिये आचार्य अमृतचन्द्रदेवने 'स्वरूपमें रमना-चारित्र है' चारित्रका यह लक्षण किया है। यतः चारित्र सम्यग्दर्शनका अविना-भावी है, इसीलिये आगममें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमेंसे प्रत्येकके लक्षणके साथ स्वरूप लाभको अविनाभावी स्वीकार किया गया है। स्वरूप लाभ न हो और सम्यग्दर्शन आदि परिणाम हो जायँ ऐसा नहीं है। शुभाचारको चरणानुयोग शास्त्र स्वयं मोक्ष-प्राप्तिमें वाह्य-निमित्तरूपसे स्वीकार करता है। इसलिये यही तथ्य फलित होता है कि ज्ञानीकी दृष्टि सर्वदा सविकल्प अवस्थामें भी आत्मस्वरूप पर ही रहती है। वह स्वयं शुभाचारको संसारका प्रयोजक होनेसे अपना अपराध ही मानता रहता है, क्योंकि ऐसी दृष्टिके विना उसका, ज्ञानी कहो, सम्यग्दृष्टि कहो, अध्यात्मवृत्त कहो, अन्तरात्मा कहो या स्वसमय कहो' होना नहीं वन सकता।

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकमें साभिप्राय जितने भी कार्य होते हैं उनकी प्रायोगिक संज्ञा है, शेष सव कार्य वैस्रसिक कहलाते हैं।

२. उभयरूपसे निमित्त शब्दका प्रयोग

साधारणतः निमित्त शब्द कारण, उपाधि, साधन या हेतुवाची

स्वीकार किया गया है। यह बाह्यकारण और उपादान दोनोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—

द्रव्यस्य निमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्यवसीयते। त० वा०, अ० ५ सू० २२।

द्रव्यके दोनों बाह्य और आभ्यन्तर (उपादान) निमित्तोंके वशसे उत्पन्न होनेवाले परिस्पन्दका नाम क्रिया है ऐसा निश्चित होता है।

क्रियाके इस लक्षणमें व्यवहार हेतुके साथ निश्चय उपादानके लिए भी निमित्त शब्द व्यवहृत हुआ है।

कहीं इन दोनोंके लिए बाह्य और आभ्यन्तर हेतु संज्ञा भी व्यवहृत हुई है (त० वा०, अ० २ सू० ८), तथा कहीं बाह्य और इतर उपाधि संज्ञा भी प्रयुक्त हुई है (स्व० स्तो० श्लो० ५९)।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक या परमार्थ स्वरूप जो भी कार्य होता है उसमें व्यवहार हेतु और निश्चय हेतुका सन्निधान अवश्य होता है। यतः निश्चय हेतु (निश्चय उपादान) कार्य द्रव्यका ही एक अव्यवहित पूर्व रूप है, इसलिये वह नियमसे कार्यका नियामक स्वीकार किया गया है। किन्तु व्यवहार हेतु कार्यका अविनाभावी है, इसलिये मात्र व्यवहारसे उसे कार्यका नियामक कहा जा सकता है। फिर भी वह निश्चय हेतुका स्थान नहीं ले सकता। इन दोनोंमें विन्ध्य-हिमगिरिके समान महान् अन्तर है—'अन्तरं महदन्तरम्।' क्योंकि निश्चय हेतु कार्य-द्रव्यके स्वरूपमें अन्तर्निहित है और व्यवहार हेतु बाह्य वस्तु है, इसलिये इन दोनोंमें महान् अन्तर होना स्वाभाविक है, निश्चय हेतु कार्य द्रव्यका पूर्व रूप होनेसे सद्भूत है और व्यवहार हेतु कार्य-द्रव्यसे भिन्न होनेके कारण उसमें असद्भूत है।

३. शंका-समाधान

शंका—जब उक्त दोनों ही हेतु कार्यके प्रति नैगमनयसे स्वीकार किये गये हैं तब दोनोंका दर्जा एक समान माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—आगममें सद्भूत और असद्भूत व्यवहारके भेदसे नैगमनय दो प्रकारका स्वीकार किया गया है। यतः बाह्य वस्तुमें निमित्तता असद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार की गई है और निश्चय उपादानमें कार्यके प्रति हेतुता सद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार की गई है, अतः इन दोनोंको एक समान दर्जा नहीं दिया जा सकता है। मात्र हेतुता सामान्य की दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। आशय यह है कि यह इसका कार्य है

और यह इसका कारण है यह व्यवहार तो दोनों हेतुओंपर समानरूप से लागू होता है। मात्र बाह्य हेतु और कार्य इनमें निमित्त-नैमित्तक भाव जहाँ असद्भूत व्यवहारनयसे घटित होता है वहाँ निश्चय उपादान और कार्य इनके मध्य निमित्त-नैमित्तक भाव सद्भूत व्यवहारनयसे घटित होता है।

शंका—जब कार्यके साथ निश्चय उपादानका सम्बन्ध सद्भूत व्यवहारनयसे घटित किया जाता है तो उपादानके पूर्व उसे निश्चय विशेषण क्यों दिया गया है ?

समाधान—यतः प्रत्येक निश्चय उपादानमें प्रत्येक कार्यके प्रति स्वरूपसे हेतुता विद्यमान है, अतः उपादानके पूर्व उसे निश्चय विशेषण दिया गया है।

४. व्यवहाराभासियोंका कथन

यह वस्तुस्थिति है। इसके ऐसा होते हुए भी अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभवको प्रमाण मानकर तथा साथ ही आगमकी दुहाई देते हुए एक ऐसे नये मतका बुद्धिपूर्वक प्रचार किया जा रहा है कि अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्य अनेक शक्तिसम्पन्न होता है, इसलिये कब कौन कार्य हो यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है और उसका कोई नियम नहीं कि कब कैसी बाह्य सामग्री मिलेगी, इसलिये जब जैसी सामग्री मिलती है, कार्य उसके अनुसार होता हैं, अतः कार्यका नियामक बाह्य निमित्त ही होता है, उक्त उपादान नहीं। इसके साथ ही बुद्धिपूर्वक एक ऐसे मतका भी प्रचार किया जा रहा है कि प्रत्येक द्रव्यकी शुद्ध पर्याय तो नियत क्रमसे ही होती है, किन्तु अशुद्ध पर्यायके सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं है। वे नियत क्रमसे भी होती हैं और नियत क्रमको छोड़कर आगे-पीछे भी होती हैं।

इस विषयको और स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि जब कि आगममें उदासीन बाह्य निमित्त और प्रेरक बाह्य निमित्तोंका पृथक्-पृथक् उल्लेख दृष्टिगोचर होता है तो दोनोंको एक कोटिमें बिठलाना ठीक नहीं है। हमारा यह कहना नहीं कि जो-जो क्रियावान् पदार्थ हैं वे सब प्रेरक निमित्त ही होते हैं। उदाहरणार्थ चक्षु इन्द्रिय क्रियावान् पदार्थ होकर भी रूपोपलब्धिमें प्रेरक बाह्य निमित्त नहीं है। वह उसी प्रकारसे रूपोपलब्धिमें व्यवहार हेतु है जैसे गति करते हुए जीवों और पुद्गलोंकी गति क्रियामें धर्मद्रव्य या ठहरते हुए जीवों और पुद्गलोंके

स्थित होनेमें अधर्म द्रव्य व्यवहार हेतु हैं। इष्टोपदेशमें नाज्ञो 'विज्ञत्व-मायाति' यह कथन ऐसे ही क्रियावान् पदार्थोंकी व्यवहार हेतुताको धर्म द्रव्यके समान बतलानेके लिए किया गया है।

किन्तु इनके सिवाय आगममें ऐसे उद्धरण भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनके आधारसे उदासीन व्यवहार हेतुओंसे अतिरिक्त प्रेरक व्यवहार हेतुओंकी स्वतन्त्ररूपसे सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ सर्वार्थसिद्धिमें द्रव्य वचन पौद्गलिक क्यों है इसकी पुष्टिमें बतलाया गया है कि भाव वचनरूप सामर्थ्यसे युक्त क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल द्रव्य वचनरूपसे परिणमन करते हैं, इसीलिये द्रव्य वचन पौद्गलिक है। उल्लेख इस प्रकार है—

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलकी। (अ० ५ सू १९)।

तत्त्वार्थवार्तिकमें भी यह विवेचन इसी प्रकार किया गया है। इसके लिए देखो अ० ५, सू० १७ और १९।

इसी प्रकार पञ्चास्तिकाय (गाथा ८५ व ८८ जयसेनीया टीका) और वृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा १७ व २२ संस्कृत टीका) में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो उक्त कथनकी पुष्टिके लिये पर्याप्त हैं।

इस प्रकार ये कतिपय उद्धरण हैं जिनके आधारसे ऐसे प्रेरक व्यवहार हेतुओंका समर्थन होता है जो लोकमें चक्षु इन्द्रियसे विलक्षण प्रकारसे दूसरे द्रव्योंके कार्योंमें व्यवहार हेतु होते हुए देखे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि चक्षु इन्द्रिय क्रियावान् होकर भी रूपकी उपलब्धिमें प्रेरक बाह्य हेतु भले ही न हो, किन्तु इसका कोई यह अर्थ करे कि जितने भी क्रियावान् पदार्थ हैं वे सब धर्मादि द्रव्योंके समान उदासीन व्यवहार हेतु ही होते हैं तो यह कथन पूर्वोक्त आगम प्रमाणोंसे बाधित हो जाता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुभव और युक्तिसे विचार करने पर भी इस कथनकी सत्यता प्रमाणित नहीं होती। कारण कि लोकमें ऐसे बहुतसे उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं जिनको ध्यानमें लेनेपर व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोंकी सिद्धि होती है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें वे वायुका उदाहरण विशेषरूपसे उपस्थित कर कहते हैं कि जिस प्रकार वायुका संचार होनेपर वह ध्वजा आदि अन्य पदार्थोंके उड़नेमें व्यवहारसे प्रेरक निमित्त होता है उसी प्रकार सभी प्रेरक निमित्तोंके विषयमें जानना चाहिये। पञ्चास्तिकाय समय व्याख्या टीकासे इसकी पुष्टि होती है। यथा—

यथा गतिपरिणतो प्रभंजनः वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वान्न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते, कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। गाथा ८८।

जिस प्रकार गतिपरिणत वायु ध्वजाओंके गतिपरिणामका हेतुकर्ता देखा जाता है, धर्म द्रव्य नहीं। वह वास्तवमें निष्क्रिय होनेसे कभी भी गतिपरिणामको नहीं प्राप्त होता, इसलिये इसका सहकारीपनेरूपसे दूसरोंके गतिपरिणामका हेतु कर्तृत्व कैसे हो सकता है।

यह व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोका एक उदाहरण है। लोकमें ऐसे हजारों उदाहरण देखे जाते हैं, इसलिये इन सब उदाहरणोंको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि जहाँ पर निष्क्रिय पदार्थोंके समान सक्रिय पदार्थ व्यवहारसे उदासीन निमित्त होते हैं वहाँ तो प्रत्येक कार्य अपने-अपने विवक्षित निश्चय उपादानके अनुसार ही होता है और जहाँ पर सक्रिय पदार्थ व्यवहारसे प्रेरक निमित्त होते है वहाँ पर प्रत्येक कार्य निश्चय उपादानसे होकर भी जब जैसे व्यवहारसे प्रेरक निमित्त मिलते हैं वहाँ पर प्रत्येक कार्य उनके अनुसार होता है। व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोंके अनुसार कार्य होते हैं इसका यह तात्पर्य नहीं हैं कि गुण-पर्यायरूप प्रत्येक उपादानभूत वस्तु अपने स्वचतुष्ठयरूप स्वभावको छोड़कर व्यवहारसे प्रेरक निमित्तरूप परिणम जाती है। क्योंकि स्वका उपादान और अन्य का अपोहन करके रहना यह प्रत्येक वस्तुका वस्तुत्व है। किन्तु इसका यह तात्पर्य है कि उस समय व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोंमें जिस प्रकारके कार्योंमें प्रेरक निमित्त होनेकी योग्यता होती है, कार्य उसी प्रकारके होते हैं, निश्चय उपादानके अनुसार नहीं होते। अकाल मरण या इसी प्रकारके जो दूसरे कार्य कहे गये हैं उनकी सार्थकता व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोंका उक्त प्रकारसे कार्योंका होना माननेमें ही है। आगममें अकालमरण, उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण जैसे कार्यो को स्थान इसी कारणसे दिया गया है।

५. व्यवहाराभासियोंके कथनका निरसन

यह ऐसे व्यवहाराभासियोंका कथन है जो किसी विशिष्ट प्रयोजन वश सम्यक् नियतिका खण्डन करनेके लिये कटिबद्ध हैं। और जिन्होंने अपना लक्ष्य एकमात्र यही बना लिया है कि अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए कहीं पर आगमको गौण कर और कहीं पर आगमके अर्थमें परिवर्तन कर आगमके नाम पर अपने कथनको पुष्ट करते रहना है।

ऐसा लिखकर वे जैन दर्शनसे कितने दूर जा रहे हैं या चले गए हैं इसका उन्हें रंचमात्र भी भय नहीं है।

(१) उदाहरणार्थ '*यः परिणमति स कर्ता*' का सीधा अर्थ है—'जो कार्य रूप परिणमन करता है।' किन्तु व्यवहारसे जो प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं, कार्योंका यथार्थ कर्तृत्व उनको प्राप्त हो जाय और बाह्य वस्तु जो प्रत्येक कार्यका व्यवहार कारण है उसका तद्भिन्न द्रव्यके कार्यके प्रति कार्यकारोपना सिद्ध हो जाय, इसलिए वे उक्त श्लोकांशका 'जिसमें परिणमन होता है' यह अर्थ करते है।

(२) दूसरा उदाहरण समयसार गाथा १०७ का है। इसमें 'आत्मा पुद्गल द्रव्यको परिणमाता है आदि व्यवहारनयका वक्तव्य है' यह कहा गया है। उसकी आत्मख्याति टीकामें आ० अमृतचन्द्र देवने ऐसे उपयोग परिणामको विकल्प बतलाकर इस विकल्पको उपचरित ही कहा है। यथा—

यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥१०७॥

और व्याप्य-व्यापकभावका अभाव होनेपर भी प्राप्य, विकार्य तथा निर्वर्त्यरूप जो पुद्गल द्रव्यस्वरूप कर्म है उसे आत्मा ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है इस प्रकारका जो विकल्प होता है वह वास्तवमें उपचार है।

किन्तु व्यवहारभासी व्यवित बाह्य हेतुओंकी कार्यकारीपना सिद्ध करनेके अभिप्रायसे उक्त सूत्रगाथाका यह अर्थ करते हैं कि आत्मा पुद्गलद्रव्यका उपादान रूपसे परिणमन करनेवाला नहीं होता आदि। यह उन महाशयोंका कहना है। किन्तु यह कैसे ठीक नहीं है इसके लिये आगेके कथन पर दृष्टिपात कीजिये—

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
अच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥ पं० काय।

आत्मा स्वभाव (मोहादि) करता है और जीवके साथ एक क्षेत्रावगाहरूपसे वहाँ प्राप्त हुए पुद्गल स्वभावसे कर्मभावको प्राप्त होते है ॥६५॥

इस गाथा द्वारा पुद्गलकार्य जीव द्वारा किये बिना ही जीव और पुद्गल अपना-अपना कार्य स्वयं कैसे करते हैं यह स्पष्ट किया गया है। इस पर पुद्गल कर्मरूप अपने कार्यको जीवकी सहायताके बिना कैसे करता है यह शंका होने पर आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं—

जइ पुग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहि खंधणिप्पत्ती ।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥६६॥

जिस प्रकार पुद्गल द्रव्योंकी अनेक प्रकारसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति परके द्वारा किये विना होती हुई दिखलाई देती है उसी प्रकार कर्मोंकी विविधता परके द्वारा नहीं की गई जानो ॥६६॥

यहाँ पर प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य अन्यके द्वारा नहीं किये जाने पर स्वयं प्रति समय अपने कार्योंका कर्ता कैसे है यह पुद्गल स्कन्धोंका उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। पुद्गल स्कन्धोंके द्व्यणुकसे लेकर महस्कन्ध तक नाना भेद हैं। उनमेंसे शून्य वर्गणाओंको छोड़कर वे सब सत्स्वरूप हैं। उनमें ऐसी आहारवर्गणाएँ भी हैं जिनसे तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंकी संरचना होती है। मनोवर्गणाएँ भी हैं जिनसे विविध प्रकारके मनोंकी संरचना होती है। भाषावर्गणाएँ भी हैं जिनसे तत, वितत आदि ध्वनियोंकी संरचना होती है। तैजसवर्गणाएँ भी हैं जिनसे निःसरण और अनिःसरण स्वभाव तथा प्रशस्त और अप्रशस्त तैजस शरीरोंकी संरचना होती है। कार्मणवर्गणाएँ भी हैं जिनसे ज्ञानावरणादि विविध प्रकारके आठ कर्मोंकी संरचना होती हैं। ये पाँचों संसारी जीवों से सम्बद्ध होने योग्य वर्गणाएँ हैं। प्रश्न है कि इन्हें ऐसी कौन वनाता है और इनमेंसे आहारादि पाँच वर्गणाओंमें संसारी जीवोंके साथ सम्बद्ध होनेकी पात्रता कौन पैदा करता है। क्या वे स्वभावसे संसारी जीवोंसे सम्बद्ध होनेकी पात्रता युक्त वनती हैं या संसारी जीव उन्हें अपने मोह, राग, द्वेष आदिसे वैसा वना लेता है। साथ ही यह विभाग कौन करता है कि इतने परमाणुओंसे लेकर इतने परमाणुओं तकके स्कन्ध आहार-वर्गणा योग्य होंगे आदि तथा एक प्रकारकी वर्गणाओंसे दूसरे प्रकारको वर्गणाओंके मध्य इतना अन्तर रहेगा। यदि कहो कि ये वर्गणाएँ स्वयं ही वनती और विछुड़ती रहती हैं तो संसारके सव कार्य स्वयंकृत मान लेनेमें आपत्ति ही क्या है। आगमका भी यही आशय है। आचार्य कुन्द-कुन्ददेवने इसी स्वयंकृत नियमको ध्यानमें रखकर यह निर्देश किया है कि जिस प्रकार सव स्कन्धोंकी उत्पत्ति परसे न होकर स्वयं होती है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्पत्ति भी स्वयंकृत जाननी चाहिये। इतने कथनसे यह भी फलित होता है कि संसारी जीव अपने रागादि परिणामोंको स्वयं करते हैं और एक क्षेत्रावगाहरूपसे वहाँ स्थित पुद्गल कार्मणवर्गणाएँ स्वयं कर्मरूप परिणमती रहती हैं। इससे आगममें

व्यवहार और निश्चयनयकी अपेक्षा जो षट्कारक व्यवस्था वतलाई गई है उसका आशय भी भले प्रकार समझमें आ जाता है। साथ ही यह भी समझमें आ जाता है कि आचार्योंने व्यवहार कथनीको क्यों तो उपचरित वतलाया और निश्चय कथनीको क्यों परमार्थ स्वरूप वतलाया। प्रकृतमें जो जिसका न हो उसको व्यवहार प्रयोजन वश या व्यवहार हेतु वश उसका कहना व्यवहार है तथा जो जिसका हो उसको निश्चय प्रयोजन या निश्चय हेतुवश उसीका कहना निश्चय है। संसारी जीवोंके रागादिकी उत्पत्तिके मोहनीय आदि कर्म व्यवहार हेतु हैं, अतः इन रागादिको नैमित्तिक कहना व्यवहार है तथा इन रागादिको स्वकालके प्राप्त होने पर संसारी जीव स्वयं उत्पन्न करते हैं और उदयादिरूप पुद्गल कर्म उनके होनेमें स्वयं व्यवहार हेतु होते हैं, इतना विशेष है कि निश्चयनयका कथन पर निरपेक्ष होता है क्योंकि वह वस्तुका स्वरूप है। किन्तु व्यवहार नयका कथन पर सापेक्ष होता है, क्योंकि वह वस्तुका स्वरूप नहीं है। अतः रागादिको संसारी जीवोंका स्वयंकृत कार्य कहना निश्चय है। और पर निमित्तक कहना व्यवहार है। आगमज्ञ उसीका नाम है जो व्यवहारको व्यवहारनयसे ही स्वीकारता है और निश्चयको निश्चयनयसे ही स्वीकारता है। किन्तु जो उक्त कथनको विपरीतरूपसे जानते या कहते हैं वे आगमज्ञ कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। इस तथ्यका समर्थन समयसार गाथा ४१४ की आत्मख्याति टीकाके इस वचनसे भले प्रकार होता है—

ततो ये व्यवहारमेव परमार्थवुद्धया चेतयन्ते ते समयसारमेव न संचेतयन्ते। य एव परमार्थं परमार्थवुद्धया चेतयन्ते ते एव समयसारं चेतयन्ते।

इसलिये जो व्यवहारको ही परमार्थ वुद्धिसे अनुभवते हैं वे अकेले समयसारको नहीं अनुभवते तथा जो मात्र परमार्थको परमार्थ वुद्धिसे अनुभवते हैं वे ही समयसारको अनुभवते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार कथन व्यवहार स्वरूप ही है उसे वस्तु स्वरूप या वस्तुके कार्यका निश्चय कारण मानना आगम-विरुद्ध है। इसलिये वाह्य कारण सहायक है यह कहना भी व्यवहार अर्थात् उपचरित (कल्पना मात्र) हो जाता है।

यदि हम निमित्तपनेकी दृष्टिसे सविकल्प योगयुक्त अज्ञानी जीव और तदितर वाह्य कारणोंको देखते हैं तो उनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है। केवल वाह्य-व्याप्तिके आधार पर कालप्रत्यासत्तिवश उक्त

जीवोंमें कर्तापनेका तथा अन्यमें करणता आदिका व्यवहार किया जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रने इस तथ्यको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीकामें घटोत्पत्तिके प्रति कुम्भकारके योग और विकल्पको घट निर्माणकी क्रिया न कहकर उसे मिट्टीकी उस क्रियाके प्रति अनुकूल कहा है जब कि प्रत्येक वस्तु स्वभावसे किसीके अनुकूल और प्रतिकूल होती नहीं। अनुकूल या प्रतिकूल कहना यह मात्र व्यवहार है। तात्पर्य यह हुआ कि मिट्टी स्वयं कर्ता होकर घटकी उत्पत्ति रूप क्रिया करती है और कुम्भकारका योग और विकल्प रूप व्यापार व्यवहारसे उसके अनुकूल होता है। अतः यही मानना उचित है कि कार्य की उत्पत्ति होती तो है अपने निश्चय उपादानके स्वसमयमें प्राप्त होनेपर स्वयंकृत ही, पर उसमें जो सविकल्प क्रियावान् अज्ञानी जीव और तदितर क्रियावान् पदार्थ अन्वय व्यतिरेकरूप बाह्य व्याप्तिवश स्वकालके प्राप्त होने पर व्यवहार हेतु होते हैं उनकी वह व्यवहार हेतुता धर्मादि द्रव्योंके समान ही जाननी चाहिये। वे अपनी-अपनी उक्त विशेषता द्वारा दूसरे निष्क्रिय धर्मादि द्रव्योंके समान ही व्यवहार हेतु होते हैं यह तथ्य पूर्वोक्त कथनसे तो स्पष्ट है ही। निष्क्रिय पदार्थ दूसरोंके क्रिया लक्षण अथवा परिणाम लक्षण कार्योंमें यथासम्भव किस प्रकार व्यवहार हेतु होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते समय जो सर्वार्थसिद्धिका उद्धरण दे आये हैं उससे भी स्पष्ट है। उक्त उल्लेखमें जहाँ धर्मादि द्रव्योंकी व्यवहार हेतुताको क्रियावान् चक्षु इन्द्रियकी व्यवहार हेतुताके समान बतलाया गया है वहाँ उससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सविकल्प क्रियावान् अज्ञानी जीव और तदितर क्रियावान् पदार्थोंकी व्यवहार हेतुता धर्मादि द्रव्योंके समान ही होती है। और इसीलिए आचार्य पूज्यपादने जिस प्रकार धर्म द्रव्यको अन्यकी गतिमें व्यवहार हेतु कहा है, उसी प्रकार अन्य सब व्यवहार हेतु होते हैं इस तथ्यको इष्टोपदेशमें 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि कथन द्वारा अन्य सब पदार्थोंकी व्यवहार हेतुताको निष्क्रिय धर्म द्रव्यकी व्यवहार हेतुताके समान स्वीकार किया है।

निश्चय उपादान और व्यवहार निमित्त इन दोनोंका प्रति समय किस प्रकार योग मिलता है इसका समर्थन स्वामी कार्तिकेयकी द्वादशानुप्रेक्षासे भले प्रकार हो जाता है। यथा—

णिय-णियपरिणामाणं णिय-णियदव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं बाहिरदव्वं णिमित्तमत्तं वियाणेह ॥२१७॥

सब द्रव्य अपने-अपने परिणामके निश्चय उपादान कारण होते हैं, अन्य बाह्य द्रव्यको निमित्त मात्र जानो ॥२१७॥

वस्तुतः आगममें जहाँ भी निश्चयसे कार्यकी नियामकता स्वीकार की गई है वहाँ मात्र निश्चय उपादानको ही प्रधानता दी गई है। असद्भूत व्यवहारनयसे काल प्रत्यासत्तिवश अवश्य ही निश्चयकी सिद्धिके अभिप्रायसे व्यवहार हेतुको स्थान मिला हुआ है। प्रकृतमें निश्चयकी सिद्धिका अर्थ है प्रति क्षण निश्चय उपादानके होने पर अगले समयमें जो कार्य हो उसको अपने *अन्वय-व्यतिरेकके* द्वारा कालप्रत्यासत्तिवश सूचित करे। बस बाह्य कारण या असद् व्यवहार हेतुका इतना ही काम है। वह निश्चय उपादानके कार्यमें दखल दे यह उसका कार्य नहीं है। हम इस तथ्यको न भूलें यही जैन दर्शनका आशय है। इससे अन्य मानना वह जैनदर्शन नहीं होगा। किन्तु विश्वको कर्त्तारूपसे माननेवाला ईश्वरवादी दर्शन होगा।

६. अन्य दर्शनोंका मन्तव्य

अपने इस कथनकी पुष्टिमें हम सर्व प्रथम नैयायिक दर्शनको लेते हैं। नैयायिक दर्शन कार्यकी उत्पत्तिमें समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण ये तीन कारण मानता है। जिससे समवेत होकर कार्य उत्पन्न होता है वह समवायी कारण है, संयोग आदि असमवायी कारण है। इन दोनोंसे अतिरिक्त निमित्त कारण है। नैयायिक दर्शन आरम्भवादी या असत् कार्यवादी दर्शन है। वह कारणमें कार्यकी सत्ता स्वीकार नहीं करता और न ही स्वरूपसे वस्तुको द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्याय दृष्टिसे अनित्य ही मानता है। इसलिये उस दर्शनमें निमित्त कारणपर अधिक जोर दिया गया है। यद्यपि उस दर्शनमें प्रेरक निमित्त कारण और उदासीन निमित्त कारण ऐसे भेद दृष्टिगोचर नहीं होते, फिर भी वह सभी निमित्त कारणोंके मध्य कर्तारूपसे ईश्वरको सर्वोपरि मानता है। इसलिए इस दर्शनमें ईश्वरके अतिरिक्त अन्य सब उदासीन निमित्त कारण हो जाते हैं। यतः इस दर्शनमें कर्ताके लक्षणमें ज्ञान, क्रिया और चिकीर्षाको समाहित किया गया है, इसलिए जड़ और चेतन सम्बन्धी सभी कार्योंमें उसकी प्रधानता हो जाती है। इस दर्शनमें निमित्तोंके उक्त प्रकारसे भेद किये बिना भी उक्त प्रकारका विभाजन स्पष्ट प्रतीत होता है। संक्षेपमें यह नैयायिक दर्शनका कथन है। वैशेषिक दर्शनकी मान्यता भी इसी प्रकार की है।

बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन होनेके साथ वह क्षणिणवाद पर आधृत है। वह अन्वयी द्रव्यको स्वीकार नहीं करता। फिर भी ज्ञानकी उत्पत्तिके समनन्तर प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय और सहकारी प्रत्यय[1] ये चार कारण स्वीकार करनेके साथ उसने अन्य कार्यों के हेतु (मुख्य हेतु) और प्रत्यय (गौण) ये दो कारण स्वीकार किये हैं। यह असत्कार्यवादी दर्शन है फिर भी समनन्तर प्रत्ययके आधारपर यह उपादान-उपादेय भावको स्वीकार करता है।

अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानक्षण समनन्तर प्रत्यय है, इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय है, विषय आलम्बन प्रत्यय हैं तथा प्रकाश आदि अन्य सब कारण सहकारी प्रत्यय हैं। प्रत्येक समयके ज्ञानकी उत्पत्तिके ये चार कारण हैं।

अन्य कार्योंकी उत्पत्तिके दो कारण होते हैं। उनमेंसे बीज आदिको हेतु कहते हैं और प्रत्येक समयके कार्योंकी उत्पत्तिके भूमि आदि अन्य कारणोंको प्रत्यय कहते हैं। किसीकी अपेक्षा करके ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसलिए मूलतः यह सापेक्षवादी दर्शन है। इसलिए इसका नाम प्रतीत्य समुत्पाद भीहै।[2]

सांख्य सत्यकार्यवादी दर्शन है। यह कारणमें कार्योंकी सर्वथा सत्ता स्वीकार कर उनका आविर्भाव तिरोभाव मानता है। उसका कहना है कि प्रत्येक कार्यके लिये पृथक्-पृथक् उपादानका ग्रहण होता है, सबसे सब कार्योंकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। आकाश कुसुम आदि असत्से कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, शक्यसे ही शक्य कार्यकी उत्पत्ति होती है और प्रत्येक कार्यका कारण अवश्य होता है। इससे विदित होता है कि नियत कारणसे ही नियत कार्यकी उत्पत्ति होती है। इस दर्शन ने आविर्भाव और तिरोभाव मानकर भी उपादानसे भिन्न कारणोंपर जरा भी बल नहीं दिया है। इसकी मान्यता है कि मूलमें प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व हैं जो सर्वथा नित्य हैं। इसके बाद भी वह आविर्भाव और तिरोभावके आधारपर कार्य कारण भावको स्वीकार करता है। उसके मतसे सब कार्य जैसे हम देखते हैं उसी रूपमें पहलेसे ही विद्यमान हैं। मात्र वे अपने-अपने कालमें उजागर हो जाते हैं और अपने-अपने कालमें ओझल हो जाते हैं।

---

१. चत्वारः प्रत्ययाः हेतुः आलम्बनमनन्तरम्।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः॥ —माध्यमिककारिका १।२।

२. अस्मिन् सति इदं भवति। हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावनामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः।

यह तीन दर्शनोंका मन्तव्य है। नैयायिक दर्शन कार्यमें कारणकी सत्ता न माननेके कारण कार्य-कारणकी मुख्यतासे अन्य निमित्तवादी दर्शन है। ईश्वरकी कर्ताके रूपमें स्वतन्त्र सत्ता भी उसने इसी कारण स्वीकार की है। मेघादि अजीव कार्योंका बनना-बिगड़ना, बरसना, बिजलीका उत्पन्न होना, चमकना आदि समस्त कार्य अन्य पुरुषकृत न होकर भी ईश्वराधिष्ठित होकर ही कार्यरूप परिणत होते हैं। ईश्वर सब कार्योंका साधारण कारण है। उसके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता।

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी दर्शन है। यह कारणमें कार्यकी सत्ता स्वीकार नहीं करता, इसलिये इस दर्शनमें भी स्वभावसे कार्योंकी उत्पत्ति में अन्य निमित्तोंको मुख्यता मिल जाती है। क्षणिकवादी दर्शन होनेसे यह कार्योंकी उत्पत्ति अन्य निमित्त सव्यपेक्ष मान कर भी व्ययको सर्वथा निरपेक्ष मानता है।

एक सांख्यदर्शन ऐसा है जिसकी अन्य निमित्तवादी दर्शनोंमें परिगणना नहीं होती। कारण कि वह कारणोंके समान कार्योंकी भी सर्वथा सत्ता स्वीकार करता है। मात्र कार्यका आविर्भाव-तिरोभाव होना मानता है।

७. जैन दर्शनका मन्तव्य

यह उक्त तीन दर्शनोंके मन्तव्योंका स्पष्टीकरण है। अब इसके प्रकाशमें जैन दर्शनके मन्तव्योंपर दृष्टिपात करते हैं। यह न तो सर्वथा नित्यवादी दर्शन है और न सर्वथा अनित्यवादी ही। वस्तु स्वरूपसे परिणामी नित्य है यह इसका मन्तव्य है। इसलिए प्रत्येक समयमें होनेवाला परिणाम परमार्थसे परनिरपेक्ष स्वयं होता है। जिस समय जो परिणाम होता है उससे पहले और बादमें द्रव्यदृष्टिसे वह सत् है और पर्याय दृष्टिसे असत् है। तथा अपने कालमें पर्याय दृष्टिसे भी सत् है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पञ्चास्तिकायमें कहा भी है—

देव-मनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थितातिवाहिताहितस्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति। गा० १८ समयव्याख्या।

देव और मनुष्यादि पर्यायें क्रमवर्ती होनेसे अपना-अपना समय प्राप्त होने और निकल जानेपर उत्पन्न होती हैं और व्ययको प्राप्त होती हैं। इस विषयमें स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षाका यह वचन भी द्रष्टव्य है—

> कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
> परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥२१९॥

कालादि लब्धियोंसे युक्त तथा नाना शक्तियोंसे संयुक्त पदार्थ स्वयं परिणमन करते हैं इसे कौन वारण कर सकता है ॥२१९॥

तेसु अतीदा णंता अणंतगुणिदा य भाविपज्जाया ।
एक्को वि वट्टमाणो एत्तियमेत्तो वि सो कालो ॥२२१॥

द्रव्योंकी उन पर्यायोंमेंसे अतीत पर्यायें अनन्त हैं, भावी पर्यायें उनसे अनन्तगुणी हैं और वर्तमान पर्याय एक है । सो जितनी ये अतीत, भावी और वर्तमान पर्यायें हैं उतने ही कालके समय हैं ॥२२१॥

आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्यकी तीनों कालसम्बन्धी जितनी पर्यायें हैं, कालके समय भी उतने ही हैं । न्यूनाधिक नहीं । प्रत्येक वस्तु का यह स्वयं सिद्ध स्वभाव है कि प्रत्येक नियत समयमें नियत पर्याय ही स्वयं होती है और उस समयके व्ययके साथ उस पर्यायका भी व्यय हो जाता है । इस क्रमको कोई अन्यथा नहीं कर सकता ।

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है इसे स्पष्ट करते हुए जिस स्व-चतुष्टयकी अपेक्षा वस्तुको सत्स्वरूप प्रसिद्ध किया गया है उसमें स्वकाल और कोई नहीं, यही है ।

८. शंका-समाधान

शंका—यद्यपि प्रत्येक वस्तुकी प्रति समयकी पर्याय प्रत्येक वस्तुका उसी प्रकार स्वरूप है जिस प्रकार सत्त्व आदि सामान्य धर्म प्रत्येक वस्तुके स्वरूप हैं इसमें सन्देह नहीं । हमारा विवाद स्वरूपके विषयमें नहीं है, किन्तु हमारा विवाद पर्याय स्वरूपके उत्पत्तिके विषयमें है । हमारा कहना तो इतना ही है कि प्रत्येक वस्तुकी प्रति समयकी पर्यायकी उत्पत्ति परकी सहायतासे ही होती है । देखा भी जाता है कि मिट्टी घट-रूप तभी परिणमती है जब उसे कुम्भकारके अमुक प्रकारके व्यापारका सहयोग मिलता है । जिनागममें बाह्य निमित्तोंकी स्वीकृतिका प्रयोजन भी यही है । अतः कार्य-कारणको मीमांसा करते समय इसका अपलाप नहीं करना चाहिए ?

समाधान—प्रश्न महत्त्वका है, इस पर सांगोपांग विचार तो कर्ता-कर्म मीमांसा अधिकारमें ही करेंगे, फिर भी सामान्यसे उस पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक प्रतीत है । प्रश्न यह है कि जो बाह्य निमित्त है वह अन्य द्रव्यके कार्य कालमें स्वयं अपनी परिणामलक्षण या उसके साथ परिस्पन्दलक्षण क्रिया करता है या अन्यकी क्रिया करता है ? यदि स्वयं अपनी ही क्रिया करता है तो अन्यके कार्यमें वह सहायक किस

प्रकार होता है ? जब कि वह स्वयं अपनी ही क्रियामें व्यापृत रहता है तो वह अन्य द्रव्यकी क्रिया जब कर ही नहीं सकता तब वह अन्य द्रव्यके कार्यमें वास्तवमें सहायक ही कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता यही निश्चित होता है। और यदि अपनी उक्त दोनों प्रकारकी क्रियाओंको छोड़कर अन्य द्रव्यके कार्यमें व्यापृत रहता है तो वह स्वयं अपरिणामी हो जाता है। इन दोनों प्रकारकी आपत्तियोंसे बचनेका एकमात्र यही उपाय है और वह यह कि परमार्थसे न तो एक द्रव्य अपने कार्यको छोड़कर अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त ही होता है और न ही वह उस कार्यके होनेमें परमार्थसे कुछ सहायता ही करता है। मात्र अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर काल प्रत्यासत्तिवश यह व्यवहार किया जाता है कि इसने इसका कार्य किया या यह इसके कार्यमें सहायक है। सच पूछा जाय तो निमित्तवाद जहाँ अन्य निमित्तवादी दर्शनोंका अन्तरात्मा है वहाँ जैनदर्शनमें वह बाह्य कलेवरमात्र है। इसी तथ्यको आचार्य पूज्यपादने भी सर्वार्थसिद्धिमें व्रतोंको लक्ष्य कर स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते, प्रधानत्वात्। सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि सस्यस्य वृतिपरिक्षेपवत्। अ० ७, सू० १।

वहाँ पाँच व्रतोंमें अहिंसा व्रतको आदिमें रखा है, क्योंकि वह सब व्रतोंमें मुख्य है। धान्यके खेतके लिए जैसे उसके चारों ओर वाड़ी होती है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत अहिंसाके परिपालनके लिए हैं।

देखो, यहाँ अहिंसा व्रतको खेतमें उपजी धान्यकी उपमा दी है और सत्यादिक चार व्रतोंको व्यवहारसे उसकी सम्हालके लिए वाडी बतलाया है। यह तो प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी जानता है कि प्रकृतमें अहिंसा और सत्यादिक दोनों आत्माके शुभ परिणाम हैं। इस प्रकार एक आत्मपने की अपेक्षा दोनोंमें अभेद होने पर भी आचार्यने भेद विवक्षामें अहिंसा को कार्य और सत्यादिकको उसके बने रहनेका व्यवहार हेतु (निमित्त) कहा है।

इसी प्रकार संवर स्वरूप व्रतोंमें और प्रशस्त राग स्वरूप व्रतोंमें क्या अन्तर है इसे स्पष्ट करते हुए व कहते हैं—

व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेन उपदेशः क्रियते। सर्वा० अ० ७, सू० १।

व्रतोंमें दृढ़प्रतिज्ञ हुआ साधु सुख पूर्वक संवर करता है, इसलिये यहाँ व्रतोंका संवररूप व्रतोंसे पृथक् उपदेश करते हैं।

यही अभिप्राय आचार्य अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिकमें भी व्यक्त किया है। आचार्य विद्यानन्द तो व्रतोंको संवरसे पृथक् बतलाते हुए लिखते हैं—

न संवरो व्रतानि, परिस्पन्ददर्शनात् गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च। त० श्लो० अ० ७, सू० १।

व्रत संवरस्वरूप नहीं हैं, क्योंकि व्रतोंमें मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति देखी जाती है तथा वे मन, वचन और कायकी निवृत्तिरूप गुप्ति आदि संवरके परिकर्मस्वरूप हैं।

इन आचार्योंका यह ऐसा कथन है जिससे बाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इस कथनसे एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंका लोलुपी व्यक्ति या जीवन में सहायकरूपसे जिसने मकान, धनसम्पदा आदिको प्रमुख स्थान दे रखा है वह तो वीतराग मोक्षमार्गका अधिकारी किसी भी अवस्थामें नहीं हो सकता, जो व्रती होने पर भी उनके अहंकारसे ग्रस्त है वह भी उक्त प्रकारके मोक्षमार्गका अधिकारी नहीं हो सकता। हाँ जिसकी स्वभावसे विषयोंमें अरुचि हो गई है और जो बाह्याभ्यन्तर परिग्रहके बड़प्पनसे मुक्त है वही वीतरागमय संवररूप होनेका अधिकारी है। दूसरी बात यह स्पष्ट हो जाती है कि बाह्य निमित्त अन्यके कार्यका किंचित्कर तो होता ही नहीं। मात्र बाह्य व्याप्तिवश अन्यके कार्यकी बाह्य भूमिका कैसी रहती है इसका स्पष्टीकरण करके विवक्षित कार्यके होनेकी सूचना करता रहता है। इसका आशय यह है कि वीतरागरूप कार्य हो तो हो व्रतादिकमें निमित्तताका व्यवहार है, अन्यथा नहीं। श्वेताम्बर परम्परासे दिगम्बर परम्परामें यही मौलिक भेद है। श्वेताम्बर परम्पराका कहना है कि व्यवहाररूप व्रतोंका पालन करते-करते परमार्थ स्वरूप निश्चयकी प्राप्ति हो जाती है। वे यह भी कहते हैं कि मूर्च्छाका त्याग अपरिग्रहव्रत है, वस्त्रादिकका ग्रहण-त्याग परिग्रह नहीं है। किन्तु यह आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है कि वस्त्रादिकके ग्रहण-त्यागकी इच्छाके बिना उनका ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता। यदि ऐसी इच्छाके बिना भी उनका ग्रहण-त्याग होता है तो मकान आदि दश प्रकारके बाह्य त्यागकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है। और फिर प्रत्येक गृहस्थ बाह्य दश

प्रकारके परिग्रहकी मर्यादा करके शेषका त्याग ही क्यों करें और बाह्य परिग्रहका पूर्ण त्याग करके तथा इसके साथ उसमें मूर्च्छा न रखकर साधु ही क्यों बने। फिर तो सम्पूर्ण परिग्रहके सद्भावमें साधु कहलानेमें आपत्ति ही क्यों मानी जाय। पिछी, कमण्डलु और शास्त्र भी परिग्रह हैं इसमें सन्देह नहीं। फिर भी चरणानुयोग परमागममें प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर उनके ग्रहणका उपदेश है। उसमें भी शास्त्रके लिये यह नियम है कि स्वाध्यायकी दृष्टि से १-२ शास्त्रोंको ही साधु स्वीकार करे और उनका स्वाध्याय पूरा होनेपर उनको भी जहाँ स्वध्याय पूरा हो जाय वहीं विसर्जित कर दे। किन्तु इन तीनको छोड़कर ऐसा कोई कारण तो नहीं दिखलाई देता कि वह उन्हें स्वीकार करे। इस विवेचनसे स्पष्ट है कि जितने भी बाह्य निमित्त आगममें कहे गये हैं वे अन्य द्रव्यके कार्योंके बाह्य निमित्त होकर भी परमार्थसे उनके कार्योंके अणुमात्र भी कर्ता नहीं होते। मात्र उनमें लौकिक दृष्टिको ध्यानमें रखकर अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर अहं कर्ता इस प्रत्ययसे ग्रसित और कार्योंके लिये प्रयत्नशील अज्ञानी जीवोंमें ही कर्तापनेका व्यवहार किया जाता है, अन्यमें नहीं।

देखो, यहाँ शुभ राग और निश्चय रत्नत्रय एक आत्मामें अपने-अपने कारणोंसे एक साथ जन्म लेते हैं, पर जहाँ शुभ भावको ही वीत-राग भावका कर्ता स्वीकार नहीं किया गया वहाँ अत्यन्त भिन्न बहिर्द्रव्य अन्यके कार्यका कर्ता कैसे हो सकता है। इस विषयको स्पष्टरूपसे समझनेके लिए समयसार मोक्ष अधिकारकी ये सूत्रगाथाएं द्रष्टव्य है—

> बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
> बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणइ ॥२९३॥
> जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
> पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

बन्ध (राग) के स्वभावको और आत्माके स्वभावको जानकर बन्धों (रागादि भावों) से जो विरक्त होता है वह कर्म (रागादि भावों) से विरक्त हो जाता है ॥२९३॥

जीव और रागादिरूप बन्ध अपने-अपने स्वलक्षणोंके द्वारा इस प्रकार छेद जाते हैं जिससे वे प्रज्ञारूपी छैनीसे छिन्न होकर नानापनेको प्राप्त हो जाते हैं ॥२९४॥

नानापनेको प्राप्त हो जाते हैं इसका अर्थ है कि रागादि भावों और आत्मामें जो एकपनेकी बुद्धि थी वह दूर हो जाती है।

आत्माका लक्षण ज्ञायकस्वरूप आत्माको लक्ष्य कर प्रवृत्त हुई सहभावी और क्रमभावी पर्यायोंसे अन्तर्लीनपनेको प्राप्त हुआ चैतन्य भाव है और बन्धका लक्षण आत्मद्रव्यमें असाधारणरूपसे प्राप्त हुए रागादि भाव हैं। इस प्रकार ये दोनों लक्षण भेदसे अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। इनके मध्य अत्यन्त सूक्ष्म सन्धि है। उस सन्धिको समझकर जो उसमें अपनी प्रज्ञाछैनीको अनन्त पुरुषार्थसे पटक कर अपने चैतन्य-स्वरूप आत्मासे रागादि भावोंको जुदा करता है वह नियमसे कर्मोंसे विरक्त होकर परमार्थका भागी होता है। संसार परिपाटीसे छूटनेका एकमात्र यही उपाय है। इसी तथ्यके समर्पक आत्मख्यातिके इन शब्दों पर दृष्टिपात कीजिए—

·······सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यः निवर्तते। यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघन-स्वभावो भवतीति। स॰ गा॰ ७४।

सहज बढी हुई चेतनारूप शक्तिपनेसे जैसे-जैसे (आत्मा) विज्ञानघन स्वभाव होता है वैसे-वैसे (वह) रागादिरूप आस्रवोंसे जुदा होता है। जैसे-जैसे आस्रवोंसे जुदा होता है वैसे-वैसे विज्ञानघन स्वभाव होता है।

प्रवचनसार गाथा ४५ की तात्पर्य वृत्ति टीकाका यह वचन भी इसी अर्थको व्यक्त करता है—

द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति।

द्रव्य मोहके उदय रहने पर भी यदि आत्मा शुद्धआत्मा (त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव आत्मा) की भावनाके बलसे भावमोहरूपसे परिणमन नहीं करता है तब बन्ध नहीं होता है।

सातवें गुणस्थान तक क्षयोपशम सम्यग्दर्शनके कालमें भी यथा-सम्भव सविकल्प और निर्विकल्प दोनों अवस्थाओंमें मिथ्यादृष्टिके होने-वाले कर्मोंका बन्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि यहाँ मिथ्यादर्शन कर्मका उदय नहीं है सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्यक् प्रकृति भी मिथ्यादर्शन कर्मका ही अंश है। इतना अवश्य है कि उसमें आत्माके निश्चय सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्यायके नष्ट होनेमें बाह्य निमित्तरूप होनेकी क्षमता नहीं है। यही कारण है कि उस समय शुद्धात्माकी

भावना होनेसे या उसके वलसे उत्पन्न हुए निश्चय सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामके होनेमात्रसे सम्यक् प्रकृतिके उदय रहते हुए भी जीवके तन्निमित्तक किसी भी कर्मका वन्ध नहीं होता। इतना ही क्यों? जव यह जीव मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी क्षयोपशमलब्धि आदि रूप परिणामोंके सन्मुख होता है तव उसके भी मिथ्यात्व गुणस्थानमें मिथ्यादर्शन निमित्तक वहुत सी कर्म प्रकृतियोंका क्रमसे वन्धापसरण होकर वन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है और जव तक यह जीव ऐसी योग्यता सम्पन्न रहता है उनका वन्ध नहीं होता और करणलब्धिका वल पाकर मिथ्यादर्शन प्रकृतिका उदय-उदीरणा भी क्रमसे हीन वल होती हुई मिथ्यात्व गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही उसका उत्तरोत्तर अत्यन्त क्षीण उदय होता जाता है। यह सव क्या है? क्या यह अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्माकी भावनाका वल नहीं है? एकमात्र उसीका वल है जिससे यह जीव दृष्टिमुक्त हो जाता है। सातवें गुणस्थानसे लेकर आगे भी द्रव्य मोहका उदय रहते हुए भी यह जीव शुद्धात्माकी भावनाके वलसे क्रम से कर्मोंकी न केवल हानि करता जाता है किन्तु उसकी यथासम्भव प्रकृतियोंका क्रमसे उपशम और क्षय भी करता जाता है। इस भावनामें ऐसी कोई अपूर्व शक्ति है जिसके वलसे यह जीव क्रमसे संसारका अन्त करनेमें समर्थ होता है। वस्तुतः आचार्य जयसेन शुद्धात्म-भावनाकी इसी सामर्थ्यको हृदयंगम कर उक्त प्रकारसे उसकी प्ररूपणा करनेमें समर्थ हुए।

एक वात और है जो प्रकृतमें मुख्य है। और वह यह कि स्वभाव प्राप्त जीवके जव जितनी भी विशुद्धि प्राप्त होती है वह किसी भी कर्म-वन्धका हेतु नहीं है। प्रकृतमें आचार्य जयसेनने 'द्रव्यमोहोदये सत्यपि' इत्यादि वचन इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए दिया है यह तथ्य है। प्रकृतमें द्रव्यमोह पदसे सामान्य मोहनीय कर्मका ग्रहण किया है। पहले जो कुछ भी लिख आये हैं उसमें भी यही दृष्टि है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्यके प्रति उपादान-उपादेय भावसे अन्तर्व्याप्तिका और निमित्त-नैमित्तिक भावसे वहिर्व्याप्तिका समर्थन होने पर भी वहुतसे व्यवहारैकान्तवादी इन दोनोंके योगको स्वीकार न कर अपने ऐन्द्रियिक श्रुतज्ञानके वलपर वैभाविक कार्योंका अनियमसे सिद्ध होना वतलाते हैं। श्वेताम्वर सम्प्रदायने जैसे सवस्त्र मुनिमार्गका समर्थन करनेके लिए वस्त्रको परिग्रहसे पृथक् कर दिया और उसकी पुष्टिमें स्त्रीमुक्तिको आगम कह कर स्त्रीलिंग, अन्य लिंग या गृहस्थ

लिंगसे मुक्तिको स्वीकार कर लिया। लगभग ठीक यही स्थिति इन व्यवहारैकान्तवादियों की है। इन्हें मात्र सम्यक् नियतिको भी एकान्त कह कर उसका खण्डन करना है। इसके लिए उन्होंने यह मार्ग चुना कि जितनी स्वभाव पर्यायें हैं वे तो क्रमसे अपने-अपने समयमें ही होती हैं। पर विभाव पर्यायोंके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता। कौन पर्याय कव होगी इसका कोई नियम नहीं किया जा सकता।

९. उक्त एकान्त मतकी पुनः समीक्षा

किन्तु उनका यह कथन कैसे आगम विरुद्ध है इसकी हम संक्षेपमें कुछ आगम प्रमाण देकर पुनः समीक्षा करेंगे। स्वामी समन्तभद्रने सम्यक् देवकी परीक्षा प्रधान अपने आप्तमीमांसा ग्रन्थमें संसारी जीवोंके प्रत्येक कार्यकी अपेक्षा दैव और पुरुषार्थके युगपत् योगको गौण मुख्य भावसे कैसे स्वीकार किया है इस पर दृष्टिपात कीजिए—

अवुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
वुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुपात् ॥९१॥

अवुद्धिपूर्वक अर्थकी प्राप्तिकी विवक्षामें प्रत्येक इष्ट और अनिष्ट अर्थका सम्पादन दैवके वलसे होता है तथा वुद्धिपूर्वक अर्थकी प्राप्तिको विवक्षामें इष्ट और अनिष्ट प्रत्येक अर्थ पुरुषार्थके वलसे प्राप्त होता है ॥९१॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अकलंकदेव तथा विद्यानन्द लिखते हैं—

ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतम् वुद्धिपूर्वापेक्षापायात्, तत्र पुरुषकारस्याप्रधानत्वात् दैवस्य प्राधान्यात्। तद्विपरीतं पौरुपापादितं, वुद्धि-पूर्वव्यपेक्षापायात्, तत्र दैवस्य गुणत्वात् पौरुपस्य प्रधानत्वात्।

इसलिये विना कल्पना या विचारके अनुकूल या प्रतिकूल जो वस्तु प्राप्त होती है उसकी प्राप्ति दैवसे होती है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक वस्तु प्राप्तिकी अपेक्षा न होने से वहाँ पुरुषार्थ गौण है और दैव मुख्य है। उससे विपरीत अनुकूल या प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति पुरुषार्थसे होती है, क्योंकि वुद्धि पूर्वक वस्तुकी प्राप्तिकी विवक्षाका अभाव नहीं होनेसे वहाँ दैव गौण है और पुरुषार्थ मुख्य है।

यहाँ दैव और पुरुषार्थके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य भट्टाकलंकदेव लिखते हैं—

योग्यता कर्म पूर्व वा दैवमुभयमदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्।

वस्तुगत योग्यता और पूर्व कर्म दैव कहलाता है। ये दोनों इन्द्रिय-गम्य नहीं हैं, तथा ऐहिक मन, वचन और कायके व्यापारका नाम पुरुषार्थ है जो इन्द्रियगम्य है।

यहाँ आचार्यदेवने तीन वातोंका निर्देश किया है, जिसे इष्ट या अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती हैं तद्‌गत योग्यता, तथा जिसे उक्त वस्तुकी प्राप्ति होती है उसका पुरुषार्थ और पूर्वमें सम्पादित किया गया कर्म साथ ही योग्यता शब्दसे जिस इष्ट या अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है तद्‌गत योग्यता भी ली जा सकती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु या कार्यका सम्पादन स्वकालमें ही होता है ऐसा नियम है। इसका सप्रमाण उल्लेख इसी अध्यायमें पहले ही कर आये हैं। तथा निश्चय उपादानका अनुगत होनेसे पुरुषार्थसे निश्चय उपादानका भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि पुराकृत कर्मका उदयादि और संसारी प्राणीकी ऐहिक चेष्टाएँ उसीके अनुसार होती हैं।

अव आप थोड़ा करणानुयोगकी दृष्टिसे भी विचार कीजिये। दर्शन मोहनीयके करणोपशमको निमित्त कर होनेवाले आत्मविशुद्धिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके होनेकी प्रक्रिया यह है कि अनिवृत्तिकरणके वहुभाग वीतने पर यह जीव दर्शन मोहनीयकी एक, दो या तीनों प्रकृतियोंका अन्तरकरण उपशम करता है। उसके वाद प्रथम स्थितिको प्राप्त द्रव्यका उसके काल तक उदयपूर्वक उसकी निर्जरा करता है। उदय समाप्त होने पर जिस समय उदयका अभाव है उसी समय यह जीव शुद्धात्माकी भावनाके वलसे निश्चय उपादानके अनुसार निश्चय सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है तभी दर्शनमोहनीयके अन्तर करण उपशम में निश्चय सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी अपेक्षा निमित्तपनेका व्यवहार होता है।

इस उद्धरणसे मुख्यतया दो तथ्योंपर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। प्रथम तो यह कि जव यह जीव निश्चय उपादानके अनुसार अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थके वलसे निश्चय सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुआ उसी समय दर्शन मोहनीयके अन्तरकरण उपशममें निमित्तपनेका व्यवहार होता है। इसलिये जो व्यवहारैकान्तवादी यह मानते हैं कि विवक्षित कार्यका अव्यवहित पूर्व समयवर्ती निश्चय उपादान अनेक योग्यतावाला होता है उनके उस मतका निरसन हो जाता है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें निश्चय सम्यग्दर्शन स्वकालमें ही प्राप्त होता है, इसके लिये वहाँ कहा है—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः संपद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात् । तत्त्वार्थश्लोकवा०, पृ० ९१ ।

जिनको मोक्ष प्राप्त होना अति सन्निकट है ऐसे भव्य जीवोंके ही मिथ्यादर्शन आदिके प्रतिपक्षभूत निश्चय सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है, अन्य भव्योंके नहीं, क्योंकि अन्तरंग-बहिरंग कारणोंका सन्निधान कदाचित् होता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि निश्चय सम्यग्दर्शनके पूर्व अव्यवहित पूर्व जो पर्याय युक्त जीव होता है उसीमें ऐसी योग्यता होती है कि उसके अव्यवहित उत्तर समयमें निश्चय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना निश्चित है । यथा—

निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरमसमयवर्ति रत्नत्रयमिति । त० श्लो० पृ० ७१ ।

निश्चयनयका आश्रय करने पर तो जिसके बाद मोक्षकी उत्पत्ति होती है वही अयोगिकेवलीका अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय परिणाम मोक्षका मुख्य कारण है ।

पर्याय विशेष युक्त द्रव्यमें निश्चय उपादानताका समर्थन करते हुए उसी परमागमके इस वचन पर भी दृष्टिपात कीजिये—

ते चारित्रस्योपादानम्, पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतेः ।

वे निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान निश्चय चारित्रके उपादान कारण हैं,क्योंकि पर्यायविशेषसहित द्रव्यमें ही उपादानपनेकी प्रतीति होती है ।

ऐसा नियम है कि निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानके साथ बारहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें ही क्षायिक व्यवहारके योग्य निश्चय चारित्र की प्राप्ति हो जाती है, फिर भी यह जीव मोक्षको प्राप्त नहीं होता । यह एक प्रश्न है इसका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरिति न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिकारणापेक्षस्य तदा विरहात् । श्लो० वा० पृ० ७१ ।

शंका—क्षीणकषायके प्रथम समयमें मोक्षोत्पादका प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि (व्यवहारनयसे) अपेक्षित काल विशेषका वहाँ अभाव है ।

यह ऐसा उल्लेख है जिससे अनेक तथ्योंपर प्रकाश पड़ता है । (१) नियत पर्यायका नियत काल ही व्यवहार हेतु होता है । (२) प्रत्येक

द्रव्य नियत पर्यायकी स्थितिमें पहुँचने पर ही वह विवक्षित कार्यका निश्चय उपादान होता है। (३) सापेक्ष कथन व्यवहारनयका विषय है, इसलिए कालको सहकारी कारण कहना असद्भूत व्यवहारनयसे ही घटित होता है। (४) निश्चयनय परनिक्षेप ही होता है।

१० शंका-समाधान

शंका—प्रकृतमें आप उपादानके पूर्व निश्चय विशेषण क्यों लगाते हैं।

समाधान—प्रत्येक द्रव्यमें अपना-अपना कार्य करनेकी योग्यता होती हैं पर प्रत्येक द्रव्य पर्यायसे व्यतिरिक्त स्वतन्त्र नहीं पाया जाता और पर्यायें काल द्रव्यके जितने समय होते हैं उतनी ही होती है, इसलिए निश्चयसे किस पर्यायके बाद अगले समयकी कौन पर्याय होगी इसका नियमन प्रत्येक समयकी पर्यायके आधारपर ही होता रहता है। व्यवहार से काल द्रव्यके विवक्षित समयके आधार पर भी उसका परिगमन किया जा सकता है। अतः १२ वें गुणस्थानके प्रथम समयसे चारित्र एक प्रकारका होनेसे यहाँ कालकी मुख्यतासे उक्त कथन किया गया है। यही कारण है कि प्रत्येक द्रव्यमें अपने-अपने कार्यरूप परिणमनेकी योग्यता के रहते हुए भी कार्यकारण परम्परामें अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य को ही परमार्थसे उपादान स्वीकार कर उससे नियत कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार की गई है। विवक्षित उपादानके पूर्व निश्चय विशेषण लगाने का यही कारण है।

शंका—योग्यता क्या वस्तु है ?

समाधान—समाधान यह है—

योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः। कार्यं हि कारणजनत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः। शालिबीजांकुरयोः भिन्नकालत्वाविशेपेऽपि शालिबीजस्येति कथ्यते। श्लो० वा० गा० ७८।

कारणकी कार्यको उत्पादन करनेकी शक्तिका नाम योग्यता है और कार्य कारणपूर्वक जन्यत्व-शक्तिवाला होता है। इसीका नाम योग्यताका प्रतिनियम है। जैसे शालि बीज और अंकुरमें भिन्न कालपनेरूप विशेष होने पर भी शालि-बीजमें ही शालि-अंकुरके उत्पन्न करनेकी शक्ति है, यव बीजमें नहीं। वैसे ही यव बीजमें ही यव-अंकुर को उत्पन्न करनेकी शक्ति है, शालि-बीजमें नहीं यह कहा जाता है।

प्रकृतमें शालि-बीजमें ही शालि-अंकुरके उत्पन्न करनेकी योग्यता होने पर भी कौन शालि बीज किस समय अपने अंकुरको जन्म दे इसका नियम है। भले ही निश्चय उपादान और उसके अंकुरमें समय भेद हो पर शालि-बीजके उस भूमिकामें पहुँचने पर उससे नियमसे अंकुरकी उत्पत्ति होगी ही ऐसा प्रतिनियम है। यहाँ मिट्टी आदिका अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर कालप्रत्यासत्ति होनेसे सद्भाव रहेगा ही इसमें सन्देह नहीं पर मिट्टी आदि व्यवहारसे निमित्तमात्र ही हैं, वे परमार्थसे अंकुरके उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं रखते यह भी सुनिश्चित है। इसी तथ्यका स्पष्टीकरण तत्त्वार्थवार्तिकमें इन शब्दोंमें किया है—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति।

जैसे मिट्टीके स्वयं भीतरसे घटपरिणामके अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुष प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं।

इस उल्लेखसे हम जानते हैं कि विवक्षित कार्यको जन्म देनेकी शक्ति निश्चय उपादानमें ही होती है, अन्य बाह्य पदार्थ असद्भूत व्यवहारसे ही निमित्तमात्र होते हैं। उनमें निश्चय उपादानके कार्यको जन्म देनेकी योग्यता या भवितव्य तो नहीं ही होती, पर उनमें व्यवहार-हेतुता वश ऐसा व्यवहार कर लिया जाता है। इस प्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध होता है कि व्यवहार-निश्चयका योग सुनिश्चितरूपसे होता रहता है। इनमें अनियम मानना एकान्त है।

शंका—निश्चय सम्यग्दर्शनके विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि सातवें गुणस्थानसे होता है। कुछ ग्यारहवें गुणस्थानसे मानते हैं और कुछ तेरहवें गुणस्थानसे भी मानते हैं। पर आप तो चौथे गुणस्थानसे ही उसे स्वीकार करते है सो इस विषयमें आगम क्या है ?

समाधान—(१) सर्व प्रथम हम श्री परमागम समयसार शास्त्रको ही लेते हैं। शुद्धनयकी व्याख्या करते हुए वहाँ कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

जो आत्माको अबद्ध अस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त अनुभवता है उस आत्माको शुद्धनय जानो ॥१४॥

आत्मख्याति टीकामें इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

यः खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः। सात्वनुभूतिरात्मेत्यात्मैक एव प्रद्योतते।

परमार्थसे अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माकी जो अनुभूति होती है वह शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है। इस प्रकार एक आत्मा ही प्रकृष्टरूपसे अनुभवमें आता है।

पहले इसी शास्त्रकी छटवीं गाथाकी टीकामें त्रिकाली स्वभावभूत आत्माकी व्याख्या करते हुए बतलाया है—आत्मा स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि-अनन्त है, सतत उद्योतस्वरूप है विशद ज्योति है और स्वरूपसे ज्ञायक है। इस प्रकारके आत्माकी अनुभूतिको प्रकृतमें सम्यग्दर्शन कहा है। इतना ही नहीं, उसे आत्मा ही कहा है। ऐसा कहनेका कारण है, वह यह कि ऐसी निरन्तर भावना करनेसे करणानुयोगके अनुसार जिसके दर्शन मोहनीयकी तीन और अनन्तानुबन्धी चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो गया है, वह श्रद्धामें उपचार व्यवहार और भेदव्यवहार दोनोंसे मुक्त हो जाता है। तथा उसके मुख्यरूपसे उक्त प्रकारके एक आत्माकी भावनाको छोड़कर अन्य कोई विकल्प नहीं रहता है। यहाँ उक्त प्रकारकी अनुभूति और आत्मामें अभेद होनेसे उक्त स्वानुभूतिको ही आत्मा कहा है यह इस कथनका तात्पर्य है। संसारी आत्मा ऐसी दृष्टि मुक्तिस्वरूप भावनाको अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानमें ही प्राप्त हो जाता है, इसीलिए आगमके रहस्यको स्वीकार करनेवाले चतुर्थ गुणस्थानसे ही निश्चय सम्यग्दर्शनको स्वीकारते हैं। यहाँ उसके होनेवाली मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिरूप सविकल्प अवस्थाको ही जिनागममें प्राक् पदवी शब्दसे सम्बोधित किया गया है। सविकल्प अवस्थामें जबतक उसकेऐसा व्यवहार बना रहता है, तबतक निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ बने रहनेसे आत्माका पतन नहीं होता, क्योंकि ऐसे व्यवहारके विरुद्ध जब तक उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम नहीं होता तब तक वह व्यवहार, सविकल्प अवस्थामें निश्चय सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्मशुद्धिका अविनाभावी है यह प्रकृतमें व्यवहारनयके हस्तावलम्बका तात्पर्य है। वह व्यवहारनयके विषयमें आँख मीच कर सर्वथा गड़गप्प हो जाता है ऐसा उसका तात्पर्य नहीं है।

यह तो ठीक है कि समयसार परमागममें गुणस्थान आदिके भेदसे मोक्षमार्गका स्वरूप निर्देश नहीं किया गया है। अतः उक्त तथ्यके समर्थनमें हम आगमकी सप्रमाण चर्चा कर लेना आवश्यक समझते हैं इसके पहले हम सर्वार्थसिद्धिको ही लेते हैं—

तत् द्विविधम्, सराग-वीतरागविषयभेदात्। प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिकी अभिव्यक्ति लक्षणवाला प्रथम सम्यग्दर्शन है और आत्माकी विशुद्धिमात्र दूसरा सम्यग्दर्शन है। सूत्र १-२।

तत्त्वार्थवार्तिकमें भी उक्त प्रकारसे सम्यग्दर्शनके दो भेद और लक्षण निबद्ध किये गये हैं। उनकी विशेष व्याख्या करते हुए लिखा है—

रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः, संसाराद् भीरता संवेगः, सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा, जीवादयोऽर्थाः यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम्। ...... सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरत् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। सू० १-२।

रागादिकका विशेषरूपसे प्रकट नहीं होना प्रशम है, संसारसे डरना संवेग है, प्राणीमात्रमें मैत्रीभाव अनुकम्पा है और जीवादि पदार्थोंका जैसा स्वरूप है वे उसी रूप हैं ऐसी मतिका होना आस्तिक्य है·······सात कर्म प्रकृतियोंके अत्यन्त अभाव होने पर जो आत्मामें विशुद्धि विशेष प्राप्त होती है वह दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। सूत्र१-२।

तत्त्वार्थवार्तिकमें इस उल्लेखको देखकर कितने ही विद्वान् क्षायिक सम्यग्दर्शनरूपसे प्राप्त हुई आत्मविशुद्धिको ही वीतराग सम्यग्दर्शन स्वीकार करते हैं। वे सम्यग्दर्शनके व्यवहारसे प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम और क्षयोपशमसे प्राप्त हुई आत्मविशुद्धिकी किस सम्यग्दर्शनमें परिगणना करते हैं यह वे ही जानें। अस्तु, अब यहाँ वस्तुस्थिति क्या है इसकी मीमांसा करनेके लिए सर्व प्रथम तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें क्या कहा है इस पर विचार करते हैं। उसमें भी सर्वप्रथम प्रशमादिके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहा है—

तत्रानन्तानुबन्धीनां रागादीनां मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावपरिवर्तनरूपात् संसाराद् भीरुता संवेगः। त्रस-स्थावरेषु प्राणिषु दयानुकम्पा। जीवादितत्त्वार्थेषु युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धेषु याथात्म्योपगमनमास्तिक्यम्। एतानि प्रत्येकं समुदितानि वा स्वस्मिन् स्वसंविदतानि परत्र काय-वाग्व्यवहारविशेषलिंगानुमितानि सरागसम्यग्दर्शनं ज्ञापयन्ति। पृ० ८६।

वहाँ अनन्तानुबन्धीरूप रागादिकके तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वके अनुद्रेकको प्रशम कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन

पाँच प्रकारके परिवर्तनरूप संसारसे भीरुताको संवेग कहते हैं। त्रस और स्थावर प्राणियोंमें दयाका होना अनुकम्पा है। तथा युक्ति और आगमसे अविरुद्ध जीवादि पदार्थोंमें यथार्थपनेको प्राप्त होना आस्तिक्य है। ये प्रत्येक मिलकर स्वयंमें स्वसंविदित होकर तथा अन्य जीवोंमें शरीर और वचनके व्यवहार विशेषरूप हेतुसे अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शनको ज्ञापित करते हैं।

आगे तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनमें और प्रशमादिकमें अन्तरको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

ननु प्रशमादयो यदि स्वस्मिन् स्वसंवेद्याः श्रद्धानमपि तत्त्वार्थानां किन्न स्वसंवेद्यम्, यतस्तेभ्योऽनुमीयते। स्वसंवेद्यत्वाविशेषेऽपि तैस्तदनुमीयते न पुनस्ते तस्मादिति कः श्रद्दधीतान्यत्र परीक्षकादिति चेत्? नैतत्सारम्, दर्शनमोहोपशमादिविशिष्टात्मस्वरूपस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य स्वसंवेद्यत्वानिश्चयात्। स्वसंवेद्यं पुनरास्तिक्यं तदभिव्यंजकं प्रशम-संवेगानुकम्पावत् कथंचित्ततो भिन्नम्, तत्फलत्वात्। तत एव फलतद्वतोरभेदविवक्षायामास्तिक्यमेव तत्त्वार्थश्रद्धानमिति, तस्य तद्वत्प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तदनुमेयत्वमपि न विरुद्धयते। मतान्तरापेक्षया च स्वसंविदतेऽपि तत्त्वार्थश्रद्धाने विप्रतिपत्तिसद्भावात् तन्निकरणाय तत्र प्रशमादिलिंगादनुमाने दोषाभावः सम्यग्ज्ञानमेव हि सम्यग्दर्शनमिति हि केचिद्विप्रवदन्ते, तान् प्रति ज्ञानात् भेदेन दर्शनं प्रशमादिभिः कार्यविशेषैः प्रकाश्यते ॥८६॥

शंका—प्रशमादिक यदि स्वयंमें स्वसंवेद्य हैं तो जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान स्वसंवेद्य क्यों नहीं है, जिससे कि प्रशमादिकसे पदर्थोंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अनुमान किया जाता है, क्योंकि स्वसंवेद्यपनेकी अपेक्षा भेद न होने पर भी प्रशमादिकके द्वारा तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अनुमान किया जाता है, परन्तु तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके द्वारा प्रशमादिकका अनुमान नहीं किया जाता, परीक्षकको छोड़कर और कौन ऐसा श्रद्धान करेगा?

समाधान—यह कहना सारभूत नहीं है, क्योंकि दर्शनमोहादिके उपशमादियुक्त आत्मश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके स्वसंवेद्यपनेका निश्चय नहीं होता। परन्तु आस्तिक्य स्वसंवेद्य है जो प्रशम, संवेग और अनुकम्पाके समान तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अभिव्यंजक है, इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनसे कथंचित् भिन्न है, क्योंकि वह तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका फल है। इसलिए फल और फलवान्में कथंचित् अभेद विवक्षामें आस्तिक्य ही तत्त्वार्थश्रद्धान है। यतः सम्यग्दर्शन आस्तिक्य

के कारण प्रत्यक्षसिद्ध होनेसे सम्यग्दर्शनको अनुमानका विषय माननेमें भी कोई विरोध नहीं है।

दूसरे मतकी अपेक्षा तो यद्यपि तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन स्वसंवेद्य है ऐसा होने पर भी विवादका सद्भाव होनेसे उसका निराकरण करनेके लिए सम्यग्दर्शनका प्रशमादिकके द्वारा अनुमान किया जाता है ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है।

कितने ही व्यक्ति सम्यग्ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है ऐसा विवाद करते हैं उनके प्रति सम्यग्ज्ञानसे सम्यग्दर्शनमें भेद है इस बातको सम्यग्दर्शनके कार्यरूप प्रशमादिकके द्वारा प्रकट की जाती है।

यद्यपि सरागियोंमें सम्यग्दर्शनके कार्यरूप प्रशमादिक तो होते हैं परन्तु वीतरागियोंमें कायादिकके व्यापार विशेषके अभावमें वे नहीं दृष्टिगोचर होते हैं ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं—

नैवं सर्वेषु सद्दर्शनं प्रशमादिभिरनुमीयते इत्यभिधानात्। यथासम्भवं सरागेषु वीतरागेषु च सद्दर्शनस्य तदनुमेयत्वस्यात्मविशुद्धिमात्रत्वं चेत्यभिहितत्वात्।

समस्त सम्यग्दृष्टियोंमें सम्यग्दर्शन प्रशमादिकके द्वारा अनुमित होता है ऐसा हमने नहीं कहा है। किन्तु यथासम्भव सराग और वीतराग जीवोंमें सम्यग्दर्शन प्रशमादिकके द्वारा अनुमित होता है और वह आत्मविशुद्धिमात्र है ऐसा हमने कहा है।

परमात्मप्रकाश टीकामें सराग सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन एक ही हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति। तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति। पृ० १४३।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी अभिव्यक्ति लक्षणवाला सरागसम्यक्त्व कहा जाता है। वही व्यवहार सम्यक्त्व है। इसके विषय छह द्रव्य हैं।

इतने विवेचनसे ये तथ्य फलित होते हैं—

(१) निश्चय सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति ज्ञायक स्वरूप आत्माके उपयोगके विषय होने पर तद्रूप एकाकार परिणतिरूप स्वानुभवके कालमें ही होती है।

(२) ऐसी अवस्थाके प्रथम समयसे लेकर दर्शन मोहनीयकी यथासम्भव प्रकृतियोंके अन्तरकरण उपशम आदि तथा अनन्तानुबन्धीके

उदयाभावरूप उपशम या विसंयोजनारूप क्षयमें व्यवहार हेतुता घटित होती है। यह व्यवहार हेतुता आत्मविशुद्धिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके काल तक सतत बनी रहती है।

(३) अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्य उपादान और अव्यवहित उत्तर समयवर्ती द्रव्य कार्य यह क्रम भी सतत चलता रहता है। मात्र सम्यग्दर्शनके कालके भीतर ज्ञायक आत्मलक्षी परिणामकी ओर झुकावका विच्छेद कभी नहीं होता। इतनी विशेषता है कि सविकल्प दशामें उस ओरका झुकाव बना रहता है और निर्विकल्प दशामें उपयोग ज्ञायक स्वरूप आत्मासे एकाकार होकर उपयुक्त रहता है।

(४) आत्मविशुद्धिरूप निश्चय सम्मग्दर्शनके वे प्रशमादिक व्यवहारसे स्वीकार किये गये हैं। इसीसे प्रशमादिक भाव उक्त सम्यग्दर्शनके व्यवहारसे निमित्त हैं। कारण कि इन द्वारा निश्चयसम्यग्दर्शनके अस्तित्व की सूचना मिलती है। एक अपेक्षा ये ज्ञापक निमित्त भी हैं।

(५) उक्त कथनसे ज्ञात होता है कि किन्हीं सरागी जीवोंमें ज्ञान और वैराग्य शक्ति व्यक्तरूपसे दृष्टिगोचर होती है और किन्हींमें वह व्यक्तरूपसे दृष्टिगोचर नहीं होती। ज्ञान और वैराग्य शक्तिका योग सब सम्यग्दृष्टियोंके होता ही है इतना अवश्य हैं।

(६) आस्तिक्य सम्यग्ज्ञानका भेदविशेष है, इसलिये एक आत्मापने की अपेक्षा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अभेद करके आस्तिक्यभावको भी यहाँ सम्यग्दशन कहा गया है।

आत्मविशुद्धिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन तो है, परन्तु चाहे यह जीव सरागी भले ही क्यों न हो, किसी किसीके उसका संवेग आदिरूप व्यवहार नहीं होता यह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त उल्लेखसे स्पष्ट ज्ञात होता है। इससे मालूम पड़ता है कि जीवकी प्रत्येक पर्यायका मूल कारण उपादानका होना पर्याप्त है। उसके साथ यदि पर वस्तुके प्रति ममकार और अहंकारके रूपमें उपयोग परिणाम रहता है तो संसारकी सृष्टि होती है और ज्ञायकस्वरूप आत्माको विषय कर उपयोग परिणाम होता है तो मोक्ष जानेके मार्गका द्वार खुलकर उस पर यह जीव चलने लगता है।

प्रत्येक पर्यायका कालविशेष व्यवहार निमित्त है ऐसा एकान्त नियम है। अन्य बाह्य संयोग बनो या न बनो। यदि बाह्य संयोग बनता है तो वह भी स्वकालमें ही बनता है। कभी भी किसी पदार्थका संयोग हो

जाय ऐसा नहीं है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें यह वचन आया है—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात् ॥९१॥

जिनका मुक्ति प्राप्त करना अति सन्निकट है ऐसे भव्य जीवोंको ही दर्शनमोहके प्रतिपक्षका लाभ होता है, अन्य जीवोंको नहीं, क्योंकि कदाचित् अन्तरंग और वाह्य साधनोंका सन्निधान नहीं होता।

ऐसा नियम है कि सभी कार्य वाह्य संयोगरूप निमित्तोंके अनुसार ही होते हैं ऐसा न होकर उनके होनेमें निश्चय उपादानरूप अन्तरंग कारण ही मुख्य है। यथा—

ण च कज्जं कारणाणुसारी चेव इति णियमो अत्थि, अन्तरंगकारणावेक्खाए पवत्तस्स कज्जस्स वहिरंगकारणाणुसारित्तणियमाणुववत्तीदो।

—धवला पु० १२, पृ० ८१।

प्रत्येक कार्य वाह्य कारणके अनुसार ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि अन्तरंग कारणकी अपेक्षा प्रवृत्त हुए कार्योंका वहिरंग कारणके अनुसार प्रवृत्त होनेका नियम नहीं वन सकता।

पाँच परिवर्तनोंमेंसे भाव परिवर्तनके स्वरूप पर दृष्टिपात करनेसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यमें उसका अन्तरंग कारण ही मुख्य है। यथा—

पंचेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः, स सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटीसंज्ञकामापद्यते। तस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति। एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं कषायाध्यवसायस्थानं सर्वजघन्यमेवानुभागाध्यवसायस्थानमास्कन्दतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति। तेषामेव स्थिति-कषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति। एवं च तृतीयादिषु चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। तथा च तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति। तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेः। एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति। तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वे दि-

तव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः। एवं उक्तायाः जघन्यायाः स्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिसमाप्तायाः कषायादिस्थानानि वेदितव्यानि।

पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृतिकी सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोटाकोटिप्रमाण स्थितिको बाँधता है। उसके उस स्थितिके योग्य षट्स्थानपतित असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसायस्थान होते हैं। और सबसे जघन्य इस कषायाध्यवसायस्थानके निमित्तरूप असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते है। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागाध्यवसायस्थानको प्राप्त हुए इस जीवके तद्योग्य सबसे जघन्य योगस्थान होता है। तत्पश्चात् स्थिति, कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवस्थायस्थानके जघन्य रहते हुए दूसरा योगस्थान होता है जो असंख्यात भागवृद्धि संयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानोंकी अपेक्षा भी समझना चाहिये। ये सब योगस्थान अनन्त भागवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धिको छोड़कर शेष चार स्थानपतित ही होते हैं, क्योंकि सब योगस्थान संख्यामें श्रेणिके असंख्यावें भाग प्रमाण है। तदनन्तर उसी जघन्य स्थिति और उसी जघन्य कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त हुए जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। इसके योगस्थान पहलेके समान जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण जानना चाहिये। इस क्रमसे असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंके होने तक तीसरे आदि अनुभागाध्यसायस्थानोंका यही क्रम जानना चाहिये। तत्पश्चात् उसी स्थितिको प्राप्त हुए जीवके दूसरा कषायाध्यवसानस्थान होता है। इसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान और योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिये। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके होने तक तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोंमें वृद्धिका क्रम जानना चाहिये। यहाँ उक्त जघन्य स्थितिके जिस प्रकार कषायादिस्थान कहे हैं उसी प्रकार एक समय अधिक उक्त जघन्य स्थितिके भी कषायादिस्थान जानने चाहिये। और इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थितिके कषायादिस्थान जानने चाहिये।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कार्यका नियामक मुख्यतासे निश्चय उपादानको मानना ही आगम सम्मत है इसमें किसी प्रकारके सन्देहके लिए स्थान नहीं है।

११ पाँच हेतुओंका समवाय

साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें ये पांच कारण नियमसे होते हैं। स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म। यहाँ पर स्वभावसे द्रव्यकी स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है। पुरुषार्थसे जीवका बल-वीर्य लिया गया है, कालसे स्वकाल और परकालका ग्रहण किया है, नियतिसे समर्थ उपादान या निश्चयकी मुख्यता दिखलाई गई है और कर्मसे बाह्य निमित्तका ग्रहण किया गया है। इन्हीं पाँच कारणोंको सूचित करते हुए पंडितप्रवर बनारसीदासजी नाटकसमयसार सर्वशुद्धज्ञानाधिकारमें कहते है—

> पद सुभाव पूरव उदै निहचै उद्यम काल।
> पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल ॥४१॥

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें पाँच प्रकारके एकान्तवादियोंका कथन आता है।[1] उसका आशय इतना ही है कि जो इनमेंसे किसी एकसे कार्यकी उत्पत्ति मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्यकी उत्पत्तिमें इन पाँचोंके समवायको स्वीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि है। पण्डित-प्रवर बनारसीदासजीने उक्त पद द्वारा इसी तथ्यकी पुष्टि की है। अष्टसहस्री पृ० २५७ में भट्टाकलंकदेवने एक श्लोक दिया है। उसका भी यही आशय है। श्लोक इस प्रकार है—

> तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
> सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

जिस जीवकी जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकारका करने लगता है और उसे सहायक भी उसीके अनुसार मिल जाते हैं।

इस श्लोकमें भवितव्यताको मुख्यता दी गयी है। भवितव्यता क्या है? जीवकी समर्थ उपादान शक्तिका नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यताकी व्युत्पत्ति है—भवितुं योग्यं भवितव्यम्, तस्य भावः भवितव्यता। जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं उसीका दूसरा नाम भवितव्यता है। द्रव्यकी समर्थ उपादान शक्ति कार्यरूपसे परिणत होनेके योग्य होती है इसलिए समर्थ उपादान शक्ति, भवितव्यता और

---

१. देखो गाथा ८७९ से ८८३ तक।

योग्यता ये तीनों एक ही अर्थको सूचित करते हैं। कहीं-कहीं अनादि या नित्य उपादानको भी भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित किया गया है सो प्रकरणके अनुसार इसका उक्त अर्थ करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यतासे उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। भव्य और अभव्यके भेदमें भवितव्यता भी इसीका नाम है। उक्त श्लोकमें भवितव्यताको प्रमुखता दी गयी है और साथमें व्यवसाय-पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्रीका भी सूचन किया है सो इस कथन द्वारा उक्त पाँचों कारणोंका समवाय होने पर कार्यकी सिद्धि होती है यही सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादानकी विशेषता होनेसे भवितव्यतामें गर्भित है ही।

भवितव्यका समर्थन करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्ग-प्रकाशक (अधिकार ३, पृष्ठ ८१) में लिखते हैं—

""सो इनकी सिद्धि होइ तौ कषाय उपशमनेतैं दुःख दूरि होइ जाइ सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनके किए उपायनिके आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातैं अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातैं अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिए है। बहुरि काकतालीय न्यायकरि भवितव्य ऐसी ही होइ जैसा आपका प्रयोजन होइ तैसा ही उपाय होइ अर तातैं कार्यकी सिद्धि भी होइ जाइ तौ तिस कार्यसंबंधी कोई कषायका उपशम होइ।

यह पण्डितप्रवर टोडरमलजीका कथन है। मालूम पड़ता है कि उन्होंने 'तादृशी जायते बुद्धिः' इस श्लोकमें प्रतिपादत तथ्यको ध्यानमें रख कर ही यह कथन किया है। इसलिए इसे उक्त अर्थके समर्थनमें ही जानना चाहिए।

इस प्रकार कार्योत्पत्तिके पूरे कारणों पर दृष्टिपात करनेसे भी यही फलित होता है कि जहाँ पर कार्योत्पत्तिके अनुकूल द्रव्यका स्ववीर्य या स्वशक्ति और उपादान शक्ति होती है वहाँ अन्य सामग्री स्वयमेव मिल जाती है, उसे मिलाना नहीं पड़ता। यह मिलाना क्या है? यह एक विकल्प है तथा तदनुकूल वचन और कायकी क्रिया है, इसीको मिलाना कहते हैं। इसके सिवाय मिलाना और कुछ नहीं।

वास्तवमें देखा जाय तो यह कथन जैनदर्शनका हार्द प्रतीत होता है। जैनदर्शनमें कार्यकी उत्पत्तिके प्रति जो उपादान-निमित्त सामग्री

स्वीकार की गयी है उसमें द्रव्यकी स्वशक्तिके साथ उपादानका प्रमुख स्थान है। उसके अभावमें अन्य निमित्तोंकी कथा करना ही व्यर्थ है। स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें जब यह प्रतिपादन किया कि विविध प्रकारका कामादि कार्यरूप भावसंसार कर्मबन्धके अनुरूप होता है और वह कर्मबन्ध अपने कामादि बाह्य हेतुओंके निमित्तसे होता है तब उनके सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि ऐसा मानने पर तो जीवके संसारका कभी भी अन्त नहीं होगा, क्योंकि कर्मबन्ध होनेके कारण यह जीव भावसंसारकी सृष्टि करता रहेगा और भावसंसारकी सृष्टि होनेसे निरन्तर कर्मबन्ध होता रहेगा। फिर इस परम्पराका अन्त कैसे होगा? आचार्य महाराजने स्वयं उठे हुए अपने इस प्रश्नके महत्त्वको अनुभव किया और उसके उत्तरस्वरूप उन्हें कहना पड़ा—'जीवास्ते शुद्धय द्वितः।' अर्थात् वे जीव शुद्धि और अशुद्धि नामक दो शक्तियोंसे सम्बद्ध हैं। परन्तु इतना कहनेसे उक्त आपेक्षको ध्यानमें रखकर किये गये समाधान पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ता, इसलिए वे इन शक्तियोंके आश्रयसे स्पष्टीकरण करते हुए पुनः कहते हैं—

> शुद्धयशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
> साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्तिके समान शुद्धि और अशुद्धि नामवाली दो शक्तियाँ हैं तथा उनकी व्यक्ति सादि और अनादि है। उनका स्वभाव ही ऐसा है जो तर्कका विषय नहीं है ॥१००॥

यहाँ पर जो ये दो प्रकारकी शक्तियाँ कही गयी हैं उन द्वारा प्रकारान्तरसे उपादान शक्तिका ही प्रतिपादन कर दिया गया है। जीवोंमें ये दोनों प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं। उनमेंसे अशुद्धि नामक शक्तिकी व्यक्ति तो अनादि कालसे प्रति समय होती आ रही है जिसके आश्रयसे नाना प्रकारके पुद्गल कर्मोंका बन्ध होकर कामादिरूप भावसंसारकी सृष्टि होती है। जो अभव्य जीव हैं उनके इस शक्तिकी व्यक्ति अनादि-अनन्त है और जो भव्य जीव हैं उनके इस शक्तिकी व्यक्ति अनादि होकर भी सान्त है। किन्तु जब इस जीवके शुद्धि शक्तिकी व्यक्तिका स्वकाल आता है तब यह जीव अपने स्वभाव सन्मुख होकर पुरुषार्थ द्वारा उसकी व्यक्ति करता है; इसलिए शुद्धि शक्तिकी व्यक्ति सादि है। यहाँ पर जो अशुद्धि शक्तिकी व्यक्तिको अनादि कहा गया है सो वह कथन सन्तानपनेकी अपेक्षासे ही जानना चाहिए, पर्यायार्थिकनयकी

अपेक्षा तो उसकी व्यक्ति प्रति समय होती रहती है। जिससे प्रत्येक संसारी जीवके प्रति समयसम्बन्धी भावसंसाररूप पर्यायकी सृष्टि होती है।[1] यहाँ पर यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि ये दोनों शक्तियाँ जीवकी हैं तो इनमेंसे एककी व्यक्ति अनादि हो और दूसरेकी व्यक्ति सादि हो इसका क्या कारण है? समाधान यह है कि इनका स्वभाव ही ऐसा है जो तर्कका विषय नहीं है। इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए आचार्य महाराजने पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्तिको उदाहरणरूपमें उपस्थित किया है। आशय यह है कि जिस प्रकार वही उड़द अग्निसंयोगको निमित्त कर पकता है जो पाक्यशक्तिसे युक्त होता है। जिसमें अपाक्य-शक्ति पाई जाती है वह अग्निसंयोगको निमित्त कर त्रिकालमें नहीं पकता ऐसी वस्तुमर्यादा है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। इस दृष्टान्तको उपस्थित कर आचार्य महाराज यही दिखलाना चाहते है कि प्रत्येक द्रव्यमें आन्तरिक योग्यताका सद्भाव स्वीकार किये विना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। उसमें भी जिस योग्यताका जो स्वकाल (समर्थ उपादानक्षण) है उसके प्राप्त होने पर ही वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। इससे यदि कोई अपने पुरुषार्थकी हानि समझे सो भी बात नहीं है, क्योंकि जीवके किसी भी योग्यताको कार्यका आकार पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त होता है। जीवकी प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें पुरु-षार्थ अनिवार्य है। उसकी उत्पत्तिमें एक कारण हो और अन्य कारण न हों ऐसा नहीं है। जब कार्य उत्पन्न होता है तब अन्य निमित्त भी होता है, क्योंकि जहाँ निश्चय (उपादान कारण) है वहाँ व्यवहार (निमित्त कारण) होता ही है। इतना अवश्य है कि मिथ्यादृष्टि जीव निश्चयको लक्ष्यमें नहीं लेता और मात्र व्यवहार पर जोर देता रहता है, इसीलिए वह

---

१. यहाँ पर जीवोंके सम्यग्दर्शनादिरूप परिणाम शुद्धि शक्तिके अभिव्यंजक हैं और मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम अशुद्धिशक्तिके अभिव्यंजक हैं इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर यह व्याख्यान किया है। वैसे शुद्धिशक्तिका अर्थ भव्यत्व और अशुद्धि शक्तिका अर्थ अभव्यत्व करके भी व्याख्यान किया जा सकता है। भट्ट अकलङ्कदेवने अष्टशतीमें और आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें सर्वप्रथम इसी अर्थको ध्यानमें रखकर व्याख्यान किया है। इसी अर्थको ध्यानमें रखकर आचार्य अमृतचन्द्रने पञ्चास्तिकाय गाथा १२० की टीकामें यह वचन लिखा है—संसारिणो द्विप्रकाराः भव्या अभव्याश्च। ते शुद्धस्वरूपोपलम्भशक्तिसद्-भावासद्भावाभ्यां पाच्यापाच्यमुद्गवदभिधीयन्त इति।

व्यवहाराभासी होकर अनन्त संसारका पात्र बना रहता है। ऐसे व्यवहाराभासीके लिए पण्डितप्रवर दौलतरामजी छहढालामें क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये:—

कोटि जनम तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्तितें सहज टरें ते॥
मुनिव्रत धार अनन्त वार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं भविव्यता उपादानकी योग्यताका ही दूसरा नाम है। प्रत्येक द्रव्यमें कार्यक्षम भवितव्यता होती है इसका समर्थन करते हुए स्वामो समन्तभद्र अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें कहते हैं:—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी॥३३॥

आपने (जिनदेवने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्यको कर सकता हूँ' इस प्रकारके अहंकारसे पीड़ित है वह उस (भवितव्यता) के बिना अनेक प्रकारके अन्य कारणोंका योग मिलने पर भी कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता।

उपादानरूप योग्यतानुसार कार्य होता है इसका समर्थन भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक (अ० १, सूत्र २०) में इन शब्दोंमें करते हैं:—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दंड-चक्र-पौरुपेय-प्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, यतः सत्स्वपि दंडादिनिमित्तेपु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सकत्वान्न घटीभवति, अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसानिध्याद् घटो भवति न दण्डादयः इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्व भवति।

जैसे मिट्टीके स्वयं भीतरसे घटभवनरूप परिणामके अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुषकृत प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं, क्योंकि दण्डादि निमित्तोंके रहनेपर भी बालुकाबहुल मिट्टीका पिण्ड स्वयं भीतर से घटभवनरूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होनेके कारण घट नहीं होता, अतः बाह्यमें दण्डादि निमित्तसाक्षेप मिट्टीका पिण्ड ही भीतर घटभवनरूप परिणामका सानिध्य होनेसे घट होता है, दण्डादि घट नहीं होत, इसलिए दण्डादि निमित्तमात्र हैं।

इस प्रकार इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि उपादानगत योग्यताके कार्य-भवनरूप व्यापारके सन्मुख होनेपर ही वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। ऐसे परिणमनकी क्षमता प्रत्येक द्रव्यमें होती है। जीवके इस परिणमन करनेरूप व्यापारको पुरुषार्थ कहते हैं।

यदि तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखपर बारीकीसे ध्यान दिया जाता है तो उससे यह भी विदित हो जाता है कि घट निष्पत्तिके अनुकूल कुम्हारका जो व्यापार होता है वह भी निमित्तमात्र है, वास्तवमें कर्ता निमित्त नहीं। उनके 'निमित्तमात्र है' ऐसा कहनेका भी यही तात्पर्य है।

सब कार्य स्वकालमें ही होते हैं इसे भी भट्टाकलंकदेवने तत्त्वार्थर्तिक (अ० १, सूत्र० ३) में स्वीकार किया है। वह प्रकरण निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनका है। इसी प्रसंगको लेकर उन्होंने सर्वप्रथम यह शंका उपस्थित की है—

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः। ७। यदि अवधृत-मोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम्। न चादोऽस्ति। अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति।

इस वार्तिक और उसकी टीकामें कहा गया है कि यदि नियत मोक्ष-कालके पूर्व अधिगमसम्यक्त्वके बलसे मोक्ष होवे तो अधिगमसम्यक्त्व सफल होवे। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए स्वकालके आश्रयसे जो इस भव्य जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है वह निसर्गज सम्यक्त्वसे ही सिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त कथन द्वारा भट्टाकलंकदेवने भी इस तथ्यको स्वीकार किया है कि प्रत्येक भव्य जीवको उसकी मोक्ष प्राप्तिका स्वकाल आनेपर मुक्तिलाभ अवश्य होता है। इससे सिद्ध है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं वे अपने कालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं, आगे पीछे नहीं होते।

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि जब वहीं पर भट्टाकलंकदेव ने कालनियमका निषेध कर दिया है तब उनके पूर्व वचनको कालनियम के समर्थनमें क्यों उपस्थित किया जाता है। कालनियमका निषेधपरक उनका वह वचन इस प्रकार है—

कालानियमाच्च निर्जरायाः। ९। यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वक-मोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्याः संख्येन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति, ततश्च न युक्तं 'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति।

इस वार्तिक और उसकी टीकाका आशय यह है कि यतः भव्योंके समस्त कर्मोकी निर्जरापूर्वक मोक्षकालका नियम नहीं है, क्योंकि कितने ही भव्य संख्यात काल द्वारा मोक्षलाभ करेंगे। कितने ही असंख्यात काल द्वारा और कितने ही अनन्त काल द्वारा मोक्ष लाभ करेंगे। दूसरे जीव अनन्तानन्त काल द्वारा भी मोक्षलाभ नहीं करेंगे। इसलिए 'भव्य जीव काल द्वारा मोक्ष लाभ करेंगे' यह वचन ठीक नहीं है।

व्यवहाराभासी इसे पढ़कर उस परसे ऐसा अर्थ फलित करते हैं कि भट्टाकलंकदेवने प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेके कालनियमका पहले शंकारूपमें जो विधान किया था उसका इस कथन द्वारा सर्वथा निषेध कर दिया है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह सच है कि उन्होंने पिछले कथनका इस कथन द्वारा निषेध किया है। परन्तु उन्होंने यह निषेध नयविशेषका आश्रय लेकर ही किया है, सर्वथा नहीं। वह नय-विशेष यह है कि पूर्वोक्त कथन एक जीवके आश्रयसे किया गया है और यह कथन नाना जीवोंके आश्रयसे किया गया है। सब भव्य जीवोंकी अपेक्षा देखा जाय तो सबके मोक्ष जानेका एक कालनियम नहीं बनता, क्योंकि दूर भव्योंको छोड़कर प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेका काल-नियम अलग-अलग है, इसलिए सबका एक कालनियम कैसे बन सकता है ? परन्तु इसका यदि कोई यह अर्थ लगावे कि प्रत्येक भव्य जीवका भी मोक्ष जानेका कालनियम नहीं है तो उसका उक्त कथन द्वारा यह अर्थ फलित करना उक्त कथनके अभिप्रायको ही न समझना कहा जायगा। अत प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि भट्टाकलंकदेव भी प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेका काल नियम मानते हैं।

इसी बातका समर्थन करते हुए पंचास्तिकाय गाथा ११ की टीकामें भी कहा है :—

……यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति। सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुपस्थितस्वकाल-मुत्पादयति चेति।

और जब प्रत्येक द्रव्य द्रव्यकी गौणता और पर्यायकी मुख्यतासे विवक्षित होता है तब वह उपजता है और विनाशको प्राप्त होता है। जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (विद्यमान) पर्यायसमूहको नष्ट करता है और जिसका स्वकाल उपस्थित है ऐसे असत् (अविद्यमान) पर्यायसमूहको उत्पन्न करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार इस कथनसे भी यही विदित होता है कि प्रत्येक कार्य अपने अपने स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि स्वकालके प्राप्त होनेपर वह व्यवहारसे अपने आप हो जाता है। इस अपेक्षा होता तो है वह स्वभाव आदि पाँचके समवायसे ही। पर जिस कार्यका जो स्वकाल है उसके प्राप्त होनेपर ही इन पाँचका समवाय होता है और तभी वह कार्य होता है ऐसा यहाँ पर समझना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुडमें कालादिलब्धिके प्राप्त होनेपर आत्मा परमात्मा हो जाता है इसका समर्थन करते हुए स्वयं कहते हैं—

अइसोहणजोएणं सुद्ध हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥

इसका अर्थ करते हुए पण्डितप्रवर जयचन्द्रजी छावड़ा लिखते हैं—

जैसे सुवर्ण पाषाण है सो सोधनेंकी सामग्रीके सम्बन्ध करि शुद्ध सुवर्ण होय है तैसें काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीकी प्राप्ति ताकरि यह आत्मा कर्मके संयोगकरि अशुद्ध है सो ही परमात्मा होय है ॥२४॥

इसी तथ्यका समर्थन करते हुए स्वामी कार्तिकेय भी अपनी द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥

इसका अर्थ पण्डित जयचन्दजी छावड़ाने इन शब्दोंमें किया है—

सर्व ही पदार्थ काल आदि लब्धिकरि सहित भये नाना शक्तिसंयुक्त हैं तैसैं ही स्वयं परिणमैं हैं तिनकूं परिणमतैं कोई निवारनेकूं समर्थ नाहीं ॥२१९॥

इस विषयमें मान्य सिद्धान्त है कि ६ माह ८ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं और यह भी सुनिश्चित है कि अनन्तानन्त जीवराशिमेंसे युक्तानन्तप्रमाण जीवराशिको छोड़कर शेष जीवराशि भव्य है सो इस कथनसे भी उक्त तथ्य ही फलित होता है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जानेपर भी, कि प्रत्येक कार्य अपने अपने स्वकालमें अपनी अपनी योग्यतानुसार ही होता है, और जब जो कार्य होता है तब अन्य निमित्त भी तदनुकूल मिल जाते हैं, यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि प्रत्येक समयमें वह कार्य होता कैसे है? क्या वह निश्चयसे स्वयं होता हुआ भी अन्य कोई कारण है जिसको निमित्तकर वह कार्य होता है? विचार करनेपर विदित होता है

कि वह इस साधन सामग्रीके मिलनेपर भी अपनी अपनी परिणमनशक्तिके बल पर स्वकालमें ही होता है। यही कारण है कि जिन पाँच कारणोंका पूर्वमें उल्लेख कर आये हैं उनमें कालको भी परिगणित किया गया है। इसमें भी हम कार्योत्पत्तिका मुख्य साधन जो पुरुषार्थ है उस-पर तो दृष्टिपात करें नहीं और हमारा जब जो कार्य होना होगा, होगा ही यह मान कर प्रमादी बन जाँय यह उचित नहीं है। सर्वत्र विचार इस बातका करना चाहिए कि यहाँ ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन किस अभिप्रायसे किया गया है। वास्तवमें चारों अनुयोगोंका सार वीतरागता ही है, वैसे विपर्यास करनेके लिए सर्वत्र स्थान है।

उदाहरण स्वरूप प्रथमानुयोगको ही लीजिए। उसमें महापुरुषोंकी अतीत जीवन घटनाओंके समान भविष्यसम्बन्धी जीवन घटनाएँ भी अंकित की गई हैं। अब यदि कोई व्यक्ति उनकी भविष्यसम्बन्धी जीवन घटनाओंको पढ़े और कहे कि जैसे इन महापुरुषोंकी भविष्य जीवन घटनाएँ सुनिश्चित रहीं उसी प्रकार हमारा भविष्य भी सुनिश्चित है. अतएव अब हमें कुछ भी नहीं करना है। जब जो होना होगा, होगा ही, तो क्या इस आधारसे उसका ऐसा विकल्प करना उचित कहा जायगा? यदि कहो कि इस आधारसे उसका ऐसा विकल्प करना उचित नहीं है। किन्तु उसे उन भविष्य-सम्बन्धी जीवन घटनाओंको पढ़कर ऐसा निर्णय करना चाहिए कि जिस प्रकार ये महापुरुष अपनी अपनी हीन अवस्थासे पुरुषार्थ द्वारा उच्च अवस्थाको प्राप्त हुए हैं उसी प्रकार हमें भी अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनेमें उच्च अवस्था प्रकट करनी है। तो हम पूछते हैं कि फिर प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है इस सिद्धान्तको सुनकर उसका विपर्यास क्यों करते हो। वास्तवमें यह सिद्धान्त किसीको प्रमादी बनाने-वाला नहीं है। जो इसका विपर्यास करता है वह प्रमादी बनकर संसार-का पात्र होता है और जो इस सिद्धान्तमें छिपे हुए रहस्यको जान लेता है वह परको कर्तृत्व-बुद्धिका त्याग कर पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव सन्मुख हो मोक्षका पात्र होता है। प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है ऐसी यथार्थ श्रद्धा होनेपर 'परका मैं कुछ भी कर सकता हूँ' ऐसी कर्तृत्वबुद्धि तो छूट हो जाती है। साथ ही 'मैं अपनी आगे होनेवाली पर्यायोंमें कुछ भी फेर-फार कर सकता हूँ' इस अहंकारका भी लोप हो जाता है। उक्त कर्तृत्वबुद्धि छूटकर ज्ञाता-द्रष्टा बननेके लिए और अपने जीवनमें वीतरा-गताको प्रगट करनेके लिए इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेका बहुत बड़ा महत्त्व है। जो महानुभाव समझते हैं कि इस सिद्धान्तके स्वीकार करनेसे

अपने पुरुपार्थकी हानि होती है, वास्तवमें उन्होंने इसे भीतरसे स्वीकार ही नहीं किया ऐसा कहना होगा। यह उस दीपकके समान है जो मार्गका दर्शन करानेमें निमित्त तो है पर मार्ग पर स्वयं चला जाता है। इसलिए इसे स्वीकार करनेसे पुरुपार्थकी हानि होती है ऐसी खोटी श्रद्धाको छोड़कर इसके स्वीकार द्वारा मात्र ज्ञाता-दृष्टा बने रहनेके लिए सम्यक् पुरुपार्थको जागृत करना चाहिए। तीर्थंकरों और ज्ञानी सन्तोंका यही उपदेश है जो हितकारी जानकर स्वीकार करने योग्य है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं—

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुपार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लई छेदो नहीं आत्मार्थ॥

जो भवस्थिति (काललब्धि) का नाम लेकर सम्यक् पुरुपार्थसे विरत हैं उन्हें ध्यानमें रखकर यह दोहा कहा गया है। इसमें बतलाया है कि यदि तूँ पुरुपार्थकी इच्छा करता है तो सम्यक् पुरुपार्थ कर। केवल काललब्धिका नाम लेकर आत्माका घात मत कर।

प्रत्येक कार्यकी काललब्धि होती है इसमें सन्देह नहीं। पर वह किसी जीवको सम्यक् पुरुपार्थ करनेसे रोकती हो ऐसा नहीं है। स्वकाललब्धि और योग्यता ये दोनों उपादानगत विशेषताके ही दूसरे नाम हैं। व्यवहारसे अवश्य ही उस द्वारा विवक्षित कार्यके निमित्तभूत नियत कालका ग्रहण होता है। इसलिए जिस समय जिस कार्यका सम्यक् पुरुपार्थ हुआ वही उसकी काललब्धि है, इसके सिवाय अन्य कोई काललब्धि हो ऐसा नहीं है। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी मोक्षमार्गप्रकाशक (पृ० ४६२) में कहते हैं—

इहाँ प्रश्न—जो मोक्षका उपाय काललब्धि आएं भवितव्यतानुसारि बने है कि मोहादिकका उपशमादि भएं बनै है अथवा अपने पुरुपार्थतें उद्यम किए बनै सो कहो। जो पहिले दोय कारण मिले बनै है तौ हमकौं उपदेश काहेकौं दीजिए है। अर पुरुपार्थतें बनै है तो उपदेश सर्व सुनि तिन विषै कोई उपाय कर सकै, कोई न कर सकै सो कारण कहा? ताका समाधान - एक कार्य होने विषै अनेक कारण मिलै हैं सो मोक्षका उपाय बनै है। तहां तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलै हो है। अर न बनै है तहां तीनों ही कारण न मिलै हैं। पूर्वोक्त तीन कारण कहे तिन विषै काललब्धि वा होनहार तौ किछू वस्तु नाहीं। जिस काल विषै कार्य बनै सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। बहुरि कर्मका उपशमादि है सो पुद्गलकी शक्ति है। ताका आत्मा कर्ता हर्ता नाहीं।

वहुरि पुरुपार्थ तैं उद्यम करिए है सो यहु आत्माका कार्य हैं। तातैं आत्माकौं पुरुषार्थ करि उद्यम करनेका उपदेश दीजिए है। तहां यहु आत्मा जिस कारण तैं कार्यसिद्धि अवश्य होय तिस कारणरूप उद्यम करै तहाँ तौ अन्य कारण मिलैं ही मिलैं अर कार्यकी भी सिद्धि होय ही होय।

वे आगे (पृ० ४६५) में पुनः कहते हैं—

अर तत्त्व निर्णय करने विपै कोई कर्मका दोप है नाहीं। अर तूं आप तो महंत रह्यौ चाहै अर अपना दोप कर्मादिककैं लगावै सो जिन आज्ञा मानैं तौ ऐसी अनीति संभवै नाहीं। तोकौं विपय-कपायरूप ही रहना है तातैं झूठ वोलै है। मोक्षकी सांची अभिलाषा होय तौ ऐसी युक्ति काहे कौं वनावै। संसारके कार्यनि विषै अपना पुरुषार्थतैं सिद्धि न होती जानै तौ भी पुरुपार्थकरि उद्यम किया करै। यहां पुरुपार्थ खोई वैठे। सो जानिए है, मोक्षकौ देखादेखी उत्कृष्ट कहै है। याका स्वरूप पहिचानि ताकों हितरूप न जानै है। हित जानि जाका उद्यम वनै सो न करै वह असंभव है।

प्रकृतमें यह वात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शास्त्रोंमें जहाँ जहाँ कालादिलब्धिका उल्लेख किया है वहाँ उसका आशय मुख्यतया आत्माभिमुख होनेके लिए ही है, अन्य कुछ आशय नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन पञ्चास्तिकाय गाथा १५०-१५१ की टीकामें कहते हैं—

यदायं जीवः आगमभापया कालादिलब्धिरूपमध्यात्मभापया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते।

जब यह जीव आगमभाषाके अनुसार कालादिलब्धिरूप और अध्यात्मभाषाके अनुसार शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदनज्ञानको प्राप्त होता है।

१२. उपसंहार

इस प्रकार यहाँ तक जो हमने उपादानकारणके स्वरूपादिकी मीमांसाके साथ प्रसंगसे उपादानकी योग्यता और स्वकालका तथा उसका अविनाभावी व्यवहारकालका विचार किया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कर्म निमित्त कहे जाते हैं वे भी उदासीन निमित्तोंके समान कार्योत्पत्तिके समय मात्र निमित्तमात्र होते हैं, इसलिए जो व्यवहाराभासी लोग इस मान्यतापर बल देते हैं कि जहाँ जैसे बाह्य निमित्त मिलते हैं वहाँ उनके अनुसार ही कार्य होता है, उनकी वह मान्यता समीचीन नहीं है। किन्तु इसके स्थानमें यही यह मान्यता समीचीन और

तथ्यको लिए हुए हैं कि प्रत्येक कार्य चाहे वह शुद्ध द्रव्य सम्बन्धी हो और चाहे अशुद्ध द्रव्यसम्बन्धी हो, अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार ही होता है। उसके अनुसार होता है इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ परद्रव्य निमित्त नहीं होता। परद्रव्य निमित्त तो वहाँपर भी होता है। पर उसके रहते हुए भी कार्य निश्चय उपादानके अनुसार ही होता है यह एकान्त सत्य है। इसमें सन्देहके लिए स्थान नहीं है। यही कारण है कि मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको अनादि रूढ़ लोकव्यवहारसे मुक्त होकर अपने द्रव्यस्वभावको लक्ष्यमें लेना चाहिए आगममें ऐसा उपदेश दिया गया है।

यहाँ यह शंका की जाती है कि यदि कार्योंकी उत्पत्ति अन्य निमित्तोंके अनुसार नहीं होती है तो उन्हें निमित्त ही क्यों कहा जाता है ? समाधान यह है कि ये कार्योंको अपने अनुसार उत्पन्न करते हैं, इसलिए उन्हें विस्रसा या प्रयोग कारण नहीं कहा गया है। किन्तु अज्ञानीके विकल्प और क्रियाकी प्रकृष्टता अन्य द्रव्योंके क्रियाव्यापारके समय उनको सूचन करनेमें निमित्त होती है इस बातको ध्यानमें रखकर ही उन्हें प्रयोग निमित्त कहा गया है। विस्रसा निमित्तोंके विषयमें विवाद ही नहीं है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य यथा सम्भव उक्त पाँच हेतुओंके समवायमें होता है। उनमें ही निश्चय उपादान और व्यवहार निमित्तोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये आगममें सर्वत्र उक्त दो हेतुओंका निर्देश कहीं पर दोनोंकी मुख्यतासे और कहीं पर गौण—मुख्यरूपमें दृष्टिगोचर होता है। यह इस अध्यायके कथनका सार है।

●

कर्तृ-कर्ममीमांसा

कर्ता परिणामी द्रव्य कर्मरूप परिणाम ।
परिणति स्वयं क्रिया भली वस्तु एक त्रय नाम ॥

१. उपोद्घात

वस्तुस्वरूपके विचारके बाद बाह्य कारण और निश्चय उपादानका स्वतन्त्र रूपसे तथा दोनोंका एक साथ विचार किया। अब कर्तृ-कर्मकी मीमांसा करनी है। उसमें यह तो स्पष्ट है कि जो भी कार्य होता है वह स्वयं कर्म संज्ञाको प्राप्त होता है इसमें किसीको विवाद नहीं है। यदि विवाद है तो वह कर्ताके सम्बन्धमें ही है। अतएव मुख्यरूपसे इसी पर विचार करना है। 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस नियमके अनुसार जो स्वतन्त्ररूपसे कार्य करे वह कर्ता, कर्ताका सामान्यरूपसे यह अर्थ स्पष्ट होने पर भी वस्तु स्वयं अपना कार्य करती है या अन्य वस्तु स्वतन्त्र रूपसे उस दूसरी वस्तुका कार्य कर देती है इसके सम्बन्धमें मुख्यतया विवाद बना हुआ है। अतएव इस विषयपर प्रकृतमें गहराईसे विचार कर निर्णय लेना है। इसकी मीमांसाको आगे बढ़ानेके लिए सर्वप्रथम हम कार्यको एकान्तसे पराधीन माननेवाले नैयायिक दर्शनको लेते हैं।

२. नैयायिक दर्शन

नैयायिक दर्शन आरम्भवादी या असत्कार्यवादी दर्शन है। प्रत्येक वस्तु कार्यका स्वयं उपादान है इस प्रकारकी योग्यताको वह स्वीकार ही नहीं करता। साथ ही वह दर्शन समवाय सम्बन्धसे घटादि प्रत्येक कार्य को मिट्टी आदिस्वरूप होनेपर भी समवाय सम्बन्धवश मिट्टी आदिका कहता है। मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमी है ऐसा वह नहीं मानता, इसलिए मिट्टी आदिसे समवेत होकर जो भी कार्य होता है वह अन्यके द्वारा ही किया जाता है। वह सत्ताके समवायसे जड़ और चेतन दोनोंका अस्तित्व स्वीकार कर उनके जो विविध प्रकारके कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वे स्वयं अपने परिणामस्वभावके कारण न होकर अन्यके द्वारा ही किये जाते हैं ऐसा मानता है। वह अन्य पदार्थ भी जड़ नहीं होना चाहिए। चेतन ही होना चाहिए, क्योंकि वह अज्ञानी तो हो नहीं सकता। कारण कि

जब तक उसे कारण साकल्यका ज्ञान न होगा तब तक वह घटादि कार्योंके समवायी, असमवायी और निमित्तकारणोंका संयोजन कैसे करेगा। उसे प्रत्येक प्राणीके अदृष्टका भी विचार करना होगा। वह चिकीर्षा (करनेकी इच्छा) से रहित भी नहीं हो सकता, क्योंकि कारक-साकल्यका ज्ञान होने पर भी जब तक उसे घटादि कार्य करनेकी इच्छा नहीं होगी तब तक चिकीर्षाके बिना वह मिट्टी आदिसे घटादि कार्योंको कैसे उत्पन्न करेगा। वह कार्य करनेके प्रयत्नसे रहित भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसे कारक साकल्यका ज्ञान और घटादि कार्य करनेकी इच्छा होने पर भी जब तक वह घटादि कार्योंके बनानेके उपक्रममें नहीं लगेगा तब तक मिट्टी आदिसे समवेत घटादि कार्योंकी उत्पत्ति कैसे कर सकेगा। इसलिए जो कारकसाकल्यके ज्ञानसे सम्पन्न है, जिसे मिट्टी आदिसे समवेत घट आदि कार्य करनेकी इच्छा है और जो उक्त प्रकारसे कार्य करनेके प्रयत्नमें तत्पर है ऐसा ही चेतन व्यक्ति किसी भी कार्यका कर्ता हो सकता है। जो प्रत्येक कार्यका समवायी कारण है वह स्वरूपसे अपरिणामी है। जो भी कार्य होता है वह समवायी कारणका स्वरूप न होकर समवाय सम्बन्धसे उसका कहा जाता है। इसलिए इस दर्शनकी मान्यता है कि जो कारक साकल्यका ज्ञान रखता है, जो कार्य करनेकी इच्छासे युक्त है और जो कार्य करनेके प्रयत्नमें लगा हुआ है ऐसा अन्य सचेतन व्यक्ति ही उस कार्यका कर्ता हो सकता है।

यद्यपि सचेतन अन्य सविकल्प मनुष्यादिमें भी ये तीनों विशेषताएँ देखी जाती हैं, परन्तु उन्हें कारक साकल्यका पूरा ज्ञान न होनेसे वे कर्ता नहीं हो सकते। विशेषरूपसे देखा जाय तो उन्हें न तो प्रत्येक प्राणीके अदृष्टका ही ज्ञान होता है और न पृथिवी आदिके परमाणु आदिका ही ज्ञान होता है। ऐसी अवस्थामें वे सब कार्योंको कैसे कर सकेंगे अर्थात् नहीं कर सकेंगे। अतः इस दर्शनमें ज्ञानादि उक्त विशेषताओंके साथ कर्तारूपसे अलगसे एक अनादि ईश्वरको स्वीकार किया गया है।

एक बात और है जो यहाँ विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। यद्यपि इस तथ्यका निर्देश हम इसके पहले ही कर आये हैं, परन्तु प्रयोजनवश यहाँ हम उसका पुनः उल्लेख कर रहे हैं। वह यह कि यह दर्शन किसी भी वस्तुको स्वरूपसे परिणामी नहीं मानता, अतः उसके स्वयं कार्यरूप परिणत न होनेके कारण ईश्वर अपने प्रयत्न या प्रेरणा द्वारा प्रत्येक वस्तुसे समवेत कार्योंको उत्पन्न करता रहता है। यतः वे सब कार्य ईश्वरके प्रयत्नपूर्वक होते हैं, अतः वह सब कार्योंका स्वतन्त्ररूपसे कर्ता

होता है। अन्य जितने दिशा, काल और आकाश आदि अचेतन पदार्थ और यथासम्भव सविकल्प मनुष्यादि सचेतन पदार्थ निमित्त होते हैं वे स्वतन्त्ररूपसे कर्ता नहीं होते। घटादि कार्योंको भी कुम्भकार आदि ईश्वरसे प्रेरित होकर ही करते हैं, इसलिए इन कार्योंके करनेमें वे भी स्वतन्त्र नहीं हैं। इस दर्शनमें ऐसे किसी भी कार्यको नहीं स्वीकार किया गया है जिसमें ईश्वरको कर्तारूपसे न स्वीकार किया गया हो। यही कारण है कि इस दर्शनमें निमित्त कारणोंके कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होते। और ऐसा होने पर भी इस दर्शनके अनुसार 'स्वतन्त्रः कर्ता' कर्ताके इस लक्षणमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि प्रत्येक कार्यके करनेमें ईश्वर स्वतन्त्र है। प्रत्येक कार्य कव उत्पन्न हो और कव न उत्पन्न हो यह सव ईश्वरकी इच्छा पर निर्भर है। इसलिए इस दर्शनमें लौकिक दृष्टिसे प्रेरक निमित्त कहो या निमित्त कर्ता कहो या उत्पादक कहो एक ईश्वर ही स्वीकार किया गया है क्योंकि वही प्राणियोंके अदृष्ट आदिका विचार कर स्वतन्त्ररूपसे प्रत्येक कार्यकी सृष्टि करता है। इस आशयका उनके आगममें यह वचन भी प्रसिद्ध है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

यह जन्तु अज्ञ है और अपने सुख, दुःखका अनीश है, इसलिये ईश्वर से प्रेरित होकर स्वर्ग जाता है या नरक जाता है। अर्थात् कौन कहाँ जाय यह उसकी इच्छा पर निर्भर है।

यही कारण है कि नैयायिक दर्शनमें कर्त्ताका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नाधारता हि कर्तृत्वम्।

जो ज्ञान, चिकीर्षा (करनेकी इच्छा) और प्रयत्नका आधार है वह कर्ता है। इस दर्शनमें ईश्वरकी उपासनाका तात्पर्य भी यही है।

जव ईश्वर सव कार्योंका निमित्त कर्ता है तव वह स्वयं सव प्राणियों की सृष्टि, दुख-दुःख और भोग एक प्रकारके क्यों नहीं करता। इसका समाधान वह दर्शन इस प्रकार करता है कि ईश्वर प्राणियोंकी सृष्टि, सुख-दुःख और भोग सव प्राणियोंके अदृष्टके अनुसार ही करता है। इसका फलितार्थ है कि लोकमें द्वयणुकसे लेकर ऐसा एक भी कार्य नहीं होता जिन्हें प्राणियोंके अदृष्टको ध्यानमें रखकर ईश्वर न वनाता हो। किन्तु अदृष्ट अचेतन है। उसे कारक साकल्यका ज्ञान नहीं; इसलिये

ईश्वर ही उनका कर्ता होता है, क्योंकि अचेतन होनेसे वह चेतनाधिष्ठित होकर ही कार्योंमें निमित्त होता है। और प्राणियोंके आत्माको अदृष्टका अधिष्ठाता मानना उचित नहीं है, क्योंकि प्राणियों को अदृष्ट और कारकसाकल्यका पूरा ज्ञान नहीं होता, इसलिये इस दर्शनके अनुसार निखिल जगत्का कर्ता एक ईश्वर ही हो सकता है, क्योंकि सब प्रकारसे कर्ताका लक्षण उसीमें घटित होता है।

यह नैयायिक दर्शनका हार्द है। मीमांसक आत्माके अस्तित्वको मानकर भी उसे सर्वथा अशुद्ध मानते हैं। सांख्य सर्वथा शुद्ध मानते हैं। बौद्ध मोक्षको मानकर भी अनात्मवादी दर्शन है। चार्वाक नास्तिक होते हैं। इनके सिवाय और जितने ईश्वरवादी दर्शन है उन सबका नेता नैयायिक दर्शन है। वे सब नैयायिक दर्शनका ही अनुसरण करते हैं।

३. संक्षेपमें नैयायिक दर्शन की मीमांसा

किन्तु जगत्का कर्ता ईश्वर केवल कल्पना लोककी बात है। किसी भी प्रमाणसे उसकी सिद्धि नहीं होती। नैयायिक दर्शन उक्त प्रकारके ईश्वरको व्यापक और सर्वथा नित्य मानता है। इसलिये एक तो उसमें अर्थक्रिया घटित नहीं होती और अर्थक्रियाके अभावमें किसी भी वस्तु की सत्ता मानना आकाश फूलके माननेके समान है। दूसरे इसमें ज्ञान, क्रिया और प्रयत्नका समवाय सम्बन्धसे अस्तित्व मानने पर वह स्वरूपसे जड़ ठहरता है। तीसरे कार्यत्व हेतुसे उसका समर्थन करने पर वह व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि कर्तृत्व हेतु विपक्षरूप सशरीरी और अल्पज्ञ कुम्भकार में भी घटित हो जाता है। इसलिये परमार्थसे ईश्वर नामकी सदात्मक कोई वस्तु है यह सिद्ध नहीं होता।

४. जैन दर्शनका हार्द

इस स्थितिके प्रकाशमें अब जैनदर्शन पर विचार कीजिये। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि इस दर्शनके अनुसार लोकमें जड़-चेतन जितने भी स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्य हैं वे सब स्वरूपसे परिणामी नित्य हैं। प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्यकी एक पर्यायका व्यय होना और नवीन पर्यायका उत्पन्न होना यह उसका परिणाम स्वभाव है। तथा अपनी सब पर्यायोंमेंसे जाते हुए अन्वयरूपसे उसका सर्वदा स्थित रहना यह उसका नित्य स्वभाव है। इस प्रकार त्रिलक्षण सम्पन्न प्रत्येक द्रव्य स्वरूपसे सत् है। जैनदर्शनके अनुसार कोई भी द्रव्य न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु सामान्यकी अपेक्षा नित्य हैं और

पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है। इसलिये वह नित्यानित्य स्वभावको लिये हुए हैं। पंचास्तिकायमें इस तथ्यका निर्देश करते हुए लिखा है—

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जायाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु अत्तादो ॥९॥

जो उन-उन सद्भावस्वरूप पर्यायोंको व्यापता है सर्वज्ञदेव उसे द्रव्य कहते हैं। वह और सत्ता नामान्तर है, इसलिये वह सत्तासे लक्ष्य-लक्षण-की अपेक्षा भेद होने पर भी वस्तुरूपसे एक है ॥९॥

पर्यायोंके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं—

देव-मनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थितातिवाहितसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति। पञ्चास्तिकाय गाथा १८।

देव, मनुष्यादि पर्यायें तो क्रमवर्ती होनेसे जिनका समय उपस्थित हुआ है वे उत्पन्न होती हैं और जिनका समय बीत गया है वे व्ययको प्राप्त होती हैं।

यहाँ देव-मनुष्यादि पर्यायोंको क्रमवर्ती कहा है। इससे सिद्ध है कि द्रव्यस्वभावमें पर्यायोंके होनेका जो क्रम सुनिश्चित है उसी क्रमसे अपने-अपने कालमें वे होती हैं और व्ययको प्राप्त होती हैं। आचार्य अमृत चन्द्रने प्रवचनसारमें लटकती हुई मणियोंकी माला द्वारा इसी तथ्यको स्पष्ट किया है।

यह द्रव्य और उनकी पर्यायोंका स्वरूप है। इसमें स्वरूपसे उत्पाद और व्ययरूप प्रत्येक पर्याय निश्चित क्रममें नियत होनेसे स्वकालमें ही उसका उत्पाद और स्वकालमें ही उसका व्यय होता है ऐसा उनका स्वभाव है।

नियम यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा स्वभावसे षट्स्थानपतित हानि और षट्स्थानपतित वृद्धिरूपसे प्रवर्तमान अनन्त अगुरुलघुगुण (अविभाग प्रतिच्छेद) होते हैं। जिनके कारण छहों द्रव्यों की पर्यायोंका स्वभावसे उत्पाद और व्यय होता रहता है। जो शुद्ध द्रव्य हैं उनकी पर्यायोंका भी यह उत्पाद-व्यय होता है और जो द्रव्योंकी अशुद्ध पर्यायें हैं उनका भी यह उत्पाद-व्यय होता है। इतना अवश्य है कि विभाव पर्यायोंकी अपेक्षा अशुद्ध व्यवहारके योग्य द्रव्योंके प्रति समय उत्पाद-व्ययको सूचित करनेवाले अन्य-अन्य व्यवहार हेतु होते हैं।

उदाहरणार्थ विवक्षित समयमें जीवका जो क्रोध परिणाम उत्पन्न हुआ है उसमें क्रोध संज्ञावाले जो कर्म निषेक वाह्य निमित्त होते हैं वे कर्म निषेक निर्जीण होकर दूसरे समयमें होनेवाले क्रोध परिणामके व्यवहार हेतु होनेवाले क्रोध संज्ञा वाले कर्म निषेक दूसरे होते हैं। यह व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक परम्परा जिस प्रकार संसारी जीवोंके प्रत्येक समयके जीवन प्रवाहमें चरितार्थ है उसी प्रकार पुद्गल स्कन्धोंमें भी घटित कर लेनी चाहिये, क्योंकि पुद्गल स्कन्धोंमें भी प्रति समय नये पुद्गल स्कन्धोंका संयोजन और पुराने पुद्गल स्कन्धोंका वियोजन होता रहता है। जो परस्पर द्रव्य और अर्थरूप पर्यायोंके होनेमें व्यवहार हेतु होते रहते हैं, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तो हैं ही।

तात्पर्य यह है कि उस स्कन्धमें अवस्थित एक समय पूर्वकी स्पर्श पर्यायके व्यय होनेके साथ ही पुराने परमाणुओंकी निर्जराको व्यवहार निमित्त कर उस स्कन्धमें अपने निश्चय उपादानके अनुसार अन्य स्पर्श पर्यायका उदय होता है और उस स्पर्श पर्यायको व्यवहार हेतु कर नये कार्मण परमाणुओंका वन्ध होता है। यहाँ जो मिथ्यात्व आदिको वन्धका निश्चय हेतु कहा गया है वह आत्माकी अपेक्षा ही कहा गया है, कर्म वन्धकी अपेक्षा तो वे मिथ्यात्वादि व्यवहार हेतु ही होते हैं, क्योंकि उन मिथ्यात्वादिमें पुद्गलादि द्रव्योंके गुणोंका अत्यन्ताभाव है। एक द्रव्यका समान जातीय और असमान जातीय स्वरूपास्तित्व दूसरे द्रव्यमें न होने से भी अत्यन्ताभाव है। स्वरूपास्तित्व किसी भी द्रव्यका उसका उसीमें होता है। देखो, निगोद शरीरमें एक साथ अनन्त जीव निवास करते हैं। पर वे अपने-अपने स्वरूपास्तित्वके कारण फिर भी पृथक्-पृथक् होकर ही निवास करते हैं और अपने-अपने संक्लेशरूप या विशुद्धिरूप परिणामों के कारण अलग-अलग कर्मवन्ध करते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा है और पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा नहीं है यह इसी आधार पर घटित होता है।

इस प्रकार जीव और कार्मण वर्गणाओं सहित सभी द्रव्योंमें परमार्थ से परस्पर कर्तृत्व कर्मत्व आदिका निषेध हो जाने पर चाहे विभाव पर्यायों (आगन्तुक भावों) से युक्त जीव-पुद्गल द्रव्य हों और चाहे स्वभाव पर्यायोंसे युक्त छहों द्रव्य हों, परमार्थसे कोई किसीका किसीरूप में भी सहायक नहीं है। अपने-अपने अर्थक्रियाकारीपनेसे युक्त होकर अवस्थित रहना प्रत्येक वस्तुका वस्तुत्व है। प्रत्येक द्रव्यको वस्तु कहने का कारण भी यही है। अन्य वस्तुके वलसे वह अपने स्वरूपमें अवस्थित

रहे यह तो उसका स्वभाव नहीं ही हो सकता। अतः प्रति समय प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणाम स्वभावके कारण ही कार्यरूप परिणमता रहता है। उनमें स्वभावसे ही ऐसी द्रव्य योग्यता कहो या शक्ति कहो होती है जिससे वे प्रत्येक समयमें सुनिश्चित प्रागभावकी भूमिकामें आनेपर उसके योग्य कार्यको तदनन्तर समयमें नियमसे जन्म देते हैं। यही इनका अनित्य स्वभाव है। अपने इस स्वभावके कारण ही उनका अर्थक्रियाकारीपना घटित होता है। उनके इस अर्थक्रियाकारीपने-का वारण ही कौन कर सकता है। इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तीकी बात तो छोड़ो। जो तीर्थंकर जन्मसे ही अतुल्य वलके धारक होते हैं वे भी प्रत्येक द्रव्यके इस प्रतिनियत स्वभावमें परिवर्तन नहीं कर सकते। हम विचारे अज्ञान और रागादि दोषोंसे दूषित अल्पज्ञानी या अज्ञानी जीवों और तदितर जड़ पदार्थोंकी क्या सामर्थ्य जो प्रत्येक द्रव्यके इस नियत अर्थक्रियाकारी अनित्य स्वभावके कारण प्रत्येक समयमें होने-वाली पर्यायको वदल सकें या उसे आगे पीछे कर सकें। जैसा कोई विकल्पसे सोचता है या नेत्रादि इन्द्रियोंसे देखकर मानता है, कोई भी वस्तु उसकी उस मान्यताके अनुसार परिणमती हो ऐसी तो वस्तु व्यवस्था नहीं है। अपने विकल्पके अनुसार निर्णय लेना अपने स्थान पर है और प्रत्येक द्रव्यकी प्रत्येक समयमें नियत पर्यायका होना अपने स्थान पर है। देखो, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके किसी भी कार्यको करनेमें समर्थ नहीं है इस विषयमें आचार्य कुन्दकुन्ददेव क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥८५॥ —समयसार

यदि आत्मा इस पुद्गल कर्मको करता है और उसीको भोगता है तो वह आत्मा दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरता है जो जिनदेवके सम्यक् मतके विरुद्ध है ॥८५॥

वह जिनेन्द्रदेवके सम्यक् मतके विरुद्ध कैसे है इसका समाधान करते हुए उसी परमागममें वतलाया है—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो होंति ॥८६॥

यतः प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें दो क्रियाएँ करता है ऐसा मानने वालोंके मतमें आत्मा आत्मभाव और पुद्गलभाव दोनोंको करनेवाला ठहरता है। इसी कारण वे द्विक्रियावादी होनेसे मिथ्यादृष्टि हैं ॥८६॥

५. शंका-समाधान

शंका—यह ठीक है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रिया नहीं कर सकता। परन्तु प्रत्येक पर्यायमें जो अतिशय उत्पन्न होता है· जो कि स्वभाव पर्यायोंमें नहीं देखा जाता उसे वाह्य निमित्तजन्य माननेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये। विभाव पर्यायोंके प्रत्येक समयमें बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक जो वाह्य निमित्तोंका संयोजन किया जाता है या होता है और उससे विभाव पर्यायोंमें जो विशेषता उत्पन्न होती है वह स्वभाव पर्यायोंमें भी दृष्टिगोचर होनी चाहिये थी। किन्तु एक विभाव पर्यायसे दूसरी विभाव पर्यायमें जो विशेषता प्रतीतिमें आती है उसे तो वाह्य निमित्तोंका कार्य मानना ही पड़ता है, जब कि ऐसी विलक्षण विशेषता स्वभाव पर्यायोंमें नहीं होती। इसलिये प्रत्येक द्रव्य दो क्रियाओं का एक समयमें कर्ता न होने पर भी जीव और पुद्गल द्रव्योंकी प्रत्येक विभाव पर्यायमें विशेषताको उत्पन्न करनेवाले वाह्य निमित्तोंको मानना ही पड़ता है। इन वाह्य निमित्तोंकी स्वीकृतिकी सार्थकता भी इसीमें है?

समाधान—यहाँ देखना यह है कि प्रत्येक विभाव पर्यायमें अपनी दूसरी विभाव पर्यायसे भिन्न जो अतिशय या भेद दृष्टिगोचर होता है वह उस पर्यायका स्वरूप है या उससे भिन्न है? भिन्न तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि भिन्न मानने पर वह स्वतन्त्र पर्याय हो जायगी जिसका विवक्षित पर्यायकी उत्पत्तिके समय उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यदि वह विवक्षित पर्यायका ही स्वरूप है तो वाह्य निमित्तने नया क्या किया। विवक्षित स्वरूपवाली पर्यायको तो विवक्षित द्रव्यने स्वयं ही उत्पन्न किया है। दूसरे वाह्य निमित्त भिन्न सत्ताक द्रव्य हैं और यह सम्भव नहीं कि अत्यन्त भिन्न स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्योंका अतिशय किसी दूसरे द्रव्यमें रहे या वह उसका कर्ता बने। वे तो मात्र सादृश्य सामान्यको देखकर अविनाभाववश काल प्रत्यासत्ति होनेसे निमित्त कहे गये हैं, जो मात्र द्रव्य निक्षेपको विषय करनेवाले द्रव्यार्थिक नयसे ही कहा गया है। उनमें अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्योंका अन्वय तो पाया ही नहीं जाता और उसके विना उसमें दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूप विशेषताको उत्पन्न करना सम्भव ही नहीं है। वह विशेषता पर्यायसे भिन्न नहीं इसका निर्णय क्रोध और मान इन दो पर्यायोंको सामने रखकर किया जा सकता है?

शंका—क्रोधपना और मानपना स्वभाव पर्यायोंमें नहीं होता।

इससे हम जानते हैं कि क्रोध और मान बाह्य निमित्तों की सहायता से ही होते हैं ?

समाधान—यतः प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप स्वभावके साथ परिणाम स्वभाववाला भी है, और यतः 'व्यतिरेकिणो पर्यायाः' 'प्रत्येक पर्याय पिछली पर्यायसे भिन्न लक्षणवाली होती है' इस अखण्ड शाश्वत नियमके अनुसार स्वभाव और विभावरूप सभी पर्यायें परस्पर व्यतिरेक स्वरूप ही होती हैं। इसीसे क्रोध पर्यायसे मानपर्याय भिन्नरूपसे प्रतीतिमें आती है। अन्य निरपेक्ष होकर उनका कर्ता स्वयं आत्मा ही है, इसमें सन्देह नहीं। प्रवचनसारमें कहा भी है—

> जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
> सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

यतः परिणामके अस्तित्वरूप स्वभाववाला होनेसे यह जीव जिस समय शुभरूपसे परिमता है उस समय शुभ होता है, जिस समय अशुभ-रूपसे परिणमता है उस समय अशुभ होता है और जिस समय शुद्धरूप से परिणमता है उस समय शुद्ध होता है ॥९॥

यहाँ 'यदा, तदा' पद देकर आचार्य कुन्दकुन्ददेवने परिणामरूप नियमको कालनियमके साथ बाँध दिया है। वे कहते हैं कि वह काल सुनिश्चित है जिस समय यह आत्मा अशुभ भावरूपसे परिणमता है. वह काल भी सुनिश्चित है जिस समय यह आत्मा शुभ भावरूपसे परिणमता है और वह काल भी सुनिश्चित है जिस समय यह आत्मा शुद्ध भावरूप से परिणमता है। इस परिणमनमें प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। इस परि-णमनमें बाह्य निमित्त विचारा क्या कर सकता है। जिनागममें इस दृष्टि से उसे स्वीकार भी नहीं किया गया है।

शंका—तो फिर बाह्य निमित्तको स्वीकार करनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—व्यवहार दो प्रकारका है—सद्भूत व्यवहार और असद्-भूत व्यवहार। उनमेंसे ज्ञान-दर्शन आदि सद्भूत होकर भी उनका अखण्ड द्रव्यसे कथंचित् भेद है, ऐसा होते हुए भी उस अखण्ड द्रव्यसे तन्मय होनेके कारण वे उस अखण्ड द्रव्यको सूचित करते हैं और बाह्य निमित्त अपने कार्य परिणत विवक्षित द्रव्यमें सद्भूत न होकर भी प्रत्येक समय में उस द्रव्यने क्या कार्य किया इसको सूचित करते रहते हैं। इनको स्वीकार करनेका यही मुख्य प्रयोजन है।

शंका—जीव और पुद्गल द्रव्योंमें विभाव पर्याय और स्वभाव पर्याय ऐसे दो भेद होते हैं। यतः विभाव पर्यायोंमें जो अलग-अलग वाह्य निमित्त स्वीकार किये जाते हैं वे स्वभाव पर्यायोंमें नहीं स्वीकार किये गये, इसलिए पर्यायोंका विभावरूप होना इनका कार्य मानना चाहिए ?

समाधान—देखो, जितने भी वाह्य पदार्थ हैं, वे सव आत्माके ज्ञेय हैं। चूँकि अपने अज्ञान और राग-द्वेषके कारण वह उनमें जव तक अहंकार और ममकार करता है, तव तक जिस समय आत्माका जिन पदार्थोंकी ओर झुकाव होता है उस समय वे उस पर्यायके होनेमें यथा-सम्भव कारक निमित्त व्यवहारको प्राप्त हो जाते हैं। कर्म और नोकर्म दोनोंके लिए भी यह सिद्धान्त लागू होता है। यतः स्वभावपरिणत आत्मा अज्ञान और यथायोग्य राग-द्वेषसे रहित होता है, इसलिए ऐसे आत्माका इनकी ओर अज्ञान और राग-द्वेषरूप झुकाव भी दूर हो जाता है, अतः उनकी स्वभाव पर्यायमें ये वाह्य निमित्त भी नहीं होते हैं। कर्म तो आत्माके एक क्षेत्रावगाहसे क्रमशः स्वयं पल्ला झुड़ा लेते हैं और नोकर्म ज्ञेय हो जाते हैं। कर्म भी स्वयं और कार्मण वर्गणारूप रहकर ज्ञेय हो जाते हैं। यह कहें तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इस अपेक्षा उनकी कर्म और नोकर्म संज्ञा भी नहीं रहती। उनकी ज्ञेय संज्ञा हो जाती है। मात्र वे ज्ञानके ज्ञेय हो जाते हैं। जीवके विभाव-स्वभाव पर्यायरूप क्रमसे होनेका और इन कर्म और नोकर्मका कर्म और नोकर्मरूप कहलाने और ज्ञेयरूप होनेके क्रमको समझनेके लिए द्रव्यानुयोगके साथ करणा-नुयोग और चरणानुयोगका सूक्ष्म अध्ययन भी आवश्यक है।

अव रहा पुद्गल द्रव्य सो जीव द्रव्यके स्वभावसे उसका स्वभाव ही दूसरे प्रकारका है। परमाणु शुद्ध होता है, फिर भी वह वँधता है। उसका विभावरूप परिणमन उसके स्पर्श गुणके कारण ही होता है यह वात प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु जानता है। किन्तु जीव ऐसे स्वभाववाला नहीं होता। जीव यदि वँधा है और विभावरूप परिणम रहा है तो अपने अज्ञानादि दोषोंके कारण ही वैसा हो रहा है। यही कारण है कि अध्यात्ममें मुख्यतया अज्ञानादि दोषोंको दूर करनेके उपायभूत अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप आत्माके अनुरूप अनुगमन करनेका उपदेश दिया गया है। इसके लिए देखो समसार गाथा ७२-७४ आत्मख्याति टीका।

शंका—नोकर्म तो प्रकट हैं, उनसे निवृत्त होना सहज है। कर्म सूक्ष्म दृष्टिगोचर नहीं होते, उनसे निवृत्त होना कैसे सम्भव है ?

समाधान—चाहे दृष्टिगोचर नोकर्म हों और चाहे दृष्टिगोचर न होनेवाले कर्म हों या नोकर्म भी हों उनसे निवृत्त होनेका एक ही उपाय है और वह इष्ट अनिष्ट मानकर नोकर्मकी ओर नहीं रुझान करना तथा कर्मको कारक निमित्त कर हुई आत्माकी विविध अवस्थाओंमें स्वत्व बुद्धि नहीं करना और यह तभी सम्भव है जब अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप आत्माको अपने उपयोगका विषय बनाकर उसमें ही निरन्तर रममाण होनेका उपाय करते रहना।

६ कर्ता-कर्म विषयक सारभूत सिद्धान्त

यही कारण है कि समयसारमें कर्ता-कर्मके विषयमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है—

> कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
> ण करेइ एय मादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

जो आत्मा कर्मके परिणामको और उसी प्रकार नोकर्मके परिणामको नहीं करता है, मात्र उनको जानता है वह ज्ञानी है यहाँ कर्मके परिणाम पदसे राग-द्वेष आदिका भी ग्रहण हो जाता है ॥७५॥

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि नैयायिक सर्वथा भेदवादी दर्शन है। उसमें एक तो समवायी कारणके समवाय सम्बन्धसे ही कार्य उसका कहा जाता है, है वह समवायी कारणसे भिन्न ही। दूसरे समवायी कारणको किसी भी प्रकार परिणाम स्वभाववाला नहीं माना गया है। किन्तु यह स्थिति जैनदर्शनकी नहीं है। उसमें कर्ता, कर्म (कार्य) और क्रिया तीनोंको एक वस्तुपनेकी दृष्टिसे अभिन्न माना गया है। इसलिए इस दर्शनमें कार्यरूप परिणत हुआ द्रव्य ही उसका कर्ता ठहरता है। इस कारण इस दर्शनमें कर्ताका लक्षण नैयायिक दर्शनके अनुसार न करके 'जो परिणमता है वह कर्ता है यह किया गया है। समयसारकी आत्मख्याति टीकामें इसका विस्तारसे विचार करते हुए लिखा है—

> यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
> या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥
> एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
> एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥
> नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
> उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

जो परिणमता है वह कर्ता है, उसका जो परिणाम होता है वह कर्म है जो उसकी परिणति है वह क्रिया हैं। ये तीनों वस्तुपनेसे भिन्न नहीं हैं ॥५१॥

प्रत्येक वस्तु अकेली सदा (प्रतिसमय) स्वयं परिणमती है, एकका ही सदा (प्रतिसमय) स्वतन्त्ररूपसे परिणाम होता है और एककी ही स्वतन्त्र रूपसे प्रतिसमय परिणति होती है। क्योंकि उक्त प्रकारसे वे अनेक (भेद) होने पर भी वस्तु एक ही है ॥५२॥

दो द्रव्य एक होकर नहीं परिणमते, सदा काल प्रतिसमय दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्योंकी प्रति समय एक परिणत्ति नहीं होती, क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं वे सदा अनेक ही वने रहते हैं, वे परस्पर समर्पण कर एक नहीं हो जाते ॥५३॥

यहाँ कर्ता, कर्म और क्रिया इन तीनों रूपोंमें प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्योंसे अत्यन्त भिन्न है। उनमें त्रैकालिक अत्यन्ताभाव है यह वतलाया गया है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपने कार्यका स्वयं ही कर्ता है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय स्वरूपसे व्याप्य होती है और प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायका स्वरूपसे व्यापक होता है। ऐसा व्याप-व्यापक-भाव दो द्रव्योंके मध्य द्रव्यपनेकी अपेक्षा, गुणपनेकी अपेक्षा और पर्याय-पनेकी अपेक्षा किसी भी प्रकारसे स्वरूपसे नहीं पाया जाता है। अतः एक द्रव्यका प्रति समय एक ही परिणाम होता है, वह दोका मिलकर नहीं होता और एक द्रव्य किसी भी समय अपना भी परिणाम करे और दूसरेका भी परिणाम करे ऐसी भी नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त निश्चित होता है।

७. शंका-समाधान

शंका—समयसार कलशमें कहा है—

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृ-कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९४॥

विकल्प करनेवाला सवसे वड़ा कर्ता है और विकल्प ही उसका केवल कर्म है। जो विकल्प सहित होकर वर्तता रहता है उसका कर्तृ-कर्मभाव कभी भी नाशको प्राप्त नहीं होता ॥९४॥

शंका यह है कि अभी इसके पहले परिणमनेवालेको कर्ता कहा गया है और परिणमनेसे जो परिणामरूप कार्य होता है उसे कर्म कहा गया है और यहाँ विकल्प करनेवालेको कर्ता कहा गया है और उसके

जो विकल्प होता है उसे उसका कर्म कहा गया है। इस प्रकार इन दोनों कथनों की अपेक्षा कर्ता-कर्मके लक्षणमें जो परस्पर भेद दिखलाई देता है सो क्यों?

समाधान—इन दोनों कथनोंमें पहला वस्तु स्वभावकी अपेक्षा कथन है। प्रकृतमें उसका वारण नहीं किया गया है, क्योंकि वह सभी द्रव्योंमें सर्वकाल समानरूपसे पाया जाता है। यहाँ जो कथन किया गया है वह अज्ञानी जीवकी सदाकाल अपने अज्ञान भावके कारण कैसी भूमिका बनी रहती है यह बतलाना इसका प्रयोजन है। वह अज्ञान और राग-द्वेषमूलक प्रवृत्तिकी अपेक्षा पर वस्तुओंको सदा काल स्वपनेरूप और ममपनेरूप अपना ही मानता रहता है और उसका जो ज्ञान-दर्शन स्वभाव है उसको भूला रहता है। यहाँ यह कहा गया है कि जो अज्ञान मूलक परिणतिकी अपेक्षा पर वस्तुको आत्मपनेसे मानता रहेगा उसका वह अज्ञान त्रिकालमें दूर नहीं होगा। वह सदा काल उक्त प्रकारके विकल्पका ही अपने परिणाम स्वभावके कारण कर्ता बना रहेगा। अर्थात् ऐसे अज्ञानी जीवकी उक्त विकल्परूप कर्तृ-कर्म प्रवृत्तिका पर्यवसान सदाकाल पर वस्तुओंमें एकत्वपने और ममपनेमें ही होता रहेगा। वह मानता रहेगा—

> पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारो है जीव चाल।
> ताको न जान विपरीत मान, कर करहि देहमें निज पिछान ॥३॥
> मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन ग्रह गोधन प्रभाव।
> मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ॥४॥

किन्तु जो ज्ञानी है, ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप अपने आत्मामें ही स्थित है उसके ऐसी कर्ता-कर्म प्रवृत्तिका अभाव हो जाता है।

शंका—उपादान-उपादेयभाव और कर्तृ-कर्मभाव ये दोनों एक हैं या भिन्न-भिन्न?

समाधान—इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है, क्योंकि आगममें उपादान-उपादेयभावमें एक समयका भेद स्वीकार किया गया है और कर्तृ-कर्मभावमें समय भेद नहीं स्वीकार किया गया है।

शंका—इन दोनोंमें एक समयका भेद होने पर भी यदि दोनोंको एक द्रव्यपनेकी अपेक्षा एक माना जाय तो क्या आपत्ति है?

समाधान—अव्यवहित पूर्व पर्यायके उत्पादके समय उसकी उपादान

संज्ञा है और उसी पर्यायके व्ययके साथ अथवा नई पर्यायकी उत्पत्तिके समय उसकी कर्ता संज्ञा है, इसलिए इनमें एक द्रव्यपना होनेपर भी वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। उपादन-उपादेयभाव उपचरित सद्भूत व्यवहारनय से स्वीकार किया गया है और कर्तृ-कर्मभाव अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार किया गया है। इनके पृथक्-पृथक कहनेका प्रयोजन भी पृथक्-पृथक् है।

शंका—समयसार परमागममें कर्तृ-कर्मभावकी अपेक्षा ही कथन किया गया है। उपादान-उपादेयभावसे कथन करनेमें क्या आपत्ति रही ?

समाधान—समयसार परमागममें निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन करना मुख्य प्रयोजन रहा है, क्योंकि इस अपेक्षा कर्ता हो, कर्म हो या क्रिया कुछ भी हो, वस्तुपनेकी अपेक्षा वे एक हैं। कर्ता भी वस्तु है, कर्म भी वस्तु है और क्रिया भी वस्तु है। प्रत्येक समय वस्तु अखण्ड और स्वयंमें परिपूर्ण है। मात्र समझानेके अभिप्रायवश उसका कथन भेदसे किया जाता है। किन्तु उपादान-उपादेयभावमें यह दृष्टि मुख्य नहीं है, क्योंकि उसमें समय भेदसे वर्तनेवाले द्रव्य समय भेदकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। अव्यवहित उत्तर समयमें कौन-सी पर्याय होगी यह नियम करना ही उसका प्रयोजन है।

शंका—जो द्रव्य पिछले समयमें है वही वर्तमान समयमें है ऐसे प्रत्यभिज्ञानके होनेसे उन्हें एक माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—द्रव्यदृष्टिसे ही ऐसा मानना सम्भव है, पर्याय दृष्टिसे नहीं, क्योंकि प्रति समयकी पर्यायोंकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न समयवर्ती द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। उन्हें एक स्वीकार करनेके लिए एक समयवर्ती द्रव्यका दूसरे समयवर्ती द्रव्यपर आरोप करके ही ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए यह सापेक्ष कथन हो जाता है। जब कि कर्तृ-कर्मभावमें केवल भेदसे कथन करनेकी मुख्यता है। यही कारण है कि इसमें उपादान-उपादेयभावकी अपेक्षा कथन न करके कर्तृ-कर्मभावकी अपेक्षा कथन किया गया है।

शंका—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिमें उपादानको निश्चय विशेषणसे विशिष्ट किया गया है। और प्रकृतमें आप उपादान-उपादेयभावको उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका कथन बतला रहे हैं। पिछले अध्यायमें आपने भी उसी सरणिको अपनाया है। सो क्यों ?

समाधान—वहाँ 'आत्माश्रितो निश्चयनयः' इस दृष्टिको ध्यानमें रख

कर उपादानके पहले निश्चय विशेषण दिया गया है, क्योंकि वहाँ बाह्य निमित्तोंसे एक द्रव्याश्रित उपादान निमित्तमें भेद दिखलाना मुख्य है। इसीलिए वहाँ एक द्रव्याश्रित निमित्तको निश्चय उपादान कहा गया है।

शंका—यही दृष्टि प्रकृतमें अपनाई जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—इस दृष्टिसे निश्चय उपादान, निश्चय कार्य तथा निश्चय कर्ता कहा ही जाता है। किन्तु भेदकी अपेक्षा कथन करने पर वे व्यवहारनयके विषय हो जाते हैं। उसमें भी समय भेद होनेके कारण पर्यायभेद होनेसे उपादान-उपादेय भावपर उपचार लागू हो जाता है। जब कि कर्तृ-कर्मभावके ऊपर ऐसा उपचार लागू नहीं होता, यही इन दोनोंमें अन्तर है। इसीलिए समयसार परमागममें उपादान-उपादेयभावकी अपेक्षा कथन न करके कर्तृ-कर्मभावकी अपेक्षा कथन किया गया है।

शंका—कितने ही आचार्योंने कर्तृभावके कथनके समय उसके अर्थमें उपादान शब्दका प्रयोग किया है सो क्यों ?

समाधान—उन्होंने जैसे घट, कलश ये दोनों पर्यायवाची नाम हैं ऐसा बुद्धिमें स्वीकार करके ही ऐसा किया होगा। अथवा उन्होंने कर्ता और उपादानके लक्षण भेदको गौण कर ऐसा किया होगा। यह भी सम्भव है कि समय भेदसे द्रव्य भेदको गौण कर दोनोंका एक ही अर्थमें प्रयोग किया होगा। उन्होंने ऐसा किस प्रयोजनसे किया यह हम कह नहीं सकते। वस्तुतः देखा जाय तो इन दोनोंके लक्षण भिन्न-भिन्न है, इनमें कालभेद भी है, क्योंकि उपादानमें विवक्षित कार्यसे अव्यहित पूर्व समय का द्रव्य गृहीत है और कर्तामें कार्य कालका ही द्रव्य गृहीत है। इसलिए इनका कथन भिन्न-भिन्नरूपसे ही किया है। इनमें संज्ञा भेद और प्रयोजन भेद तो है ही।

शंका—यह तो बड़ी विचित्र बात है कि दो द्रव्याश्रित निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको अज्ञानी सविकल्प जीवकी अपेक्षा आगममें कर्तृ-कर्म भावरूपसे स्वीकार किया गया है और एक द्रव्याश्रित उपादान-उपादेय सम्बन्धको आगममें कहीं भी स्पष्टतः कर्तृ-कर्म भावरूपमें स्वीकार नहीं किया गया। इसका कारण क्या है ?

समाधान—आगममें जहाँ भी दो द्रव्याश्रित निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको कर्तृ-कर्मरूपसे स्वीकार किया गया है वहाँ अनादि कालसे चले आ रहे लौकिकजनोंके इस प्रकारके व्यवहारको ध्यानमें रखकर ही

स्वीकार किया गया है। श्री समयसारकी आत्मख्याति टीकामें इसको स्वीकार करते हुए क्या कहा गया है, देखिये—

कुलालः करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावत् व्यवहारः।

कुलाल कलशको करता है और उसे अनुभवता है यह लौकिक जनोंका अनादिरूढ चला आ रहा लौकिक व्यवहार है।

जैनागममें इस प्रकारके व्यवहारको क्यों स्वीकार किया गया है इसका कारण यह है कि बाह्य व्याप्ति देखकर काल प्रत्यासत्तिवश विवक्षित कार्यसे भिन्न सविकल्प अज्ञानी प्रयत्नशील पुरुषादिमें उस कार्यकी अपेक्षा लोकमें निमित्त कर्ता व्यवहारको आगममें भी स्वीकार कर लिया गया है। वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा वह जैन दर्शन नहीं है।

समयसार गाथा ८४, ९७, ९८, १०० और १०७ आदिमें इस तथ्य को स्वीकार करके भी परमार्थसे उसका निषेध ही किया गया है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि परमार्थसे सभी द्रव्य अन्य निरपेक्ष होकर स्वतन्त्ररूपसे अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ हैं। इस विषय को आचार्य अमृतचन्द्रदेवने १०० वीं गाथा की टीकामें विशद रूपसे स्पष्ट किया है। उसका आशय यह है—

१. ज्ञायक स्वरूप आत्मा तो व्याप्य-व्यापकपनेसे पर द्रव्योंकी क्रियाका कर्ता त्रिकालमें नहीं है।

२. निमित्त-नैमित्तिक भावसे भी वह पर द्रव्योंकी क्रियाका कर्त्ता नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार तो उसके नित्य होनेसे सदा ही उसे निमित्तरूपसे कर्तृत्वका प्रसंग प्राप्त होता है।

३. तब फिर क्या स्थिति है ऐसी शंका होने पर उसका समाधान करते हुए वे कहते हैं—अज्ञानीके योग और विकल्पको पर द्रव्योंकी क्रियाका निमित्तपनेसे कर्ता स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि अज्ञान की भूमिकामें मैंने यह किया, करता हूँ या करूँगा इस प्रकारके अहंभाव से ग्रसित मन-वचन-कायपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला अज्ञानी जीव पर द्रव्योंके कार्योंका निमित्तपनेसे कर्ता भले ही मान लिया जाय, परन्तु ज्ञानी जीव तो रागमें एकत्व बुद्धि छूट जानेके कारण मात्र निश्चय सम्यग्दर्शनादिरूप ज्ञानभावका ही कर्ता है, अज्ञानरूप रागादि विकल्पों और योगका कर्ता त्रिकालमें नहीं है।

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० १९ में भाव वचनरूप सामार्थ्यसे युक्त क्रियावान् आत्माको द्रव्य वचनोंकी उत्पत्तिमें प्रेरक कारण कहा

है। इसी प्रकार सू० १७ में धर्म और अधर्म द्रव्यको अप्रेरक कहकर संसारी जीवों और पुद्गलोंको प्रेरक स्वीकार किया गया है। इससे मालूम पड़ता है कि उदासीन वाह्य निमित्तोंसे भिन्न प्रेरक वाह्य निमित्त होते हैं। साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो वाह्य द्रव्य प्रेरक निमित्त कारण होता है उसीमें निमित्त कर्ता व्यवहार होता है। इसलिये उक्त जीव और पुद्गल दोनोंको निमित्त कर्ता माननेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—पूर्वोक्त दोनों उल्लेखोंमें प्रथम उल्लेख तो उक्त प्रकार के जीवोंको ध्यानमें रखकर ही किया गया है। और दूसरे उल्लेखमें धर्मादिक द्रव्योंको भले ही अप्रेरक कहा हो। पर इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि अन्य द्रव्योंके कार्योंमें पुद्गल भी निमित्त कर्ता होता है। प्रत्युत प्रथम उल्लेखसे तो यही सिद्ध होता है कि अज्ञानीके विकल्प और योगमें ही घटादि कार्योंमें लौकिक जनोंकी अपेक्षा निमित्त कर्ताका व्यवहार स्वीकार किया जा सकता है। समयसारके कलश काव्यमें कहा भी है—

> माकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः।
> कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदाववोधादधः॥
> ऊर्ध्वं तूद्धतवोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयम्।
> पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं स्वयम्॥२०५॥

आर्हत जन भी सांख्योंके समान आत्माको अकर्ता मत मानो, भेद-ज्ञानके पूर्व उसे विकल्पपनेकी अपेक्षा नियमसे सदा काल कर्ता मानो। किन्तु जो अपने भेद ज्ञानरूपी मन्दिरमें स्थित है, वहाँसे लेकर उसे प्रत्यक्ष स्वय परके कर्तृत्वके विकल्पसे मुक्त अचल एक ज्ञाता ही देखो॥२०५॥

इससे सिद्ध होता है कि उसी आत्मामें लोकरूढिवश निमित्त कर्त्तापने का व्यवहार करना जिनागमको इष्ट है जो अज्ञानी होकर योग और विकल्पवान् है।

शंका—समयसार खासकर अध्यात्म ग्रन्थ है, इसलिये उसमें आत्माको लक्ष्य कर ही विचार किया गया है। परन्तु ऐसे भी आगम-प्रमाण मिलते है जिनके आधारसे पुद्गलोंको निमित्त कर्ता स्वीकार करनेमें आगमसे वाधा नहीं आती। उदाहरणार्थ पंचास्तिकाय गाथा ८८ में गतिशील वायुको ध्वजाके फड़कनेमें निमित्त कर्ता स्वीकार किया

गया है। तथा पंचास्तिकायकी गाथा ५५ में नारक आदि कर्म प्रकृतियाँ जीवोंकी पिछली पर्यायका व्यय करती है और अगली पर्यायका उत्पाद करती हैं यह कहा गया है। इसलिये पुद्गलोंको निमित्त कर्ता माननेमें आगमसे आपत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—पंचास्तिकाय गाथा ८८ और ५५ का उक्त उल्लेख उदाहरणमात्र है। इससे सिद्धान्तको फलित करना उचित नहीं है। ये ऐसे ही उदाहरण है, जैसे यह कहना कि अग्नि पढ़ाती है। हैं ये दोनों विस्रसा निमित्त ही। आगममें कहीं-कहीं ऐसा भी कहा गया है कि कर्म इस जीवको एक गतिसे दूसरी गतिमें ले जाता है और ले आता है। किन्तु यहाँ भी यही समझना चाहिये कि कर्म और जीव परस्पर विस्रसा उपसर्पण करनेरूप पर्याय स्वभाववाले होते हैं यह देखकर तथा जीवको गौण और कर्मको मुख्यकर यह कहा गया हैं। वस्तुतः प्रायोगिक कार्यों में अज्ञानीके योग और विकल्पमें ही निमित्त कर्ता व्यवहार आगम स्वीकार करता है। इसको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सू. २४ में उक्त प्रकारके दोनों कार्यों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

शब्दो द्विविधः—भाषालक्षणो विपरीतश्चेति। भाषालक्षणो द्विविधः—साक्षरोऽनक्षरश्चेति। अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृत-विपरीतभेदादार्यम्लेच्छ-व्यवहारहेतुः। अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनातिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादन हेतुः। स एव सर्वः प्रायोगिकः। अभाषात्मको द्विविधः प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। वैस्रसिको वलाहकादिप्रभवः। प्रायोगिकश्चतुर्धा—तत-वितत-घन-सौविरभेदात्।

शब्द दो प्रकारका है—भाषालक्षण और विपरीत। भाषालक्षण शब्द दो प्रकारका है—साक्षर और अनक्षर। शास्त्रका अभिव्यंजक अक्षरीकृत तथा आर्यों और म्लेच्छोंके व्यवहारका हेतुभूत शब्द संस्कृत और इतरके भेदसे दो प्रकारका है। द्वीन्द्रियादिकके अतिशय ज्ञान-स्वरूपके प्रतिपादनका हेतुभूत अनरात्मक शब्द है। यही सब प्रायोगिक शब्द है। अभाषात्मक शब्द दो प्रकारका है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। मेघ आदिसे उत्पन्न होनेवाला वैस्रसिक शब्द है तथा प्रायोगिक शब्द चार प्रकारका है—तत, वितत, घन और सौषिररूप शब्द।

तत्त्वार्थवार्तिक अ. ५ सू. २४ में प्रायोगिक और वैस्रसिकके लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं। वहाँ पुरुषके मन, वचन और कायरूप योगको प्रयोग कहा गया है और इसे निमित्त कर जो कार्य होते हैं उन्हें प्रायोगिक कहा गया है तथा इससे अतिरिक्त अन्य सभी कार्योंकी अपेक्षा बाह्य

निमित्तों को विस्रसा कहा गया है और कार्योंको वैस्रसिक कहा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक समयमें कर्मोंका उपशम आदि विस्रसा होगा। अतएव जितने भी औपशमिक आदिरूप सम्यग्दर्शनादि भाव होंगे वे वैस्रसिक ही होंगे।

सबसे बड़ी वात जो यहाँ ध्यान देने योग्य है वह यह है कि जैसे आगममें घट, पट, रथ, कर्म और नोकर्मको आत्मा करता है इस कथन को अनादि रूढ़ लौकिक व्यवहार स्वीकार किया गया है वैसे ही कर्म मनुष्यादि पर्यायोंका कर्ता है इसे कहीं भी अनादि रूढ़ लौकिक व्यवहार नहीं स्वीकार किया गया है। सो क्यों ? इसका कारण यह है कि नैयायिक दर्शन आदि ईश्वरको तो जगत्का कर्ता मानते हैं, पर कर्मको जगत्की वात तो छोड़िये, वे मात्र अदृष्टको निमित्तरूपमें ही स्वीकारते हैं, निमित्त कर्ताके रूपमें नहीं। लौकिक जनोंके कथनका यह दृष्टिभेद आचार्योंके सामने रहा है। अतएव अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर उन्होंने भी इस कथनको जैन दर्शनका मन्तव्य न बतला कर लौकिक जनोंका मन्तव्य बतलाते हुए उपचारके रूपमें उसे स्वीकर कर लिया। तथ्य रूपमें तो आचार्य पूज्यपादके कथनानुसार सभी बाह्य निमित्त धर्मादि द्रव्योंके समान विस्रसा उपलब्ध होते हैं। आचार्यदेव कुन्दकुन्दने भी समयसार गाथा ३२१–३२३ में इसी तथ्यका उद्घाटन करते हुए यही कहा है कि जैसे लौकिक जनोंका यह कहना देव, नारकी आदिको विष्णु करता है उसी प्रकार यदि श्रमणोंका आत्मा भी पर कार्योंका करनेवाला माना जाय तो दोनोंमें कोई भेद नहीं रहता। श्रमण भी लौकिक हो जाते हैं। स्पष्ट है कि पर निमित्तमें कर्तृत्वकी मान्यता जैनागमकी नहीं है और न पर कर्तृत्वकी दृष्टिसे बाह्य पदार्थोंमें निमित्तता ही स्वीकार की गई है।

पण्डित प्रवर टोडरमलजीने भी मोक्षमार्ग प्रकाशकमें इसी तथ्यको स्वीकार कर उसका प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं—

वहुरि इस संसारी कै एक यह उपाय है जो आपकै जैसा श्रद्धान है तैसें पदार्थनिकौं परिणमाया चाहै सो वे परिणमै तौ याका सांचा श्रद्धान होइ जाय। परन्तु अनादिनिधन वस्तु जुदै जुदै अपनी मर्यादा लिए परिणमै हैं। कोऊ कोऊके आधीन नाहीं। कोऊ किसीका परिणमाया परिणमै नाहीं। तिनिकौं परिणमाया चाहै सो उपाय नाहीं। यह तौ (मैं इसका परिणमन करनेमें समर्थ हूँ ऐसी अहंकाररूप कर्ताबुद्धि) मिथ्यादर्शन ही है। तौ सांचा उपाय कहा है। जैसैं पदार्थनिका स्वरूप है तैसैं श्रद्धान होइ तौ सर्व दुःख दूर होनेका उपाय है। तैसैं मिथ्या-

दृष्टि होइ पदार्थनिकौं अन्यथा मानै, अन्यथा परिणमाया चाहै तो आप ही दुखी हो है। बहुरि उनको यथार्थ मानना अर पर परिणमाए अन्यथा परिणमैंगे नाही ऐसा मानना सो ही तिस दुःखके दूर होनेका उपाय है! भ्रमजनित दुःख का उपाय भ्रम दूर करना ही है। भ्रम दूरि होने तैं सम्यक् होय सो ही सत्य उपाय जानना। पृ० ३६१!

और भी—

परद्रव्य जोरावरी तो क्योंई बिगारता नाहीं। अपने भाव बिगरै तब वह भी बाह्य निमित्त है। बहुरि वाका निमित्त बिना भी भाव बिगरै है तातैं नियमरूप निमित्त भी नाहीं। वही

इसी तथ्यको पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने नाटक समयसार सर्व-विशुद्धि ज्ञानाधिकारमें उद्घाटित करते हुए लिखा है—

> कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग-द्वेष परिणाम।
> ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम, कौन है॥
> पुद्गल करम जोग किधौं इन्द्रनिकौं भोग।
> किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है॥
> गुरु कहैं छहों दर्व अपने अपने रूप।
> सबनिकौं सदा असहायी परिनौन है॥
> कोऊ दरव काहूकौ न प्रेरक कदाचि तातैं।
> राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६२॥

पुनः

> कोउ मूरख यों कहै राग-द्वेष परिणाम।
> पुद्गलकी जोरावरी वरतै आतमराम॥६२॥
> ज्यों ज्यों पुद्गल बल करै धरि धरि कर्मज भेष।
> राग-दोषकौ परिनमन त्यों त्यों होइ विशेष॥६३॥
> इहि विधि जो विपरीत पख गहै सद्दहै कोई।
> सो नर राग विरोधसौं कबहुँ भिन्न न होइ॥६४॥
> सुगुरु कहैं जगमें रहै पुद्गल संग सदीव।
> सहज शुद्ध परिणमनिकौ औसर लहै न जीव॥६५॥
> तातैं चिद्भावनिविषै समरथ चेतन राउ।
> राग विरोध मिथ्यातमें समकितमें सिव भाउ॥६६॥

इस प्रकार विचार कर हम देखते हैं कि लोकमें जड़-चेतनके जितने भी कार्य होते हैं वे स्वाधीन ही होते हैं, पराधीन कोई भी कार्य नहीं

होता। अपने अज्ञानके कारण ही संसारी जीव स्वयं पराधीन बना हुआ है, इसलिये अपने अज्ञानवश उसे ऐसा लगता है कि शरीर, भोजन, पानी, हवा आदिके बिना मैं जी नहीं सकता। पर्यायका स्वभाव ही विनश्वर है। हवा, पानी और भोजनके मिलने पर भी वह अपने-अपने कालमें विनष्ट होगी ही। इसलिये पराश्रितपनेका विकल्प छोड़कर स्वभाव सन्मुख होनेका उपाय करना यही एकमात्र प्रत्येक जीवका कर्तव्य है। इसी विकल्पको छुड़ानेके अभिप्रायसे ही बारह भावनाओंमें प्रथम स्थान अनित्य भावनाको और दूसरा स्थान अशरण भावनाको दिया गया है।

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक दृष्टिसे उसी जीवमें निमित्त कर्ता व्यवहार आगम स्वीकार करता है जो अज्ञानी होनेके साथ विकल्प पूर्वक क्रिया परिणत हो। जो अपनी क्रिया द्वारा पुद्गल द्रव्य निमित्त होता है उसमें आचार्योंको अधिकसे अधिक करण निमित्त व्यवहार ही मान्य है। इसके लिये समयसार गाथा ६५-६६ और २७८ तथा तत्त्वार्थवार्तिक अ. १ सू. १ देखना चाहिये। यदि देखा जाय तो समयसार गाथा २७८ में जो स्फटिक मणिको परिणामनेवाला कहा गया है सो वह स्फटिक अपनी क्रिया द्वारा वहाँ निमित्त नहीं हो रहा है, इसलिये वास्तवमें उसमें करण व्यवहार भी नहीं किया जा सकता। वैसे आचार्योंने सिद्धान्तको समझानेके लिए ऐच्छिक रूपसे शब्द प्रयोग किये हैं। चाहे कर्ता निमित्त हो और चाहे करणनिमित्त हो, हैं सबके सब निमित्त मात्र ही यह भी उनके उक्त कथनसे स्पष्ट हो जाता है। इसलिये मात्र आगममें सिद्धान्तको समझानेके लिये किये गये शब्द प्रयोगोंके आधार पर सिद्धान्तको फलित करनेकी प्रवृत्ति भ्रमको जन्म देनेवाली होती है जो इष्ट नहीं है।

अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जब आत्मा स्वभावमें उपयुक्त रहता है तब वे रागादि बुद्धिपूर्वक नहीं होते, अतः उनके होनेमें दैवकी अपेक्षा कथन किया जाता है। यहाँ दैवपदसे योग्यता और कर्म दोनोंका ग्रहण हुआ है। और जब सविकल्प अवस्थामें जीव रागादिरूप वरतते हैं तब श्रद्धाकी अपेक्षा आत्माके उनका स्वामित्व न रहनेसे ज्ञानी आत्मा उनका कर्ता नहीं स्वीकार किया गया है। अध्यात्ममें ज्ञानी जीवके रागादि भावोंको आत्माका स्वीकार नहीं करनेमें यही दृष्टि अपनाई गई है। यह देखकर समन्तभद्र, भट्टाकलंकदेव, विद्यानन्द आदि आचार्योंके चरणोंमें नम्रतासे मेरा सिर झुक जाता है कि उन्होंने दर्शनशास्त्रमें भी अध्यात्म की मर्यादाको अक्षुण्णरूपसे सुरक्षित रखकर उसे मूर्त रूप दिया है।

साथ ही धर्म और धर्मीमें तादात्म्य होनेसे अविनाभाव है। उनकी अस्तित्व सिद्धि परस्परकी अपेक्षासे की जाती है। धर्म और धर्मीका स्वरूप स्वतःसिद्ध होता है, परतः सिद्ध नहीं। यह निश्चित तथ्य भी वे प्रकाशमें लाये हैं। इतना ही नहीं, साथ ही वे इस आपेक्षिक कथनको व्यवहारकी कोटिमें परिगणित करते हैं और इसकी पुष्टिमें ज्ञेय-ज्ञायक और कर्ता-कर्मके अविनाभाव सम्बन्धको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। इससे स्पष्ट है कि कर्ता स्वरूपसे स्वतः सिद्ध है और कर्म भी स्वरूप से स्वतःसिद्ध है। परस्परकी अपेक्षा कथन करना यह मात्र व्यवहार है। धन्य हैं उनकी ये रचनाएँ और उनकी यह दृष्टि। इससे मालूम पड़ता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेवकी वाणी साक्षान् भगवान् महावीरकी वाणी ही होनी चाहिये। वे भगवान्‌के ५-६ सौ वर्ष वाद जन्मे इसका कोई महत्त्व नहीं है। उन्हें भगवान् सीमन्धर स्वामीका साक्षात् समागम मिला है उक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है। किन्तु वे भरतखण्डकी मर्यादाको भले प्रकारसे हृदयंगम किये हुए थे। यही कारण है कि प्रवचनसारके प्रारम्भमें वे भरतक्षेत्रके चौबीस तीर्थंकरोंका उल्लेख पूर्वक ही मंगलगान करते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे समग्र रूपसे केवलज्ञानादिपनेकी अपेक्षा ढाई द्वीपके सभी तीर्थकरोंको भरत क्षेत्र स्थित चौवीस तीर्थंकरोंसे व्यवहारनयकी अपेक्षा अभिन्न मानते रहे हैं। ऐसे थे आचार्य कुन्दकुन्ददेव। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने 'मंगलं भगवान् वीरो' इत्यादि रचनामें भगवान् महावीर और गौतम गणधरके वाद उनका ही पुण्य स्मरण किया है। इससे 'कुन्दकुन्दार्यो' पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। अस्तु,

८. प्रकृत विषयका विशेष स्पष्टीकरण

अतएव यह सिद्धान्त फलित होता है—

> जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
> कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥९१॥ समयसार

आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है। उसके ऐसा होते समय पुद्गल द्रव्य आप ही व्यवहारसे कर्म संज्ञावाली पर्यायरूप परिणमता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा पर निमित्तोंकी अपेक्षा किये विना स्वतन्त्र-रूपसे अपने संसार और मोक्षरूप भावोंका कर्ता है और पुद्गल द्रव्य

आत्माकी अपेक्षा किये बिना स्वतन्त्ररूपसे अपनी व्यवहारसे कर्म संज्ञा-वाली पर्यायोंका कर्ता है। फिर भी इनमें अविनाभावपूर्वक कालप्रत्यासत्ति होनेसे निमित्त-नैमित्तिकभाव स्वीकार किया गया है। इसी भावको स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशकके पृष्ठ ३७ में कहते हैं—

इहाँ कोउ प्रश्न करै कि कर्म्म तौ जड़ हैं किछू वलवान् नाहीं तिनि करि जीवके स्वभावका घात होना या वाह्य सामग्रीका मिलना कैसे संभवै है। ताका समाधान—जो कर्म्म आप कर्ता होय उद्यमकरि जीवके स्वभावकौ घातैं वाह्य सामग्रीकौं मिलावैं तव तौ कर्म्मकैं चैतन्यपनौ भी चाहिए अर वलवानपनौ भी चाहिए सो तौ है नाहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक संवन्ध है। जव उन कर्म्मनिका उदयकाल होय तिस काल विषै आप ही आत्मा स्वभावरूप न परिणमै विभावरूप परिणमै या अन्य द्रव्य हैं ते तैसैं ही संवंधरूप होय परिणमैं। जैसैं काहू पुरुषकैं सिरपर मोहनधूलि परी है तिसकरि सो पुरुष वावला भया। तहाँ उस मोहनधूलिकै ज्ञान भी न था अर वावलापना भी न था, अर वावलापना तिस मोहनधूलि ही करि भया देखिए हैं। मोहनधूलिका तौ निमित्त है अर पुरुष आप ही वावला हुआ परिणमै है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक वन रह्या हैं। वहुरि जैसै सूर्यका उदयका काल-विषै चकवा-चकवीनिका संयोग होय तहाँ रात्रिविषै किसीनैं दोष वुद्धितैं जोरावरि करि जुदै किय नाहीं। दिवसविषै काहूनैं करुणावुद्धितै जोरावरि करि मिलाए नाहीं। सूर्य उदयका निमित्त पाय आप ही मिलै हैं अर सूर्यास्तिका निमित्त पाय आप ही विछुरै हैं ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक वन रह्या है तैसै ही कर्म्मका भी निमित्त-नैमित्तिक जानना।

यह पण्डितजीका सारभूत कथन है। इस द्वारा उस गुत्थीको सुलझाया गया है जो वाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके विषयमें सामान्य जनताको उलझनमें डाले रहती है। हमें आश्चर्य उस सामान्य जनताके विषयमें नहीं होता। वह तो अपने इन्द्रिय प्रत्यक्षसे जैसा देखती है वैसा मानकर चलती है, क्योंकि इस विषयमें आगम क्यों और क्या कहता है उसे वह प्रायः जानती ही नहीं। आश्चर्य तो उन विद्वानोंपर होता है जो आगम की अवहेलना कर अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुभव और तदनुकूल तर्कको प्रधानता देकर स्वयं भटकते रहते हैं और सामान्य जनताको भी भटकानेका उपाय करते रहते हैं। इसका हमें ही क्या हर किसीको आश्चर्य होना स्वाभाविक है।

भट्टाकलंकदेव भी कहते हैं कि अपना स्वभावरूप या विभावरूप प्रत्येक कार्य करनेमें जीव और पुद्गल तथा स्वभावरूप कार्य करनेमें

धर्मादिक द्रव्य स्वतन्त्र हैं। उन्होंने कर्तृत्व धर्मको सब द्रव्योंमें साधारण इसी प्रयोजनसे कहा है। वे तत्त्वार्थवार्तिक अ० २ पृ० ११२ में अपने इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

कर्तृत्वमपि साधारणम्, क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषां स्वातन्त्र्यात्।

कर्तृत्व भी साधारण पारिणामिक भाव है, क्योंकि अपनी-अपनी प्रत्येक समयकी परिस्पन्दलक्षण और परिणामलक्षण क्रियाकी उत्पत्तिमें यथासम्भव जीव और पुद्गल तथा प्रत्येक समयकी अपनी-अपनी परिणामलक्षण क्रिया की उत्पत्तिमें धर्मादि चार द्रव्य स्वतन्त्र हैं।

प्रकरण पारिणामिक भावोंके प्रतिपादनका है उसी प्रसंगमें जो पारिणामिक भाव अन्य द्रव्योंमें भी उपलब्ध होते हैं उनकी यहाँ पर व्याख्या करते हुए उक्त वचन कहा गया है। यहाँ यह शंका उठाई गई है कि क्रिया परिणामसे युक्त जीवों और पुद्गलोंमें कर्तृत्व पारिणामिक भावका होना तो युक्त है, परन्तु धर्मादिक द्रव्योंमें वह कैसे बन सकता है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'अस्ति' आदि क्रिया विषयक कर्तृत्व उनमें भी पाया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि अ० २ सू० ७ में भी पारिणामिक भावोंमें अस्तित्व आदि धर्मोंका उक्त सूत्रमें आये हुए 'च' शब्दके द्वारा समुच्चय कर लिया गया है। वहाँ बतलाया है कि ये जीवके साथ और सबमें साधारण है, इसलिए उक्त सूत्रमें इनका संग्रह नहीं किया गया है। वह वचन इस प्रकार है—

अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति 'च' शब्देन पृथक् गृह्यन्ते।

अस्तित्व आदिक तो जीव और अजीवको विषय करनेवाले होनेसे साधारण भाव हैं, इसलिए इनको 'च' शब्द द्वारा पृथक् ग्रहण किया है।

यहाँ आये हुए 'आदि' पदसे कर्तृत्वका भी ग्रहण हो जाता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी जिन भावोंको 'च' शब्द द्वारा समुच्चित किया गया है उनमें कर्तृत्व धर्मको भी परिगणित किया गया है।

देखो, यहाँ पर आचार्य अकलंकदेवने 'क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषामपि स्वातन्त्र्यात्' अर्थात् अपनी-अपनी पर्यायकी उत्पत्ति करनेमें सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं यह कह कर प्रत्येक कार्यके होनेमें प्रत्येक द्रव्यको पर पदार्थों की सहायताकी अपेक्षा नहीं हुआ करती है जिनागमके इस कथनको ही दो शब्दोंमें कह दिया है।

इतना ही नहीं, इस उल्लेखसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विभाव-

रूप परिणतिमें स्थित संसारी जीव और पुद्गलस्कन्धका जब भी जो कार्य होता है उसके करनेमें वे स्वतन्त्र हैं।

देखो, जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होकर मोक्षका इच्छुक है वह पुण्य और पाप दोनोंमें भेद नहीं करता, इसलिए दोनोंके प्रति समान दृष्टि रख कर ही मोक्षमार्गी बननेका अधिकारी होता है। जब यह स्थिति है तब वह पर वस्तुको इष्ट और अनिष्ट मानकर उससे लाभ और अलाभकी कल्पना ही कैसे कर सकता है? अर्थात् कभी नहीं कर सकता। फिर पर द्रव्यमें अन्यका कार्यकारीपना या कर्तापना कैसे मान सकता है, कभी नहीं मान सकता है। पर द्रव्यमें अन्य द्रव्यके कार्यकी जो कारणता व्यवहारसे स्वीकार की गई है वह मात्र बाह्य व्याप्तिवश प्रयोजन विशेष को ध्यानमें रखकर ही स्वीकार की गई है, निश्चय उपादानके समान वह परमार्थसे प्रत्येक कार्यका नियामक है, इसलिए नहीं। मोक्षके इच्छुक किसी भी जीवको अपना परिणाम अन्यवश अर्थात् रागादिवश नहीं होने देना चाहिए। आगममें यह उपदेश उक्त प्रयोजनको ध्यानमें रखकर ही दिया गया है। अभिप्रायपूर्वक परका संग करनेसे होनेवाले कार्योंमें और अकेले होनेके कार्यमें यदि कोई अन्तर है तो वह यही है कि जो मोक्षमार्गपर आरूढ़ है वह पंचेन्द्रियोंके विषयोंको लक्ष्य कर राग-द्वेषके अधीन नहीं होता, इसलिए उसकी दृष्टिमें वे सुतरां गौण हो जाते हैं। यह सब दृष्टिका खेल है—बाहरकी ओर दृष्टि फेरनेसे जहाँ संसारकी वृद्धि होती है वहीं ज्ञान-वैराग्य शक्तिसे सम्पन्न होकर भीतरकी ओर दृष्टिके पलटनेसे आत्मकल्याणका मार्ग प्रशस्त होता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसारमें कहा भी है—

> कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
> परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥२, २४॥

जो श्रमण आत्मा ही कर्ता है, आत्मा ही कर्म है, आत्मा ही करण है और आत्मा ही उसका फल है ऐसा निश्चय कर अपने विकल्प द्वारा यदि अन्यरूप नहीं परिणमता है तो शुद्ध (अकेले) आत्माको प्राप्त करता है, क्योंकि स्वभावस्वरूप आत्माको प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसी तथ्यको दूसरे शब्दोंमें व्यक्त करते हुए उसी परमागममें आचार्यदेव पुनः कहते हैं—

> सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं त्ति भणियमण्णेसु।
> परिणामोऽणण्णगओ दुक्खक्खयकारणं समये ॥२-८९॥

अन्यमें (परमार्थस्वरूप देवादिकमें या बाह्य व्रतादिकमें) शुभ परिणामके

होनेको पुण्य भाव कहा है और (पंचेन्द्रियोंके विपयोंमें) अशुभ भावके होनेको पापभाव कहा है। किन्तु जो परिणाम पुण्य-पाप रूपसे अन्य-रूप नहीं होता अर्थात आत्मातिरिक्त लोकमें जितने भी पदार्थ हैं उनमें इष्टानिष्ट वुद्धि नहीं करता उसे ही परमागममें दुक्खके क्षयका कारण मोक्षस्वरूप कहा है ॥२-८९॥

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तवमें दो द्रव्योंमें कर्ता-कर्मपना तो नहीं है। जो आगममें सविकल्प क्रियावान् अज्ञानी जीवको घटादि कार्यों का कर्ता कहा गया है सो वह भी लौकिकजनोंके अनादिरूढ विकल्पको ध्यानमें रखकर ही कहा गया है। शेष द्रव्योंमें निमित्तपनेकी अपेक्षा कर्ता-कर्म व्यवहार न तो घटित ही होता है और न आगम ही ऐसे व्यवहारको प्रमुखतासे स्वीकार करता है। इतना अवश्य है कि जिन कार्यों में उक्त जीवोंकी अपेक्षा कर्ता व्यवहार किया गया है उनमेंसे किन्हीं-किन्हीं कार्योकी अपेक्षा पुद्गल स्कन्धोंमें करण व्यवहार अवश्य किया गया है। इसके लिए तत्त्वार्थवार्तिक अ० १, सू० १ का यह उल्लेख द्रष्टव्य है—

करणं द्वेधा-विभक्ताविभक्तकर्तृकभेदात्। कर्तुरन्यद् विभक्तकर्तृकम्। यथा परशुना छिनत्ति देवदत्तः इति। कर्तुरनन्यदविभक्तकर्तृकम्। यथाग्नि-रिन्धनं दयत्यौष्ण्येन इति।

विभक्त कर्तृककरण और अविभक्त कर्तृककरणके भेदसे करण दो प्रकारका है। कर्तासे भिन्न करण विभक्तकर्तृक करण है। जैसे देवदत्त परशुसे छेदता है। कर्तासे अभिन्न अविभक्तकर्तृक करण है। जैसे अपने उष्ण परिणामसे अग्नि ईंधनको दहन करती है।

यहाँ विकल्प और क्रिया परिणामसे युक्त देवदत्त कर्तारूपसे व्यवहृत हुआ है और छिदिक्रियाकी अपेक्षा फरसामें करण व्यवहार किया गया है। यह एक उदाहरण है। इससे पूर्वोक्त तथ्योंपर ही विशदरूपसे प्रकाश पड़ता है!

इतना अवश्य है कि आचार्य कुन्दकुन्दने एकेन्द्रिय जीव विशेषोंको जीव कहकर भी नामकर्मकी प्रकृतियाँ वतलाते हुए उनको जो करणरूप नामकर्मकी प्रकृतियोंसे रचित कहा है (स० सा०, गा० ६५-६६) सो यहाँ पर एक तो स्वभावभूत जीवसे जीवविशेपोंको पृथक् करना उनका प्रयोजन रहा है। कारण कि औदयिक भावपरिणत जीवविशेषोंका अन्वयव्यतिरेक कर्मोदयके साथ है, स्वभावके साथ नहीं। दूसरे स्वभाव दृष्टिसे भेद व्यवहारको भी गौण कराया गया है। उन्होंने इस सरणिको

पूरे समयसार परमागममें स्वीकार किया है। समयसार गाथा ३८ में जो जीवादि नौ पदार्थोंको टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव भावसे अत्यन्त भिन्न कहा है वह भी इसी अभिप्रायसे कहा है, क्योंकि इनमें संज्ञाभेदके साथ लक्षणभेद और स्वभावभेद भी है। दूसरे सम्यग्दृष्टिके स्वानुभूतिके कालमें ये जीवादि नौ पदार्थ अनुभवमें नहीं आते। वर्णादिके पुद्गलद्रव्य परिणाममय होनेपर इन्हें आत्मानुभूतिसे भिन्न इसीलिये कहा है (स० सा० गा० ५०-५४ की आत्मख्याति टीका)। इसी तथ्यको आचार्यदेव इन शब्दोंमें स्वीकार करते हुए कहते हैं—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और वादर देहकी जीवसंज्ञा परमागममें कही हैं वे व्यवहारसे कही गई हैं ॥६७॥

तात्पर्य यह है कि अज्ञान अवस्थामें यह जीव अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावको भूल कर परभावोंमें एकत्व और इष्टानिष्टरूप संकल्प-विकल्पोंके आधीन होकर ही भावसंसारकी सृष्टि करता रहता है और उसीके फलस्वरूप कर्मबन्ध कर एकेन्द्रियादि पर्यायोंमें भटकता रहता है। यतः इन एकेन्द्रियादि पर्यायोंकी व्याप्ति ज्ञान-दर्शन स्वभाव परिणत जीवके साथ न होकर अज्ञान और राग-द्वेषके साथ तथा कर्मोदयके साथ ही है अतः प्रकृतमें इन्हें पुद्गल द्रव्य परिणाममय कहा गया है। इन एकेन्द्रियादि पर्यायोंकी व्याप्ति ज्ञान-दर्शन स्वभाव परिणत जीवके साथ नहीं है यह इसीसे स्पष्ट है कि एक तो स्वानुभूतिके कालमें किसी भी पर्यायरूपसे इनका वेदन नहीं होता। ज्ञानीके सविकल्पदशामें भी इनमें आत्मबुद्धि नहीं होती। दूसरे जैसे-जैसे यह जीव विज्ञानघन-स्वभाव होता जाता है वैसे-वैसे पर्यायाश्रित व्यवहारका लोप होते जानेके साथ जिन कर्मोंको निमित्त कर एकेन्द्रियादि पर्यायोंकी प्राप्ति होती है उनकी भी उत्तरोत्तर व्युच्छित्ति होती जाती है। इतना ही नहीं ज्ञानीके एकेन्द्रियादि जाति-नामकर्मोंका और उनके साथ पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्मोंका तो उदय होता ही नहीं। अर्थात् ज्ञानी जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक की किसी भी पर्यायरूप नहीं परिणमता। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त होनेपर भी उसमें स्वत्वबुद्धिसे मुक्त रहता है। यह एक रहस्य है जिसे ध्यानमें रखकर आचार्य देवने इन सब जीव विशेषोंको पुद्गलमय कहा है।

शंका—उक्त कथनसे हम यह समझते हैं कि भावसंसारकी व्याप्ति

अज्ञानभाव और राग-द्वेपके साथ होनेके कारण इन एकेन्द्रियादि पर्यायों-की व्याप्ति कर्मके साथ होनेकी अपेक्षा प्रकृतमें इन्हें नामकर्म करणक कहा गया है यह तो ठीक है। पर इन्हें पुद्गलपरिणाममय कहना तो ठीक नहीं, क्योंकि ये जीवोंकी ही अवस्था विशेष हैं।

समाधान—वात यह है कि अज्ञानभाव रहते हुए इस जीवकी पर-पदार्थो में एकत्ववुद्धि वनी रहती है और राग-द्वेषके कारण उनमें इष्टा-निष्ट वुद्धि करता रहता हैं। ऐसी अवस्थामें उसे ज्ञान-दर्शनस्वभाव आत्माका वेदन न होकर अपनेपनसे पर-पदार्थोका ही वेदन होता रहता है। इसीसे इन एकेन्द्रियादि जीव-विशेषोंको प्रकृतमें पुद्गलपरिणाममय कहा है। देखो समयसार गाथा ५० से ५५ तक तथा उनकी आत्म-ख्याति टीका।

९. स्वसमय-परसमयका स्वरूप निर्देश

उक्त तथ्यको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे स्वसमय और परसमय किसे कहा जाय इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसारमें कहते हैं—

> जीवो चरित्त-दंसण-णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
> पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥

जो जीव चारित्र, दर्शन और ज्ञानमें स्थित है निश्चयसे उसे स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गल कर्मके प्रदेशोंमें स्थित हैं उसे परसमय जानो।

यों तो छहों द्रव्योंकी समय संज्ञा है, क्योंकि सभी द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायोंको प्राप्त होते हैं। उसमें भी जीवको समय इसलिये भी कहते हैं, क्योंकि वह समस्त पदार्थोके स्वभावको अवभासन करनेमें समर्थ ऐसी ज्ञान-दर्शन शक्तिसे सम्पन्न है। वही जव भेदज्ञान ज्योतिसे सम्पन्न होता हुआ अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निज स्वभावमें स्थित होता है, अर्थात् अन्याश्रित सभी प्रकारके विकल्पोंसे मुक्त होकर अपने ज्ञायक स्वरूप आत्मामें लीनता प्राप्त करता है तव वह स्वसमय कहलाता है। किन्तु जव वह अनादि मोहके उदयानुसार प्रवृत्तिके अधीन होकर अपने दर्शन-ज्ञानरूप निज स्वभावसे च्युत होता हुआ पर द्रव्योंको निमित्त कर उत्पन्न हुए मोह, राग और द्वेषादिरूप भावोंमें एकता कर प्रवृत्त होता हैं तव वह पुद्गलकर्म प्रदेशोंमें स्थित हुआ एक ही समयमें पर द्रव्योंको अपने साथ एकरूपसे जानता और रागादिरूप परणमित होता हुआ पर समय कहलाता है।

इसी तथ्यको प्रवचनसारमें स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव क्या कहते हैं, देखिये—

जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥९४॥

जो जीव पर्यायोंमें लीन हैं उन्हें परसमय कहा गया है और जो आत्मस्वभावमें लीन हैं उन्हें स्वसमय जानना चाहिये ॥९४॥

जीवों और पुद्गलोंके संयोगसे उत्पन्न हुई संसार सम्बन्धी ये मनुष्यादि जितनी असमान जातीय पर्यायें हैं उनमें मैं मनुष्य हूँ या देव हूँ या यह मेरा शरीर है इत्यादि रूप जो अहंकार और ममकार परिणाम होता है वह कर्मोदयके साथ अन्य पदार्थोंमें अनुरक्तिका ही परिणाम है और यह ऐसी अनुरक्ति है जिसके रहते हुए यह जीव अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावको भूला रहता है। इसीसे प्रकृतमें पर्यायोंमें निरत जीवको परसमय कहा गया है। शेष कथन स्पष्ट ही है।

परसमयके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए प्रवचनसारमें पुनः कहा है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा ।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥९८॥

जिनेन्द्रदेवने द्रव्यको तात्त्विकरूपसे स्वभावसिद्ध सत्स्वरूप कहा है। द्रव्य इस प्रकारका है यह आगमसे सिद्ध है। किन्तु जो ऐसा नहीं मानता वह परसमय है ॥९८॥

परमार्थसे किसी भी द्रव्यकी अन्य द्रव्यसे उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सभी द्रव्य स्वभावसिद्ध होनेसे अनादि-अनिधन हैं। कारण कि दूसरे साधनोंके द्वारा उनकी उत्पत्ति न होकर गुण-पर्यायात्मक सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावको ही मूल साधन करके स्वयं ही सिद्ध होते हुए सिद्धिको प्राप्त हैं। तथा जो द्रव्योंके द्वारा आरम्भ होता है वह दूसरा द्रव्य न होकर अनित्य पर्याय है। द्रव्य तो मर्यादा रहित त्रिकालावच्छिन्न नित्य होता है। इस प्रकार जो स्वभावसिद्ध द्रव्य है वह सत् है। सत्ताके समवायसे द्रव्य हो ऐसा नहीं है। यह उसका स्वरूप है। अथवा जिसे हम द्रव्य कहते हैं वही सत्ता है। यह जिनेन्द्रदेवने कहा है। यतः आगम भी उनकी दिव्यध्वनिका शब्दरूप है। अतः जिनदेव की उक्ति और आगम एक ही हैं। इस प्रकार जो वस्तुव्यवस्था है उसे जो स्वीकार नहीं करता

वह परसमय है। परसमय कहो या मिथ्यादृष्टि कहो दोनोंका अर्थ एक है।

शंका—पहले मनुष्यादि पर्यायमें निरत जीवको परसमय कहा और यहाँ आगमानुसार जिन वचनको स्वीकार कर जीवादि द्रव्योंका निर्णय नहीं करनेवाले जीवको परसमय कहा सो इसका कारण क्या?

समाधान—वर्तमान कालमें तत्त्वनिर्णय करनेके लिए आगम ही हमारे चक्षु हैं, क्योंकि जिनवचन और आगममें कोई अन्तर नहीं है। पण्डितप्रवर आशाधर जी अपने सागार धर्मामृतमें कहते हैं—

न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुत-देवयोः।

जिनदेवने देव और आगममें कुछ भी अन्तर नहीं कहा।

आगमसे जिनवाणीका निर्णय होता है, अतएव आगममें जिस रूपमें तत्त्वकी प्ररूपणा की गई है, जिनवाणी उससे भिन्न नहीं है। जो आसन्न भव्य जीव इस प्रकार निर्णय करके जीवादि द्रव्योंके स्वरूपको जान कर ऐसा निर्णय करता है कि मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव जीव हूँ, अन्य नहीं और ऐसे निर्णय पूर्वक अपने स्वभावभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्रमें लीन होता है वह स्वसमय है। अन्य सबमें एकत्व बुद्धिपूर्वक इष्टनिष्ट बुद्धि करनेवाला जीव परसमय है। इस प्रकार पूर्वमें जो कुछ कहा गया उसे ही प्रकृतमें दूसरे शब्दोंमें स्पष्ट किया गया है। पूर्वोक्त कथनसे इस कथनमें कोई अन्तर नहीं है। इतना अवश्य है कि यह जीव जो कुछ भी निर्णय करे वह सब आगमानुसार ही होना चाहिये यह यहाँ इस सूत्र गाथा द्वारा विशेषरूपसे समझाया गया है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि अन्तरात्मा और बहिरात्मा क्रमसे स्वसमय और परसमयके ही पर्यायवाची नाम हैं। इनकी व्याख्या करते हुए नियमसारमें कहा है—

अन्तर-बाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अन्तरंगप्पा ॥१५०॥

जो पुण्यकर्मकी कांक्षासे स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और स्तवन आदि बाह्य जल्पमें तथा अशन, शयन, गमन आदिकी मूर्च्छारूप अन्तरंग जल्पमें वर्तता है वह बहिरात्मा है। और सब प्रकारके जल्पोंसे निवृत्त होकर अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावमें स्थित है वह अन्तरात्मा है ॥१५०॥

नियमसारमें इसी विषयको स्पष्ट करते हुए पुनः कहा है—

जो धम्म-सुक्कझाणम्मि परिणदो सो वि अन्तरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो वहिरप्पा इदि विजाणाहि ॥१५१॥

जो श्रमण धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानसे परिणत है वह अन्तरात्मा है और जो श्रमण उक्त ध्यानोंसे रहित है वह बहिरात्मा है ॥१५१॥

शुक्लध्यान तो निर्विकल्प अवस्थामें ही आठवें गुणस्थानसे होता है। धर्म्यध्यान सविकल्प और निर्विकल्प दोनों प्रकारका है। सातवें गुणस्थानमें तो मात्र निर्विकल्प धर्म्यध्यान ही होता है। चौथेसे लेकर छठे गुणस्थान तक तीन गुणस्थानोंमें सवकिल्प धर्म्यध्यान वहुलतासे होता है। यथासम्भव स्वानुभूतिके कालमें निर्विकल्प धर्म्यध्यान भी होता है। जैसे आम्रवन ऐसा कहने पर यह ज्ञात होता है कि इस वनमें आम्रवृक्षोंकी वहुलता है। उसमें नीम, सीसम, आँवले आदिके वृक्ष तो हैं पर इनकी वहुलता नहीं है, इसीलिये इस वनको आम्रवन कहा जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी जानना चाहिये। अर्थात् चौथे आदि तीन गुणस्थानोंमें सविकल्प धर्म्यध्यानकी बहुलता अवश्य है पर कभी-कभी निर्विकल्प धर्म्यध्यान भी होता है। यह इसीसे स्पष्ट है कि स्वभावपर्यायकी प्राप्ति अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावमें लीनता प्राप्त किये बिना होती नहीं। इतना ही नहीं, सविकल्प अवस्थामें भी स्वभावकी ओर झुकाव वरावर अस्खलितरूपसे बना रहता है, अन्यथा उसे धर्म्यध्यान कहना नहीं बन सकता। इसी निर्विकल्प अवस्थाका स्वरूप निर्देश करते हुए नाटक समयसारमें कहा भी है—

वस्तु विचारत ध्यावते मन पावैं विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै अनुभव याकी नाम।
अनुभव चिन्तामणि रतन अनुभव हैं रसकूप।
अनुभव मारग मोक्षकौ अनुभव मोक्षस्वरूप ॥

पण्डितप्रवर टोडरमलजीने नयचक्रसे यह गाथा उद्धृत कर उसका जो अर्थ दिया है उसे यहाँ उपयोगी जान कर दे रहे हैं—

तच्चाणेसणकाले समयं वुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा ॥२६६॥

अर्थ—तत्त्वके अवलोकनका जो काल उसमें समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधन समय

जो अनुभव काल उसमें नय-प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे रत्नको खरीदनेमें अनेक विकल्प करते हैं, जब प्रत्यक्ष उसे पहिनते हैं तब विकल्प नहीं है। पहिननेका सुख ही है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी।

ज्ञानमार्गमें बंधपद्धति हेय है। ज्ञानीके तो वह ज्ञेय हो जाती है। एक शुद्धात्मा ही उपादेय है। ऐसे निर्णयपूर्वक जो शुद्धात्मामें लीनता होती है वही स्वानुभूति है। अभेद विवक्षामें सम्यग्दर्शन भी वही है। ऐसा ज्ञानी जीव क्षणमात्र भी बन्धपद्धतिमें मग्न नहीं होता।

स्वसमय और परसमयके इस स्वरूप निर्देशसे इन बातोंपर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

(१) आगममें परनिरपेक्ष और स्व-पर सापेक्षरूपसे जो दो प्रकारकी पर्यायें कही गई हैं उनसे हम जानते हैं कि जब यह जीव स्वभाव सन्मुख होकर उसमें लीनता करता है तब स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है। यही परनिरपेक्ष या स्वसापेक्ष पर्याय है। इसीको स्वभाव पर्याय भी कहते हैं। सिद्धोंकी जो ऊर्ध्वगति स्वभाव पर्याय होती है, होती तो है वह पर-निरपेक्ष ही, अन्यथा वह स्वभावपर्याय नहीं हो सकती। फिर भी आगम में जो यह कहा है कि धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे लोकाग्रके आगे सिद्धोंका गमन नहीं होता। सो इस कथन द्वारा 'सिद्धोंकी लोकाग्र तक ही ऊर्ध्वगति होती है इस तथ्यकी सिद्धि की गई है। प्रत्येक कार्यके समय जितने भी व्यवहार हेतु कहे जाते हैं वे कब किस द्रव्यने क्या कार्य किया इसकी सिद्धिके लिए ही कहे जाते हैं। सिद्धोंकी ऊर्ध्वगति स्वभाव गति है इस तथ्यका समर्थन पंचास्तिकाय गाथा ७३ की समय टीकासे भले प्रकार होता है। यथा—

बद्धजीवस्य षड्गतयः कर्मनिमित्ताः। मुक्तस्याप्यूर्ध्वगतिरेका स्वाभाविकी-त्यत्रोक्तम्।

बद्ध जीवकी छहों दिशाओंमें गति कर्मनिमित्तक होती है तथा मुक्त जीवकी एक ऊर्ध्वगति स्वाभाविक होती है।

यहाँ बद्ध जीवकी गतिको मात्र कर्मनिमित्तक कहा है। इस गतिमें धर्म द्रव्य भी निमित्त है यह नहीं कहा। सो क्यों! इसका कारण है कि धर्मादिक चार द्रव्य व्यवहारसे उदासीन निमित्तरूपसे स्वीकार किये गये हैं। वे स्वभाव और विभाव दोनों प्रकारकी पर्यायोंमें स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि स्वभाव और विभाव पर्यायोंका भेद इस आधारसे नहीं किया गया है।

हैं। उस दर्शनके अनुसार कर्ता वह हो सकता है जिसे कारकसाकल्यका पूरा ज्ञान हो और जो अपनी इच्छासे कारकसाकल्यको जुटाकर कार्यको उत्पन्न करनेके प्रयत्नमें लगा हो। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि जो जिसका कर्ता होता है वह नियमसे उस कार्यको उत्पन्न करता है। ऐसा नहीं होता कि उसके विवक्षित कार्यका कर्ता होनेपर भी कभी कार्य उत्पन्न हो और कभी न हो। कार्य उत्पत्तिके साथ उसकी व्याप्ति है। अब विचार कीजिए कि नैयायिकदर्शनके अनुसार क्या ये गुण ईश्वरको छोड़कर अन्य वाह्य निमित्तोंमें उपलब्ध हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट है कि नैयायिकदर्शनके अनुसार ईश्वरको छोड़कर अन्य निमित्त कर्ता नहीं हो सकते। इस प्रकार जब नैयायिकदर्शनकी यह स्थिति है तो जो जैनदर्शन सब द्रव्योंको स्वभावसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला मानता है उसके अनुसार अन्य निमित्त सब द्रव्योंकी पर्यायों (कार्यों) के उत्पादक हो जायँ यह तो त्रिकालमें सम्भव नहीं है। एक ओर तो हम मंच पर ऊँचे हाथ उठाकर और गाल फुलाकर लोकको अकृत्रिम होनेकी घोषणा करते फिरें और दूसरी ओर द्रव्यलोक और गुणलोकके सिवा पर्यायलोकको कृत्रिम (अन्यका कार्य) मानने लगें इसे उक्त घोषणाका विपर्यास न कहा जाय तो और क्या कहा जाय। पर्यायलोकको या तो स्वभावसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन भेदोंमें विभक्त द्रव्यरूप मानो या अन्य किसीका कार्य मानो इन दो विकल्पोंमेंसे किसी एकको ही मानना पड़ेगा। यदि उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन भागोंमें विभक्त स्वभावसे मानते हो तो पर निमित्तोंको स्वीकार करके भी उसे उनका कार्य मत मानो। एक अपेक्षासे वह स्वयं कारण (कर्ता) है और दूसरी अपेक्षासे वह स्वयं कार्य है ऐसा मानो और यदि उसे अन्य किसीका कार्य मानते हो तो ईश्वरका निषेध मत करो। एक ओर ईश्वरका निषेध करना और दूसरी ओर उसके स्थानमें अन्यको कर्ता रूपसे ला विठाना यह कहाँका न्याय है।

आगममें विभाव पर्यायोंको जो स्वपरप्रत्यय कहा है सो गलत नहीं कहा है परन्तु उस कथनके यथार्थ अर्थको समझे विना मूल वस्तुकी मुख्यताको भुलाकर उसके कार्यको परनिमित्तके आधीन कर देना तो न्याय नहीं है। पर यदि वाह्य निमित्त मूल वस्तुके समान कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं तो उन्हें इसरूपमें स्वीकार करनेसे क्या लाभ है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नैयायिक दर्शनमें स्वीकार किये गये ईश्वर (प्रेरक कारण) के स्थानमें जैनदर्शनके अनुसार मूल वस्तुको स्वीकार कर लेने

पर इस समस्याका समाधान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि नैयायिक दर्शन जिस प्रकार अन्य निमित्तोंको स्वीकार करके भी कार्यका कर्ता ईश्वरको मानता है, अन्य निमित्तोंको नहीं, उसी प्रकार जैनदर्शन अन्य निमित्तोंको स्वीकार करके भी कार्यका कर्ता स्वयं अपनेको मानता है, अन्य निमित्तोंको नहीं। इसलिए 'यदि अन्य निमित्तोंको इस रूपमें नहीं माना जाता है तो उन्हें स्वीकार करनेसे क्या लाभ है' यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि दोनों दर्शनोंमें अन्य निमित्तोंकी स्थिति लगभग एक समान है। जो मतभेद है वह कर्ताको लेकर ही है। नैयायिकदर्शन कारण द्रव्यको स्वयं अपरिणामी मानता है, इसलिए उसे समवायीकारणको गौण करके ईश्वररूप कर्ताकी कल्पना करनी पड़ी। किन्तु जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणामी नित्य है, इसलिए इस दर्शनमें नित्य होकर भी परिणमनशील होनेके कारण वह स्वयं कर्ता है यह स्वीकार किया गया है। इन दोनों दर्शनोंमें कर्ताका अलग-अलग लक्षण करनेका भी यही कारण है। यह वस्तुस्थिति है जिसे हृदयङ्गम कर लेनेसे जैनदर्शनमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप लोकको अकृत्रिम क्यों कहा गया है यह समझमें आ जाता है।

इस प्रकार जो समस्त लोकको अकृत्रिम अर्थात् अन्यका कार्य न मानकर अपने विकल्पों द्वारा स्वयं अन्यका कर्ता नहीं बनता और न अन्य द्रव्योंको अपना कर्ता बनाता है। किन्तु दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप अपने आत्मस्वभावमें स्थित रहता है वह स्वसमय है और इसके विपरीत जो अपने अज्ञानभावको निमित्तकर, सञ्चित हुए पुद्गल कर्मोंका कर्ता बनकर तथा उनको निमित्त कर उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेष और नरक-नारकादि विविध प्रकारकी पर्यायको आत्मस्वरूप मानकर उसमें रममाण होता है वह परसमय है यह सिद्ध होता है।

यहाँ यह तो है कि ये राग-द्वेष और नरक-नारकादि पर्यायें पुद्गलकर्मोंका कार्य नहीं हैं। परन्तु आत्मामें इनकी उत्पत्तिका मूल कारण अज्ञानभाव है, इसलिए यह आत्मा जब तक अज्ञानी हुआ संसारमें परिभ्रमण करता रहता है तभी तक वह इनका कर्ता होता है। किन्तु ज्ञानी होने पर उसके पुद्गल कर्मोंको निमित्त कर उत्पन्न होनेवाली इन पर्यायोंमें आत्मबुद्धिका मूलतः त्याग हो जाता है, इसलिए उस समय इनके कदाचित् होने पर भी निश्चयसे वह इनका कर्ता नहीं होता।

यद्यपि यह बात थोड़ी विलक्षण तो लगती है कि ज्ञानी जीवके कुछ काल तक ये राग-द्वेष और नर-नारकादि पर्यायें होती रहती हैं फिर भी वह इनका कर्ता नहीं होता। परन्तु इसमें विलक्षणताकी कोई बात नहीं है। कारण कि ज्ञानी जीवका जो स्वात्मा है वह न नारकी है, न तिर्यञ्च है, न मनुष्य है और न देव है। न मार्गणास्थान है, न गुणस्थान है और न जीवस्थान है। न बालक है, न वृद्ध है और न तरुण है। न राग है, न द्वेष है और न मोह है। न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। इन सबका न कारण है, न कर्ता है, न कारयिता है और न अनुमोदना करनेवाला है। वह तो कर्म, नोकर्म और विभाव भावोंसे रहित एकमात्र ज्ञायकस्वभाव है, इसलिए वह ज्ञानी अवस्थामें अपने ज्ञायकभावसे तन्मय हुई एकमात्र शुद्धपर्यायका ही कर्ता होता है। नारक आदिरूप परात्माका तन्मय होकर कर्ता नहीं होता। और यह ठीक भी है, क्योंकि जिस समय जो जिस भावरूप परिणमता है वह उस समय उसका कर्ता होता है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें कहा भी है—

> कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावा।
> अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी ॥१३०॥
> अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
> णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

जिस प्रकार सुवर्णमय भावसे सुवर्णमय कुण्डलादिक भाव उत्पन्न होते हैं और मोहमय भावसे लोहमय कटक आदि भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अज्ञानीके बहुत प्रकारके अज्ञानमय भाव उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी के सब भाव-ज्ञानमय ही उत्पन्न होते हैं ॥१३०-१३१॥

इसी बातको स्पष्ट करते हुए वे आगे पुनः कहते हैं—

> ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
> सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥२८०॥

ज्ञानी जीव राग, द्वेष, मोहको अथवा कषायभावको स्वयं अपने नहीं करता, इसलिए वह उन भावोंका अकर्ता है[1] ॥ २८० ॥

इसकी टीकामें उक्त विषयका खुलासा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

---

१. तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें रागादि भाव मेरे हैं ऐसा अभिप्राय नहीं रहता, इसलिए वह उन रागादि भावोंका अकर्ता है।

यथोक्तवस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते ततो रागद्वेष-मोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायक-स्वभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति नियमः ॥२८०॥

यथोक्त वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभावसे ही च्युत नहीं होता, इसलिए वह राग, द्वेष, मोहादि भावरूप न तो स्वयं परिणमता है और न दूसरेके द्वारा ही परिणमाया जाता है, इसलिए टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप ज्ञानी राग, द्वेष, मोह आदि परभावोंका अकर्ता ही है ऐसा नियम है ॥ २८० ॥

इसी बातको समयप्राभृतकलशमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६६॥

ज्ञानीके सभी भाव ज्ञानसे उत्पन्न होते हैं और अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं ॥६६॥

इसी बातको अन्यत्र उन्होंने दृढ़ताके साथ इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह स्वयं ज्ञान ही है, अतः ज्ञानसे अन्य वह किसे करे ? अर्थात् ज्ञानसे अन्य किसीको नहीं करता । परभावोंका अर्थात् रागादिभावोंका कर्ता आत्मा है ऐसा मानना तथा कहना व्यव-हारी जनोंका मोह है ॥६२॥

किन्तु जो श्रमणाभास इस तथ्यको न समझकर नारक आदि पर्यायों-का स्वरूपसे कर्ता आत्माको मानते हैं उन्हें लौकिकजनोंके दृष्टान्त द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द किन शब्दोंमें सम्बोधित करते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

लोयस्स कुणइ विण्हू सुर-णारय-तिरिय-माणुसे सत्ते ।
समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काए ॥३२१॥

लोय-समणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्य कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ ॥३२२॥

एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोय-समणाण दोण्हं पि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥

लौकिक मतके अनुसार तो देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य प्राणियों-को विष्णु करता है उसी प्रकार श्रमणोंके मतानुसार यदि षट्कायिक जीवोंको आत्मा करता है तो लौकिक जनोंका और श्रमणोंका एक सिद्धान्त निश्चित हुआ। उसमें कुछ विशेषता दिखलाई नहीं देती, क्योंकि ऐसा माननेपर लौकिक जनोंके अनुसार जिस प्रकार विष्णु परका कर्ता सिद्ध होता है उसी प्रकार श्रमणोंके यहाँ भी आत्मा देवपर्याय आदि-का कर्ता सिद्ध हो जाता है और इस प्रकार देव, मनुष्य और असुर सहित सब लोकके नित्य कर्ता होनेसे लौकिक जन और श्रमण उन दोनोंको ही कोई मोक्ष प्राप्त होगा ऐसा दिखलाई नहीं देता ॥३२१-३२३॥

अतः आत्मा अन्यका कर्ता होता है इस अनादि लोकरूढ़ व्यवहारको छोड़कर सिद्धान्तरूपमें यही मानना उचित है कि जिस समय जो जिस भावरूपसे परिणमता है उस समय वह उस भावका कर्ता होता है। इसी बातको समयप्राभृतके कलशोंमें पुद्गल और जीवके आश्रयसे जिन शब्दोंमें व्यक्त किया है यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

> स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
> तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥
> स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
> तस्यां स्थितायां स करोति भावं यः स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६६॥

इस प्रकार पूर्वोक्त कथनसे पुद्गल द्रव्यकी स्वभावभूत परिणाम-शक्ति विना बाधाके सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होनेपर वह अपने जिस भावको करता है उसका वही कर्ता होता है। तथा इसी प्रकार पूर्वोक्त कथनसे जीवद्रव्यकी स्वभावभूत परिणामशक्ति भी सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होनेपर वह अपने जिस भावको करता है उसका वही कर्ता होता है ॥६४-६५॥

इस प्रकार अनादिरूढ़ लोक व्यवहारकी दृष्टिसे कर्ता-कर्मकी पद्धति-का जो क्रम है वह ठीक न होकर वस्तुमर्यादाकी दृष्टिसे कर्ता-कर्मपद्धति-का क्रम किस प्रकार ठीक है इसकी सम्यक्प्रकारसे मीमांसा की।

षट्कारकमीमांसा

षट्कारक निजशक्तिसे निजमें होते भव्य ।
मिथ्या मतके योगसे उलट रहा मन्तव्य ॥

१. उपोद्घात

यहाँतक हमने वाह्यनिमित्त और निश्चय उपादानके साथ कर्तृ-कर्मभावकी मीमांसा की। अव निज शक्तियोंकी मुख्यतासे प्रत्येक द्रव्यमें जो स्वतन्त्र षट्कारकरूप परिणति होती है वह किस प्रकार घटित होती है तथा वह भूतार्थ क्यों है इसकी मीमांसाके साथ अविनाभाववश जो वाह्य वस्तुमें कारकपनेका व्यवहार किया जाता है वह अभूतार्थ क्यों है इसका इस अध्यायमें विचार करेंगे।

२. कारकका व्युत्पत्त्यर्थं तथा भेद

व्याकरणके अनुसार कारक शव्दकी व्युत्पत्ति है—'करोति क्रियां निर्वर्तयतीतकारकः'—जो प्रत्येक क्रियाके प्रति प्रयोजक हो उसे कारक कहते हैं। इस नियमके अनुसार कारक छह हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। क्रिया व्यापारमें जो स्वतन्त्ररूपसे अर्थका प्रयोजक होता है वह कर्त्ताकारक कहलाता है। कर्ताकी क्रिया द्वारा ग्रहण करनेके लिए जो अत्यन्त इष्टकारक होता है वह कर्मकारक कहलाता है। क्रियाकी सिद्धिमें जो साधकतम होता है वह करण कारक कहलाता है। कर्मके द्वारा जो अभिप्रेत होता है वह सम्प्रदान कारक कहलाता है। जो अपायकी सिद्धिमें मर्यादाभूत कारक है वह अपादानकारक कहलाता है और जो क्रियाका आधार-भूत कारक है वह अधिकरणकारक कहलाता है। ये छहों क्रियाके प्रति किसी-न-किसी प्रकार प्रयोजक हैं, इसलिए इनकी कारक संज्ञा है।

शंका—सम्वन्धको भी कारक मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्वन्ध क्रियाके प्रति प्रयोजक नहीं होता. इसलिए उसकी कारकोंमें परिगणना नहीं की गई है। उदाहरणार्थ वह जिनदत्तके मकानको देखता है इस उल्लेखमें 'जिनदत्तके' यह उल्लेख अन्यथासिद्ध है, इसलिए उसमें कारकपना घटित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो किसी-न-किसी रूपमें क्रियाके प्रति प्रयोजक

होता है कारक वही हो सकता है, अन्य नहीं। इसलिए कर्त्ता आदिके भेदसे कुल कारक छह ही हैं यही सिद्ध होता है।

३. सिद्धान्तनिर्देश

जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुके वस्तुत्वका दो दृष्टियोंसे विचार किया गया है। प्रथम दृष्टि द्वारा प्रत्येक वस्तुकी स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्वकी उद्घोषणाकर परचतुष्टयका उसमें नास्तित्व बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुका जितना भी 'स्व' है वह सब अस्तित्वमय है। उसमें परका अत्यन्ताभाव है। सजातीय या विजातीय कोई भी वस्तु अपनेसे भिन्न स्वरूपसत्ता रखनेवाली किसी भी अन्य वस्तुकी सीमाको लाँघकर उसमें प्रवेश नहीं कर सकती। जैसे किसी किलेके वज्रमय कोटका भेदन करना सम्भव नहीं वैसे ही किसी भी वस्तुकी सीमाके भीतर किसी अन्य वस्तुका प्रवेश करना सम्भव नहीं है। इसी तथ्यका उद्घाटन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयसारमें कहते हैं—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण संकमे दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो वस्तुविशेष जिस द्रव्य या गुणमें है वह अन्य द्रव्य या गुणरूपमें संक्रमित नहीं होती। वह अन्य द्रव्य या गुणरूप संक्रमित नहीं होती हुई अन्य वस्तुविशेषको कैसे परिणमा सकती है।

इसकी आत्मख्याति व्याख्यामें आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—इस लोकमें जो जितनी कोई वस्तुविशेष जितने प्रमाणमें जिस किसी चैतन्य-स्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य या गुणमें स्वरससे ही अनादिकालसे वर्त रही है वह 'वास्तवमें अपनी अचलित वस्तुस्थितिकी सीमाका भेदन करना अशक्य होनेके कारण' उसी द्रव्य या गुणमें वर्तती रहती है, वह दूसरे द्रव्य या दूसरे गुणरूपसे संक्रमित नहीं होती। वह वस्तुविशेष जब कि दूसरे द्रव्य या दूसरे गुणरूपसे संक्रमित नहीं होती तो अपनेसे भिन्न दूसरी वस्तुविशेषको कैसे परिणमा सकती है, अर्थात् नहीं परिणमा सकती। अतः परभावका अन्य किसीके द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है ॥ १०३ ॥

उक्तप्रमाणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्त्ता होकर अपना कार्य करता है और करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरणपनेको भी वही प्राप्त होता है। यही कारण है कि प्रकारान्तर-

से वस्तुके वस्तुत्वका निर्देश करते हुए बतलाया है कि वह न तो सर्वथा कूटस्थ नित्य है, और न ही सर्वथा निरन्वय क्षणिक है। किन्तु वह अर्थक्रियाकरणशील है। वह अपने अन्वयरूप स्वभावके कारण अवस्थित रहते हुए भी स्वयं उत्पाद-व्ययरूप है और व्यतिरेकस्वभावके कारण सदा परिणमनशील है। यही वस्तुका वस्तुत्व है। तात्पर्य यह है कि वह द्रव्य-दृष्टिसे ध्रुव है और पर्यायदृष्टिसे उत्पाद-व्ययरूप है। इसी तथ्यको श्रीप्रवचनसार परमागममें इन शब्दोंमें स्पष्ट किया है—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥१००॥

उत्पाद व्ययके बिना नहीं पाया जाता और व्यय उत्पादके बिना नहीं पाया जाता तथा उत्पाद और व्यय ध्रौव्यस्वरूप अर्थके बिना नहीं पाया जाता ॥ १०० ॥

यह वस्तुस्थिति है। इसीलिए ही प्रमाणके विषयका स्वरूप निर्देश करते हुए प्रमेयरत्नमालामें यह सूत्रवचन दृष्टिगोचर होता है—

सामान्य-विशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥ ४-१ ॥

प्रमाणके द्वारा ग्राह्य सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ उसका विषय है।

इस वचन द्वारा भी उक्त दोनों प्रकारसे निरूपित वस्तुत्वगर्भित वस्तुका निरूपण किया गया है। इसका यह अर्थ है कि जैसे वस्तुका सामान्य अंश परमार्थसे स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार उसका विशेष अंश भी परमार्थसे स्वतःसिद्ध है। उनका परस्परकी सिद्धिके लिए अपेक्षासे कथन करना और बात है। किन्तु अपेक्षा कथनमें है या विकल्पमें है। कोई भी वस्तु या उसका अंश आपेक्षिक नहीं होता।

शंका—जब यह बात है तो आगममें उत्पाद-व्ययरूप कार्यको पर-सापेक्ष क्यों कहा ?

समाधान—देखो, पर्यायार्थिकनयसे विचार करनेपर विदित होता है कि प्रत्येक उत्पाद-व्ययरूप कार्य अपने कालमें स्वयं है। वही कर्ता है, वही कर्म है और करण आदिरूप भी वही है। अन्य कोई उसका कर्ता आदि नहीं। फिर भी आगममें उत्पाद-व्ययरूप कार्यका जो परसापेक्ष कथन दृष्टिगोचर होता है वह केवल व्यवहारनय (नैगमनय) की अपेक्षा ही किया जाता है। सो इस समय द्रव्य कैसे उत्पाद-व्ययगर्भ कार्यरूपसे परिणत हो रहा है इसकी प्रसिद्धि करना ऐसे कथनका यही तात्पर्य है। नयचक्रमें कहा भी है—**'णिच्छयसाहणहेऊ ववहारो'** व्यवहार निश्चयकी

सिद्धिका हेतु है। पण्डितप्रवर आशाधरजीने यही बात अनगार धर्मामृतमें भी कही है।

इससे सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य अनेकान्तगर्भ अनन्त धर्मोंके समुच्चयस्वरूप है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर अनन्त धर्मात्मक वस्तु में स्वतःसिद्ध जो अनन्त धर्म उपलब्ध होते हैं उनमेंसे आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकी आत्मख्याति व्याख्याके परिशिष्टमें जिन ४७ शक्तियोंका निर्देश किया है उनमेंसे प्रकृतमें उपयोगी कतिपय शक्तियोंका उल्लेख करना इष्ट समझकर यहाँ निर्देश किया जाता है—

४. प्रकृतमें उपयोगी शक्तियोंका स्वरूप निर्देश

१. एक भावशक्ति है, जिससे प्रत्येक द्रव्य अन्वय रूपसे सदा अवस्थित रहती है। २. एक क्रियाशक्ति है जिससे प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपसिद्ध कारकोंके अनुसार उत्पाद-व्ययरूप अर्थक्रिया करता है। ३. एक कर्म शक्ति है जिससे प्राप्त होनेवाले अपने सिद्ध स्वरूपको द्रव्य स्वयं प्राप्त होता है। ४. एक कर्ताशक्ति है जिससे होनेरूप स्वतःसिद्ध भावका यह द्रव्य भावक होता है। ५. एक करण शक्ति है जिससे यह द्रव्य अपने प्राप्यमाण कर्मकी सिद्धिमें स्वतः साधकतम होता है। ६. एक सम्प्रदान शक्ति है जिससे प्राप्यमाण कर्म स्वयंके लिये समर्पित होता है। ७. एक अपादान शक्ति है जिससे उत्पाद-व्यय भावके अपाय होने पर भी द्रव्य सदा अन्वय रूपसे ध्रुव बना रहता है। ८. एक अधिकरण शक्ति है जिससे भाव्यमान समस्त भावोंका आधार स्वयं द्रव्य होता है।

ये कतिपय शक्तियाँ हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्यकी जितनी अर्थ-व्यंजनरूप पर्यायें होती हैं वे सब कारकान्तर निरपेक्ष ही होती हैं। वस्तुः कारकान्तरोंका अन्य द्रव्यके किसी भी कार्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यमें ऐसी भी एक शक्ति है जिससे किसी का अपनेसे भिन्न अन्य किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका नाम सम्बन्ध शक्ति है। इससे यही सूचित होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही स्वामी है। इस प्रकार इतने विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्यका ध्रुवस्वरूप या उत्पाद-व्ययरूप जितना भी 'स्व' है वह सब वस्तु ही है। न तो वस्तु अपने 'स्व' का उल्लंघन कर अन्यरूप हो सकती है और न ही उसमें अन्य वस्तुका किसी भी अपेक्षासे सम्बन्ध ही हो सकता है। वह निरन्तर अपनी अचलित सीमामें सदाकाल अवस्थित रहती है ऐसी परनिरपेक्षरूपसे स्वयंसिद्ध वस्तु व्यवस्था है।

५. बाह्य षट्कारक प्रक्रियाका निर्देश

आगे षट्कारकोंका व्यवहारनय और निश्चय नयकी अपेक्षा विचार करना है। उसमें भी सर्वप्रथम व्यवहार नयसे इस विषयको स्पष्ट करेंगे। यह तो सुनिश्चित है कि असद्भूत व्यवहारनय पराश्रित विकल्प है, इसलिये इस नयकी अपेक्षा सभी कार्योंका पराश्रित रूपसे ही कथन किया जाता है। अपने प्रतिनियत परिणाम स्वभावके कारण किस समय किस द्रव्यने क्या कार्य किया यह इस नयका विषय नहीं है। जैसे मिट्टी अपने प्रतिनियत परिणाम स्वभावके कारण जिस समय स्वयं स्वतन्त्र रूपसे घट परिणामको जन्म देती है उस समय कुम्भकार स्वयं स्वतन्त्र रूपसे जो हस्तादिकी क्रिया और विकल्प करता है उसमें बाह्य व्याप्ति वश घट निष्पत्तिकी अपेक्षा अनुकूलताका व्यवहार होनेसे कुम्भकार घटका कर्ता कहा जाता है। वस्तुतः उस समय मिट्टी और कुम्भकारने एक साथ पृथक्-पृथक् दो क्रियायें कीं। फिर भी मिट्टीने घट परिणमन रूप क्रिया की इसे गौण कर यह नय कुम्भकारको उस क्रियाका कर्ता स्वीकार करता है। इसीलिये यह नय असद्भूत अर्थको स्वीकार करने वाला होनेसे उसे उपचरित स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कुम्भकार यथार्थमें मिट्टीकी घट परिणमनरूप क्रियाको करनेवाला नहीं होने पर भी अनादिरूढ़ लौकिक जनोंके उक्त प्रकारके असद्भूत व्यवहारको लक्ष्यमें लेकर बाह्य व्याप्तिवश जो नय इसे (कुम्भकारने घट बनाया इसे) स्वीकारता है वह आगममें अपरमार्थभूत ही स्वीकार किया गया है।

शंका—यदि यह बात है तो आगममें इसकी सम्यक् नयोंमें क्यों परिगणना की गई है?

समाधान—यह मुख्यार्थको स्वीकार करता है, इसलिये इसकी सम्यक् नयोंमें परिगणना नहीं की गई है। किन्तु यह नय मुख्यार्थको सूचित करता है, इसलिये इस नयकी सम्यक् नयोंमें परिगणना की गई है। दो द्रव्योंमें स्वरूप सत्ताकी अपेक्षा सर्वथा भेद होने पर भी अभेदकी कल्पना करना इसीका नाम असद्भूत व्यवहार है। प्रकृतमें इसीका दूसरा नाम उपचार है।

शंका—पंचाध्यायीकारने दो पदार्थोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको स्वीकार करनेवाले नयको नयाभास कहा है सो क्यों?

समाधान—यह नय परमार्थभूत अर्थको स्वीकार नहीं करता। फिर

भी यदि कोई व्यवहाराभासी जन इसे परमार्थभूत मानता है तो उसकी वह कल्पना परमार्थभूत अर्थका अपलाप करनेवाली होनेसे उस (व्यवहाराभासी) के उस विकल्पको पंचाध्यायीकारने नयाभासोंमें परिगणित किया है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

इस प्रकार व्यवहारसे कुम्भकारको घटका कर्ता क्यों कहा जाता है इसका विचार किया। अब इसी दृष्टिसे कर्म कारकका विचार करते हैं—

कुम्भकार घट बनानेकी क्रिया कभी भी नहीं कर सकता। वह क्रिया मात्र मिट्टी ही करती है। उसमें भी जो मिट्टी बालु बहुल हो या कंकरीली हो वह भी घटरूप परिणमन नहीं कर सकती। कुम्भकार तो मात्र घटकी उत्पत्तिके समय स्वयं अपनी हस्तादिकी क्रियाके करनेके साथ कुम्भ बनानेका विकल्प ही कर सकता है। इस प्रकार मालूम पड़ता है कि कुम्भकारका अभीप्सित घट बनानेका होने पर भी वह स्वरूपसत्तापनेकी अपेक्षा मिट्टीसे अत्यन्त भिन्न होनेके कारण घट परिणमनरूप मिट्टीकी क्रिया त्रिकालमें नहीं कर सकता। जो अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहारवश यह मानता है कि कुम्भकार मिट्टीसे स्वयं अपनी क्रिया द्वारा घट बनाता है उसका ऐसा मानना असद् विकल्प होनेसे आगममें ऐसे विकल्पकी असत् व्यवहारमें परिगणना कर बाह्य व्यादितवश इसे उपचरित रूपसे स्वीकार किया गया है।

शंका—बालकमें सिंहके समान क्रौर्य-शौर्य आदि गुणोंको देखकर ही उसमें सिंहका उपचार कर यह कहा जाता है कि यह बालक सिंह है। किन्तु जब कि कुम्भकारमें मिट्टीका एक भी गुण दिखलाई नहीं देता ऐसी अवस्थामें मिट्टीके घट परिणमनरूप कार्यको कुम्भकारने किया इसे परमार्थ अर्थको सूचित करनेवाला तो माना नहीं जा सकता। उपचरित कथन भी कहा जाय तो कैसे कहा जाय ?

समाधान—यह सच है कि स्वरूपसत्ताकी अपेक्षा कुम्भकारमें मिट्टी का एक भी गुण नहीं पाया जाता और इसलिये घटपरिणमनरूप कार्यका कर्ता कुम्भकारको कहना परमार्थकी बात तो छोड़िये, उपचारसे भी कहना नहीं बनता, वह केवल अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहारमात्र है। फिर भी आचार्योंने ऐसे व्यवहारको जो उपचरित कहा है सो वह केवल सत्त्व, प्रमेयत्व आदि सादृश्य सामान्यकी अपेक्षा मिट्टीसे कुम्भकारमें अभेद मान कर ही कहा है। यहाँ आदि पदसे कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व, सम्प्रदानत्व,

अपादानत्व और अधिकरणत्व धर्मोंका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि ऐसे उपचारमें सत्त्व आदि सादृश्य सामान्यकी अपेक्षा कुम्भकारको मिट्टीरूपसे स्वीकार कर पहले कुम्भकारमें मिट्टीके आवश्यक कर्तृत्व आदि गुण-धर्म स्वीकार किये गये और तब जाकर यह कहा गया कि कुम्भकार घट बनाता है, कुम्भ कुम्भकारका कर्म है आदि।

६. शंका-समाधान

शंका—जब कुम्भकार विवक्षित हस्तादि क्रिया और विकल्प करता है तभी मिट्टी घटपरिणमनरूप कार्य करती है, इसीलिये यदि यह कहा जाय कि मिट्टी घटरूप परिणमन करती है और कुम्भकार परिणमाता है तो क्या आपत्ति है?

समाधान—परमार्थसे ऐसा माननेमें यह आपत्ति है कि जो सत्ताकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न है वह अपनेसे भिन्न दूसरेको कैसे परिणमा सकता है, अर्थात् त्रिकालमें नहीं परिणमा सकता। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्दने भी इसे (स० सा० गा० १०७)में असद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार किया है।

शंका—ऐसा व्यवहार तो होता है। क्या उसे असत्य माना जाय?

समाधान—ऐसा व्यवहार होता है इसमें सन्देह नहीं। ऐसे व्यवहारका हम निषेध भी नहीं करते, क्योंकि उससे इष्टार्थकी सूचना मिलती है। या ज्ञान होता है। मिट्टी घटरूप परिणमी यह प्रकृतमें इष्टार्थ है इसकी सूचना हमें उक्त व्यवहारसे मिल जाती है, इसीलिये आगममें उसे स्थान मिला हुआ है और इस दृष्टिसे उसे असत्यकी कोटिमें परगणित भी नहीं किया गया है। वस्तुतः यह ऐसा ही व्यवहार है जैसे सुननेवाला कोई व्यक्ति व्याख्यान देनेवालेसे कहे कि आप सुनाते जाइये हम सुन रहे हैं। विचार करिये यह सुनाना क्या वस्तु है? व्याख्याताका जो कहना है वही तो दूसरीकी अपेक्षा सुनाना है। जितना भी लौकिक व्यवहार होता है वह प्रायः इसी प्रकारका होता है। उसे परमार्थ मानना ही भूल है और इसीलिये अध्यात्मरत होनेके लिए अन्याश्रित सभी प्रकारका व्यवहार त्याज्य है यह उपदेश दिया गया है।

शंका—तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायमें एक उपकार प्रकरण है। उसमें बतलाया है कि कार्यकी अपेक्षा एक द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे

द्रव्य का उपकार करता है, अतः कुम्भकार घटका कर्ता है इसे उपकार-रूपमें यथार्थ माननेमें आपत्ति ही क्या है ?

समाधान—'प्रकृतमें उप समीपे करोति इति उपकारः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार ही 'उपकार' शब्दसे यह सूचित होता है कि मिट्टीके घट-परिणमनरूप क्रियाका कर्तृत्व कुम्भकारमें नहीं है। किन्तु जब मिट्टी घटरूपसे परिणमन करती है तब कुम्भकार बाह्य क्षेत्रादिकी अपेक्षा उसके सन्निकट रहकर अपनी हस्तादिके व्यापाररूप क्रिया करता है। यही कारण है कि कुम्भकार घट बनाता है इसे परमार्थरूप न मानकर उपचरित कथन ही कहा गया है। इसी प्रकार उपकार शब्दके अर्थमें अन्य जितने पर्याय नाम आये हैं उनका भी यही अर्थ समझना चाहिये।

इस प्रकार व्यवहारसे कुम्भको कुम्भकारका कर्म क्यों कहा जाता है इसका विचार किया। इसी प्रकार व्यवहारनयसे करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारकोंके विषयमें भी विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि घटनिष्पत्तिके समय जो चक्र, चीवर आदिको करणसंज्ञा तथा पृथिवी आदिको जो अधिकरण संज्ञा दी जाती है वह व्यवहारनयसे ही दी जाती है। बाह्य निमित्तत्व की अपेक्षा विचार किया जाय तो वे सब कुम्भकार, चक्र, चीवर और पृथिवी आदि समान हैं और इसीलिये आचार्य अकलंकदेवने तत्त्वार्थ वार्तिक अ० १ सू० २० में इन सबको निमित्तमात्र कहा है। ये अनेक हैं। इनमेंसे किसी एकमें घटनिष्पत्तिकी अपेक्षा असद्-भूत व्यवहारसे भी षट्कारकपना घटित नहीं होता। अब तो ऐसे यन्त्र भी बन रहे हैं जिनसे घटनिष्पत्तिके अनुकूल क्रियाकी निष्पत्ति हो सकती है। तब भी मिट्टी ही घटरूप परिणमेगी, यन्त्र नहीं। इसलिये निश्चित होता है कि घटनिष्पत्तिकी वास्तविक कारकता मिट्टीमें ही घटित होती है, कुम्भकार आदि या यन्त्रादिमें नहीं। अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर बाह्य व्याप्तिवश कुम्भकार आदिको घटका कर्ता कहना यह केवल विकल्प ही है, परमार्थरूप नहीं। इसके लिये सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ५ के 'लोकाकाशेऽवगाहः' सूत्र पर तथा अन-गारधर्मामृत अ० १, श्लोक १०४ की स्वोपज्ञ टीका पर दृष्टिपात कर वस्तुस्थितिको हृदयंगम कर लेना चाहिये। इस विषयको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है—

यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः, आकाशस्य क आधार इति। आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः। स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। यद्याकाशं स्व-

प्रतिष्ठम्, धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधारः कल्प्यः। तथा सत्यनवस्थाप्रसंग इति चेत्, नैष दोषः, नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्येत। सर्वतोऽनन्तं हि तत्। ततो धर्मादीनां पुनरधिकरणमाकाशमित्युच्यते—व्यवहारनयवशात्। एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव। तथा चोक्तम्—क्व भवानास्ते?, आत्मनि इति। धर्मादीनि लोकाकाशान्न बहिः सन्तीत्येतावदत्राधाराधेयकल्पनासाध्यं फलम्।

शंका—यदि धर्मादिक द्रव्योंका लोकाकाश आधार है तो आकाशका क्या आधार है?

समाधान—आकाशका अन्य कोई आधार नहीं है, वह स्वप्रतिष्ठ है।

शंका—यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही हैं। यहाँ यदि धर्मादिक द्रव्योंका अन्य आधार कल्पित करते हों तो आकाशका भी अन्य आधार कल्पित करना चाहिये। किन्तु ऐसा होनेपर अनवस्थाका प्रसंग प्राप्त होता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाशसे अधिक परिमाणवाला अन्य द्रव्य नहीं है जिसमें आकाश स्थित है यह कहा जावे। वह परिमाणकी अपेक्षा सबसे अनन्तगुणा है। और इसीलिये व्यवहारनयसे धर्मादिक द्रव्योंका अधिकरण आकाशको कहते हैं, एवम्भूतनयकी अपेक्षा तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। ऐसा कहा है—आप कहाँ हैं? अपनेमें। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं हैं इतना ही यहाँ आधाराधेयकल्पनासे प्रयोजन सिद्ध होता है।

शंका—एवम्भूतनय पर्यायार्थिकनय है जो धर्मका धर्मीसे भेद करके कथन करता है, किन्तु निश्चयनय अभेद और अनुपचाररूपसे वस्तुकी व्यवस्था करता है, इसलिये सर्वार्थसिद्धिके उक्त कथनकी निश्चयनयके साथ संगति कैसे बैठेगी?

समाधान—धर्मको धर्मीमें अन्तर्लीन करके स्वीकार करनेपर वही कथन निश्चयनयका विषय हो जाता है। इसलिए प्रकृत कथनको निश्चयनयकी अपेक्षा स्वीकार करनेमें कोई बाधा नहीं आती। सर्वार्थसिद्धिमें भावनिक्षेपको मुख्यकर, वह कथन किया है और निश्चयनयमें गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायवान्‌में अभेदकी मुख्यता है।

शंका—उक्त कथन द्वारा दो द्रव्योंमें आधार-आधेयभावको जो कल्पना कहा गया है सो इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टयको छोड़कर अन्यरूप त्रिकालमें नहीं होता यह ध्रुव सत्य है। इस अपेक्षा यदि विचार कर देखा जाय तो एक द्रव्यके षट्कारक उसके उसीमें घटित होते हैं, अन्य द्रव्यके तद्व्यतिरिक्त अन्य द्रव्यमें नहीं। यही कारण है कि प्रकृतमें धर्मादिक द्रव्योंको आधेय कहना और आकाशको उसका आधार कहना प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर की गई मात्र कल्पना ही है, क्योंकि भेद होनेपर भी अभेदका उपचार करके यह कहा गया है। देखो अनगार-धर्मामृत अ० १, श्लो० १०४ की स्वोपज्ञ टीका।

शंका—तो क्या यह कल्पना वन्ध्याके पुत्रकी कल्पनाके समान सर्वथा निराधार ही की गई है ?

समाधान—नहीं, आकाशद्रव्य परिमाणकी अपेक्षा व्यापक है, और धर्मादिक द्रव्य व्याप्य हैं। इस वाह्य व्याप्तिको देखकर ही यह कल्पना की गई है कि धर्मादिक द्रव्य आधेय हैं और आकाश द्रव्य उनका आधार है।

शंका—जब कि आकाशमें अवगाहनहेतुत्व नामका गुण है, तब आकाश धर्मादिक द्रव्योंको वास्तवमें अवगाहन करता है ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—ऐसा माननेपर धर्मादिक द्रव्य आकाशरूप होकर उनका अभाव हो जायगा और ऐसा होनेपर आकाशका भी अभाव हो जायगा। जो युक्ति-युक्त नहीं है। अतएव मात्र उक्त गुणके कारण आकाशमें यह व्यवहार होता है कि धर्मादिक द्रव्य आधेय हैं और आकाश उनका आधार है। पंचास्तिकाय समय टीकाके **'व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ'** इस वचनके अनुसार आकाशद्रव्य सव द्रव्योंके अवगाहनमें व्यवहारनयकी अपेक्षा उदासीन निमित्त है यही सिद्ध होता है, ऐसा प्रकृतमें समझना चाहिए, दूसरे इस गुणके कारण ऐसा नियम हो जाता है कि आकाश एक मात्र आधार व्यवहारका वाह्य हेतु है, अन्य प्रकारके कार्योंका व्यवहार हेतु नहीं।

शंका—यदि ऐसा है तो जिनकी प्रेरणासे अन्य जीव-पुद्गलोंमें क्रिया होती है उन्हें निमित्तकर्तारूपसे स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अन्यथा इन धर्मादिक द्रव्योंको उदासीन निमित्त कहना वनता नहीं ? मालूम पड़ता है कि इसीलिए ही आचार्योंने वायु आदिको ध्वजा आदिके फड़कनेमें निमित्तकर्ता कहा है ?

समाधान—वायु आदिमें अपनी क्रिया द्वारा निमित्त व्यवहार होता है और आकाशादिमें क्रियाके विना निमित्त व्यवहार होता है। मात्र इस भेदको दिखलानेके लिये ही आचार्योंने इनमें भिन्न-भिन्न कारक व्यवहार किया है। वस्तुतः अन्य द्रव्यके कार्यका क्रियमाणपना गतिक्रिया करनेवाली वायु आदिमें नहीं है। विचार करके देखा जाय तो ऐसा व्यवहार सविकल्प क्रियावान् जीवमें ही घटित होता है, क्योंकि 'मैं इसका कार्य करता हूँ' यह मात्र इच्छापूर्वक होनेवाला विकल्पाश्रित व्यवहार है। जहाँ विकल्प नहीं वहाँ ऐसा व्यवहार भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टिके 'मैं इस कार्यको करता हूँ या कर सकता हूँ' ऐसी श्रद्धा निर्मूल हो जाती है। अतः आगममें अज्ञानभावके साथ ही इसकी व्याप्ति स्वीकार की गई है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए स्वयंभूस्तोत्रमें आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

> अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याव्यवसायदोषम् ।
> इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरंजनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥१२॥

यह जगत् अनित्य है, अशरण है, मैंने यह किया—यह करता हूँ—यह करूँगा। इस प्रकार अहंक्रिया द्वारा मिथ्या अध्यवसाय (विकल्प) दोषको प्राप्त है। तथा जन्म, जरा और मरणसे पीड़ित है। हे जिनेन्द्र देव एक आप ही ऐसे हैं जो पूरी तरह निरञ्जन शान्तिको प्राप्त हुए हैं ॥१२॥

स्वामी समन्तभद्रके इस तथ्यपूर्ण वचनसे स्पष्ट है कि जबतक श्रद्धामूलक अज्ञानभाव है तभी तक ही इस जीवके परका कार्य कर सकनेका अहंकार है। ज्ञानभावमें ऐसा अहंकार स्वयं लुप्त हो जाता है।

भगवान् अभिनन्दन जिनकी स्तुतिके प्रसंगसे भी इसी तथ्यको उन्होंने पुनः दुहराते हुए कहा है कि प्रत्येक संसारी प्राणी अपनेसे भिन्न परद्रव्यका कार्य करनेमें सर्वथा अनीश है फिर भी अहंक्रियासे पीड़ित होनेके कारण ऐसा मानता है कि मैं अपनेसे भिन्न परद्रव्यका कार्य कर सकता हूँ। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रदेवने भी समयसार कलश २०५ में इसी तथ्यको स्पष्ट शब्दोंमें दुहराते हुए यह स्वीकार किया है कि भेदज्ञानके पहले अज्ञानभावके कारण 'अन्य द्रव्यका कार्य करता हूँ' यह मान्यता बनी रहती है। किन्तु भेदज्ञान होने पर ऐसी मान्यता स्वयं लुप्त हो जाती है। अतएव जो महानुभाव 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यका कार्य

करता है' इस मान्यताको श्रुतज्ञान कहनेका ढिंढोरा पीटते हुए नहीं अघाते हैं उनकी वह मान्यता मिथ्या श्रुतज्ञान कैसे है यह सिद्ध होता है।

७. परमार्थको स्वीकार करनेका फल

ऐसा नियम है कि जहाँ पर आकुलता है वहीं पर परतन्त्रता है और जहाँ पर निराकुलता है वहीं पर स्वतन्त्रता है, क्योंकि आकुलताकी परतन्त्रताके साथ और निराकुलताकी स्वतन्त्रताके साथ व्याप्ति है। अतएव उक्त कथनके समुच्चयरूपमें यही निश्चय करना चाहिये कि जो निश्चय कथन है वह यथार्थ है वस्तुभूत है और कर्ता, कर्म आदिकी वास्तविक स्थितिको सूचित करनेवाला है। तथा जो व्यवहार कथन है वह विवक्षित कार्यको अन्यके द्वारा बतलानेवाला होनेसे उपचरित है, अभूतार्थ है, उसे परमार्थ माननेपर वह कर्ता, कर्म आदिकी वास्तविक स्थितिका अपलाप करनेवाला है। जो व्यवहाराभासी जन कर्ता-कर्म आदिकी यथार्थ स्थितिका अपलाप कर व्यवहार कथनको यथार्थ मानते हैं उनकी वह श्रद्धा परावलम्बी होनेसे वे स्वरूपसे परनिरपेक्ष आत्मतत्त्वको उपलब्ध करनेमें समर्थ नहीं होते—अतएव संसारके ही पात्र बने रहते हैं। और परमार्थको जाननेवाले जो पुरुष व्यवहारको गौणकर परमार्थस्वरूप आत्माके आश्रयसे प्रवृत्ति करते हैं वे क्रमशः मोक्षके पात्र होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीवके सविकल्प अवस्थामें प्रशस्त रागरूप व्यवहार रत्नत्रयके आश्रयसे जो प्रवृत्ति होती है उसके क्रमशः छूटते जानेका यही कारण है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके सविकल्प अवस्थामें पराश्रित व्यवहार होता तो अवश्य है पर वह उसका श्रद्धाकी अपेक्षा कर्ता नहीं होता। इस अवस्थामें भी वह आत्मपरिणाम-का ही कर्ता होता है। इस विषय-विशेष पर प्रकाश हम कर्ता-कर्म अधिकारमें डाल ही आये हैं। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर आचार्यवर कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें यह वचन कहा है—

> कत्ता करण कम्म फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
> परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

जो श्रमण 'आत्मा ही कर्ता है, आत्मा ही करण है, आत्मा ही कर्म है और आत्मा ही फल (सम्प्रदान) है ऐसा निश्चयकर यदि अन्यरूप नहीं परिणमता है तो वह नियमसे शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है ॥१२६॥

ऐसे निश्चयपूर्वक स्वभाव सन्मुख होनेके फलस्वरूप ही निश्चय

मोक्षमार्गकी प्राप्ति होनेपर यह अनादि चतुर्गति भ्रमणसे त्रस्त हुआ संसारी जीव संसारसे छूटकर सिद्धपदका भागी होता है। इसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यक्चारित्र भी इसीका नाम है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार अध्याय १ में कहते हैं—

> चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
> मोह-क्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

इसका अर्थ करते हुए पण्डित श्री हेमराजजी पांडे लिखते हैं—

निश्चय कर अपनेमें अपने स्वरूपका आचरणरूप जो चारित्र वह धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव है। जो स्वभाव है वह धर्म है। इस कारण अपने स्वरूपके धारण करनेसे चारित्रका नाम धर्म कहा गया है। जो धर्म है वही समभाव है ऐसा श्रीवीतरागदेवने कहा है। वह साम्यभाव क्या है? उद्वेगपनेसे रहित आत्माका परिणाम वही साम्यभाव है।

इसकी तत्त्वदीपिका टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं—

स्वरूपे चरणं चारित्रम्, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद् धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात् साम्यम्। साम्यं तु दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोह-क्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।

आत्माके शाश्वत स्वरूपमें रममाण होना चारित्र है। इसका तात्पर्य है—अपने उपयोगरूप परिणामके द्वारा स्वसमयमें प्रवृत्त होना। वस्तुके स्वभावरूप होनेसे इसीका नाम धर्म है। इसका तात्पर्य है—शुद्ध चैतन्यका प्रकाशन। और वही यथावस्थित आत्माके गुणस्वरूप होनेसे साम्य कहलाता है। साम्यभाव वह है जो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मके उदयको निमित्तकर होनेवाले मोह और क्षोभरूप विकारी परिणामोंसे अत्यन्त मुक्त जीवका परिणाम है ॥ ७ ॥

इसका आशय पण्डित श्री हेमराज पांडेजी ने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

अभिप्राय यह है कि वीतराग चारित्र वस्तुका स्वभाव है। वीतराग-चारित्र, निश्चयचारित्र, धर्म, सम परिणाम ये सब एकार्थवाचक हैं। और मोहकर्मसे जुदा निर्विकार जो आत्माका परिणाम स्थिररूप सुखरूप वही चारित्रका स्वरूप है ॥ ७ ॥

शंका—बाह्य-आभ्यन्तर चारित्रमोहनीयका पूर्ण उपशम या क्षय-क्रमशः ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें ही पाया जाता है, इसलिए प्रकृतमें उक्त चारित्रका लक्षण उक्त गुणस्थानोंको लक्ष्यमें रखकर कहा गया है ऐसा माननेमें आपत्ति ही क्या है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जैसे ज्ञानावरणके क्षयोपशममें तारतम्य होनेसे ज्ञानमें तारतम्य स्वीकार किया गया है उसी प्रकार चारित्र-मोहनीयके उपशम, क्षय या क्षयोपशममें तारतम्य होनेसे सद्भूत व्यव-हारनयसे चारित्रमें भी तारतम्य स्वीकार किया गया है। निश्चयनय अभेद और अनुपचारको ही स्वीकार करता है, इसलिए तत्त्वदृष्टिसे चौथे आदि गुणस्थानोंमें जो भी स्वभाव पर्याय होती है उसका स्वभावसे अभेद होनेके कारण उसमें गुणस्थान भेद लक्षित नहीं होनेसे एक आत्मा ही प्रद्योतित रहता है। चौथे गुणस्थानमें उस स्वभावपर्यायका उदय हो जाता है, क्योंकि वहाँपर सम्यग्दर्शन प्राप्तिके कालमें अन्तर्मुहूर्तकाल-तक गुणश्रेणि निर्जरा नियमसे होती है। जो स्वरूपरमणरूपचारित्रके होनेपर ही सम्भव है। यह तो चौथे गुणस्थानकी स्थिति है। पाँचवें गुणस्थानसे वह अवस्थितरूपसे होने लगती है। निर्विकल्प अवस्थामें तो वह होती ही है सविकल्प अवस्थामें भी होती है। जिसका उदय स्वरूपरमणरूप चारित्रकी प्राप्ति होनेपर ही सम्भव है। जो संसारी जीव चौथे आदि गुणस्थानोंको प्राप्त होता है वह स्वरूपरमणताके कालमें ही उन-उन गुणस्थानोंका अधिकारी होता है। ऊपर चढ़नेका अन्य कोई मार्ग नहीं, क्योंकि किसी भी स्वभाव पर्यायकी प्राप्ति अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभावमें उपयोगके एकाकार होनेपर ही होती है ऐसा एकान्त नियम है। यही कारण है कि छठवें गुणस्थानकी प्राप्ति मात्र सातवें गुणस्थानसे पतन होनेपर ही स्वीकार की गई है।

एक बात और है और वह यह कि जो मिथ्यादृष्टि अविरत सम्य-ग्दृष्टि गुणस्थानको प्राप्त करता है उसके अनन्तानुबन्धीका कम-से-कम सदवस्थारूप उपशम अवश्य रहता है। वहाँ पहुँचकर वह उसकी विसंयोजना भी कर सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि उसके तत्सम्बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका भी अभाव रहता है। यतः यह अनन्तानु-बन्धीकषाय मिथ्याचारित्रका अविनाभावी है इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसके व्रतादिकी प्राप्तिकी अपेक्षा अविरतिके रहते हुए भी विषयकषायमें रमणरूप मिथ्याचारित्र नहीं होता। उसमें साभिप्राय ऐसी अविरतिका सर्वथा निषेध है। स्वामित्व बुद्धिके विना ही उसकी अप्रत्या-

ख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायको निमित्तकर अविरतिरूप परिणति देखी जाती है। स्वामित्वकी दृष्टिसे वह अपने ज्ञायकस्वभाव आत्माका ही स्वामी है और उसीका उपासक है। अन्य सबके साथ उसके स्वामी-सेवकभावका सर्वथा अभाव ही रहता है और इसी कारण सम्यग्दृष्टिको आगममें ज्ञान-वैराग्य शक्ति सम्पन्न स्वीकार किया गया है। वह पंचेन्द्रियोंके विषयोंका भोग तो करता है फिर भी उनका भोक्ता नहीं होता। देखो, कैसी भावनाके कालमें यह जीव मिथ्यादृष्टि अर्थात् अनन्तसंसारी बना रहता है और उस भावनाका लोप होनेपर किस प्रकार सम्यग्दृष्टि हो जाता है इस तथ्यका निर्देश करते हुए आचार्य-कुन्दकुन्ददेव समयसारमें लिखते हैं—

> अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं।
> अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
> अत्थि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं आसि पुव्वं हि।
> होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥
> एदं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
> भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२

जो जीव सचित्त, अचित्त और अन्य पदार्थोंमें मैं यह हूँ, यह मैं हूँ, मैं इसका हूँ, यह मेरा है, यह मेरा पहले था, मैं इसका पहले था, यह मेरा पुनः होगा और मैं इसका पुनः होऊँगा इस जातिका अन्य पदार्थोंमें असत् विकल्प करता है वह नियमसे मूढ़ है, अज्ञानी है, वहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है, परद्रव्यप्रवृत्त है या परसमयमें स्थित है। किन्तु जो अन्य पदार्थोंमें इस जातिका झूठा विकल्प नहीं करता वह अमूढ़ है, ज्ञानी है, अन्तरात्मा है, सम्यग्दृष्टि है, स्वद्रव्यप्रवृत्त है या स्वसमयमें स्थित है ॥२० से २२॥

इस प्रकार इस तथ्यपूर्ण कथनसे यह स्पष्ट भासित हो जाता है कि जो आत्मातिरिक्त अन्य जड़-चेतन पदार्थोंमें निजपनेके अभिप्रायपूर्वक प्रवृत्ति या विकल्प करता है या अनुकूल प्रतिकूल समझकर उसमें सुख-दुःख मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। अतः उसीके साभिप्राय अविरति पाई जाती है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है उसके श्रद्धाकी अपेक्षा उक्त प्रकारकी अविरति या परद्रव्यप्रवृत्त प्रवृत्ति या उस प्रकारके विकल्पका सर्वथा अभाव है। जो उसके परपदार्थोंको निमित्तकर प्रवृत्ति या विकल्प देखा भी जाता है 'वह मैं या मेरा' ऐसे आत्मपनेके अभिप्रायपूर्वक न होनेसे परमार्थसे

वह उसका न तो कर्ता होता है, न कारयिता होता है और न ही अनुमन्ता होता है। अभी जो भी संयोग बना हुआ है उसका सम्बन्ध अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायमूलक ही जानना चाहिये, क्योंकि सम्यग्दर्शनादिसे तन्मय हुआ आत्मतत्त्व ही उसका स्व है। अन्य जितना ज्ञानावरणादि कर्म, कर्मनिमित्तक रागादि तथा शरीरादि और पुत्र, मित्र, धन आदि जितना भी परिकर है वह सब न तो उसमें है, न उसका है और न ही वह है। वह तो एकमात्र ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही है। भेद विवक्षामें वह गुण भी नहीं तथा सम्यग्दर्शनादि पर्याय भी नहीं। वह तो जिसमें अनन्त धर्म अन्तर्लीन हैं ऐसा एक धर्मी है और उसीका भोक्ता है।

संवर अधिकारमें जो यह कहा है कि उपयोग (पर्याय) में उपयोग आत्मा है और क्रोधादिकमें क्रोधादिक हैं। न तो उपयोगमें क्रोधादिक और कर्म-नोकर्म हैं और न ही क्रोधादिक और कर्म-नोकर्ममें उपयोग है। उनमें संज्ञाभेद और लक्षणभेद आदि होनेसे आधारभेद सुनिश्चित है। ऐसी अन्तःश्रद्धा यदि सम्यग्दृष्टिकी न हो तो वह संवर और निर्जरापूर्वक मोक्षका अधिकारी त्रिकालमें नहीं हो सकता।

असद्भूत व्यवहारनयसे विचार किया जाय तो वह इन्द्रियोंका सेवन करता है पर परमार्थसे उनका सेवक नहीं होता। वह परका न तो स्वामी है और न गुलाम ही है। वह तो अपना स्वामी है और उसीका सेवक भी है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टिके श्रद्धाकी अपेक्षा साभिप्राय पराश्रित प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव ही रहता है। जो उसके अप्रत्याख्यान आदि कषाय निमित्तक पराश्रित प्रवृत्ति कही भी जाती है वह अनन्तानुबन्धी कषायमूलक न होनेसे उसके स्वरूप रमणरूप चारित्रके स्वीकार करनेमें आपत्ति ही क्या हो सकती है।

सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व भाव तो होता ही नहीं। उसके यथाख्यात चारित्रके पूर्व जो राग-द्वेष स्वीकार किये गये हैं सो वे भी अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार किये गये हैं। इसी तथ्यको आचार्य अमृतचन्द्रदेव समयसार गाथा १७२ में स्वीकार करते हुए लिखते हैं—

यो हि ज्ञानी बुद्धिपूर्वकराग-द्वेष-मोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव। किन्तु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबन्धः स्यात्।

जो वास्तवमें ज्ञानी है उसके बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूपी आस्रव-

भावोंका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है। किन्तु वह भी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्टरूपसे देखने, जानने और आचरनेमें असमर्थ होता हुआ जघन्यरूपसे ही ज्ञानको देखता, जानता और आचरता है तबतक उसके जघन्य भाव अन्यथा हो नहीं सकता इससे अनुमान किये गये अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकके उदयका सद्भाव होनेसे पुद्गलकर्मका बन्ध होता है।

मन द्वारा बाह्य विषयोंका आलम्बन करके जो परिणाम प्रवृत्त होते हैं और अपने अनुभवमें भी आते हैं तथा दूसरे पुरुष अनुमान द्वारा जिनको जान सकते हैं वे बुद्धिपूर्वक परिणाम कहलाते हैं। किन्तु जो इन्द्रिय और मनके विना अर्थात् अभिप्रायके विना केवल मोहोदयके निमित्तसे प्रवृत्त होते हैं वे अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहलाते हैं। इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टिके जो अविरति पाई जाती है वह अभिप्राय पूर्वक न होनेसे वह उसका बुद्धिपूर्वक कर्ता नहीं होता। उसका सद्भाव कर्मोदयके साथ है, ज्ञानभावके साथ नहीं। इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्यादृष्टिके अज्ञानभावके रहते हुए जिस जातिकी अविरति पाई जाती है, ज्ञानीके उसका अभाव ही समझना चाहिये।

शंका—जीवकाण्डमें सम्यग्दृष्टिके अविरतिका कथन करते हुए बतलाया है कि वह इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरत नहीं होता सो क्या बात है। क्या इस कथनका पूर्वोक्त कथनके साथ विरोध नहीं आता ?

समाधान—जीवकाण्ड करणानुयोगका ग्रन्थ है, उसमें जितना भी कथन हुआ है वह पर्यायकी अपेक्षा ही हुआ है। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा नहीं। सम्यग्दृष्टिका समग्र जीवन विवेक पूर्वक ही होता है, इसलिये उसके विना प्रयोजनके स्थावर हिंसा भी नहीं होने पाती। जैसे भोजनादिमें प्रवृत्ति और जल-वनस्पति आदिका ग्रहण व्रतीके भी पाया जाता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी बाह्य विषयों आदिमें सावधानीपूर्वक ही प्रवृत्ति करता है। वह मिथ्यादृष्टिकी तरह असावधान नहीं होता। वह अव्रती इसलिये है कि गुरुकी साक्षीपूर्वक उसने अभी व्रत स्वीकार नहीं किये हैं। इसे अप्रत्याख्यानावरण कषायका चमत्कार ही कहना चाहिये, जिससे उसके व्रत स्वीकार करनेके परिणाम नहीं हो पाते। पर बाह्य प्रवृत्ति उसके मिथ्यादृष्टिकी तरह अनियन्त्रित होती हो ऐसा नहीं है।

आगम सम्यग्दृष्टिके बहुलतासे शुभ भाव ही स्वीकार करता है। अशुभ भाव तो उसके होता ही नहीं। इसका फलितार्थ यह है कि उसके संसार अर्थात् विषय-कषायके प्रयोजनभूत आर्त और रौद्रध्यान तो कदाचित् भी नहीं होते। उसके कदाचित् ये होते भी हैं तो मुख्यतया धर्मायतनोंको निमित्तकर ही होते हैं। और इसीलिये इसके नरकायु और तिर्यंचायुका तथा इन दो गतियोंसे सम्बन्धित अन्य प्रकृतियोंका तो बन्ध होती ही नहीं। यदि वह मनुष्य और तिर्यञ्च है तो मनुष्यायुका भी बन्ध नहीं होता। उसके इस अवस्थामें भी देवायुका ही बन्ध होता है। यदि वह देव या नारकी है तो वह अवश्य ही मनुष्यायुका ही बन्ध करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो स्वय बन्धस्वरूप है और बन्धका हेतु है उसे मोक्षमार्गकी दृष्टिसे ध्येय कैसे बनाया जा सकता है, कदापि नहीं। यही कारण है कि उसे मोक्षमार्गमें उपादेयरूपसे स्वीकार नहीं किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्रदेवने व्यवहारको जो प्रयोजनीय कहा है वह ज्ञेयपनेकी अपेक्षा ही कहा है, क्योंकि कार्यकी दृष्टिसे कर्म और नोकर्म आदि जितने भी स्वीकार किये जाते हैं वे सब सम्यग्दृष्टिके ज्ञेय हो जाते हैं। जिसे व्यवहार धर्म कहते हैं वह भी मोक्षमार्ग कार्यकी दृष्टिसे नोकर्ममें गर्भित है। देखो, मोक्षमार्गीके बाह्य क्रियाके होनेपर पश्चात्ताप या कार्योत्सर्ग आदि द्वारा वह आत्माकी ओर मुड़ता है। आत्मकार्यको गौणकर बाह्य क्रियाकी ओर कदापि नहीं मुड़ना चाहता। पुरुषार्थकी हीनतावश बाह्यक्रिया होती अवश्य है, पर उसे वह आत्मकार्यमें बाधा ही मानता है। यह इसीसे स्पष्ट है कि ध्यानके समाप्त होनेपर उसके बाद प्रायश्चित या कायोत्सर्ग करनेका विधान आगममें नहीं कहा गया है पर बाह्य मन-वचन-कायकी प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें कायोत्सर्ग या प्रायश्चित्तका विधान आगममें अवश्य किया गया है।

८. स्वरूपरमणके कालमें ही सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती है

हम पहले 'स्वरूपे चरणं चारित्रम्' इस वचनके अनुसार चारित्रका निर्देश कर आये हैं। किन्तु कितने ही महानुभाव विकल्पके कालमें ही सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति मानते हैं। वे इस तथ्यको भूल जाते हैं कि सम्यग्दर्शन स्वभाव पर्याय है, इसलिये उसकी उत्पत्ति विकल्प द्वारा नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कालमें विकल्प स्वयं ऐसे ही छूट जाता है जैसे ज्ञायक स्वरूप आत्मतत्त्वकी भावनाके कालमें पराश्रित शुभ व्यवहारका स्वयं लोप हो जाता है या शुभाचाररूप व्यवहार-

के कालमें अशुभाचाररूप व्यवहारका नाम-निशान भी शेष नहीं रहता। अन्यथा चरणानुयोगके अनुसार शुभाचार या अशुभाचारको भावनिक्षेपका विषय नहीं माना जा सकता। सम्यग्दर्शनको भावनिक्षेपरूप मानना तभी बनता है जब स्वानुभूतिके कालमें ही सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति स्वीकारकी जाय। पण्डित प्रवर आशाधरजी अपने अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखते हैं—

तत्त्वरुचि तत्त्वस्य परापरवस्तुयाथात्म्यस्य रुचिः श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तात्मनः स्वरूपं न त्विच्छालक्षणम्, तस्योपशान्तकषायादिषु मुक्तात्मसु चासम्भवात्।

आशय यह है कि प्रकृतमें तत्त्वरुचि पदसे ऐसी परापरवस्तुका यथार्थतारूप श्रद्धान लिया गया है जो प्राणीकी इच्छा अर्थात् विकल्प न होकर विपरीताभिनिवेशसे रहित आत्माका निजस्वरूप है। इसमें हेतु यह दिया गया है कि यदि सम्यग्दर्शनको इस रूप नहीं मान कर विकल्परूप माना जाता है तो वह उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें तथा सिद्धोंमें नहीं बन सकता है।

इस प्रकार जब सम्यग्दर्शनको स्वाभाविक आत्मपरिणामरूप स्वभावपर्याय स्वीकार कर लिया गया है तो उसका अविनाभावी स्वरूपरमणरूप चारित्र मानना ही पड़ता है, क्योंकि उस जीवका उपयोग अपने ज्ञायक स्वरूप आत्मामें रममाण हो नहीं और निश्चय सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्यायकी प्राप्ति हो जाय यह त्रिकालमें सम्भव नहीं है। सम्यग्दृष्टिकी इसी अनुभवदशाका निर्देश करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसारमें कहते हैं—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ १९८ ॥

जिनदेवने कर्मोंके उदयका विपाक अनेक प्रकारका कहा है, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ ॥ १९८ ॥

यही कारण है कि आचार्य देवने ऐसी अपूर्व स्वानुभूतिको सम्यग्दर्शन पद द्वारा अभिहित किया है। ज्ञायकस्वभाव आत्मा क्या है और उसकी अनुभूति क्या है जिसे कि सम्यग्दर्शन कहा जाय इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए वे जीवाजीवाधिकारमें खुलासा करते हुए लिखते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥ १४ ॥

जो आत्माको अर्थात् निज आत्माके स्वरूपको अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावरूप देखता है अर्थात् अनुभवता है, हे मुमुक्षु ! तू इसे शुद्धनय जान ॥ १४ ॥

इसकी आत्मख्यातिमें आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं—

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः । सात्वनुभूतिरात्मैवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते ।

निश्चयसे अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माकी जो अनुभूति होती है वह शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा-ही है, इसलिये एक आत्मा ही अनुभवरूप प्रकाशमान है ।

यहाँ विषय और विषयीमें अनुभवनेवाला भी आत्मा है और जो अनुभवा गया वह भी आत्मा है । इस प्रकार इन दोनोंमें अभेद होनेसे स्वानुभूतिको ही आत्मा कहकर उसे शुद्धनय कहा गया है । इतना ही सम्यग्दर्शन है और आत्मा भी इतना ही है इसीको कलश काव्यमें स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः,
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ ६ ॥

जो शुद्धनय स्वरूप होनेसे एकरूप अपने स्वरूपमें नियत है, अपने गुण-पर्यायोंमें निमग्न है तथा सब प्रकारसे या सब ओरसे पूर्ण ज्ञानघन है, ऐसे अन्य द्रव्योंसे पृथक् इस आत्माको देखना अर्थात् अनुभवना ही नियमसे सम्यग्दर्शन है, ऐसे अनुभवकी दशामें विचार कर देखा जाय तो जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है । इसलिये आचार्यदेव कामना करते हैं कि नवतत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो ॥ ६ ॥

इसी तथ्यको प्रांजल रूपसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसारमें कहते हैं—

सम्मदंसण-णाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

जो सर्व नय पक्षोंसे रहित है वह समयसार है ऐसा जिनदेवने कहा

है और अकेला वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान संज्ञाको प्राप्त होता है ॥ १४४ ॥

इसकी आत्मख्याति टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं –

समस्त नय पक्षोंके द्वारा क्षुभित न किये जानेसे जिसका समस्त विकल्पोंका व्यापार रुक गया है ऐसा जो समयसार है वास्तवमें वह एक ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान संज्ञाको धारण करता है। हेतु पूर्वक उसीको स्पष्ट करते हैं—सर्वप्रथम श्रुतज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके तदनन्तर जिसने आत्माकी प्रकट प्रसिद्धिके लिए पर पदार्थोंकी प्रसिद्धिके कारणभूत इन्द्रिय और मनपूर्वक प्रवर्तमान बुद्धियोंको जानकर जिसने मतिज्ञानको आत्माके सन्मुख किया है तथा नानाप्रकारके नयपक्षोंके अवलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान सम्बन्धी बुद्धियोंको भी जान कर जिसने श्रुतज्ञान तत्त्वको भी आत्माभिमुख किया है और इस प्रकार जो अत्यन्त निर्विकल्प हुआ है वह तत्काल निज रससे प्रगट होते हुए, आदि-मध्य-अन्तसे रहित, अनाकुल, केवल एक, मानो सम्पूर्ण विश्व पर तैर रहा है अर्थात् समस्त जगत्से भिन्न ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मस्वरूप समयसारको जब अनुभवता है तभी आत्मा सम्यक् दृष्टिगोचर होनेके साथ ज्ञात होता है, इससे स्पष्ट है कि समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार हम जानते हैं कि जो विकल्पातिक्रान्त स्वानुभूति है वही सम्यग्दर्शन है और वही सम्यग्ज्ञान है। विचार कर देखा जाय तो वही सम्यक्चारित्र है। ये तीनों एक आत्मा ही हैं। इस दृष्टिसे इनमें भेद नहीं है, भेददृष्टिसे देखनेपर भी इन तीनोंका उदय एक कालमें ही होता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें जो तारतम्य दिखलाई देता है वह दोष और प्रतिबन्धक कर्मोंके क्षयोपशमकी हीनाधिकताके कारण ही दृष्टिगोचर होता है।

शंका—चतुर्थ गुणस्थानमें जब चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम स्वीकार नहीं किया गया है तब सम्यक् चारित्र कैसे बन सकता है ?

समाधान—सम्यग्दर्शनको स्वरूपकी स्वानुभूतिरूप स्वीकार करनेसे ही वहाँ सम्यक्त्वाचरणरूप सम्यक्चारित्र स्वीकार किया गया है। इसीका दूसरा नाम स्वरूपाचरण चारित्र भी है जो दर्शन मोहनीयके साथ अनन्तानुबन्धी कषायके अभावमें होता है। अनन्तानुबन्धीको चारित्रमोहनीयमें गर्भित करनेका यही कारण है।

केवल निश्चय षट्कारककी चरितार्थता

इस प्रकार उक्त विवेचनसे प्रत्येक स्वभावपर्याय स्वोन्मुख होकर आत्मस्थितिके कालमें ही प्रगट होती है यह स्पष्ट हो जानेपर उस कालमें षट्कारक प्रक्रियाका आगममें जिस प्रकार निर्देश किया गया है उसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है—

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने।
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

स्वसंवेदनसे सुव्यक्त हुआ यह आत्मा निर्विकल्पस्वरूप अपने आत्मामें करण (इन्द्रियाँ) और मनद्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानसे मुक्त होकर अपने स्वसंवेदनस्वरूप स्वके द्वारा अपने शुद्ध चिदानन्दरूप निज आत्माकी प्राप्तिके लिये शुद्ध चिदानन्दमय स्वको ध्याता हुआ क्रमशः उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होता है ॥ ११३ ॥

स्वानुभूतिके कालमें जो एकाग्रता होती है उसीको यहाँ स्पष्ट किया गया है। ऐसा आत्मा स्वयम्भू कैसे बनता है इसका निर्देश करते हुए प्रवचनसार गाथा १६ की तत्त्वदीपिका टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं—

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् गृहीतकर्तृत्वाधिकारः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन् शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् सम्प्रदानत्वं दधानः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकल्पज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददानः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्य-भावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयम्भूरिति निर्दिश्यते। अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ॥ १६ ॥

शुद्धोपयोगकी भावनाके प्रभाववश द्रव्य-भावरूप समस्त घातिकर्मोंको नष्ट करनेसे शुद्ध अनन्तशक्ति युक्त अपने चैतन्यस्वभावको उपलब्ध करनेवाले (१) जिस आत्माने शुद्ध अनन्त शक्तिरूप ज्ञायकस्वभावके कारण

स्वतन्त्र होनेसे अपने कर्तृत्वके अधिकारको ग्रहण किया है, (२) शुद्ध अनन्त शक्ति युक्त ज्ञानरूपसे परिणमनस्वभावरूपसे प्राप्य होनेके कारण जो कर्मपनेका अनुभव कर रहा है, (३) शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमन स्वभावरूपसे साधकतम होनेके कारण जो करणपनेको धारण कर रहा है, (४) शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूपसे विपरिणमन स्वभावरूपसे कर्मके द्वारा समाश्रियमाण होनेके कारण जो सम्प्रदानपनेको धारण कर रहा है, (५) शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूपसे विपरिणमनके समय पूर्व समयमें प्रवृत्त हुए विकल ज्ञानस्वभावका व्यय होनेपर भी सहज ज्ञानस्वभावरूपसे ध्रुवपनेका अवलम्बन होनेसे जो अपादानपनेको धारण कर रहा है, (६) तथा शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञानरूपसे विपरिणमनरूप स्वभावका आधार होनेके कारण जो अधिकरणपनेको आत्मसात् कर रहा है ऐसा यह आत्मा स्वयं ही षट्कारकरूपसे उत्पन्न होता हुआ अथवा उत्पत्तिकी अपेक्षा द्रव्य-भावके भेदसे भेदरूप घातिकर्मोंको दूर करके स्वयं ही आविर्भूत होनेसे स्वयम्भू ऐसा निर्दिष्ट किया जाता है। इससे सिद्ध है कि निश्चयसे आत्माका परके साथ कारकपनेका सम्बन्ध नहीं है, जिससे कि ये जीव शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिए बाह्य सामग्रीको ढूँढनेकी व्यग्रतासे परतन्त्र होते हैं ॥ १६ ॥

इस उल्लेखसे जिन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रत्येक वस्तु षट्कारकरूपसे प्रति पर्यायकी उत्पत्तिके समय परिणमन करती रहती है। उसी समय वह स्वयं अपने कार्यका कर्ता है, अभेद दृष्टिमें वही कर्म है, वही करण है, वही सम्प्रदान है, वही अपादान है और वही अधिकरण है। अपेक्षाभेदका उल्लेख मूलमें किया ही है। पण्डितप्रवर आशाधरजी के जिस वचनका हम उल्लेख कर आये हैं सो उसका आशय भी यही है।

(२) आत्माका ज्ञानभावरूपसे स्वयंको जानकर उसरूप परिणमन करना जहाँ स्वतन्त्र होनेका उपाय है वहीं स्वयंको पराश्रित रागरूप अनुभव करते हुए उसरूप परिणमन करते रहना परतन्त्र होना है। इसीलिये आगममें परकी ओर झुकाववाले जितने भी परिणाम होते हैं उन्हें मोक्षमार्गमें बाधक ही कहा गया है।

(३) जिन्हें हम व्यवहार षट्कारकरूपसे स्वीकार करते हैं वे स्वरूपसे स्वयं व्यवहार षट्कारक नहीं होते, किन्तु अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर कालप्रत्यासत्तिवश हम उनमें षट्कारकपनेकी कल्पना करते रहते

हैं। यही पराश्रित वृत्ति है। ऐसा माननेका मुख्य हेतु रागभाव है, ज्ञान-भाव नहीं।

(४) तत्त्वार्थसूत्रके ५वें अध्यायमें जो उपकार प्रकरण आया है या अन्यत्र कर्मोंके उदयके कारण जो जीवोंकी विविध अवस्थाएँ होनेका उल्लेख किया गया है या अन्यत्र जो दूसरे प्रसंगसे निमित्त-नैमित्तिक कथन दृष्टिगोचर होता है सो उसे परमार्थभूत न समझकर मात्र असद्भूत व्यवहारनयसे पराश्रित कथन ही समझना चाहिये।

शंका—मिथ्यादृष्टिके अज्ञानमूलक पराश्रित प्रवृत्तिकी ही मुख्यता बनी रहती है ऐसी अवस्थामें वह मिथ्यात्वसे विमुख होकर सम्यग्दर्शन-को उत्पन्न कर ले यह कैसे सम्भव है?

समाधान—जैसे कोई कुलीन मनुष्य असदाचारीको अपना मित्र समझकर पहले उसकी संगति किये हुए हो बादमें उसे सच्चरित्रका सम्पर्क होनेके बाद उसके उपदेशसे अपने कुलका भान होनेपर क्रमशः या उसी समय वह असदाचारीकी संगति छोड़कर स्वयं सदाचारी बन जाता है। उसी प्रकार कोई मिथ्यादृष्टि सद्गुरुका उपदेश पढ़कर परसे भिन्न अपने आत्माको जानकर क्रमशः या तत्काल उस उपदेशको अनु-स्मरणकर वह आत्मदृष्टिको प्राप्तकर सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

शंका—यदि यह बात है तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका मुख्य कारण गुरुको मानना चाहिए?

समाधान—गुरु सदुपदेशका निमित्त है। सम्यग्दर्शन तो उसने स्वसन्मुख होकर स्वयं ही उत्पन्न किया है। यदि गुरुके निमित्तसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति मानी जाय तो एक तो जिस जिसको सद्गुरुका उपदेश मिले वे सब सम्यग्दृष्टि हो जाने चाहिए। दूसरे वह स्वभाव पर्याय नहीं होगी। क्योंकि जितनी भी स्वभाव पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे परनिरपेक्ष ही होती हैं।

शंका—परसापेक्ष और परनिरपेक्षमें क्या अन्तर है?

समाधान—जहाँ विकल्पमें परकी अपेक्षा बनी रहती है वहाँ पर-सापेक्ष पर्यायें उत्पन्न होती हैं और जहाँ परकी अपेक्षारूप विकल्प छूटकर आत्मा स्वके सन्मुख होकर तन्मय हो जाता है वहाँ स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है। यही इन दोनों प्रकारकी पर्यायोंमें अन्तर है।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीवके भी परमार्थस्वरूप देवादिके निमित्तसे

परसापेक्ष पर्याय देखी जाती है, ऐसी अवस्थामें उसके सम्यग्दर्शनरूप स्वभाव पर्याय कैसे बनी रहती है ?

समाधान—उसके अनन्तानुबन्धीमूलक परसापेक्ष पर्याय तो होती ही नहीं। अप्रत्याख्यानादिमूलक परसापेक्ष पर्यायके होनेपर भी उसके अपने आत्मामें उपादेयपनेका भाव बना रहता है, इसलिए उसके सम्यग्दर्शनपर्यायके बने रहनेमें कोई बाधा नहीं आती। यह सामान्य नियम है।

शंका—यदि यह बात है तो उपशम सम्यग्दृष्टि या क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनपर्यायसे च्युत होकर नीचेके गुणस्थानोंको कैसे प्राप्त हो जाते हैं ?

समाधान—संसारी जीवोंके छठवें गुणस्थानतक यथासम्भव अप्रत्याख्यानादि प्रत्येक कषायकी जाति संक्लेश और विशुद्धिके भेदसे दो प्रकारकी स्वीकार की गई है। ये दोनों प्रकारके परिणाम एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर छठवें गुणस्थानतक सभी जीवोंके स्वभावसे क्रमशः होते रहते हैं। विशुद्धपनेकी अपेक्षा इनमेंसे प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है। व्याघातकी अपेक्षा यथासम्भव इनका जघन्य काल एक समय भी होता है। अब मान लीजिये कि किसी जीवके चतुर्थ गुणस्थानमें रहते हुए उस गुणस्थानके योग्य संक्लेश जातिकी कषाय इतनी वृद्धिको प्राप्त हो जाय कि जिसके बाद उसका पतन होना निश्चित है। तब सम्यग्दृष्टि जीव भी यथायोग्य नीचेके गुणस्थानोंको प्राप्त हो जाता है।

शंका—क्या कोई सम्यग्दृष्टि गुरुके सिवाय जिनागमके अभ्यासी मिथ्यादृष्टि गुरुके निमित्तसे भी सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो स्वयं अन्तरंगमें विषय-कषायकी रुचिवाला बना हुआ है, जो निश्चय मोक्षमार्गके समान बाह्य व्रतादिको भी यथार्थ मोक्षमार्ग मानता है, जो लौकिक प्रवृत्तिमें रुचि लेता है, स्वयं यथार्थमें ऐसे किसी भी नामधारी गुरु या व्यक्तिके उपदेशको निमित्तकर सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्यायकी प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। वास्तवमें वह मोक्षमार्गका गुरु ही नहीं है, क्योंकि जिसके सम्यग्दर्शनके अभावमें सब देखे जाते हैं उसे वास्तवमें गुरु कहना या मानना बनता नहीं।

शंका—व्यवहारसे उसे गुरु कहनेमें तो आपत्ति नहीं है ?

समाधान—लोकानुरोधवश किसीको गुरु नामसे सम्बोधित करना

और बात है पर यह उसकी संज्ञा हुई, जिसका नाम निक्षेपमें ही अन्तर्भाव होता है।

शंका—सम्यग्दृष्टिके मुखसे सुना हुआ उपदेश ही सम्यग्दर्शनका निमित्त हो सकता है यह आग्रह क्यों?

समाधान—श्री धवलाजी पुस्तक ६ में एक शंका-समाधान आया है जिससे हम जानते हैं कि सम्यग्दृष्टि द्वारा दिया गया उपदेश ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका निमित्त है। वह शंका-समाधान इस प्रकार है—

कधं तेसिं धम्मसुणणं संभवदि, तत्थ रिसीणं गमणाभावा? ण, सम्मादिट्ठि-देवाणं पुव्वभवसंबंधीणं धम्मपदुप्पायणे वावदाणं सयलवाधाविरहियाणं तत्थ गमणदंसणादो। पृ० ४२२।

शंका—प्रथम तीन नरकके नारकियोंके धर्मश्रवण किस प्रकार सम्भव है? क्योंकि वहाँ ऋषियोंका जाना नहीं होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो धर्म उत्पन्न करानेमें लगे हुए हैं और सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित हैं ऐसे पूर्वभवसम्बन्धी सम्यग्दृष्टि देवोंका वहाँ तीन नरकोंमें गमन देखा जाता है।

इससे हम जानते हैं कि सम्यग्दृष्टिके निमित्तसे मिला हुआ उपदेश ही धर्मके उत्पन्न करनेमें निमित्त होता है।

शङ्का—जब कि जिस समय कार्य होता है उसी समय दूसरे पदार्थमें निमित्त व्यवहार होना सम्भव है तो क्या उपदेश प्राप्तिके समय ही सम्यग्दर्शन हो जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसे समयमें उपदेश तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका निमित्त है। पुनः यह जीव अन्तर्मुहूर्तके भीतर या इसके बाद सम्यग्दर्शन-को प्राप्त करता है। इसलिये वास्तवमें तो यह तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका ही व्यवहार निमित्त है। फिर भी आगममें कार्यमें कारणका उपचार कर धर्मश्रवणको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका निमित्त कहा गया है।

शङ्का—यह आपने कैसे जाना कि धर्मोपदेश ग्रहण करनेके समय ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता?

समाधान—जिस समय किसी व्यक्तिका उपयोग धर्मश्रवणमें लगा हुआ हो उस समय अधःकरण आदि तीन करणोंका होना सम्भव नहीं है। उसके बाद तत्काल या कालान्तरमें यदि उसका उपयोग आत्माके सन्मुख हो तो वह सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करता है। इससे हमने जाना

कि धर्मश्रवणके कालमें ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। यदि गुरुके सानिध्यमें ही उपदेशपूर्वक वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है तो उसका अधिगमज सम्यग्दर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है और यदि कालान्तरमें सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है तो उसको निसर्गज सम्यक्‌दर्शन कहेंगे।

शंका—श्री जयधवला जीमें वतलाया है कि जिनविम्बदर्शनसे निधत्ति और निकाचित कर्म अनिधत्ति और अनिकाचितरूप हो जाते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि जिनविम्वके दर्शनमें लगे हुए उपयोगके कालमें ही सम्यग्दर्शन हो जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके जो बाह्य निमित्त वतलाये हैं उनमें एक जिनविम्व दर्शन भी है। असद्भूत व्यवहार-नयसे प्रकृतमें उसकी पुष्टि की गई है। करणानुयोगका नियम यह है कि जब यह जीव उपशम सम्यग्दर्शन तथा उपशम या क्षायिक चारित्रके सम्मुख होकर अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयको प्राप्त करता है तव अपने-अपने योग्य निधत्ति और निकाचितरूप कर्म स्वयं ही अनिधत्ति और अनिकाचितरूप हो जाते हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसारमें कहा भी है—

जो जाणदि अरहंते दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

जो अरहंतको द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपनेसे जानता है वह आत्माको जानता है, उसका मोह अवश्य लयको प्राप्त होता है ॥८०॥

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—जो वास्तव-में द्रव्य-गुण-पर्यायरूपसे अरहंतको जानता है वह निश्चयसे आत्माको जानता है, क्योंकि निश्चयसे उन दोनोंके स्वरूपमें भेद नहीं है। कारण कि अरहंतका स्वरूप अन्तिम पाकको प्राप्त होनेसे सोनेके समान परि-स्पष्ट है, इसलिये उसका ज्ञान होनेपर पूरी तरहसे आत्माका ज्ञान होता है। वहाँ अन्वयस्वरूप द्रव्य है, अन्वयका विशेषण गुण है तथा अन्वयके व्यतिरेक (भेद) पर्याय हैं। वहाँ सर्व तरहसे विशुद्ध भगवान् अरहंतके ख्यालमें लेनेपर द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीन स्वरूपवाले आत्माको अपने मनसे एक समयमें जान लेता है कि जो अन्वयरूप चेतन है वह द्रव्य है, जो अन्वयके आश्रित चैतन्यरूप विशेषण है वह गुण है और जो एक समय तक रहनेवाले परस्पर व्यावृत्त होकर स्थित अन्वयके व्यतिरेक हैं वे पर्यायें हैं, जो कि चिद्विवर्तरूप ग्रंथियाँ हैं। इस प्रकार जो

त्रैकालिक आत्माको एक कालमें आकलन कर रहा है, तथा जो झूलते हुए हारमें मुक्ताफलोंके समान चिद्विवर्तोको चेतनमें समाविष्ट करके, और विशेषण-विशेष्यभावकी वासनाके लुप्त हो जानेसे हारमें सफेदीके समान चेतनमें ही चैतन्यको अन्तर्हित करके केवल मालाके समान केवल आत्माको जान रहा है तथा जो कर्ता-कर्मके (कर्ता-कर्म आदि षट्-कारकके) विभागके उत्तरोत्तर समयमें क्षयको प्राप्त होनेसे अर्थात् उत्तरोत्तर समयमें कर्ता-कर्म आदिके विकल्पका अभाव होते जानेसे निष्क्रिय चिन्मात्रभावको प्राप्त हुआ है ऐसे जिस जीवका मणिके समान निर्मल प्रकाश अकम्परूपसे प्रवृत्त हुआ है (अनुभवमें आया है) उसके मोहतम निराश्रय होनेसे अवश्य ही प्रलयको प्राप्त होता है। गुरुके इस प्रकार समझाने पर शिष्य कहता है यदि ऐसा है तो मैंने मोहकी सेना-को जीतनेका उपाय प्राप्त कर लिया है।

पुराने कालमें सेनाके प्रधानके विजित हो जानेपर सेना पर विजय प्राप्त करना आसान हो जाता था। प्रकृतमें इसी तथ्यका निर्देश किया गया है। मोह अर्थात् अज्ञानभाव सब दोषोंमें प्रमुख है। उसका पात होनेपर यह जीव आत्मस्वरूपको सम्यक् प्रकारसे अनुभवनेवाला सम्य-ग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद राग-द्वेष पर विजय पाना सुकर है। यह तथ्य इस गाथा और उसकी तत्त्वदीपिका टीका द्वारा स्पष्ट किया गया है।

पहले इसमें प्रत्येक आत्माकी अरहंतके आत्मासे तुलना की गई है। और इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्यायपनेसे सब आत्माओंमें समानताकी स्थापना कर अरहंतके दर्शनसे अपने आत्माको जाननेका उपाय बतलाया गया है। इसके बाद अपने आत्मामें एकाग्र होनेके लिए गुण-पर्यायोंके विकल्पको छोड़कर केवल स्वभावभूत निर्विकल्प आत्माको लक्ष्यमें लेनेका निर्देश किया गया है। ऐसा करनेसे कर्ता-कर्म आदिका विकल्प छूटकर स्वयं ही यह जीव अपने स्वरूपमें निमग्न होकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है। एक गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थान पर चढ़नेके लिए आगम एकमात्र इसी मार्गको स्वीकार करता है। अपने अनुभवसे भी इसीका समर्थन होता है।

यह गाथा मात्र सम्यग्दर्शनके प्राप्त करनेके उपायका निर्देश करती है यह इसीसे स्पष्ट है कि इससे अगली सूत्रगाथा द्वारा आत्मतत्त्वके सम्यक् प्रकारसे उपलब्ध होनेके बाद राग-द्वेषको जीतनेकी प्रेरणा की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगममें सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके वाह्य निमित्तरूपमें जिन बिम्बदर्शन आदि बाह्य साधनोंका निर्देश दृष्टिगोचर होता है उनका सम्यग्दर्शन प्राप्तिके कालकी अपेक्षा निर्देश नहीं किया गया है। किन्तु विषय-कषायके विकल्पसे निवृत्त होकर अपने स्वरूपको लक्ष्यमें लेनेकी अपेक्षा ही उनका निर्देश किया गया है।

शंका—जिन बिम्बदर्शन आदि सम्यग्दर्शनके कालमें भले ही निमित्त-व्यवहारको प्राप्त नहीं हों. दर्शनमोहनीयके उपशम आदि हुए बिना जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता तब उसे कर्मकृत माननेमें क्या आपत्ति है। पञ्चास्तिकाय गाथा ५८में कहा भी है—

> कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
> खइयं खओवसमियं तम्हा भावं दु कम्मकदं॥ ५८॥

कर्मके बिना जीवके औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव नहीं होते, इसलिये ये भाव कर्मकृत हैं॥ ५८॥

समाधान—प्रकृतमें उदयसे उपशम, क्षय और क्षयोपशममें मौलिक अन्तर है। यहाँ उपशमसे अन्तरकरण उपशम लिया गया है। उपरितन स्थितिमें दर्शनमोहनीयकी सत्ता भले ही बनी रहे, पर औपशमिक सम्यग्दर्शनके अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति दर्शनमोहनीयके निषेकोंसे सर्वथा शून्य रहती है और इसीलिए इस सम्यग्दर्शनको गोम्मटसार जीवकाण्डमें क्षायिक सम्यग्दर्शनके समान अत्यन्त निर्मल कहा गया है। क्षायिक-सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयके अकर्मपर्यायरूप होनेपर ही होता है यह स्पष्ट ही है। अब रहा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो इस सम्यग्दर्शनके कालमें भी मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति उदयरूप नहीं दिखलाई देती हैं। इस प्रकार प्रकृतमें उपशम, क्षय और क्षयोपशमके स्वरूपपर विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि करणानुयोगके अनुसार ये तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयके अभावमें ही होते हैं। फिर भी प्रकृत में इन्हें जो कर्मकृत कहा गया है सो यह ऐसा ही कहना है कि जैसे अमुक व्यक्तिके न रहने पर यह कहा जाय कि उसने यह काम कर दिया है। यहाँ जिस व्यक्तिको निमित्त कर वह काम बना है उसको तो गौण कर दिया गया है और जो व्यक्ति नहीं है उसको मुख्य कर यह कहा गया है कि अमुक व्यक्तिने यह काम कर दिया है। उसी प्रकार प्रकृतमें आत्माने स्वयं अपने ज्ञायक स्वभावके सन्मुख होकर अपना सम्यग्दर्शन उत्पन्न करनेरूप काम किया और कहा यह गया कि कर्मने

सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेरूप काम कर दिया। इसलिये इसे असद्भूत व्यवहार नयका वक्तव्य कहा गया है। यह परमार्थ कथन नहीं है।

शंका—तो परमार्थ क्या है ?

समाधान—जिस समय आत्माने स्वतन्त्ररूपसे स्वयं अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावके सन्मुख होकर अपनी सम्यग्दर्शनरूप स्वभाव पर्यायको उत्पन्न किया उसी समय कर्मने स्वयं स्वतन्त्र रूपसे अपनी कर्मसंज्ञावाली पर्यायसे विमुख होकर अन्य पर्यायको उत्पन्न किया यह परमार्थ सत्य है।

१०. विभाव पर्याय और निश्चय षट्कारक

विभाव पर्यायकी उत्पत्तिमें निश्चय षट्कारक कैसे प्रवृत्त रहते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकाय गाथा ६२ की समय टीकामें कहते हैं—

अब निश्चयनयसे अभिन्न कारकपना होनेसे कर्म और जीव स्वयं स्वभावके कर्ता आदि हैं यह स्पष्ट करते हैं—(१) कर्म वास्तवमें कर्मरूपसे प्रवर्तमान पुद्गलस्कन्धपनेसे कर्तृत्वको धारण करता हुआ, (२) कर्मपना प्राप्त करनेकी शक्तिरूप करणपनेको अंगीकृत करता हुआ, (३) प्राप्य ऐसे कर्मस्वपरिणामरूपसे कर्मपनेको अनुभव करता हुआ, (४) पूर्वभावका व्यय हो जानेपर भी ध्रुवत्वका अवलम्बन करनेसे अपादानपनेको प्राप्त करता हुआ, (५) उत्पन्न होनेवाले परिणामरूप कर्मद्वारा समाश्रित होनेसे सम्प्रदानपनेको प्राप्त करता हुआ और (६) धारण करते हुए परिणामका आधार होनेसे अधिकरणपनेको प्राप्त होता हुआ इस प्रकार स्वयमेव षट्कारकरूपसे वर्तता हुआ अन्य कारककी अपेक्षा नहीं करता।

इसी प्रकार जीव भी (१) भावपर्यायरूपसे प्रवर्तमान आत्मद्रव्यरूपसे कर्तापनेको धारण करता हुआ, (२) भावपर्याय प्राप्त करनेकी शक्तिरूपसे करणपनेको अंगीकृत करता हुआ (३) प्राप्त हुई भावपर्यायरूपसे कर्मपनेको अनुभव करता हुआ, (४) पूर्वकी भावपर्यायका व्यय होनेपर भी ध्रुवपनेका अवलम्बन होनेसे अपादानपनेको प्राप्त हुआ, (५) उत्पन्न होनेवाले भावपर्यायरूप कर्मद्वारा समाश्रित होनेसे सम्प्रदानपनेको प्राप्त हुआ और (६) धारणकी जानेवाली भावपर्यायका आधार होनेसे अधिकरणपनेको प्राप्त हुआ इस प्रकार स्वयं ही षट्कारकरूपसे वर्तता हुआ अन्य कारककी अपेक्षा नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ व्यवहारसे अन्य द्रव्यके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है वहीं जब प्रत्येक द्रव्य प्रति समय स्वभावसे स्वयं षट्कारकरूपसे प्रवर्तित होता है तब प्रत्येक द्रव्यकी स्वभाव पर्यायकी उत्पत्तिके समय उसका स्वयं षट्कारकरूपसे प्रवृत्त होना सुनिश्चित ही घटित होता है। असद्भूत व्यवहारनयसे जो प्रत्येक कार्यमें कारकान्तर सापेक्षता कही गई है वह केवल इसीलिये विकल्पका विषय है, क्योंकि वस्तुमें स्वभावसे सापेक्षता नहीं घटित होती यह उक्त कथनसे ही स्पष्ट हो जाता है। आगममें विभावपर्याय और स्वभावपर्यायके होनेमें जो अन्तर बतलाया गया है वह केवल इस कारण बतलाया गया है कि जब यह आत्मा स्वयंको रागादिसे भिन्न ज्ञायकस्वभावरूपसे अनुभवता है तब स्वभाव पर्याय उत्पन्न होती है और जब मैं 'रागादिरूप हूँ' इस रूपसे अनुभवता है तब विभाव पर्याय उत्पन्न होती है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृत अध्याय ८ में पण्डितप्रवर आशाधरजी लिखते हैं—

> यदि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मानम् ।
> रागादिभ्यः सम्यग्विविच्य पश्यामि सुदृगस्मि ॥ ७ ॥

रागादिभावोंसे स्वयंको पृथक् करके यदि मैं स्वयं अपने आत्माको टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावसे अनुभवता हूँ तो उस समय सम्यग्दृष्टि होता हूँ ॥ ७ ॥

इसकी टीकामें वे स्वयं लिखते हैं—मैं स्वयं सम्यग्दर्शनरूप हूँ; यदि अनुभवता हूँ, किसको अनुभवता हूँ? अपने आत्माको किस रूप अनुभवता हूँ? कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे रहित एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभावरूप अर्थात् निश्चल सुव्यक्त आकारवाले। क्या करके? पृथक् करके अर्थात् पृथक्रूपसे अनुभव करके। किनसे? रागादिकसे अर्थात् राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय और इन्द्रियोंसे। कैसे अनुभवता हूँ? विपरीतताके बिना ॥ ७ ॥

इसी तथ्यको और स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—

> ज्ञानं जानत्तया ज्ञानमेव रागो रजत्तया ।
> राग एवास्ति न त्वन्यत्तच्चिद्रागोऽस्म्यचित् कथम् ॥८॥

जाननपनेसे अर्थात् स्व-परके अवभासनस्वभाव होनेसे ज्ञान है किन्तु ज्ञान राग नहीं है तथा अनुरंजनस्वभाव होनेसे अर्थात् जो इष्ट लगे उसके

प्रति प्रीतिको उत्पन्न करनेरूप स्वभाववाला होनेसे राग है, किन्तु राग-ज्ञान नहीं है। जबकि ऐसा है अतएव मैं स्व-परके अवभासन स्वभाववाला होनेसे चैतन्यस्वरूप ही हूँ। किन्तु राग स्वसंविदित होकर भी परस्वरूपके वेदनसे रहित होनेके कारण अचेतनस्वभाव ही है, इसलिए मैं राग नहीं हूँ। यहाँ राग पद उपलक्षण है, इसलिये द्वेषादिकसे भी अपने चित्स्वभाव आत्माको पृथक्कर स्वयंको अनुभवना ही सम्यग्दर्शन है यह सिद्ध होता है ॥८॥

इस प्रकार स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय प्रत्येक पर्यायके होते समय निश्चय षट्कारक प्रक्रिया किस प्रकार प्रवृत्त रहती है इसका संक्षेपमें विचार किया।

२१. उपसंहार

समग्र कथनका तात्पर्य यह है कि संसाररूप अवस्थाके होनेमें जहाँ निश्चय षट्कारक होता है वहाँ व्यवहारसे परकी ओर झुकाव रहता ही है और इसी अपेक्षा विभावपर्यायको परसापेक्ष कहकर कारकान्तरकी कल्पनाकी जाती है। यह अवस्था मिथ्यादृष्टिके भी होती है और नारकादि विभाव पर्यायकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिके भी होती है। इसका निषेध नहीं। परन्तु अनादिकालसे यह जीव निश्चय षट्कारकरूप स्वाश्रितपनेको भूलकर अपने विकल्प द्वारा या परकी ओर झुकाव द्वारा मात्र व्यवहार षट्कारकरूप पराश्रित बना हुआ है। इसे अब अपनी दृष्टि बदलकर पुरुषार्थ द्वारा स्वाश्रित होना है, क्योंकि ऐसी दृष्टि बनाये बिना और उस द्वारा स्वभाव रत्नत्रयरूप हुए बिना इसे शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिये जीवन संशोधनमें स्वाश्रितपनेका अवलम्बन होना ही कार्यकारी है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

शंका—जब यह जीव पराश्रितपनेके विकल्पसे निवृत्त होकर स्वाश्रितपनेकी मुख्यतासे प्रवृत्त होता है तब उसी समय मुक्त क्यों नहीं हो जाता?

समाधान—दृष्टिमें स्वाश्रितपनेके होनेपर भी चर्यामें जबतक पूर्णरूपसे स्वाश्रितपना नहीं प्राप्त होता तब तक वह संसारी ही बना रहता है।

शंका—तो क्या दृष्टिकी अपेक्षा स्वाश्रितपनेमें और चर्याकी अपेक्षा स्वाश्रितपनेमें अन्तर है?

समाधान—दृष्टिकी अपेक्षा स्वाश्रितपनेका सम्बन्ध मिथ्यात्वके अभावके साथ है और चर्याकी अपेक्षा स्वाश्रितपनेका सम्बन्ध कषायके अभावके साथ है यही इन दोनोंमें अन्तर है।

शंका—दृष्टिकी अपेक्षा स्वाश्रितपनेके कालमें अनन्तानुबन्धी कषायका भी तो अभाव रहता है। ऐसी अवस्थामें वहाँ चर्याकी अपेक्षा स्वाश्रितपनेकी स्वीकृतिमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—दृष्टिकी अपेक्षा स्वाश्रितपनेकी प्राप्तिके कालमें अनन्तानुबन्धी कषायका अभाव होनेसे चर्याकी अपेक्षा आंशिक स्वाश्रितपनेकी प्राप्ति तो हो ही जाती है इसमें कोई बाधा नहीं आती। सम्यग्दृष्टिके स्वात्मानुभूतिको स्वीकार करनेका कारण भी यही है। सम्यग्दृष्टिकी उपयोगपूर्वक मन्द स्वात्मस्थिति इसीलिये स्वीकार की गई है। आगे जैसे-जैसे कषायका अभाव होता जाता है वैसे-वैसे चर्याकी अपेक्षा स्वात्मस्थितिमें प्रगाढ़ता आती जाती है।

शंका—बारहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें जब क्षायिक चारित्रकी प्राप्तिके कारण चर्याकी अपेक्षा पूर्ण प्रगाढ़ता आ जाती है तो उसी समयसे इस जीवका पूर्ण स्वाश्रित जीवन प्रारम्भ हो जाना चाहिये ?

समाधान—नहीं क्योंकि अभी उसके आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दरूप योगका सद्भाव बना हुआ है, इसलिये यहाँ क्षायिक चारित्रकी प्राप्ति होने पर भी पूर्ण स्वाश्रितचर्या नहीं स्वीकार की गई है।

शंका—चौदहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें योगका समस्तरूपसे अभाव हो जाता है, इसलिये वहाँ रत्नत्रयकी पूर्णता होनेसे पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जानी चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि ध्यानकी प्रक्रियाके अनुसार पूर्ण स्वाधीनताका अनुभव करता हुआ भी इस भूमिकामें अन्तर्मुहूर्तकाल तक रुककर ही यह जीव ऐसी अवस्था प्राप्त करता है कि तब जाकर यह पूर्ण स्वाधीनताका अधिकारी होकर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है।

शंका—यदि यह बात है तो पंचास्तिकाय गाथा १७२ की समय टीकामें जो यह कहा गया है कि 'अनादिकालसे भेदवासित बुद्धि होनेके कारण प्राथमिक जीव व्यवहारनयसे भिन्न साध्य-साधनभावका अवलम्बन लेकर सुखसे तीर्थका प्रारम्भ करते हैं' सो ऐसा क्यों कहा गया है। क्या

इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इस जीवका मोक्षमार्गका प्रारम्भ पराश्रित-पनेसे होता है ?

समाधान—ज्ञानमार्गका अनुसरण करनेवाले जीवके बीच-बीचमें अरहंतादि भक्तिविषयक जो रागका उत्थान होता है उस समय यह श्रद्धेय है, यह अश्रद्धेय है। यह श्रद्धाता है, यह श्रद्धान है। यह ज्ञेय है, यह अज्ञेय है। यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है। यह आचरणीय है, यह अनाचरणीय है। यह आचरिता है और यह आचरण है। इस प्रकार कर्तव्याकर्तव्य तथा कर्ता-कर्मके विभागके अवलोकन द्वारा जिन्हें अनुकरण करने योग्य अतिहृदयग्राही उत्साह उत्पन्न हुआ है वे विना हठके रत्नत्रय तीर्थका सेवन करनेमें सफल होते हैं यह उक्त कथनका आशय है।

प्रकृतमें ऐसा समझना चाहिये कि मोक्षमार्गका अनुसरण करनेवाले जीवोंकी दृष्टि एकमात्र ज्ञायकस्वभाव आत्मापर ऐसे ही केन्द्रित रहती है जैसे कुम्भकारका चक्र चारों ओर घूमते हुए भी केन्द्रस्थानीय कीलको कभी नहीं छोड़ता। फिर भी बीच-बीचमें रागका उत्थान होनेपर उनके तीर्थसेवनकी प्राथमिक (सविकल्प) दशामें जितने कालतक आंशिक शुद्धिके साथ मन-वचन और कायके अवलम्बनपूर्वक अरहंतादिकी भक्ति या व्रतादिमें प्रवृत्ति होती है उतने कालतक परावलम्बी साध्य-साधन-भावका अवलम्बन रहता है। परन्तु इसे वे मोक्षका उपाय नहीं समझकर मात्र स्वावलम्बनरूप स्थितिको ही अपने लिये आत्मीक सुखकी प्राप्तिके लिये हितकारी मानते हैं, क्योंकि भिन्न साध्य-साधनभावके अनुबन्धसे वे सदा मुक्त रहते हैं। कदाचित् एतद्विषयक रागका उत्थान होनेपर वह ऐसे ही विलयको प्राप्त हो जाता है जैसे सूर्य किरणोंका निमित्त पाकर हरिद्राका रंग विलयको प्राप्त हो जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए मूलाचार अनगारभावनाधिकार गाथा १०६ की टीकामें मूलका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

यद्यपि कदाचिद्रागः स्यात्तथापि पुनरनुबन्धं न कुर्वन्ति, पश्चात्तापेन तत्क्षणा-देव विनाशमुपयाति हरिद्रारक्तवस्त्रस्य पीतप्रभाररविकिरणस्पृष्टेवेति।

यद्यपि कदाचित् राग होता है तथापि मोक्षमार्गी जीव रागमें अनु-बन्ध नहीं करते, पश्चात्ताप द्वारा तत्क्षण ही वह ऐसे ही विनष्ट हो जाता है जैसे सूर्यकी प्रभासे हरिद्रासे रंगे हुए वस्त्रपरका रग उड़ जाता है।

यद्यपि हम यह मानते हैं कि इन्द्रिय विषयक रागसे देवादि या व्रतादिक विषयक राग प्रशस्त माना गया है। परन्तु केवल इस कारण वह उपादेय नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी भी प्रकारके रागके होनेपर पश्चात्ताप द्वारा उससे विमुख होना ही हितकारी माना गया है। रागवन्ध पर्यायरूप होनेसे सदाकाल हेय ही है। देवादिक तो अन्य हैं। उनकी बात छोड़िये। जहाँ अपने आत्माविषयक राग ही हेय माना गया है वहाँ अन्य पदार्थविषयक राग उपादेय कैसे हो सकता है। इस प्रकार प्रकृतमें षट्कारक विषयक मीमांसाका सांगोपांग विचार किया।

क्रम-नियमितपर्यायमीमांसा

निज स्वभावके योगसे नियमित वरते जीव ।
श्रद्धामें यों लखन ही पावे मोक्ष अतीव ॥

१. उपोद्घात

अनेक युक्तियों और आगमसे पूर्वमें हम यह भलीभाँति सिद्ध कर आये हैं कि निश्चय उपादानके अनुसार पदार्थके कार्यरूपसे परिणत होते समय ही अन्य पदार्थोंमें व्यवहार हेतुता स्वीकार की गई है, आगे-पीछे नहीं, क्योंकि लोकमें जिन्हें निमित्तकर यह कार्य हुआ यह कहकर उन्हें मिलानेकी वात कही जाती है उनके साथ सर्वदा और सर्वत्र कार्योंकी व्याप्ति नहीं देखी जाती। श्री जयधवला पु० ११में वतलाया है कि जो जीव नित्य निगोदसे निकल कर क्रमशः संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त पर्यायको प्राप्त होता है उसके उत्कृष्ट संक्लेशके अभाव होनेपर भी उस समय प्राप्त संक्लेशको निमित्तकर उत्कृष्ट अनुभागको लिए हुए कर्मवन्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि वाह्य सामग्री वास्तवमें कार्यकी उत्पादक नहीं होती, क्योंकि जितने भी कार्य होते हैं वे अपनी मूलभूत सामग्रीके स्वभावको नहीं उल्लंघन कर अपने-अपने नियत समय पर ही उत्पन्न होते हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार गाथा ३७२की आत्मख्याति टीकामें कहा भी है—

एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव, मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशन्ती स्वस्वभावेनैव कुम्भभावेनोत्पद्यते।

ऐसा होनेपर मिट्टी अपने स्वभावको नहीं उल्लंघन करती, इसलिये कुम्भकार घटका उत्पादक ही नहीं है, वस्तुतः मिट्टी ही कुम्भकारके स्वभावको स्पर्श न करती हुई स्वयं ही अपने स्वभावसे कुम्भरूपसे उत्पन्न होती है।

यहाँ स्वभावको माध्यम करके ही प्रत्येक समयमें निश्चय उपादानके अनुसार प्रत्येक समयमें कार्यकी उत्पत्ति होती है यह स्पष्ट किया गया है और कार्य उत्पत्तिमें वाह्य निमित्तका स्थान है यह वतलाया गया है। इसलिये सिद्ध होता है कि निश्चय उपादानके अनुसार कार्य होकर भी उसका क्रम क्या है इसका यहाँ विचार करना है।

हम पिछले एक प्रकरणमें यह भी लिख आये हैं कि संसारी जीवोंके प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें स्वभाव आदि पाँच वाह्याभ्यन्तर कारणोंका समवाय होता है, किन्तु इनमेंसे स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, काल और कर्म इनमेंसे किसीके सम्बन्धमें संक्षेपमें और किसीके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया पर कार्योत्पत्तिके क्रमके सम्बन्धमें अभी तक आगमके अभिप्रायको स्पष्ट नहीं किया, इसलिये यहाँ पर इस अध्यायके अन्तर्गत उसका विचार करते हैं।

२. लौकिक प्रमाणोंका कल्पित उपयोग

यह तो सुनिश्चितरूपसे प्रतीतिमें आता है कि लोकमें प्रत्येक कार्य अपने नियत समय पर ही होता है। यद्यपि सार्वजनिक जीवनमें भी जनसाधारणको इसकी प्रतीति होती है और आगमसे भी इसका समर्थन होता है, किन्तु सोनगढ़ और उसके द्वारा की गई आगमानुसार तत्त्वप्ररूपणाके प्रति स्वाभाविक चिढ़ होनेके कारण या आगमवाह्य क्रियाकाण्डके लोप होनेके कल्पित भयसे वे ऐसी विचारधाराका प्रचार करनेमें लगे हुए हैं जिससे तत्त्व व्यवस्थाके समाप्त होनेका ही भय उत्पन्न हो गया है। उनका कहना है कि 'भगवान्के ज्ञानमें जिस कालमें जिस वस्तुका जैसा परिणमन झलका है वह उसी प्रकार होगा, प्रत्येक सम्यग्दृष्टिकी ऐसी ही श्रद्धा होती है, इसलिये केवलज्ञानके विषयके अनुसार तो सभी कार्य नियत क्रमसे ही होते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा भी ऐसी ही रखता है। किन्तु श्रुतज्ञानीके इतने मात्रसे सब समस्याएँ हल नहीं हो जातीं, इसलिये श्रुतज्ञानके विषयके अनुसार कुछ कार्य नियत क्रमसे भी होते हैं और कुछ कार्य अनियत क्रमसे भी होते हैं ऐसा अनेकान्त ही ठीक है।'

उक्त विचार धारावाले महानुभावोंने अपना यह दृष्टिकोण जयपुर खानिया तत्त्वचर्चाके प्रसंगसे शंका ६के अन्तर्गत तो उपस्थित किये ही था, अन्यत्र भी अपने लिखान और उपदेशों द्वारा इसे व्यक्त करते रहते हैं। तदनुसार अनेकान्तकी दुहाई देते हुए अपने कल्पित श्रुतज्ञानके वल पर उनका कहना है कि लोकमें स्थूल और सूक्ष्म जितने भी कार्य होते हैं वे सब क्रम नियमित ही होते हैं ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। वे अपने उक्त अभिप्रायकी पूर्तिके लिए नियत अन्त्यक्षण प्राप्त सामग्रीसे नियत कार्यको ही जन्म मिलता है इस तथ्यको भी अस्वीकार कर देते हैं। उनके मन्तव्यानुसार कई कार्य तो ऐसे हैं जो अपने-अपने

स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं। जैसे पर्यायरूपसे शुद्ध हुए द्रव्योंकी प्रति समयकी पर्याय अपने-अपने नियत स्वकालमें ही होती हैं, क्योंकि उनके होनेमें निमित्तभूत अन्य कोई वाह्य प्रेरक (कर्ता) सामग्री न होनेसे उनके अपने-अपने नियत स्वकालमें होनेमें कोई वाधा नहीं आती। किन्तु पुद्गल स्कन्धोंकी और संसारी जीवोंकी सब या कुछ पर्यायें वाह्य प्रेरक (कर्ता) सामग्री पर अवलम्बित हैं, इसलिये वे सब अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार एक नियत क्रमको लिए हुए ही होती हैं, ऐसा कोई सुनिश्चित नियम नहीं है। क्योंकि वे वाह्य प्रेरक सामग्रीके विना नहीं हो सकतीं और वाह्य प्रेरक सामग्री पर है, इसलिये जब जैसी वाह्य प्रेरक सामग्रीका योग मिलता है उसीके अनुसार वे होती हैं और इसका कोई नियम नहीं है कि कब कैसी वाह्य प्रेरक सामग्री मिलेगी, इसलिये पर्यायरूपसे अशुद्ध हुए द्रव्योंकी पयायें प्रतिनियत क्रमसे ही होती हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ऐसा माननेवालोंके कहनेका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि पुद्गल-स्कन्धों और संसारी जीवोंकी सब पर्यायें बाह्य साधनों पर अवलम्बित होनेके कारण उनमेंसे कुछ पर्यायोंका जो क्रम नियत है उसीके अनुसार वे होती हैं और बीच-बीचमें कुछ पर्यायें अपने नियत क्रमको छोड़कर भी होती हैं। इसकी पुष्टिमें वे लौकिक और अपनी कल्पनाके अनुसार शास्त्रीय प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। लौकिक प्रमाणोंको उपस्थित करते हुए वे कहते हैं कि—

३. लौकिक प्रमाणोंसे अपनी कल्पनाकी पुष्टि

(१) भारतवर्षमें छह ऋतुओंका होना सुनिश्चित है। साथ ही प्रति-वर्ष अधिकतर ऋतुयें अपने नियत समय पर होती भी हैं। परन्तु कभी-कभी वाह्य प्रकृतिका ऐसा विलक्षण प्रकोप होता है जिससे उनका नियत क्रम उलट-पलट हो जाता है। दूसरा उदाहरण वे अणु बमों और हाइ-ड्रोजन बमों आदि संहारक अस्त्रोंका उपस्थित कर कहते हैं कि इस प्रकारके संहारक अस्त्रोंका प्रयोग करनेसे दुनियाका जो नियत जीवन-क्रम चल रहा है वह एक क्षणमें बदलकर बड़ा भारी व्यतिक्रम उपस्थित कर देता है।

(२) उनका यह भी कहना है कि वर्तमान कालमें जो विज्ञानकी प्रगति चल रही है उससे कुछ काल बाद जलके स्थानमें स्थल और स्थलके स्थानमें जलरूप विलक्षण परिवर्तन होता हुआ दिखलाई पड़ना

अशक्य नहीं है। मनुष्य उसके बलसे हवा, पानी, अन्तरीक्ष और नक्षत्र-लोक इन सब पर विजय प्राप्त करता हुआ चला जा रहा है।

और भी ऐसी रेल दुर्घटना आदि आकस्मिक रूपसे हमें देखनेको मिलती रहती हैं जिनसे यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि सब कार्योंका नियत क्रमसे होना मानना कोरी कल्पना है, बुद्धि बाह्य होनेसे वह स्वीकार नहीं की जा सकती।

४. आगमिक प्रमाणोंका कल्पित उपयोग

ये कुछ लौकिक उदाहरणोंका कल्पित उपयोग है। शास्त्रीय प्रमाणोंको उपस्थित करते हुए उनका कहना है कि—

(१) यदि सब द्रव्यों की पर्यायें क्रमनियमित ही हैं तो देव, नारकी, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंच तथा चरम शरीरी मनुष्योंकी आयुको मात्र अपनवर्त्य कहना नहीं बनता, क्योंकि जब सब जीवोंका जन्म-मरण तथा अन्य कार्यक्रम क्रमनियमित हैं तब किसी नियत आयुको और उनके अन्य कार्योंको अनपवर्त्य नहीं कहना चाहिये। यतः आगममें विषभक्षण, रक्तक्षय, तीव्र वेदनाका होना और भय आदि बाह्य कारणोंका योग होनेपर कर्मभूमिज मनुष्यों और तिर्यंचोंकी भुज्यमान आयु पूरी हुए विना बीचमें ही मरण होता हुआ आगम स्वीकार करता है, इसीलिये ही शास्त्रकारोंने इन बाह्य साधनोंके आधारपर अकालमरणका निर्देश किया है। यही बात तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी कही है—

> अथौपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन।
> स्वोपात्तमायुरोदृशादृष्टसामर्थ्यसंगतेः॥ १॥
> सामर्थ्यतस्ततोऽन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः।
> सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वतः॥ २॥

औपपादिक आदि जीवोंकी अपनी बन्धकालमें प्राप्त आयुका कभी भी अपवर्तन नहीं होता, क्योंकि उनका अदृष्ट ही ऐसा होता है। अतः सामर्थ्यसे ज्ञात होता है कि उक्त जीवोंके सिवाय अन्य जितने जीव हैं उनको विष भक्षण आदिके द्वारा आयुका अपवर्तन होना सम्भव है यह सिद्ध होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो चिकित्सा आदिका किया जाना निष्फल हो जायगा।

अतः सब पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं यह एकान्त नियम नहीं है यह मानना ही उपयुक्त है।

(२) अपने इस पक्षके समर्थनमें वे उदीरणा, उपशम, संक्रमण, अपकर्षण और उत्कर्षणको भी उपस्थित करते हैं। कर्मस्थितिका परिणाम विशेषको तथा अन्य बाह्य कारणोंको निमित्तकर घटकर उदयमें निक्षिप्त होना उदीरणा है।

उपरितन स्थितिमें स्थित कर्मपरमाणुओंका उदयावलिके बाहर निक्षिप्त होना अपकर्षण है। जिस प्रकृतिका बन्ध हो रहा हो उसी प्रकृतिकी अधस्तन स्थितिमें स्थित कर्म परमाणुओंका वर्तमान बन्धके अन्तर्गत उपरितन कर्मस्थितिमें निक्षिप्त होना उत्कर्षण है तथा किसी भी प्रकृतिके परमाणुओंका अपनी सजातीय प्रकृतियोंमें संक्रमित होना संक्रमण है। ये चारों कार्य प्रायः प्रयोगविशेषसे होते हैं, इसलिए कौन कब हो इसका कोई नियम नहीं किया जा सकता। जब जिसके अनुकूल निमित्त मिलते हैं तब वह होता है, अतएव सभी पर्यायें क्रमनियमित ही हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है।

(३) आगममें जो यह कहा गया है कि अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहने पर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है सो उसका यह अर्थ है कि जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तब अधिक-से-अधिक अर्ध-पुद्गल परिवर्तन काल शेष रहता है। सम्यग्दर्शनको यह जीव कब प्राप्त करे इसका कोई नियम नहीं है। आगममें जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके बलसे यह जीव अनन्त कालका छेद करता है सो इस कथनसे ही उक्त अभिप्रायकी पुष्टि होती है इसलिए भी सभी पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(४) उक्त महानुभावोंका यह भी विचार दिखलाई देता है कि बाह्य सामग्रीमें निमित्तता उसकी स्वभावगत योग्यता है। यह इसीसे स्पष्ट है कि अव्यवहित पूर्व समयमें उपादान रूपसे द्रव्यके अवस्थित रहने पर भी यदि कार्य रूपसे परिणमानेवाली बाह्य सामग्री नहीं मिलती या प्रति-कूल बाह्य सामग्री उपस्थित रहती है तो कार्य नहीं होता। इससे भी सभी पर्यायें क्रम नियमित ही होती हैं यह नहीं सिद्ध होता।

(५) कर्म और आत्मामें जो संश्लेषरूप सम्बन्ध है वह अबद्धावरूप नहीं है। यह बात आचार्य अमृतचन्द्रके 'न जातु रागादिनिमित्तभावम्' (कलश १७५) इस कलश-काव्यसे ही स्पष्ट है। इसीलिये कर्म अपने उदय और उदीरणा द्वारा जीवकी विविध अवस्थाओंके होनेमें प्रेरक-निमित्त होता रहता है। अन्यथा कर्मकी बलवत्ता नहीं स्वीकार की जा

सकती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सभी पर्यायें प्रतिनियत क्रम से ही होती हैं ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है।

(६) किसी वस्तुमें विवक्षित कार्यरूपसे परिणमनकी उपादान योग्यताके रहने पर भी उसके उस रूपसे परिणमन करानेमें समर्थ जब बाह्य सामग्री मिलती है तभी वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। इससे भी सभी कार्य क्रम नियमित ही होते हैं यह नहीं सिद्ध होता।

(७) उनकी तरफसे एक बात यह भी कही जाती है कि 'जैसे मिट्टीमें जिस प्रकार कुम्भ निर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है उसी प्रकार कुम्भकार व्यक्तिमें भी कुम्भनिर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है, परन्तु दोनों-में अन्तर यह है कि मिट्टी कुम्भकी कर्ता इस दृष्टिसे है कि वह कुम्भरूप परिणत होती है और कुम्भकार व्यक्ति कुम्भका कर्ता इस दृष्टिसे है कि वह मिट्टीके कुम्भरूप परिणत होनेमें सहायक होता है।'

(८) उनका यह भी कहना है कि कार्यकी उत्पत्तिमें जो स्वभाव आदि पाँचको कारण माना है सो इस मान्यताके विषयमें तो मेरा साधारणतया कोई विरोध नहीं है, फिर भी जो विरोध है वह प्रत्येक द्रव्यका जो षड्गुण-हानि वृद्धिरूप स्वप्रत्यय परिणमन हो रहा है इस सम्बन्धमें है, क्योंकि इस परिणमनमें निमित्तोंको कारणता प्राप्त नहीं है। यदि उस परिणमनमें भी निमित्तोंको कारण माना जाय तो फिर उसका स्वप्रत्ययपना ही समाप्त हो जायगा जिससे आगममें प्रदर्शित परिणमनके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेदोंकी व्यवस्था ही भंग हो जायगी। अर्थात् तब सभी परिणमन स्व-परप्रत्यय ही सिद्ध होंगे, कोई भी परिणमन स्वप्रत्यय सिद्ध नहीं होगा।

(९) उनका यह भी कहना है कि जीवकी अन्तिम संसाररूप पर्याय-के अनन्तर उसकी प्रथम मोक्ष पर्यायकी उत्पत्ति होती है, परन्तु मोक्ष-पर्यायकी उत्पत्तिका कारण द्रव्य कर्मोंका, नोकर्मोंका और भाव कर्मोंका विच्छेद ही है, संसारकी अन्तिम पर्याय नहीं।

(१०) उक्त कथनकी पुष्टिमें उनका कहना है कि आगममें पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्यको ही कार्यके प्रति उपादान कारण माना गया है, पूर्व पर्यायको नहीं। इसका आधार यह है कि पूर्व पर्याय विनष्ट होकर ही उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति होती है।

(११) उनका यह भी कहना है कि यद्यपि निश्चय रत्नत्रयसे ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है, परन्तु उसे निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति

व्यवहार रत्नत्रयके आधार पर ही होती है जैसा कि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है। इस तरह मोक्षके साक्षात् कारणभूत निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिका कारण होनेसे व्यवहार रत्नत्रयमें भी परम्परया मोक्षकारणता सिद्ध हो जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार निश्चय रत्नत्रय मोक्षका कारण होनेसे धर्म है उसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय भी मोक्षका कारण होनेसे धर्म है। केवल यह विशेषता है कि निश्चय रत्नत्रय मोक्षका साक्षात् कारण होनेसे जहाँ निश्चय धर्म है वहाँ व्यवहार रत्नत्रय मोक्षका परम्परया अर्थात् निश्चय रत्नत्रयका कारण होकर कारण होनेसे व्यवहार धर्म है।

(१२) उनका यह भी कहना है कि केवलज्ञान अपने आपमें जीवकी स्वपरप्रत्यय पर्याय है, इसलिए वह जीवके स्वभावभूत ज्ञायकभावकी पूर्ण विकासरूप परिणति होनेके कारण अपने आपमें प्रगट होकर भी तबतक प्रगट नहीं होती है जबतक ज्ञानावरणादि कर्मोंका सर्वथा क्षय नहीं हो जाता है।

(१३) उनका यह भी कहना है कि निमित्त कार्यमें तबतक उपयोगी है जबतक कार्य निष्पन्न नहीं हो जाता है यानि कार्यके निष्पन्न हो जानेपर निमित्तकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। लेकिन उपादानकी उपयोगिता चूँकि कार्य निष्पन्न होनेसे पूर्व और पश्चात् सतत बनी रहती है, अतः उपादान सर्वदा उपयोगी ही बना रहता है।

(१४) उनका यह भी कहना है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रदेशोंकी घटाबढ़ीके आधारपर कोई द्रव्यपर्याय नहीं बनती है, उनमें तो केवल परद्रव्यके साथ होनेवाली स्पृष्टता अथवा बद्धताके आधारपर ही यथायोग्य द्रव्यपर्यायें बनती हैं" अतः वे सभी द्रव्यपर्यायें परप्रत्यय ही हैं, स्वप्रत्यय नहीं।

ऐसा कहनेवाले वे महाशय यह तो स्वीकार करते हैं कि केवलज्ञानके अनुसार सभी पर्यायें अपने-अपने नियत समयपर ही होती हैं, सम्यग्दृष्टिकी ऐसी ही श्रद्धा रहती है। पर वे जिस श्रुतज्ञानके बलपर पर्यायोंमें अनियत क्रम स्वीकार करते हैं उनका वह श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धाबाह्य होनेसे मिथ्यादृष्टियोंका ही श्रुतज्ञान होगा ऐसा मानना ही पड़ता है और मिथ्यादृष्टियोंका जो भी श्रुतज्ञान होता है उसे सम्यक् श्रुतज्ञान तो वे महाशय भी नहीं स्वीकार करेंगे। ऐसी अवस्थामें मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्या श्रुतज्ञानके बलपर ही वे पर्यायोंके अनियत

एक समान नहीं होता. इसलिये सबको पढ़ने पर भी एक समान ज्ञान नहीं होता ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि तब भी यही प्रश्न होता है कि जब सबको एक समान बाह्य सामग्री सुलभ है तब सबका एक समान क्षयोपशम क्यों नहीं होता ? जो महाशय उपादानका इतना ही अर्थ करते हैं कि जो कार्यरूप परिणत होता है या जिसमें कार्य उत्पन्न होता है वह उपादान है, कार्योत्पादक तो वास्तवमें बाह्य सामग्री है। उनको अन्तमें इस प्रश्नका ठीक उत्तर प्राप्त करनेके लिये निश्चय उपादानपर हो आना पड़ता है। तब यही मानना पड़ता है कि जब किसी भी कार्यका कार्योत्पादक निश्चय उपादानका स्वकाल आता है तब अव्यवहित उत्तर समयमें वह कार्य नियमसे होता है और असद्भूत व्यवहारनयसे तदनुकूल बाह्य सामग्रीका योग भी बनता रहता है। कहीं वह साधन सामग्री अनायास मिलती है और कहीं वह प्रयत्नपूर्वक मिलती है, पर वह मिलती अवश्य है। जहाँ प्रयत्नपूर्वक मिलती है वहाँ उसको निमित्त कर होनेवाले उस कार्यमें प्रयत्नकी मुख्यता कही जाती है और जहाँ बिना प्रयत्नके मिलती है वहाँ दैवकी मुख्यता कही जाती है। दैवका अर्थ पुरातन कर्म और योग्यता है, इसलिये निष्कर्ष यह निकलता है कि निश्चय उपादानकी दृष्टिसे कार्योत्पादनक्षम योग्यता दोनों जगह अनुस्यूत है। निश्चय उपादानसे अलग योग्यताको पृथक् गिनानेका कारण भी यही है।

शंका—कार्यके उत्पन्न करनेमें जो बाह्य सामग्री निमित्त होती है उसमें भी कार्योत्पादनक्षम योग्यता स्वीकार करनेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—पृथक्भूत बाह्य सामग्रीमें परमार्थसे उससे भिन्न कार्यका वास्तविक कारण माननेपर एक तो उसे कार्यद्रव्यसे अभिन्न माननेका प्रसंग आता है दूसरे वह स्वयं अपने कार्यरूप परिणत होनेमें व्यापृत रहती है, इसलिये उसमें परमार्थसे ऐसी योग्यता नहीं स्वीकार की गई है।

शंका—अन्य द्रव्यके कार्यका कर्ता होनेकी योग्यता बाह्य सामग्रीमें भले ही न हो, आगममें निषेध भी इसीका किया गया है। करणादि रूपसे वास्तविक योग्यता माननेमें क्या आपत्ति है।

समाधान—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यका वास्तविक कर्ता नहीं होता यह उपलक्षण वचन है। इससे कर्म, करण आदि सभी कारकोंका निषेध हो जाता है। इसलिये एक द्रव्यके कार्यके करनेकी या तद्विषयक

साधन आदि होनेकी वास्तविक योग्यता दूसरे द्रव्यमें न होनेसे एक कर्त्ताका निषेध करनेसे वास्तवमें सभी कारकोंका निषेध हो जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमितगति स्वरचित द्वात्रिंशतिका-में कहते हैं—

> न संस्तरो भद्र समाधिसाधनं न च लोकपूजा न च संघमेलनम् ।
> यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

हे भद्र! संस्तर समाधिका साधन नहीं है, लोकपूजा और संघमेलन भी समाधिका साधन नहीं है। मैं सब प्रकारकी बाह्य वासनाको छोड़-कर जैसे भी बने वैसे अध्यात्मरत होता हूँ ॥२३॥

यह तथ्य है। इस द्वारा जिन्हें हम समाधिके लिये अनुकूल साधन मानते हैं यहाँ न केवल उनका ही निषेध किया गया है, किन्तु तद्विषयक सभी प्रकारकी वासनासे मुक्त होकर एक अपने आत्माको ही लक्ष्यमें लेनेकी दृढ़ प्रेरणा की गई है। साथ ही इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अन्यके द्वारा तद्भिन्न अन्यका कार्य किया जा सकता है ऐसा मानना कोरी अज्ञानमूलक वासना है।

६. कतिपय शास्त्रीय उदाहरण

(१) शास्त्रोंमें अभव्य मुनियोंके बहुत उदाहरण आते हैं। वे जीवन भर चरणानुयोगके अनुसार कठोर संयमका पालन करते हैं, फिर भी वे भावसंयमके पात्र क्यों नहीं होते। बाह्य दृष्टिसे उनमें किस बातकी कमी है? बाह्यमें घर आदि सकल परिग्रहका त्याग किया है। सिंह आदि क्रूर जीवोंसे व्याप्त वनमें एकाकी विचरते हैं। इतना सब है तो भी वे भावसंयमरूप परिणामके अधिकारी नहीं होते? इसके कारणका अनुसन्धान करनेपर यही कहना पड़ता है कि उनमें भावसंयमको उत्पन्न करनेकी कार्यक्षम उपादान योग्यता ही नहीं है, इसलिये वे बाह्य तपश्चरण आदि व्यवहार साधनमें अनुरागी होकर भावसंयमके अनुकूल प्रयत्न भले ही करते रहें, पर उस जातिकी योग्यताके अभावमें मोक्ष-प्राप्तिके अनुरूप सम्यक् पुरुषार्थके अभावमें न तो भावसंयमके पात्र होते हैं और न मोक्षके ही अधिकारी हो पाते हैं। नियम यह है कि जहाँ रागकी ओर अणुमात्र भी झुकाव है वहाँ आत्माकी प्राप्ति नहीं और जहाँ आत्माकी प्राप्ति है वहाँ रागानुभूति नहीं। रागका होना और बात है, पर स्वपनेसे रागकी अनुभूति होना और बात है। ज्ञानीके विकल्प

दशामें राग होता है इसका निषेध नहीं, पर स्वपनेसे रागानुभूतिसे वह सर्वथा मुक्त रहता है यह वस्तुस्थिति है। इस प्रकार इस उदाहरणको दृष्टिपथमें लेकर यदि हम अपने अन्तश्चक्षुको खोलकर देखें तो हमें सर्वत्र कार्यकरणक्षम इस योग्यताका ही साम्राज्य दिखलाई देता है। इसके होनेपर जिसे लोकमें छोटा-से-छोटा वाह्य साधन कहा जाता है वह भी कार्योत्पत्तिका वाह्य साधन वन जाता है और इसके अभावमें जिसे कार्योत्पत्तिका वड़े-से-वड़ा वाह्य साधन कहा जाता है वह भी निष्फल हो जाता है। कार्योत्पत्तिमें निश्चय उपादानगत योग्यताका अपना मौलिक स्थान है। हम ऐसे सैकड़ों उदाहरण वतला सकते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने निश्चय उपादानकी स्थितिमें पहुँचनेपर कार्य अवश्य होता है, पर उसके अभावमें कितने ही वाह्य साधनोंकी अनुकूलता होनेपर इष्ट कार्यके दर्शन नहीं होते।

(२) शास्त्रोंमें आपने 'तुप-मास' भिन्नकी कथा भी पढ़ी होगी। वह प्रतिदिन नियमानुसार गुरुकी सेवा करता है, अट्ठाईस मूलगुणोंका नियमित ढंगसे पालन करता है, फिर भी वह समग्ररूपसे द्रव्यश्रुतका ज्ञाता नहीं हो पाता। इसके विपरीत वह 'तुष-मास भिन्न' पाठका घोष करते हुए आत्मस्थ होनेपर केवली तो हो जाता है, फिर भी उसे छद्मस्थ अवस्थामें द्रव्यश्रुतकी प्राप्ति नहीं होती। क्यों? क्योंकि उसमें द्रव्यश्रुतको उत्पन्न करनेकी योग्यता ही नहीं थी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण तो समझमें आता नहीं। इससे कार्योत्पत्तिमें निश्चय उपादानगत योग्यताका क्या स्थान है यह समझमें आ जाता है।

(३) श्रीजयधवलामें तीर्थंकर देवाधिदेव भगवान् महावीरको केवलज्ञान होनेपर ६६ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी इस शंकाको उपस्थित कर श्रीजयधवलामें कहा गया है कि दिव्यध्वनिको पूरी तरहसे ग्रहण करनेमें समर्थ गणधरके न होनेसे दिव्यध्वनि नहीं खिरी। इसपर पुनः शंका की गई कि देवेन्द्रने उसी समय गणधरको लाकर क्यों उपस्थित नहीं कर दिया? इसका जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि काललब्धिके विना देवेन्द्र उसी समय गणधरको उपस्थित करनेमें असमर्थ था। जयधवलाका वह उल्लेख इस प्रकार है—

दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती? गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किं ण ढोइदो? ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो।

यह एक ऐसा उदाहरण है जिससे हम यह जानते हैं कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें निश्चय उपादानगत योग्यताका स्थान सर्वोपरि है।

(४) एक दूसरा उदाहरण देखिये—कर्मशास्त्रके नियमानुसार जिन ८२ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टिके होता है उनमें मिथ्यात्व प्रकृति भी परिगणित की गई है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कहा भी है—

> वादालं तु पसत्था विसोहिगुण मुक्कडस्स तिव्वाओ।
> वासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसंकलिट्ठस्स ॥१६४॥

जो ४२ प्रकृतियाँ पुण्यरूप कही गई हैं उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उकृष्ट विशुद्धिरूप परिणामवाले जीवोंके होता है और शेष ८२ प्रकृतियों-का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशरूप परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंके होता है।

यह उत्कृष्ट अनुभागबन्धकी व्यवस्था है। अब इसकी उदीरणाके विषयमें देखिये। जयधवलामें कहा है—

> मिच्छत्तस्स उक्कसाणुभाग उदीरणा कस्स ?
> मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है ?

यह एक प्रश्न है इसका समाधान करते हुए यतिवृषभ आचार्य लिखते हैं—

> मिच्छाइट्ठिस्स सण्णिस्स सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयस्स उक्कस्ससंकिलिट्ठस्स।

जो मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीव सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त है और उत्कृष्ट-संक्लेश परिणामवाला है उसके मिथ्यात्वके उत्कृष्ट अनुभागकी उदीरणा होती है।

इन प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि जिस जीवने पहले मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध किया है उसीके मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट उदीरणा सम्भव है। और यह ठीक भी है, क्योंकि जिसकी सत्ता हो उसीकी उदीरणा हो सकती है। जिसकी सत्ता ही न हो उसकी उदीरणा कहाँसे होगी।

इस प्रकार इस विधिसे यह नियम बना कि मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टिके ही होता है। तभी उसके मिथ्यात्वके उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणाके कालमें उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम हो सकेंगे। तब प्रश्न होता है कि जो निगोदिया जीव निगोदसे

निकलकर क्रमसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त होते हैं उनके जब उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होना सम्भव ही नहीं और उनके बिना मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध भी होना सम्भव नहीं तब उनके मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा कहाँसे होगी ? और इसके अभावमें संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाला भी कैसे हो सकेगा ? अर्थात् नहीं हो सकेगा यह एक प्रश्न है। इसका समाधान जयधवलामें यह कहकर किया है कि चाहे उत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्म वाला जीव हो या चाहे तत्प्रायोग्य अनुत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्मवाला जीव हो। दोनोंके उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम हो जायगा। पूरा शंका समाधान इस प्रकार है—

थावरकापादो आगंतूण तसकाइएसुप्पणस्साणुभागसंतकम्ममणुक्कस्सं होइ, विट्ठाणियत्तादो। पुणो एदं संतकम्ममुदीरेमाणो पंचिंदियो चउट्ठाणमणुक्कस्साणुभागं बंधदि। संपहि एवंविहाणेण बद्धचउट्ठाणियाणुक्कस्साणुभागसंतकम्मेण सो चेव उक्कस्साणुभागबंधपाओग्गो वि होइ, सव्वुक्कस्ससंकिलेसपरिणामेण परिणदस्स तस्स तदविरोहादो। जइ पुण उक्कस्साणुभागसंतकम्मेण विणा उक्कस्साणुभागुदयो उदीरणा वा ण होदि त्ति णियमो तो तस्स उक्कस्सोदयाभावेण तदविणाभाविउक्कस्ससंकिलेसाभावादो। उक्कस्साणुभागबंधो सव्वकालं ण होज्ज ? ण च एवं, तहासंते उक्कस्साणुभागुप्पत्तीए तत्थाभावपसंगादो। तदो उक्कस्साणुभागसंतकम्मियस्स तप्पाओग्गाणुक्कस्साणुभागसंतकम्मियस्स वा सण्णिमिच्छाइट्ठिस्स सव्वसंकिलिट्ठस्स उक्कस्साणुभागुदीरणासामित्तं होदि त्ति णिच्छेयव्वं। जयधवला पु० ११ पृ० ४८।

स्थावरकायिकोंमेंसे आकर त्रसकायिकोंमें उत्पन्न हुए जीवके अनुभाग सत्कर्म अनुत्कृष्ट होता है, क्योंकि वह द्विस्थानीय है। पुनः इस सत्कर्मकी उदीरणा करनेवाला पञ्चेन्द्रिय जीव चतुःस्थानीय अनुभाग सत्कर्मका बन्ध करता है। अब इस विधिसे बन्धको प्राप्त हुए चतुःस्थानीय अनुभाग सत्कर्मके द्वारा वही जीव उत्कृष्ट बन्धके योग्य भी होता है, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट संक्लेशसे परिणत हुए उस जीवके उसके होनेमें कोई विरोध नहीं है। किन्तु यदि उत्कृष्ट सत्कर्मके बिना उत्कृष्ट अनुभागका उदय या उदीरणा नहीं होती है ऐसा नियम हो तो उसके उत्कृष्ट उदयका अभाव होनेसे उसका अविनाभावी उत्कृष्ट संक्लेशका अभाव हो जायगा और ऐसा होनेपर उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वकाल नहीं होगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा होनेपर वहाँ पर उत्कृष्ट अनुभागकी उत्पत्तिका अभाव

प्राप्त होता है, इसलिये उत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्मवाले या तत्प्रायोग्य अनुत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्मवाले सर्वसंक्लिष्ट संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवके उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणाका स्वामित्व है ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिये।

यहाँ उक्त उद्धरणमें दो मुख्य बात कही गई हैं वह यह कि भले ही अनुभाग सत्कर्म उत्कृष्टसे कम हो, पर ऐसे जीवके भी उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम हो सकता है। दूसरी बात जो कही गई है वह यह कि यद्यपि स्थावरोंके द्विस्थानीय अनुभाग सत्कर्म है, किन्तु जब संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुआ तो चतुःस्थानीय अनुभागबन्ध करने लगता है। सो क्यों? अतः इस उद्धरणसे भी यही निश्चित होता है कि जितने भी कार्य होते हैं वे निश्चय उपादानके अनुसार ही होते हैं। बाह्य वस्तुमें जो साधनता स्वीकार की गई है वह मात्र बाह्यव्याप्तिवश ही स्वीकार की गई है।

यह वस्तुस्थिति है। ऐसा होनेपर भी उसे स्वीकार नहीं करना और आगमका कल्पित अर्थ करके उपयोग करना फिर भी श्रुतज्ञान और आगमकी दुहाई देना केवल पाठकों और श्रोताओंके चित्तमें भ्रम उत्पन्न करनेके सिवाय और क्या हो सकता है। दर्शन-न्यायके ग्रन्थोंको लीजिये या मात्र अध्यात्मकी प्ररूपणा करनेवाले ग्रन्थोंको लीजिये, उनमें यह एक स्वरसे स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रति समय कार्यकरणक्षम योग्यता होती है। ऐसी अवस्थामें वह किसी निश्चय उपादानमें हो और किसी निश्चय उपादानमें न हो ऐसा नहीं है और न शास्त्रकार ऐसा कहते ही हैं। इसकी पुष्टि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके इस वचनसे भी होती है—

क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवंविधः कार्यकारणभावः सिद्धान्तविरुद्धः। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत् स्यात्, एकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्? कालप्रत्यासत्तिविशेषात्तत्सिद्धिः। पृ० १५१।

क्रमसे होनेवाली दो पर्यायोंमें एक द्रव्यप्रत्यासत्ति होनेसे उपादान-उपादेयपना कहा गया है और इस प्रकारका कार्य-कारणभाव सिद्धान्त-विरुद्ध नहीं है।

शंका—सहकारी कारणके साथ कार्यका वह कार्य-कारणभाव किस प्रकार होता है, क्योंकि इस कार्य-कारणभावमें एकद्रव्यप्रत्यासत्तिका अभाव है?

समाधान—कालप्रत्यासत्ति विशेष होनेसे उसके साथ भी कार्य-कारण-भावकी सिद्धि होती है।

इस उद्धरणसे दो तथ्य स्पष्ट होते हैं—

१. एक तो इसमें एकद्रव्यप्रत्यासत्तिवश क्रमसे होनेवाली दो पर्यायोंमें कार्य-कारणभाव स्वीकार किया गया है। जिसे कि आगममें निश्चय उपादानोपादेय भावरूपसे सम्बोधित किया गया है। इससे जिन महाशयोंका यह कहना है कि अव्यवहित पूर्व पर्यायके नाश होनेपर अगले समयमें कार्य होता है, इसलिये पूर्व पर्यायमें कारणता नहीं वनती। उनके इस मतका खण्डन हो जाता है और साथ ही जो केवल द्रव्यमें ही कारणता मानते हैं उसका भी निषेध हो जाता है, क्योंकि उक्त उद्धरणमें द्रव्यप्रत्यासत्तिको हेतुरूपसे उपस्थित कर अव्यवहित पूर्वोत्तर दो पर्यायोंमें कार्यकारणभाव स्वीकार किया गया है।

२. उक्त उद्धरणसे दूसरी यह वात सिद्ध होती है कि जिसे हम सहकारी कारण कहते हैं उससे कार्यद्रव्य सर्वथा भिन्न होता है। उसके साथ कार्यद्रव्यकी एकद्रव्यप्रत्यासत्तिका सर्वथा अभाव है। फिर भी जो उसे सहकारी कारण कहा गया है सो वह काल प्रत्यासत्तिविशेषवश ही स्वीकार किया गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक कार्यके प्रति आभ्यन्तर-बाह्य उपाधिकी अपेक्षा अन्तर्व्याप्ति और वाह्यव्याप्तिका योग रहता ही है। उनमें किसी प्रकारका व्यवधान नहीं होता।

७. आ० कुन्दकुन्दके वचनका तात्पर्य

आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार गाथा १४ में कहा है—

पज्जाओ दुवियप्पो स-परावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

पर्यायें दो प्रकार की हैं—स्वपरसापेक्ष पर्यायें और निरपेक्ष पर्यायें ॥१४॥

इन्हींको क्रमसे विभाव पर्याय और स्वभाव पर्याय भी कहते हैं।

प्रकृत प्रकरण जीवोंका है, इसलिये मात्र इस दृष्टिसे दोनों प्रकारकी पर्यायोंका खुलासा करते हुए वे आगे लिखते हैं—

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सभावमिदि भणिदा ॥१५॥

मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च और देवपर्याय ये विभाव पर्यायें कही गई हैं तथा कर्मोपाधिसे रहित पर्यायें स्वभाव पर्यायें कही गई हैं ॥१५॥

यहाँ मनुष्यादि पर्यायें उपलक्षण हैं। इनसे विभावपर्यायोंमें सभी कर्मोपाधिवाली अर्थ पर्यायों और व्यञ्जन पर्यायोंका ग्रहण हो जाता है

तथा स्वभाव पर्यायोंमें कर्मोपाधिरहित सभी अर्थपर्यायों और व्यञ्जन-पर्यायोंका ग्रहण हो जाता है। प्रकृतमें जो विभावपर्यायें हैं वे ही स्वपर-सापेक्ष पर्यायें कहलाती हैं और जो स्वभाव पर्यायें हैं वे ही निरपेक्ष पर्यायें कहलाती हैं। यद्यपि निरपेक्ष पर्यायोंको सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ७ में स्वप्रत्यय कहा गया है, पर जब अपेक्षाका अर्थ विकल्प किया जाता है तब स्वभाव पर्यायोंकी उत्पत्ति और अनुभवकी दशामें जीव विकल्प-रहित रहते हैं यह ध्वनित करनेके लिये ही आचार्यने स्वभाव पर्यायोंको मात्र निरपेक्ष कहा है। उनके पीछे स्व और पर ऐसा कोई विशेषण नहीं लगाया है। तथा जब कर्मोपाधिसे रहितकी विवक्षा होती है तब वे ही स्वप्रत्यय या स्वसापेक्ष पर्यायें भी कहलाती हैं। नयविभागगहन है। कब कौन नयसे कौन बात कही गई है यह समझना उसीके लिये सम्भव है जो उसमें पारंगत हो।

यह दो पर्यायोंकी व्यवस्था है। किन्तु आज-कल इस तथ्यको समझे बिना कई महाशय एक नये मतका प्रचार कर रहे हैं। उनका कहना है कि अगुरुलघुगुणकी षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्यायें स्वप्रत्यय पर्यायें हैं। उनमें वे कालको भी व्यवहार हेतुरूपसे नहीं स्वीकारते। एक विडम्बना और है और वह यह कि वे अगुरुलघु गुणकी उक्त पर्यायोंको छोड़कर और जितनी भी स्वभाव पर्यायें हैं उन्हें स्व-पर सापेक्ष कहते हैं।

स्वसापेक्ष पर्यायोंके समर्थनमें तो वे सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ७ के उसी कथनको उद्धृत करते हैं जहाँ पर्यायोंके दो भेद करके उनका स्पष्टीकरण किया गया है और स्वभाव पर्यायोंके स्वपरसापेक्ष कहनेके समर्थनमें वे यह युक्ति देते हैं कि जिन पर्यायोंके होनेमें परकी सहायता की अपेक्षा होती है वे स्वपरसापेक्ष पर्यायें हैं। इनमें विभाव और स्वभाव-रूप सभी पर्यायें ली गई हैं।

यह उन महाशयोंका कहना है। अब देखना यह है कि उन्होंने आगमके जिन वचनोंको उद्धृत कर यह अभिप्राय व्यक्त किया है वह कहाँ तक ठीक है। एक उद्धरण तो सर्वार्थसिद्धिका है जिसका हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। प्रकरण धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य-का है। उसकी टीकामें लिखा है—

धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः। उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति। ततः सर्वद्रव्याणा-मुत्पादादित्रयकल्पनाव्याघात इति? तन्न, किं कारणम्? अन्यथोपपत्तेः। क्रिया निमित्तोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा—

शंका—धर्मादिक द्रव्य यदि निष्क्रिय है तो उनकी उत्पाद पर्याय नहीं वनती, क्योंकि घटादिका क्रियापूर्वक उत्पाद देखा जाता है। और इनकी उत्पाद पर्याय नहीं वनी तो इनकी व्यय पर्यायका भी अभाव हो जाता है और इसलिये सव द्रव्योंके उत्पादादि तीनरूप होनेका व्याघात प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है,

शंका—इसका क्या कारण है ?

समाधान—इनकी दूसरे प्रकारसे उत्पाद पर्याय बन जाती है। क्रिया निमित्तक उत्पाद पर्यायका अभाव होने पर भी इन धर्मादिक द्रव्योंकी अन्य प्रकारसे उत्पाद पर्याय स्वीकार की गई है। यथा—

इतने उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि प्रकृतमें धर्मादिक तीन द्रव्योंके सम्वन्धमें ही ऊहापोह हो रहा है। यद्यपि सभी द्रव्योंकी स्वभाव पर्यायें धर्मादिक द्रव्योंकी स्वभाव पर्यायोंके समान अनिमित्तक (आश्रय निमित्तों-को गिना नहीं) ही होती हैं, फिर भी प्रकृतमेंधर्मादिक तीन द्रव्य ही विवक्षित हैं। आगे उन तीन द्रव्योंकी स्वभाव पर्यायें किस प्रकार होती हैं इसको वतलाते हुए वहाँ लिखा है—

द्विविध उत्पादः—स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानाम-गुरुलघुगुणानामागमप्रमाणादभ्युपगम्यमानानां षड्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावात्तेषामुत्पादो व्ययश्चः।

उत्पाद पर्याय दो प्रकारकी होती है—स्वनिमित्तक और परप्रत्यय-रूप पहले स्वनिमित्तक कहते हैं—इन तीनों द्रव्योंमें आगम प्रमाणसे स्वीकार किये गये अनन्त अगुरुलघुगुण (अविभाग प्रतिच्छेद) होते हैं जिनका छह स्थानपतित वृद्धि और हानिके द्वारा वर्तन होता रहता है। अतः इनकी स्वभावसे उत्पाद और व्ययरूप पर्याय बन जाती है।

इस प्रकार इन तीन द्रव्योंमें स्वप्रत्यय पर्याय कैसे वनती है यह सिद्ध किया। यही बात तत्त्वार्थवार्तिकमें भी कही गई है। साथ ही वहाँ इनमें परप्रत्यय पर्यायका व्यवहार कैसे होता है यह स्पष्ट करते हुए लिखा है—

परप्रत्ययोऽपि अश्वादेर्गतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्। क्षणे क्षणे तेषां भेदात्

तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्षया उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते। स० सि० तथा त० वा० अ० ५ सू० ७।

इन तीनों द्रव्योंमें परनिमित्तक भी उत्पाद और व्यय होता है, क्योंकि अश्व आदिकी गति, स्थिति और अवगाहनमें क्रमसे धर्मादिक तीनों द्रव्य निमित्त होते हैं। यतः इन गति आदिकमें क्षण क्षणमें अन्तर पड़ता है, इसलिये इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिये इस प्रकार इन धर्मादिक द्रव्योंमें परप्रत्यय उत्पाद और व्यय व्यवहृत होता है।

यही बात 'कालश्च' इस सूत्रकी व्याख्यामें भी दुहराई गई है। यथा—

व्ययोदयौ परप्रत्ययौ अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च।

काल द्रव्यकी व्यय और उत्पाद पर्याय परनिमित्तक होतीं हैं तथा अगुरुलघु गुणों (अविभागप्रतिच्छेदों) की वृद्धि और हानिकी अपेक्षा स्वप्रत्यय व्यय और उत्पाद पर्यायें होती हैं।

गुण शब्द पर्यायांशके अर्थमें भी व्यवहृत होता है यह बात हम त० सू० अ० ५ के 'न जघन्यगुणानां' इत्यादि तीन सूत्रोंसे तो जानते ही हैं। साथ ही तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १ के इस वचनसे भी इसकी सिद्धि होती है—

रूपरसगन्धस्पर्शयुक्ता हि परमाणवः एकगुणरूपादिपरिणताः द्वित्रिचतुः-संख्येयासंख्येयानन्तगुणत्वेन वर्धन्ते। तथैव हानिमपि उपयान्तीति गुणपेक्षया-पूरणगलनक्रियोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धम्।

जो एक अविभागप्रतिच्छेदको लिये हुए रूप आदिसे परिणत रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले परमाणु हैं वे दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदरूपसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। तथा उसी प्रकार हानिको भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा पूरण-गलनक्रियाकी उपपत्ति बन जानेसे परमाणुओंमें भी पुद्गलपना अविरोधरूपसे बन जाता है।

८. शंका-समाधान

शंका—परमार्थसे जब सभी पर्यायें स्वसे ही उत्पन्न होती हैं तब किन्हीं पर्यायोंको स्वभावपर्यायकी संज्ञा देना और किन्हींको विभावपर्यायकी संज्ञा देना ऐसा भेद क्यों किया जाता है ?

समाधान—अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा तो यहाँ विशेष ऊहापोह नहीं

करना है। मात्र जीवोंकी अपेक्षा विचार करना है। प्रत्येक जीव ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, राग, द्वेष, मोहस्वभाव नहीं। यतः संसारी जीव अनादि कालसे अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावको भूलकर पंचेन्द्रियोंके विषयों-में इष्टानिष्ट बुद्धिके साथ शरीरादिमें ही एकत्वबुद्धि करता आ रहा है। परिणामस्वरूप 'मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव आत्मा हूँ' इस तथ्यको भूला हुआ है। यह वस्तुस्थिति है। इससे यह तथ्य फलित हुआ कि परपदार्थोंकी ओर झुकावकी भूमिकामें जीवकी जो-जो अवस्था या भाव होते हैं वे विभाव भाव हैं और अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावको निजरूपसे लक्ष्यमें लेनेपर जीवकी जो-जो अवस्था या भाव प्रगट होते हैं वे सब स्वभाव भाव हैं। इसी तथ्यको जानकर ही आचार्य अमृतचन्द्रदेव कलश काव्यमें भव्य जनोंको सम्बोधित करनेके अभिप्रायसे कहते हैं—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः।
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्वि बुध्यध्वमन्धाः॥
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥ १३६॥

हे अन्ध प्राणियो! अनादि संसारसे लेकर ये रागी जीव प्रत्येक पर्यायमें सदा मत्त वर्तते हुए जिस अवस्थामें सो रहे हैं वह अवस्था तुम्हारा स्वरूप नहीं है, तुम्हारा स्वरूप नहीं है, इसे तुम समझो। अतः अपने निज स्वरूपको उपलब्ध करनेके लिए इस ओर आओ, इस ओर आओ, तुम्हारा स्वरूप यह है—यह है जहाँ अतिशुद्ध चैतन्यधातु निज रससे ठसाठस भरी होनेके कारण स्थायीपनेको प्राप्त है।

जिस तथ्यको आचार्य कुन्दकुन्ददेवने समयसार गाथा २०१-२०२में स्पष्ट किया है, इस कलश काव्य द्वारा उसी ओर इंगित किया गया है। इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जीवके विभावरूप परिणमन-का यथार्थ कारण स्वयं उसका अपराध है, परपदार्थ नहीं। कर्मादि परपदार्थोंमें तो निमित्तता तब स्वीकारी जाती है जब यह जीव स्वभाव-को भूलकर उनकी ओर झुकाववाला होता है। तभी उनमें कर्ता निमित्तपनेका तो नहीं, कारण निमित्तपनेका व्यवहार किया जाता है। देखो समयसार गाथा ६५-६६।

इसलिये जैन दर्शनके अनुसार यदि देखा जाय तो निमित्तपनेकी अपेक्षा अन्य द्रव्योंमें अन्य द्रव्योंके कार्योको सम्पादित करनेका कोई गुण न होनेसे सभी समान है, वह मात्र असद्भूत व्यवहार है। इस विषयमें विशेष स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं।

शंका—अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यमें जब वास्तवमें सहायक नहीं होता तो अध्यात्मवृत्त जीवके व्यवहार निमित्त गौण रहता है ऐसा क्यों कहा गया है ?

समाधान—इस वचन द्वारा वहाँ पराश्रित विकल्पको छुड़ानेका ही उपदेश दिया गया है। यहाँ 'पर' शब्दका अर्थ राग है। जो अध्यात्मवृत्त जीव है वह रागके अधीन होकर लाभ-अलाभकी कल्पना नहीं करता यह इसका तात्पर्य है।

शंका—प्राक् पदवी अर्थात् सविकल्प दशामें ज्ञानीके रागके अधीन होकर प्रवृत्ति तो देखी जाती है। आगम भी इसे स्वीकार करता है।

समाधान—ज्ञानीके आत्माके लाभकी दृष्टिसे वह प्रवृत्ति नहीं होती। उस प्रकारके रागके होनेसे ऐसी प्रवृत्तिका होना और बात है पर उसे आत्माके लिए हितकारी मानना और बात है। ज्ञानी जीव उसे आत्माके लिए हितकारी नहीं मानता, इसलिये अध्यात्ममें ज्ञानीके ऐसे व्यवहारको अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार किया गया है। ज्ञानीके व्यवहार हेतु गौण है उसका अर्थ भी यही है। वैसे जिस कार्यके होते समय जो बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि हेतु मानी गई है वह वहाँ भी नियमसे होती ही है उसका निषेध नहीं है।

शंका—स्वाश्रित प्रवृत्ति और पराश्रित प्रवृत्ति तथा स्वाधीन और पराधीन प्रवृत्तिमें क्या अन्तर है ?

समाधान—अज्ञान या मोहपूर्वक जितनी भी प्रवृत्ति होती है उसीका नाम पराश्रित या पराधीन प्रवृत्ति है तथा मोह या मिथ्यात्वके अभावमें ज्ञानीके जितनी भी बाह्य प्रवृत्ति होती है उसके होते हुए भी आत्महित गौण न होनेसे वह उसका कर्ता नहीं होता तथा स्वात्महितके कार्यमें सदा युक्त रहता है, इसलिये स्वात्महितरूपसे जितनी भी आत्मोन्मुख प्रवृत्ति होती है वह स्वाधीन या स्वाश्रित प्रवृत्ति कहलाती है।

शंका—जब कि स्वप्रत्यय और स्वभाव पर्यायका अर्थ एक ही है ऐसी अवस्थामें प्रकृतमें इनको परप्रत्यय क्यों कहा गया है ?

समाधान—बात यह है कि पुद्गलका तो ऐसा स्वभाव है कि वह यथाविधि पर पुद्गलका योग मिलने पर स्वयं श्लेषबन्धको प्राप्त हो जाता है पर जीवकी चाल इससे भिन्न है, क्योंकि वह मोह, कषाय, योग-रूप परिणत अवस्थामें ही स्वयं एक क्षेत्रावगाहरूप परिणामको प्राप्त होता है और वह तब तक उसको प्राप्त होता रहता है जब तक

कि वह अपने उपयोग स्वभावको लक्ष्यमें लेकर स्वयं तत्स्वरूप होकर नहीं परिणमता। इन दो अवस्थाओंको छोड़कर जो परप्रत्यय शब्दका प्रयोग है वह मात्र प्रत्येक द्रव्यको एक समयकी पर्यायसे दूसरे समयकी पर्यायको भिन्न रूपसे सूचन करनेके लिए ही है और जिसके द्वारा इसका सूचन होता है उसे निमित्त कहा गया है। देखो सर्वार्थसिद्धि अ० ५, सूत्र ७की टीकाका अन्तिम भाग।

शंका—जीवके विषय और कषायको वन्धका हेतु वतलाते समय पंचेन्द्रियोंके विषयोंको भी वन्धका हेतु कहा गया है सो क्या वात है?

समाधान - पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें रागवुद्धि होनेसे ही उन्हें वन्धका हेतु कहा गया है। वास्तवमें वन्धका हेतु तो राग ही है। पंचेन्द्रियके विषय नहीं। जहाँ भी इन्हें वन्धका हेतु कहा गया है वहाँ जीवके वन्धका हेतु राग और रागका वाह्य हेतु पंचेन्द्रियके विषय यह समझ कर ही कहा गया है। इसीलिये समयसार और तत्त्वार्थसूत्र आदि परमागममें जीवके वन्धके हेतुओंकी परिगणना करते समय मात्र मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगको ही वन्धका हेतु कहा है, पुद्गलादि अन्य पदार्थोंको नहीं।

प्रकृतमें वस्तुस्थिति यह है कि पुद्गलकी तो विवक्षित पर्याय ही उसके वन्धकी हेतु है और जीवकी मोहादिरूप परिणति ही उसके वन्धकी हेतु है, इसलिए ये दोनों द्रव्य स्वयं ही वन्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं यह सिद्ध होता है।

शंका—आगममें जो यह कहा गया है कि जीवके अज्ञानादिको निमित्त कर कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप परिणम जाती हैं और उनके उदयको निमित्त कर जीव अज्ञानादिरूप परिणमता रहता है सो क्या वात है?

समाधान—यह असद्भूत व्यवहार नयका कथन है। वह यथासम्भव वाह्य व्याप्तिको देखकर ही किया गया है, क्योंकि उपादान-उपादेयरूप कार्यकारणमें जहाँ क्रमभावी अविनाभावकी मुख्यता है वहाँ वाह्य निमित्त नैमित्तिक सम्वन्धरूप कार्यकारणमें कालप्रत्यासत्तिकी मुख्यता है वैसे परमार्थसे सभी कार्य होते तो हैं परनिरपेक्ष ही। उन्हें परसापेक्ष असद्भूतव्यवहारनयसे ही कहा जाता है।

श्री जयधवला पुस्तक ७ में अल्पवहुत्वके कथनके प्रसंगसे ये वचन आये हैं—

अणंताणुमाणे जहण्णपदेससंतकम्ममसंखेज्जगुणं। कोहे जहण्णपदेससंतकम्मं विसेसाहियं। पयडिविसेसादो। मायाए जहण्णपदेससंतकम्मं विसेसाहियं। विस्ससादो। लोहे जहण्णपदेससंतकम्मं विसेसाहियं। एदाणि सुत्ताणि सुगमाणि। वज्झत्थकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो। पृ० ११७.

यहाँ इष्ट प्रयोजनकी दृष्टिसे लिये गये हेतुवचन जयधवला टीकाके हैं, शेष सब चूर्णिसूत्र हैं। उससे अनन्तानुबन्धी मानमें जघन्य प्रदेश सत्कर्म असंख्यातगुणा है। उससे क्रोधमें जघन्य प्रदेश सत्कर्म विशेष अधिक है। प्रकृतिविशेषके कारण ऐसा है। उससे मायामें जघन्य प्रदेश सत्कर्म विशेष अधिक है। क्योंकि स्वभावसे ही ऐसा है। उससे लोभमें जघन्य प्रदेश सत्कर्म विशेष अधिक है। ये सब सूत्र सुगम हैं, क्योंकि वस्तुका परिणाम बाह्य कारणनिरपेक्ष ही होता है।

देखो, बन्धके समय उक्त प्रकृतियोंके अल्पबहुत्वकी स्वभावसे ऐसी व्यवस्था बन जाती है। उन प्रकृतियोंमें यथासम्भव उत्कर्षण, अपकर्षण या संक्रमणके होनेपर भी इस अल्पबहुत्वमें अन्तर नहीं पड़ता। कोई कहे कि जो कर्मबन्धके हेतु मिथ्यात्वादि कहे हैं उनके कारण ऐसा होता होगा? इस पर आचार्य कहते हैं कि भाई! ऐसा नहीं है। इस रूपसे उन प्रकृतियोंका होना विस्रसा है। ऐसा होनेमें बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और जीवके परिणामविशेष इनका कोई हाथ नहीं है।

श्री धवलाजी पु० ६ पृ० १६३-१६४ में जो नपुंसकवेद आदि कतिपय प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके प्रमाणका निर्देश किया है। इसपर किन्हीं प्रकृतियोंका कम और किन्हींका अधिक उत्कृष्ट स्थितिबन्ध क्यों होता है। इसी शंकाका समाधान करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

कुदो? पयडिविसेसादो। ण च सव्वाइं कज्जाइं एयंतेणवज्झत्थमवेक्खिय चेव उप्पज्जंति, सालिबीजादो जवंकुरस्स वि उप्पत्तिपसंगा। ण च तारिसाइं दव्वाइं तिसु वि कालेसु कम्हि पि अत्थि, जेसिं बलेण सालिबीजस्स जवंकुरुप्पायणसत्ती होज्ज, अणवत्थापसंगादो। तम्हा कम्हि वि अंतरंगकारणादो चेव कज्जुप्पत्ती होदि त्ति णिच्छओ कायव्वो। पृ० १६४।

क्योंकि प्रकृति विशेष होनेसे इस सूत्रमें कही गई प्रकृतियोंका उक्त प्रकारसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। सभी कार्य एकान्तसे बाह्य कारणकी अपेक्षासे नहीं उत्पन्न होते हैं, अन्यथा शालिधान्यके बीजसे यवांकुरकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु इस प्रकारके द्रव्य तीनों ही कालोंमें किसी भी क्षेत्रमें नहीं पाये जाते जिनके बलसे शालि-

धान्यके वीजमें जौके अंकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति होवे। यदि ऐसा होने लगे तो किससे किस कार्यकी उत्पत्ति हो इसकी कोई व्यवस्था ही नहीं वन सकेगी। इसलिये किसी भी क्षेत्रमें और किसी भी कालमें अन्तरंग कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

यह कितना तथ्यपूर्ण और स्पष्ट वचन है। इससे हम जानते हैं कि निश्चयनय वस्तुस्वरूपका दिग्दर्शन करनेवाला होनेसे निरपेक्ष ही होता है। यह तो व्यवहारनयकी ही दुर्वलता है कि वह दूसरे वाह्य पदार्थोंकी अपेक्षासे विवक्षित पदार्थका निरूपण करता है। जैसे किसी पुरुषको महान् कहा जाय तो निश्चयनयकी ओरसे तो यह कहा जायगा कि वह अपने विनम्र और निष्कपट स्वभावके कारण महान् है, किन्तु व्यवहार-नयकी ओरसे उसे महान् उसके अनुयायियों आदिको देखकर कहा जायगा। और इसीलिये आगममें निश्चयनयको स्वाश्रित और व्यवहार-नयको पराश्रित कहा गया है।

इस प्रकार जड़-चेतन सभी पदार्थोंके प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति समय-समयके अन्य-अन्य निश्चय उपादानके अनुसार ही होती है यह सिद्ध हो जानेपर सभी द्रव्योंकी स्वभाव-विभावरूप सभी पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं यह सुतरां सिद्ध हो जाता है।

९. कल्पित विपरीत मान्यताओंका निरसन

आगे कतिपय महानुभाव जो आगमकी दुहाई देकर अपनी कल्पित विपरीत मान्यताओं द्वारा स्वाध्याय प्रेमियोंको गुमराह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं उनकी वे मान्यताएँ कैसे आगम वाह्य अतएव निःसार हैं इसपर विचार किया जाता है—

१. पहली वात उन महाशयोंकी अकाल मरणके सम्वन्धमें है। इस सम्वन्धमें आगम क्या है यह देखना है। कर्मशास्त्रके नियमानुसार देवा-दिक जीवोंकी आयु अनपवर्त्य होती है इतना ही कहा है। इसका अर्थ इतना ही है कि उन जीवोंकी आयुके निषेकस्थितिका अपवर्तन नहीं होता। अर्थात् इन जीवोंकी आयुस्थिति निधत्ति और निकाचित वन्ध रूप होती है। इसीलिये इन जीवोंकी आयुको अनपवर्त्य कहा है। शेष जीवोंकी आयुके विषयमें ऐसा कोई नियम नहीं है। यह वस्तुस्थिति है।

इसको दृष्टि ओझल करके यदि वे महाशय अपवर्त्य आयुका अर्थ क्रम नियमित पर्यायके निषेधके अर्थमें करके कहते हैं कि मरणके जव

जैसे बाह्य निमित्त मिलते हैं तब किसी भी जीवका मरण हो जाता है। उसके मरणका उपादानकी अपेक्षा कोई नियत समय नहीं हो सकता। उपादानमें कौन कार्य हो यह बाह्य निमित्तोंके मिलने और न मिलने पर निर्भर है। यह उन महाशयोंका कथन है। उनके इस कथनको ध्यान-में रखकर प्रकृतमें अकाल मरणके सम्बन्धमें ही विचार करना है।

(१) कर्मशास्त्रका नियम है कि आयुबन्धके समय भुज्यमान आयु जितनी शेष रहती है उसका अपवर्तनके बिना पूरा भोग होकर ही जीव-का मरण होता है। इसके लिये देखो धवला पु० ६ उत्कृष्ट स्थिति चूलिका सू० २४ और २८ तथा जघन्य स्थिति चूलिका सू० २९ और ३३।

(२) इन चारों सूत्रोंमें यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि आयुबन्ध-के समय जितनी भुज्यमान आयु शेष रहती है उसका न तो अपकर्षण ही सम्भव है और न उत्कर्षण ही सम्भव है। वह सब प्रकारकी बाधाओं-से रहित है। विषभक्षण आदि बाह्य निमित्तोंके मिलने पर भी उक्त भुज्यमान आयुका अपकर्षण होकर ह्रास नहीं होता।

(३) यह कहना भी ठीक नहीं है कि परभवसम्बन्धी आयुबन्धके पूर्व भुज्यमान आयुका विषभक्षण आदिके निमित्तसे ह्रास होकर मरण हो जायगा, क्योंकि जब तक परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होकर अबाधा-रूप भुज्यमान आयुका काल पूरा नहीं होता तब तक मरण नहीं हो सकता।

(४) इसलिये कर्मशास्त्रके अनुसार यही निश्चित होता है कि जो चरमोत्तम देहवालों आदिसे रहित कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च हैं उनकी भुज्यमान आयुका अपकर्षण परभवसम्बन्धी आयुबन्धके पूर्व तक ही सम्भव है, आयुबन्धके कालसे लेकर नहीं।

(५) तत्त्वार्थसूत्रकारने कालमरण और अकालमरणका उल्लेख न कर मात्र इतना कहा है कि उपपाद जन्मवाले, चरमोत्तर शरीरवाले और असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयु अनपवर्त्य होती है अर्थात् अपवर्तन (अपकर्षण) के अयोग्य होती है। इनकी निषेक स्थितियों-का अपकर्षण नहीं होता। इससे यह फलित होता है कि शेष जीवोंकी आयुके निषेकोंका अपकर्षण होना सम्भव है।

(६) तब यह प्रश्न होता है कि भुज्यमान आयुके निषेकोंमें अपकर्षण-

की योग्यता रहनेपर ही विषभक्षण आदिको निमित्तकर उन निषेकोंका अपकर्षण होता है या बिना योग्यताके ही विषभक्षण आदिको निमित्त-कर उन निषेकोंका अपकर्षण हो जाता है। योग्यताके अभावमें भी कोई कार्य होता है ऐसा तो वे महाशय भी स्वीकार नहीं करेंगे, अन्यथा जौ के बीजसे ही शालिधान्यकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अभव्य भी रत्न-त्रयको उत्पन्न कर मोक्षके पात्र हो जायेंगे। कार्यके अनुरूप योग्यताके स्वीकार करने पर भी उसका परिपाक काल आने पर ही वह फलित होती है यह भी मानना पड़ेगा। इससे सिद्ध हुआ कि जिन जीवोंकी भुज्यमान आयुके अपकर्षणके योग्य कालकी उपलब्धि जब प्राप्त होती है उसी समय विषभक्षण आदिको निमित्त कर उसका अपकर्षण होता हैं। सो भी वह आगामो भवसम्वन्धी आयुवन्धके पूर्व तक ही, उसके वाद नहीं।

(७) अतएव लोकमें जिसे अकालमरण या कदलीघात कहा जाता है, शास्त्रीय दृष्टिसे उसका इतना ही अर्थ है कि यह आयु अपकर्षणके योग्य थी, इसलिये विषभक्षण आदिको निमित्त कर इसका अपकर्षण हो गया और तदनन्तर पर भवसम्वन्धी आयुका वन्ध होकर आवाधा काल प्रमाण अपनी भुज्यमान आयुके समाप्त होने पर उसका अन्त हो गया। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि भुज्यमान आयुके अपकर्षण होनेके तत्काल वाद परभवसम्वन्धी आयुका वन्ध हो सकता है या काला-न्तरमें परभवसम्वन्धी आयुका वन्ध हो सकता है। ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है कि भुज्यमान आयुके अपकर्षणके तत्काल वाद ही परभव-सम्वन्धी आयुका वन्ध होना ही चाहिये। साथ ही इस प्रकारसे आयुबन्ध-के समय भुज्यमान आयु कितनी शेष रहती है इस विषयमें भी कोई एक नियम नहीं है। कमसे कम एक अन्तर्मुहूर्त भी शेष रह सकती है और अधिकसे अधिक एक पूर्वकोटिके कुछ कम एक त्रिभागप्रमाण भी शेष रह सकती है।

इस प्रकार अनपवर्त्य और अपवर्त्य आयुका क्या तात्पर्य है यह कर्मशास्त्रके अनुसार स्पष्ट होनेपर भी यदि वे महाशय अपनी जिदका परित्याग किये विना अपनी कल्पनाके अनुसार अकालमरणका अर्थ करनेमें ही अपनी सफलता मानते हैं तो उन्हें अकालमरणके समान अकाल जन्म भी मानना पड़ेगा, क्योंकि मरण कहो चाहे पूर्व पर्यायका व्यय कहो दोनोंका अर्थ एक ही है तथा व्यय और उत्पादमें मात्र लक्षण-

भेद होनेसे ही वे दो माने गये हैं। वैसे जो पूर्व पर्यायका व्यय है वही अगली पर्यायका उत्पाद है। घटका विनाश ही कपालोंकी उत्पत्ति है। कहा भी है कार्योत्पाद: क्षय:। आगममें जो हेतु दिया जाता है वह विवक्षित अभिप्रायकी पुष्टिकी दृष्टिसे ही दिया जाता है। एकान्तसे उसे स्वीकार कर लेना युक्तियुक्त नहीं है। नय दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय तो जो वस्तु जैसी है उसे उसी प्रकार कहता है। किन्तु व्यवहारनय बाह्य संयोग आदिके आधारसे उसका कथन करता है। यह इष्टार्थकी सिद्धिका तरीका है। किन्तु व्यवहारनयके कथनको ही परमार्थ मान लेना उचित नहीं है। परमार्थसे सामान्य-विशेष उभयरूप प्रत्येक वस्तु स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं। मात्र परके द्वारा उसकी सिद्धिकी जाती है, इसलिये व्यवहारनय भले ही पराश्रित हो, पर इससे वस्तुको ही पराश्रित मानना आगमका अपलाप करना है। इसलिये यह निश्चित होता है कि अकाल मरणका जो अर्थ दूसरे महानुभाव करते हैं वह ठीक नहीं होकर यही मानना उचित है कि सब पर्यायोंका काल अपने-अपने नियत उपादानके अनुसार निश्चित है उसमें फेर-फार नहीं हो सकता।

(२) वे महाशय अपने कल्पित अर्थकी सिद्धिमें उदीरणा आदिको भी उपस्थित करते हैं, किन्तु क्या वे यह कहनेका साहस कर सकते हैं कि जो कर्म परमाणु उपशमकरण अवस्थाको प्राप्त हैं उनकी कभी भी उदीरणा हो सकती है या जो कर्मपरमाणु निधत्तिकरण अवस्थाको प्राप्त हैं उनकी कभी भी उदीरणा और संक्रम हो सकता है। या जो कर्मपरमाणु निकाचितकरण अवस्थाको प्राप्त है उनकी कभी भी उदीरणा, संक्रम, उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकता है। यदि नहीं तो उन्हें यह मान लेनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि जिन कर्मपरमाणुओंमें जैसी योग्यता होती है उसका परिपाककाल आनेपर वही कार्य होता है। इससे सभी पर्यायें क्रम नियमित ही होती हैं यही सिद्ध होता है।

(३) जब संसारका अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल शेष रहता है तब सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना सम्भव है यह आगमका स्पष्ट निर्देश है। किन्तु वे महाशय अपने अभिप्रायकी पुष्टिमें इसका भी दुरुपयोग करते हैं। वे कहते हैं कि जब-जब अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहता है तब-तब सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना सम्भव है। किन्तु उन्हें समझना चाहिये कि जिस अर्धपुद्गल परिवर्तनके आदिमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती

है उसके बाद जब जीव इतने कालके बाद नियमसे मुक्त हो जाता है। ऐसी अवस्थामें जब काल नियम बन जाता है तब अनियम कहाँ रहा। इस प्रकार वे महाशय अपने कथन द्वारा कालनियम स्वीकार करके भी कथनमें मात्र उसका निषेध करते हैं। दूसरे सम्यग्दर्शन होते समय अनन्त संसारका छेद हो जाता है, आगममें जो यह कहा गया है तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि अनन्त संसारके कारण जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय थे उनका छेद हो गया है। यहाँ कारणमें कार्यका उपचार कर यह वचन कहा गया है।

(४) वे महाशय बाह्य निमित्तमें कार्यकृत स्वभाव मानते हैं अतः अव्यवहित पूर्वपर्यायमें कारणता स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं। इसपर हमारा कहना यह है कि यदि यह बात है तो उपादानके लक्षणमें 'अव्यवहित पूर्व पर्याय' यह विशेषण नहीं लगाया जाना चाहिये था। यतः यह विशेषण लगाया गया है, इससे सिद्ध है कि आचार्योंने अव्यवहित पूर्वपर्याय युक्त द्रव्यमें निश्चित कारणता स्वीकार करनेके लिये ही लक्षणमें पहले यह विशेषण लगाया है। इसी तथ्यके समर्थनमें आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्री पृ० १०० में लिखते हैं—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कर्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वानन्तरात्मा।

ऋजुसूत्रनयकी मुख्यतासे तो अनन्तरपूर्व पर्यायरूप उपादान-परिणाम ही कार्यका प्रागभाव है।

देखो दो समयमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभावकी व्यवस्था इस आधारपर बनती है कि जिस कार्यके अभावसे अगले समयका कार्य हुआ वह प्रध्वंसाभाव है और उपादानरूप द्रव्य प्रागभाव है। इसी तथ्यको पृ० १०१ में स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं—

प्रागभाव-प्रध्वंसयोरुपादानोपादेयरूपतोपगमात्प्रागभावोपमर्दनेन प्रध्वंसस्यात्मलाभात्।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभावमें क्रमसे उपादान और उपादेयरूपता स्वीकार की गई है, इसलिये उपादानके उपमर्दनद्वारा प्रध्वंसाभावकी प्राप्ति होती है यह निश्चित होता है।

ये आगम वचन हैं इनका अपलापकर-अव्यवहित पूर्वपर्यायमें कारणताका निषेध करना केवल उन महाशयोंका मिथ्यात्वसे दूषित मिथ्या

श्रुतज्ञान ही कहा जायगा। हम उन्हें इससे और अधिक उपालम्भ ही क्या दे सकते हैं। जो यह कहा जाता है कि यह बात उपादान स्वरूप द्रव्यके अवस्थित रहनेपर भी यदि कार्यके अनुकूल बाह्य-सामग्री नहीं मिलती या प्रतिकूल सामग्री उपस्थित रहती है तो कार्य नहीं होता सो इसके समाधानके लिये हम तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका एक उद्धरण उपस्थित कर देना पर्याप्त समझते हैं। सम्यग्दर्शनके होनेपर विशिष्ट सम्यग्ज्ञानका लाभ होता भी है और नहीं भी होता है इसी प्रसंगमें यह वचन आया है। नियम यह है कि उत्तरवर्ती विशिष्ट सम्यग्ज्ञानका लाभ होनेपर सम्यग्दर्शनका लाभ नियत है, पर सम्यग्दर्शनका लाभ होनेपर विशिष्ट सम्यग्ज्ञानका नियमसे लाभ होना ही चाहिये ऐसा कोई एकान्त नहीं है। इसी तथ्यको आचार्य इन शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं—

तत एव उपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः, कारणानामवश्यं कार्यवत्त्वाभावात्।

इसीलिये उपादानका लाभ होनेपर उत्तरका लाभ नियत नहीं है, क्योंकि कारण अवश्य ही कार्यवाले होते हैं यह नहीं है।

इसपर प्रश्न हुआ कि यदि समर्थ कारण हो तब कार्य होता है या नहीं। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त कथन समर्थ कारण-की अविवक्षाको ध्यानमें रखकर किया है। समर्थकारणकी विवक्षामें तो पूर्वका लाभ होनेपर उत्तरका लाभ भजनीय नहीं है। यथा—

समर्थस्य कारणस्य कार्यवत्त्वमेवेति चेत्? न, तस्येहाविवक्षितत्वात्। तद्विवक्षायां तु पूर्वस्य लाभे नोत्तरं भजनीयमुच्यते, कथनविरोधात्।

इस प्रकार इस कथनसे यह निश्चित होता है कि अव्यवहित पूर्व-पर्याययुक्त द्रव्य समर्थ उपादान कारण है, इसलिये वह अपने नियत-कार्यको नियमसे उत्पन्न करता है और इसीलिये आचार्य विद्यानन्दने उसे निश्चय उपादानकी संज्ञा दी है। इतना ही नहीं, इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब समर्थ उपादान अपने नियत कार्यको जन्म देता है तब उसके अनुकूल ही बाह्य सामग्री उपस्थित रहती है, वहाँ उसके प्रतिकूल बाह्य सामग्रीका सर्वथा अभाव रहता है। परीक्षामुखके सूत्रका भी यही आशय है।

(५) कुछ महानुभाव कर्म और आत्मामें संश्लेष सम्बन्ध वास्तविक है इत्यादि कथन द्वारा उनके सम्बन्धको वास्तविक मानकर कर्मकी

वलवत्ता सिद्ध कर पर्यायोंके प्रतिनियत क्रमका निषेध करते हैं। उनका वह कथन कैसे आगम विरुद्ध है यह इसीसे स्पष्ट है कि कर्म और आत्मामें एक तो संश्लेष सम्वन्ध न होकर अन्योन्यावगाहसम्वन्ध होता है। दूसरे जब तक सम्वन्ध रहता है तब तक ये एक-दूसरेका मात्र अनुसरण करते हैं। यदि कर्मको यथार्थ प्रेरक मान लिया जाय तो यह जीव कभी भी मुक्तिका पात्र नहीं हो सकता। एक वात और है कि कर्मका उदय-उदीरणा हीनाधिक होनेपर भी जीव अपने निश्चय उपादानके अनुसार ही कार्य करता है। इस तथ्यका स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं।

(६) जो महाशय यह कहते हैं कि विवक्षित कार्यरूपसे परिणमनकी उपादान योग्यताके रहनेपर भी उसके उसरूपसे परिणमन करानेमें समर्थ जब वाह्य सामग्री मिलती है तभी वह कार्य होता है तो उनका यह कथन स्वाध्याय-प्रेमियोंके चित्तमें मात्र भ्रमको ही उत्पन्न करता है, क्योंकि उन्होंने उपादान योग्यता कहकर अपने पक्षको प्रस्तुत किया है। यह नहीं स्पष्ट किया कि इस उपादान योग्यतासे उन्हें कौन-सी योग्यता स्वीकार है—द्रव्यरूप या पर्यायरूप या उभयरूप। मात्र द्रव्य योग्यता कार्यजनक आगम भी स्वीकार नहीं करता। रही पर्याय योग्यता सो वह अकेली होती नहीं। यदि उभयरूप योग्यता ली जाती है तो उसके होनेपर तदनुरूप कार्यके होनेका नियम है। इसीलिये निश्चय उपादानके लक्षणमें द्रव्य पर्याय दोनों प्रकारकी योग्यता ली गई है। और जब कार्य होता है तब उसके अनुकूल वाह्य सामग्री नियमसे रहती है यह भी नियम है। अन्तर्व्याप्ति और वाह्यव्याप्तिके इस योगको आगम भी स्वीकार करता है। देखो समयसार गाथा ८४ की टीका।

(७) वे महाशय जो यह कहते हैं कि मिट्टीके समान कुम्भकार व्यक्तिमें भी कुम्भ निर्माणका कर्तृत्व विद्यमान है इत्यादि सो उनका यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जो परिणमता है वह कर्ता कहलाता है। इस नियमके अनुसार कुम्भकार जब घटरूप परिणमन ही नहीं करता तब उसमें कुम्भका कर्तृत्व कैसे बन सकता है, अर्थात् नहीं बन सकता। अब रही मिट्टी सो सामान्य मिट्टीमें भी कुम्भकी सामान्य योग्यता ही होती हैं। कुम्भका द्रव्य-पर्याय कर्तृत्व तो उसी मिट्टीमें बनता है जो मिट्टी कुशूल पर्यायसे युक्त होकर स्वयं अन्तर्घटभवनके सन्मुख होती है। वैसे कुशूल व्यञ्जनपर्याय होनेसे प्रति समय सदृश परिणाम द्वारा अनेक क्षणवर्ती भी हो सकती है, इसलिये घटपर्यायके सन्मुख हुई कुशूल पर्याय युक्त मिट्टी ही घटको जन्म देती है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

(८) एक तो वे महाशय षड्गुण हानि-वृद्धिरूप परिणमन मात्र अगुरुलघु गुणका मानते हैं और दूसरे वे उसे सर्वथा अनिमित्तक मानते हैं। किन्तु उनकी यह कथनी कितनी उपहासास्पद है यह इसीसे स्पष्ट है कि जिस नियमसार गाथा १४में पर्यायोंके स्व-परसापेक्ष और निरपेक्ष ये भेद किये हैं उसी नियमसारकी अगली गाथामें स्वपर-सापेक्ष और निरपेक्ष पर्यायोंसे उन्हें क्या विवक्षित है इसका भी संकेत कर दिया है। समग्र-जिनागममें स्वभावपर्यायोंको परनिरपेक्ष रूपमें ही स्वीकार किया गया है। इस ओर वे ध्यान देते तो भी वे आगमविरुद्ध ऐसे भ्रामक कथनको करनेका साहस ही नहीं करते। दूसरे यदि वे जीवकाण्डकी ज्ञानमार्गणा पर दृष्टि डाल लेते तो वे आगमविरुद्ध यह लिखनेका भी साहस नहीं करते कि मात्र अगुरुलघु गुणका षड्गुण हानि-वृद्धिरूप परिणमन स्वप्रत्यय है। विशेष स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं।

(९-१०) उन महाशयोंका जो यह कहना है कि यद्यपि अन्तिम संसाररूप पर्यायके अनन्तर मोक्षपर्याय अवश्य होती है, पर इसका कारण द्रव्य कर्मोंका अभाव ही है, अन्तिम पर्याय नहीं। वे अपने इस मतकी पुष्टिमें 'यह तर्क देते हैं कि पूर्व पर्याय विनष्ट होकर ही उत्तर-पर्यायकी उत्पत्ति होती है। सो उनका यह कहना भी केवल कपोल-कल्पित कल्पना ही है। उन्हें कम-से-कम यह तो समझना चाहिये था कि यदि पर्यायका अभाव होकर कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसलिये पर्याय-में कारणता घटित नहीं होती तो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मका सर्वथा अभाव होकर ही मोक्षकी उत्पत्ति होती है, ऐसी अवस्थामें इन तीनोंमें भी कारणता कैसे बन सकती है। जो कर्म वस्तुसे सर्वथा भिन्न है उसमें तो कारणता बन जाय और जो वस्तुके तादात्म्यरूप है उसमें कारणता नहीं बने यह मान्यता कैसी विडम्बनारूप है इसको स्वयं वे जान सकते हैं जिन्हें आगमके अनुसार उपादान-उपादेयपनेका यत्किंचित् भी ज्ञान है।

दूसरी बात यह है कि आगममें मोक्षपर्यायकी उत्पत्ति रत्नत्रयकी पूर्णतामें स्वीकार की गई है, संसार पर्याय रत्नत्रयके साथ है यह दूसरी बात है। यदि वे महाशय कहें कि संसार पर्यायके अन्तिम समयमें स्थित रत्नत्रय पर्यायका अभाव होकर ही मोक्षकी उत्पत्ति होती है इसलिये उसमें भी कारणता हम नहीं मानते तो उन्हें चाहिये कि वे सर्वज्ञ कथित आगमकी परम्पराके विरुद्ध स्वमत कल्पित स्वतन्त्र शास्त्र लिख डालें

और साथ ही यह भी लिख दें कि आचार्योंने जो कुछ लिखा है वह उनकी मान्यता है। हमें वह स्वीकार नहीं है। आगमके नाम पर ऐसी उपहासास्पद विडम्बना क्यों करते हैं।

वस्तुतः उन्हें समझना चाहिये कि मोक्ष पर्यायकी द्रव्य योग्यता तो निगोदिया जीवमें भी पाई जाती है, पर वह उसी पर्यायसे मोक्षका पात्र नहीं बनता, इसीलिये आचार्योंने जिस पर्यायके बाद जो कार्य नियमसे होता है उस पर्यायमें अव्यवहित उत्तर पर्यायकी कारणता स्वीकार की है। प्रध्वंसाभावके लक्षणमें ही यह स्वीकार किया गया है कि एक पर्यायका व्यय (प्रध्वंस) ही उससे अगली पर्यायकी उत्पत्ति है। जैसे घटका विनाश ही कपाल हैं। क्या यह सम्भव है कि घटका विनाश न हो और कपालोंकी उत्पत्ति हो जाय और क्या यह सम्भव है कि घटका विनाश हो और कपालोंकी उत्पत्ति न हो। यदि नहीं तो अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर कार्य-कारणभावका अललाप करना कहाँकी बुद्धिमानी है।

शंका—इसी अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर ही हम बाह्य सामग्रीमें कारणता स्वीकार करते हैं ?

समाधान · इसे अस्वीकार तो हम करते नहीं। हमारा कहना तो इतना ही है कि बाह्य सामग्रीमें वास्तविक कारणता नहीं है। केवल अन्यवय-व्यतिरेकके आधार पर ही उसमें कारणता कल्पित की जाती है। जब कि अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यमें वास्तविक कारणता पाई जाती हैं।

देखो, परीक्षामुखमें क्रमभावी अविनाभावको बतलाते समय पूर्वोत्तर दो पर्यायोंकी अपेक्षा ही कार्य-कारणभाव स्वीकार किया गया है। वहाँ सहभावी बाह्य व्याप्तिकी अपेक्षा कार्य-कारणभावकी कोई चर्चा ही नहीं की गई है। सो क्यों ? उसका एकमात्र कारण यही है कि बाह्य सामग्रीमें वास्तविकरूपसे कारणता नहीं पाई जाती।

(११) उनका जो यह कहना है कि यद्यपि निश्चय रत्नत्रयसे ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है, परन्तु उसे निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति व्यवहार रत्नत्रयके आधार पर ही होती है, इसलिये व्यवहार रत्नत्रय मोक्षका परम्परा कारण है आदि। सो उनका यह कहना भी इसलिये ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे मोक्षपर्याय जीवकी स्वभाव पर्याय है उसी प्रकार निश्चय रत्नत्रय भी जीवकी स्वभाव पर्याय है। फिर क्या कारण है कि

मोक्षरूप स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति तो व्यवहार रत्नत्रयके विना ही हो जाय और निश्चय रत्नत्रयकी उत्पत्ति व्यवहार रत्नत्रयके आधार पर हो। यदि निश्चय रत्नत्रयकी उत्पत्ति व्यवहार रत्नत्रयके आधार पर मानी जाय तो मोक्षकी उत्पत्ति भी व्यवहार रत्नत्रयके आधार पर मानी जानी चाहिये। परन्तु ऐसा है नहीं। इससे सिद्ध है कि जैसे मोक्षकी उत्पत्ति व्यवहार रत्नत्रयके आधार पर नहीं होती वैसे ही निश्चय रत्नत्रयकी उत्पत्ति भी व्यवहार रत्नत्रयके आधार पर नहीं होती यही मान लेना उपयुक्त है।

दूसरे मिथ्यादृष्टिके व्यवहार रत्नत्रय होता भी नहीं, फिर क्या कारण है कि वह उत्तर कालमें यथासम्भव निश्चय रत्नत्रयका पात्र बन जाता है। मिथ्यादृष्टिके व्यवहार रत्नत्रय होता ही नहीं इसे तो वे महाशय भी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार चौथे और पाँचवें गुणस्थानकी अपेक्षा भी समझ लेना चाहिये। चौथे गुणस्थानवालेके पाँचवें गुणस्थानका व्यवहार रत्नत्रय नहीं होता, फिर ये पाँचवें गुणस्थानके निश्चय रत्नत्रयको कैसे प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थानवाला छटे गुणस्थानके व्यवहार रत्नत्रयके क्रमको छोड़कर सातवें गुणस्थानको जैसे प्राप्त करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि भी यथासम्भव व्यवहार रत्नत्रयके विना पाँचवें या सातवें गुणस्थानको प्राप्त कर लेते हैं। क्या कभी अपने अभिमतको व्यक्त करनेके पूर्व इन महाशयोंने इस बातका भी विचार किया। यदि नहीं तो उन्हें ऐसी आगमविरुद्ध बात तो नहीं लिखनी चाहिये जिससे आगमकी मर्यादा ही समाप्त होती हो।

शंका—तो फिर आगम क्या है ?

समाधान—वृहद्द्रव्य संग्रहमें बतलाया है कि दोनों प्रकारके मोक्ष मार्गकी प्राप्ति ध्यानमें होती है यह आगम है। यथा—

> दुविहं पि मोक्खमग्गं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
> तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

यतः दोनों प्रकारका मोक्षमार्ग मुनि ध्यानमें प्राप्त करता है, इसलिये तुम्हें प्रयत्न चित्त होकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये ॥ ४७ ॥

यहाँ मुनिपद ज्ञानीके अर्थमें आया है। उपलक्षणसे जो योग्य पुरुषार्थ द्वारा आत्माके सन्मुख है उसका भी ग्रहण किया गया है। इसका अर्थ

यह है कि जो अपने स्वतःसिद्ध, अनादि-अनन्त, निरन्तर उद्योतरूप और विशद ज्योति ज्ञायकस्वरूप आत्माके सन्मुख हो उसमें उपयुक्त होता है उसे निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति एक साथ होती है। इसलिये निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिका वास्तविक उपाय अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप आत्मामें उपयुक्त होना ही है, व्यवहार रत्नत्रय नहीं यह सिद्ध होता है।

शंका—तो फिर आगममें व्यवहार रत्नत्रयको निश्चय रत्नत्रयका साधक क्यों कहा गया है ?

समाधान—व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रयको उत्पन्न करता है, इसलिये साधक नहीं कहा गया है। किन्तु व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रयके सद्भावका सूचक हानेसे उसे (व्यवहार रत्नत्रयको) निश्चय-रत्नत्रयका साधक (सिद्धि-अस्तित्वका हेतु) कहा गया है।

शंका—आगममें व्यवहार रत्नत्रयको जो परम्परामोक्षका हेतु कहा गया है सो क्यों ?

समाधान—व्यवहारनयके मूल भेद दो हैं—सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। सद्भूत व्यवहारनयसे अव्यवहित पूर्व समयवर्ती रत्नत्रयसे भिन्न चौथे आदि गुणस्थानवर्ती निश्चय रत्नत्रयको परम्परा मोक्षका कारण कहा है, क्योंकि इसमें मोक्षकी हेतुता सद्भूत होकर भी वह अपने-अपने अव्यवहित उत्तर समयमें मोक्षको उत्पन्न करनेमें हेतु नहीं होता, इसलिये इसे परम्परा मोक्षका हेतु कहा है। यह कथन अर्थगर्भ है, इसलिये परमार्थस्वरूप है।

अब रही असद्भूत व्यवहारनयसे परम्परा मोक्षकारणकी बात सो नियम यह है कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दसवें गुणस्थान तक जहाँ जितने अंशमें निश्चय रत्नत्रय सम्बन्धी विशुद्धि होती है वहाँ उतने अंशमें व्यवहार रत्नत्रय सम्बन्धी अविशुद्धि (प्रशस्त राग) अवश्य होती है। ऐसा ही ज्ञानधारा और कर्मधाराका एक साथ एक आत्मामें रहना आगम स्वीकार करता है। इस प्रकार इन दोनोंके सहचर सम्बन्ध को देखकर इनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको आगम स्वीकार करता है।

देखो, यह बात तो हम पहले ही बतला आये हैं कि इन दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ होती है, इसलिये इनमेंसे कोई किसीकी उत्पत्तिका

हेतु नहीं है। प्रत्युत इसके विपरीत स्थिति यह है कि निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके पूर्व जितना भी व्रत, तप, यम, नियमरूप क्रियाकाण्ड होता है वह सब संसारको बढ़ानेवाला ही माना गया है, क्योंकि उसके द्रव्यान्तर स्वभाव होनेसे वह बन्धका ही हेतु है, मोक्षस्वरूप एकत्वकी प्राप्तिका हेतु नहीं। समयसारमें कहा भी है—

वद-णिभमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥ १५५३ ॥

जो जीव व्रत, नियम, शील और तपको करते हुए भी परमार्थसे बाहिर हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप स्वात्माकी अनुभूतिसे वंचित हैं वे निर्वाणको नहीं प्राप्त होते ॥१५३॥

इसकी आत्मख्याति टीकामें लिखा है—

ज्ञानमेव मोक्षहेतुस्तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपः-प्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव वन्धहेतुः, तदभावे स्वयंज्ञान-भूतानां ज्ञानिनां वहिर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्माभावेऽपि मोक्षसद्भावात्।

ज्ञान ही मोक्षका हेतु है, क्योंकि ज्ञान (ज्ञानधारा) के अभावमें स्वयं अज्ञानभावको प्राप्त हुए अज्ञानियोंके अन्तरंग व्रत, नियम, शील और तप इत्यादि शुभ कर्मोंका सद्भाव होनेपर भी मोक्षका अभाव रहता है। तथा अज्ञान ही बन्धका हेतु है, क्योंकि अज्ञानके अभावमें स्वयं ज्ञानभावको प्राप्त हुए ज्ञानियोंके बाह्य व्रत, नियम, शील और तप इत्यादि शुभ कर्मोंका अभाव होनेपर भी मोक्षका सद्भाव है।

इस टीकासे कई तथ्योंपर प्रकाश पड़ता है—

(१) अज्ञानियोंके व्रत, नियम आदिके पूर्व जो अन्तरंग विशेषण दिया है उससे विदित होता है कि अज्ञानी जीव इन व्रत, नियम आदिको ही मोक्षका अन्तरंग हेतु मानता है, इसलिये वह निरन्तर व्रताचरण आदि पर प्रमुखरूपसे जोर देता रहता है। उसे यह मालूम ही नहीं कि जो ज्ञानभावको प्राप्त होगा उसे बाह्य परिकरके रूपमें यथासम्भव ये व्रतादिक होते ही हैं। उसकी निरन्तर यह धारणा काम करती रहती है कि व्रताचरण करनेसे ही परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है। वह अनुसंगीको आवश्यक मानता रहता है। यही उसका अज्ञान है जिसके रहते हुए वह मोक्षका अधिकारी नहीं हो पाता।

(२) ज्ञानीके व्रत, नियम आदिके पूर्व जो बाह्य विशेषण दिया है

उससे विदित होता है कि ज्ञानीके वाह्य परिकररूपमें ये भले ही होते हों पर वह उन्हें मोक्षका अन्तरंग हेतु न मानकर एकमात्र ज्ञानरूप होने को ही मोक्षका अन्तरंग हेतु मानता है। यह इसीसे सिद्ध है कि ज्ञानीके ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें व्रत, नियम आदिका अभाव होनेपर भी वह मोक्षका अधिकारी हो जाता है। इतना ही क्यों यदि यह कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि राग और ज्ञानमें भेदविज्ञान होनेपर ही वह ज्ञानी हुआ है, इसलिये परमार्थसे उसके व्रत, नियमादि-का असद्भाव होनेपर भी वह एकमात्र ज्ञानभावसे मोक्षस्वरूप ही है। प्रकृतमें इसी तथ्यको स्पष्ट करनेके लिये व्रत, नियमादिके पूर्व वाह्य विशेषण लगाया है और ज्ञानीके उनका असद्भाव कहा है।

शंका—एक वार तो ज्ञानीके वाह्यरूपमें आप व्रत, नियमादिको स्वीकार करते हो और दूसरी वार वहीं उनका निषेध भी करते हो सो क्यों ?

समाधान—नयविभागसे ये दोनों कथन वन जाते हैं। पहला कथन असद्भूत व्यवहारनयसे किया गया है और दूसरा कथन परमार्थसे किया गया है, इसलिये कोई वाधा नहीं है।

इस प्रकार इस कथनसे यह स्पष्ट हो जानेपर कि चतुर्थ आदि गुणस्थानोंका निश्चय रत्नत्रय मोक्षका परम्परा हेतु है, सहचर सम्बन्ध वश उसके साथ होनेवाले व्यवहार रत्नत्रयको उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे परम्परा मोक्षका कारण कहा है। जैसे निश्चय रत्नत्रय स्वरूपसे मोक्षका साक्षात् या परम्परा कारण है वैसे व्यवहार रत्नत्रय स्वरूपसे मोक्षका न तो साक्षात् कारण है और न ही परम्परा कारण है इतना स्पष्ट है, क्योंकि वह द्रव्यान्तर स्वभाववाला होनेसे मोक्ष अर्थात् अपने एकत्वकी प्राप्तिका हेतु कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता।

अव रही व्यवहार रत्नत्रयके धर्म होने और न होनेकी वात सो जब वह वस्तुके स्वभावरूप ही नहीं तव वह निश्चय रत्नत्रयके समान धर्म कैसे हो सकता है। यदि उसे उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे मोक्षका परम्परा कारण भी कहा जाय तो भी वह निश्चय रत्नत्रयके समान किसी प्रकार भी धर्म नहीं हो सकता। परमार्थसे धर्म दो प्रकारका हो, एक निश्चय धर्म और दूसरा व्यवहार धर्म ऐसा तो है नहीं। वास्तवमें

निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय रत्नत्रय भी कहते हैं। जितने भी तीर्थंकर हुए हैं वे एकमात्र इसी धर्मको जीवन बनाकर मोक्षके पात्र हुए हैं, मोक्ष प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। देखो प्रवचनसार ८१, ८२ गाथाएँ।

शंका—यदि यह बात है तो भगवान् अरहन्तदेवको चरणानुयोगका उपदेश ही नहीं देना चाहिये था ?

समाधान—निश्चय रत्नत्रयरूपसे परिणत हुए जीवके अविनाभाव सम्बन्धवश बाह्यमें कहाँ किस प्रकारकी मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति होती है यह बतलानेके लिये भगवान् अरहन्तदेवने चरणानुयोगका उपदेश दिया है और इसीलिये ही उसे निश्चय रत्नत्रयका साधक कहा है।

(१२) केवलज्ञान स्वभावके लक्ष्यसे ही उत्पन्न होता है, परकी ओर झुकावसे नहीं इसलिये वह स्व-परप्रत्ययपर्याय न होकर उसे आगम स्वप्रत्यय पर्याय ही स्वीकार करता है। जो अपने ज्ञायक स्वभावमें समग्रभावसे लीनता करता है उसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है ऐसा नियम है। उसके ज्ञानावरणादि कर्मोंका स्वयं अभाव हो जाता है यह दूसरी बात है। आगममें जो ज्ञानावरणादिके क्षयसे केवलज्ञान होता है ऐसा कहा गया है वह मात्र अविनाभाव सम्बन्धको देखकर ही कहा गया है। इसका यह तात्पर्य तो है नहीं कि चाहे कोई अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभावमें समग्रभावसे लीनता न भी करे तो भी उसे ज्ञानावरणादिके क्षयसे केवलज्ञान हो जायगा। जब ऐसा नहीं है तो इस आत्माका मुख्य कर्तव्य अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावमें लीनता करना ही हो जाता है, क्योंकि ऐसा किये बिना उसके ज्ञानावरणादिके क्षयपूर्वक केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसा करनेसे जहाँ उसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है वहाँ उसके ज्ञानावरणादि कर्मोंका स्वयं अभाव भी हो जाता है। मुख्य कर्तव्य तो उसका अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावमें लीनता करना ही है, ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय करना नहीं।

(१३) बाह्य निमित्त कार्यको उत्पन्न नहीं करते, कार्यको उत्पन्न तो निश्चय उपादन ही करता है, इसलिये इस दृष्टिसे बाह्य निमित्तोंकी उपयोगिता नहीं है। किस समय किस द्रव्यने क्या कार्य किया यह सूचन करनेकी दृष्टिसे यदि कोई बाह्य निमित्तोंकी उपयोगिता मानता है तो इसमें आगमसे कोई बाधा भी नहीं आती। अब रही उपादानकी बात सो

निश्चय उपादानकी उपयोगिता भी कार्य उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे ही है, क्योंकि उसका ध्वंस होकर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। कार्य होनेपर भी उपादान वना रहता है सो वह किसका ? विवक्षित कार्यका या अन्य किसीका ? यदि विवक्षित कार्यका कहा जाय तो इसका यह अर्थ हुआ कि अभी द्रव्य विवक्षित कार्यकी दृष्टिसे उपादानकी भूमिकामें ही आया है। उसके अव्यवहित उत्तर समयमें कार्य होगा। यदि वह अन्य किसीका उपादान है तो उसे विवक्षित कार्यका उपादान नहीं कहना चाहिये। यदि कहा जाय कि हम कार्य होनेके वाद भी निश्चय उपादान वना रहता है यह नहीं कह रहे हैं, किन्तु जो द्रव्य निश्चय उपादानकी भूमिकामें आकर अव्यवहित उत्तर समयमें विवक्षित कार्यको उत्पन्न करता है उसकी वात कह रहे हैं। तो इसपर हमारा इतना ही कहना है कि केवल त्रिकाली द्रव्य तो कार्यको उत्पन्न करता नहीं, किन्तु तीनों कालोंमें पूर्व-पूर्व पर्याय युक्त होकर हो द्रव्य उत्तर-उत्तर समयमें कार्यको उत्पन्न करता है। इसलिये विवक्षित कार्यकी अपेक्षा उसकी उपयोगिता वहीं समाप्त हो जाती है। आगम भी उपादान-उपादेय रूपसे इसी तथ्यकी प्ररूपणा करता है इसे नहीं भूलना चाहिये। जिससे स्वाध्याय प्रेमीको भ्रम हो या विपरीत परम्परा चले ऐसी प्ररूपणा किस काम की इसका विचार उन महाशयोंको ही करना चाहिये जो ऐसे भ्रमोत्पादक कथन करनेमें अपना व्रतिकर्तव्य समझते हैं।

(१४) द्रव्य पर्यायें दो प्रकारकी हैं—स्वभावपर्याय और विभाव पर्याय। स्वभाव पर्यायोंपर तो वद्धता और स्पृष्टताका व्यवहार ही नहीं होता। विभाव पर्यायों पर वद्धता और स्पृष्टताका व्यवहार अवश्य किया जाता है, परन्तु परमार्थसे वे होती स्वयं अपने निश्चय उपादानके अनुसार ही हैं। उन्हें पर पदार्थ उत्पन्न नहीं करते और न वे परमार्थसे परपदार्थोंसे वद्ध और स्पृष्ट ही हैं। यदि उन्हें पर पदार्थोंसे वद्ध और स्पृष्ट परमार्थसे मान लिया जाय तो उनमें एकत्व प्राप्त हो जाय। किन्तु दो पदार्थ कभी भी वद्ध और स्पृष्ट होकर एक नहीं होते, इसलिये सभी पर्यायोंको परमार्थसे अवद्ध और अस्पृष्ट ही मानना चाहिये।

शंका—समयसार गाथा १४ में आत्माको अवद्ध-अस्पृष्ट निश्चयनयसे अवश्य कहा गया है, क्योंकि यह नय मात्र स्वात्माश्रित वस्तुका विवेचन करता है, पराश्रित वस्तुका विवेचन नहीं करता, जब कि पराश्रित

वद्धस्पृष्टता भी भूतार्थ है। आत्मख्याति टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रदेवने इसे स्वीकार भी किया है और भूतार्थ तथा परमार्थ एकार्थवाची वचन हैं, इसलिये वस्तुको परमार्थसे वद्धस्पृष्ट मानना चाहिये। फिर क्या कारण है कि आप वद्धस्पृष्टताको परमार्थ स्वरूप होनेका निषेध करते हैं ?

समाधान—मूलाचार चरणानुयोगका मूल ग्रन्थ हैं। आचार्य वीरसेनने तो इसकी महत्ताको समझ कर इसे आचारांग शव्दसे ही सम्बोधित किया है। इसमें 'सव्वे संजोगलक्खणा' पदमें आये हुए संयोग शव्दका अर्थ करते हुए लिखा है—

अनात्मनीनस्य आत्मभावः संयोगः ॥ १–४८ ॥

जो अपना नहीं है उसमें आत्मभावका होना इसका नाम संयोग है।

इससे विदित होता है कि प्रकृतमें वद्धस्पृष्ट पदसे अज्ञान राग-द्वेषरूप पर्यायको ही आचार्य अमृतचन्द्रदेव भूतार्थ कह रहे हैं। वाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्धको लक्ष्यकर आचार्य जयसेन प्रवचनसार गाथा २६५ की टीकामें लिखते हैं—

वाह्यपञ्चेन्द्रियविपयभूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति तस्मादध्यवसानाद् वन्धो भवतीति पारम्पर्येण वस्तु वन्धकारणं भवति न च साक्षात्।

पञ्चेन्द्रियोंके वाह्य विषयभूत वस्तुके होनेपर अज्ञानभावसे रागादि अध्यवसान होता है और उस अध्यवसानसे वन्ध होता है, इसलिये वाह्य वस्तु परम्परासे वन्धका कारण है, साक्षात् नहीं।

यह उद्धरण इतना स्पष्ट है जिससे हम जानते हैं कि साक्षात् वद्धस्पृष्टता तो अज्ञान, राग-द्वेषरूप ही है। जीवद्रव्य कर्म और शरीरादि नोकर्मसे वद्ध स्पृष्ट है यह कहना ऐसा ही है कि जैसे किसीका यह कहना कि हमें अपने कुटुम्बीजनोंने जकड़कर इतना वाँध रखा है कि हमें इस जन्ममें तो उनसे छुटकारा पाना सम्भव ही नहीं। वस्तुतः विचारकर देखा जाय तो यहाँ उसका अज्ञानमूलक रागभाव ही इसका कारण है, कुटुम्वी जन नहीं। इसी प्रकार प्रकृतमें भी जीवकी वद्धस्पृष्टता अज्ञानभावरूप ही है, कर्म और नोकर्मरूप नहीं। उनसे जीव वँधा है यह कथन मात्र असद्भूत व्यवहारनयसे ही किया गया है।

शंका—तो फिर भेदविज्ञानके होनेपर जीवको अज्ञानमूलक सभी पर्यायोंसे छुटकारा मिल जाना चाहिये ?

समाधान—छुटकारा अवश्य मिल जाता है। अन्तर इतना ही है कि

जबतक भेदविज्ञानके बलसे जीव आत्मस्थ होकर पूर्णरूपसे रत्नत्रय-स्वरूप नहीं हो जाता तबतक रागादि निमित्तक संसार बना रहता है। वैसे उसके संसारसे मुक्त होनेकी प्रक्रिया चतुर्थ गुणस्थानसे ही प्रारम्भ हो जाती है। तद्योग्य द्रव्यकर्मकी सत्ता रहते हुए सम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि छह नरक, भवनत्रिक, नपुंसक, स्त्री, स्थावरकायिक और विकलेन्द्रियोंमें नहीं उत्पन्न होता। और आत्मविशुद्धिको दृढ़ करता हुआ क्रमशः देवपर्याय और मनुष्य पर्यायका भी अन्तकर रागादिरूप संसारसम्बन्धी और अस्थायी सभी भावोंका अन्त कर पूर्णरूपसे अबद्ध-स्पृष्ट हो जाता है।

इस प्रकार इस विवेचनसे यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि जो भी कार्य होता है वह अपने निश्चय उपादानके अनुसार होकर भी क्रम-नियमित ही होता है। बाह्य सामग्रीके बलसे उसमें फेर-फार होना त्रिकालमें सम्भव नहीं।

१०. बाह्य व्याप्ति और क्रमनियमित पर्याय

अब आगे बाह्य व्याप्ति अर्थात् बाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको ध्यानमें रखकर क्रमनियमित पर्यायोंकी सम्यक् व्यवस्था कैसे बनती है इसपर विस्तृतरूपसे प्रकाश डाला जायगा। सर्वप्रथम इस तथ्यको विशदरूपसे समझनेके लिये हम पंचास्तिकायकी ८९ वीं गाथा और उसकी अमृतचन्द्र आचार्यरचित टीकाको लेते हैं। यथा—

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥८९॥

जिनकी गति होती है उनकी पुनः स्थिति होती है (और जिनकी स्थिति होती है उनकी यथासम्भव पुनः गति होती है।) इसलिये गति और स्थिति करनेवाले पदार्थ अपने परिणमनके सम्मुख हुए परिणामोंके अनुसार ही गति और स्थिति करते हैं ॥८९॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

धर्माधर्मयोरौदासीन्यं हेतूपन्यासोऽयम्। धर्मः किल न जीवपुद्गलानां कदाचिद् गतिहेतुत्वमभ्यसति, न कदाचित् स्थितिहेतुत्वमधर्मः। तौ हि परेषां गति-स्थित्योर्यदि मुख्यहेतू स्यातां तदा येषां गतिस्तेषां गतिरेव न स्थितिः, येषां स्थितिस्तेषां स्थितिरेव न गतिः। तत एकेषामपि गति-स्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किन्तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ। कथमेवं गति-

स्थितिमतां पदार्थानां गति-स्थितो भवत इति चेत्, सर्वे हि गति-स्थितिमन्तः पदार्थाः स्वपरिणामैरेव निश्चयेन गति-स्थिती कुर्वन्तीति ॥८९॥

यह धर्म और अधर्म द्रव्यकी उदासीनताके सम्बन्धमें हेतु कहा गया है। वास्तवमें (निश्चयसे) धर्मद्रव्य कभी भी जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें हेतु नहीं होता और अधर्म द्रव्य कभी भी उनकी स्थितिमें हेतु नहीं होता। यदि वे दूसरोंकी गति और स्थितिके मुख्य हेतु हों तो जिनकी गति हो उनकी गति ही रहनी चाहिए, स्थिति नहीं होनी चाहिए और जिनकी स्थिति हो उनकी स्थिति ही रहनी चाहिए, गति नहीं होनी चाहिए। किन्तु अकेले एक पदार्थकी भी गति और स्थिति देखी जाती है इसलिए अनुमान होता है कि वे (धर्म और अधर्म द्रव्य) गति और स्थितिके मुख्य हेतु नहीं हैं। किन्तु व्यवहारनयसे स्थापित उदासीन हेतु हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो गति और स्थितिवाले पदार्थोंकी गति और स्थिति किस प्रकार होती है?

समाधान—वास्तवमें गति और स्थिति करनेवाले पदार्थ अपने-अपने परिणामोंसे ही निश्चयसे गति और स्थिति करते हैं।

यह पञ्चास्तिकाय और उसकी टीकाका वक्तव्य है। इसके सन्दर्भमें नियमसार और तत्त्वार्थसूत्रके कथनको पढ़ने पर ज्ञात होता है कि उन (नियमसार और तत्त्वार्थसूत्र आदि) ग्रन्थोंमें जो यह कहा गया है कि सिद्ध जीव लोकान्तसे ऊपर धर्मास्तिकाय न होनेसे गमन नहीं करते सो यह व्यवहारनय (उपचारनय) का ही वक्तव्य है जो केवल निश्चय उपादानके अनुसार गतिकी उतनी योग्यताकी प्रसिद्धिके लिए किया गया है क्योंकि मुख्य हेतु तो अपना-अपना निश्चय उपादान ही है। मुख्य हेतु कहो, निश्चय हेतु कहो या निश्चय उपादान कहो एक ही तात्पर्य है। स्पष्ट है कि जिस कालमें निश्चय उपादानको जितने क्षेत्र तक गमन करनेकी या जिस क्षेत्रमें स्थित होनेकी योग्यता होती है उस कालमें वह पदार्थ उतने ही क्षेत्र तक स्वयं गमन करता है और उस क्षेत्रमें स्वयं स्थित होता है। यह परमार्थ सत्य है। परन्तु जब वह गमन करता है या स्थित होता है तब धर्म द्रव्य गमनमें और अधर्म द्रव्य स्थित होनेमें उपचरित हेतु होता है, इसलिये व्यवहार हेतुके समर्थनमें प्रयोजन विशेषवश यह भी कह दिया जाता है कि सिद्ध जीव लोकान्तके ऊपर धर्मास्तिकाय न होनेसे गमन नहीं करते। यद्यपि इस कथनमें उपचरित हेतुको मुख्यतासे

कथन किया गया है। पर इस परसे यह फलित करना उचित नहीं है कि उस कालमें निश्चय उपादानकी द्रव्य-पर्याय योग्यता तो आगे भी जानेकी थी पर उपचरित हेतु न होनेसे सिद्ध जीवोंका और ऊपर गमन नहीं हुआ। उससे ऐसा अर्थ फलित करनेपर जो अर्थ विपर्यास होता है उसका वारण नहीं किया जा सकता। अतएव परमार्थरूपमें यही मानना उचित है कि वस्तुतः प्रत्येक कार्य तो प्रत्येक समयमें अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार ही होता है। किन्तु जब कार्य होता है तब अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्वयमेव उसमें उपचरित हेतु होते हैं। परमार्थसे किसी कार्यका मुख्य हेतु हो और उपचरित हेतु न हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब जिस कार्यका मुख्य हेतु होता है तब उसका उपचरित हेतु होता ही है ऐसा नियम है। भावलिङ्गके होनेपर उसके द्रव्यलिंग नियमसे पाया जाता है यह विधि इसी आधारपर फलित होती है। यह हम मानते हैं कि शास्त्रोंमें लोकालोकका विभाग उपचरित हेतुके आधारसे बतलाया गया है। परन्तु वह व्याख्यान करनेकी एक शैली है, जिससे हमें यह बोध हो जाता है कि गतिमान जीवों और पुद्गलोंका निश्चयसे लोकान्त तक ही गमन होता है, लोकके बाहर स्वभावसे उनका गमन नहीं होता। और इसीलिये आगममें यह भी कहा गया है कि यह लोक अकृत्रिम, अनादि निधन और स्वभावसे निर्वृत्त है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक निश्चय उपादान अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता सम्पन्न होता है और उसके अनुसार उसका ध्वंस होकर प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रत्येक समयका निश्चय उपादान पृथक्-पृथक् है, इसलिए उनसे क्रमशः जो-जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे अपने-अपने कालमें नियत हैं। वे अपने-अपने समयमें ही होती हैं आगे-पीछे नहीं होतीं इस तथ्यका समर्थन स्वामीकार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षाकी २२२-२२३ कारिकासे भी होता है—

इसी बातको स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य प्रवचनसार गाथा ९९ की टीकामें कहते हैं—

यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामिनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलपूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयात् पूर्व-

पूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात् त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति। तथैव हि परीगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेपूच्चकासत्सु परिणामेपूत्तरोत्तरेपूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात् पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात् त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति।

जिस प्रकार विवक्षित लम्बाईको लिए हुए लटकती हुई मोतीकी मालामें अपने-अपने स्थानमें चमकते हुए सभी मोतियोंमें आगे-आगेके स्थानोंमें आगे-आगेके मोतियोंके प्रगट होनेसे अतएव पूर्व-पूर्वके मोतियोंके अस्तंगत होते जानेसे तथा सभी मोतियोंमें अनुस्यूतिके सूचक एक डोरेके अवस्थित होनेसे उत्पादव्यय-ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य प्रसिद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार स्वीकृत नित्यवृत्तिसे निवर्तमान द्रव्यमें अपने-अपने कालमें प्रकाशमान होनेवाली सभी पर्यायोंमें आगे-आगेके कालोंमें आगे-आगेकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेसे अतएव पूर्व-पूर्व पर्यायोंका व्यय होनेसे तथा इन सभी पर्यायोंमें अनुस्यूतिको लिए हुए एक प्रवाहके अवस्थित होनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य प्रसिद्धिको प्राप्त होता है।

यह प्रवचनसारकी टीकाका उद्धरण है जो कि प्रत्येक द्रव्यमें उत्पादादि त्रयके समर्थनके लिए आया है। इसमें द्रव्यस्थानीय मोतीकी माला है, उत्पादस्थानीय आगेका मोती है, व्ययस्थानीय अस्तंगत पिछला मोती है और अन्वय (उर्ध्वतासामान्य) स्थानीय डोरा है। जिस प्रकार मोतीकी मालामें सभी मोती अपने-अपने स्थानमें चमक रहे हैं। गणनाक्रमसे उनमेंसे पीछे-पीछेका एक-एक मोती अतीत होता जाता है और आगे-आगेका एक-एक मोती प्रगट हो जाता है। फिर भी सभी मोतियोंमें डोरा अनुस्यूत होनेसे उनमें अन्वय बना रहता है। इसलिए त्रैलक्षण्यकी सिद्धि होती है। उसी प्रकार नित्य परिणामस्वभाव प्रत्येक द्रव्यमें अतीत, वर्तमान, और अनागत सभी पर्यायें अपने-अपने कालमें प्रकाशित हो रही हैं। अतएव उनमेंसे पूर्व-पूर्व पर्यायोंके क्रमसे व्ययको प्राप्त होते जानेपर आगे-आगेकी पर्यायें उत्पादरूप होती जाती हैं और उनमें अनुस्यूतिको लिए हुए अन्वयरूप एक अखण्ड प्रवाह (ऊर्ध्वता सामान्य) निरन्तर अवस्थित रहता है, इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्यकी सिद्धि होती है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इसको यदि और अधिक स्पष्टरूपसे देखा जाय तो ज्ञात होता है कि भूतकालमें पदार्थमें जो-जो पर्यायें हुई थीं वे सब द्रव्यरूपसे वर्तमान

पदार्थमें अवस्थित हैं और भविष्यत् कालमें जो-जो पर्यायें होंगीं वे भी द्रव्यरूपसे वर्तमान पदार्थमें अवस्थित हैं। अतएव जिस पर्यायके उत्पाद-का जो समय होता है उसी समयमें वह पर्याय उत्पन्न होती है और जिस पर्यायके व्ययका जो समय होता है उसी समय वह विलीन हो जाती है। ऐसी एक भी पर्याय नहीं है जो द्रव्यरूपसे वस्तुमें न हो और उत्पन्न हो जाय और ऐसी भी कोई पर्याय नहीं है जिसका व्यय होने-पर द्रव्यरूपसे वस्तुमें उसका अस्तित्व ही न हो। इसी वातको स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसामें स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥४२॥

यदि कार्य सर्वथा असत् है। अर्थात् जिस प्रकार वह पर्यायरूपसे असत् है उसी प्रकार वह द्रव्यरूपसे भी असत् है तो जिस प्रकार आकाश-कुसुमकी उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार कार्यकी भी उत्पत्ति मत होओ तथा उपादानका नियम भी न रहे और कार्यके पैदा होनेमें समाश्वास भी न होवें ॥४२॥

इसी वातको आचार्य विद्यानन्दने उक्त श्लोककी टीकामें इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

कथञ्चित्सत् एव स्थितत्वोत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटनवद्।

जैसे कथंचित् सत्का ही विनाश घटित होता है उसी प्रकार कथंचित् सत्का ही ध्रौव्य और उत्पाद घटित होता है।

प्रध्वंसाभावके समर्थनके प्रसंगसे इसी वातको और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्री पृष्ठ ५३ में कहते हैं—

स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद् द्रव्यस्य, नित्यत्वात्। नापि पर्यायस्य, द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात्। तथाहि—विवादापन्नं मण्यादौ मलादि पर्यायार्थ-तया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवम्, सत्त्वान्यथानुपपत्तेः।

वह अत्यन्त विनाश द्रव्यका होता है या पर्यायका ? द्रव्यका तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह नित्य है। पर्यायका भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह द्रव्यरूपसे ध्रौव्य है। यथा—विवादास्पद मणि आदिमें मल आदि पर्यायरूपसे नश्वर होकर भी द्रव्यरूपसे ध्रुव है, अन्यथा उसकी सत्त्वरूपसे उपपत्ति नहीं वन सकती।

यहाँ पर स्वामी समन्तभद्रने और आचार्य विद्यानन्दने प्रत्येक कार्यकी द्रव्यमें जो कथंचित् सत्ता स्वीकार की है सो उसका यही तात्पर्य है कि प्रत्येक कार्य द्रव्यमें शक्तिरूपसे अवस्थित रहता हैं। यदि वह उसमें शक्तिरूपसे अवस्थित न हो तो उसका उत्पाद ऐसे ही नहीं बनता जैसे आकाशकुसुमका उत्पाद नहीं बनता। इतना ही नहीं, जो निश्चय उपादानका नियम है कि इससे यही कार्य उत्पन्न होता है, उसके विना यह नियम भी नहीं बन सकता है। तव तो मिट्टीसे वस्त्रकी और जीवसे अजीवकी भी उत्पत्ति हो जानी चाहिए। और यदि ऐसा होने लगे तो इससे यही कार्य होगा ऐसा समाश्वास करना कठिन हो जायगा। अतएव द्रव्यमें शक्तिरूपसे जो कार्य विद्यमान है वही स्वकाल आनेपर कार्यरूपसे परिणत होता है ऐसा निश्चय करका चाहिये।

कारणमें कार्यकी सत्ताको तो सांख्यदर्शन भी मानता है। किन्तु वह प्रकृतिको सर्वथा नित्य और उसमें कार्यकी सत्ताको सर्वथा सत् मानता है। इसलिये उसने कार्यका उत्पाद और व्यय स्वीकार न कर उसका आविर्भाव और तिरोभाव माना है। जैनदर्शनका सांख्यदर्शनसे यदि कोई मतभेद है तो वह इसी वातमें है कि वह कारणको सर्वथा नित्य मानता है जैनदर्शन कथंचित् नित्य मानता है। वह कारणमें कार्यका सर्वथा सत्त्व स्वीकार करता है, जैनदर्शन कथंचित् सत्त्व स्वीकार करता है। वह कार्यका आविर्भाव-तिरोभाव मानता है, जैनदर्शन कार्यका उत्पाद-व्यय स्वीकार करता है। कारणमें यह कार्य सर्वथा है नहीं। उसके पूर्व उसका सर्वथा प्रागभाव है। यह मत नैयायिकदर्शनका है किन्तु जैनदर्शन इसके भी विरुद्ध है। वह कारणमें कार्यका कथंचित् प्रागभाव मानता है। यथा—द्रव्यरूपसे कारणमें कार्य है और पर्यायरूपसे नहीं। वह न तो सर्वथा सांख्यदर्शनका ही अनुसरण करता है और न सर्वथा नैयायिक-दर्शनका ही। और यह ठीक भी है, क्योंकि द्रव्य कथंचित् नित्यानित्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव प्रतीतिमें आता है। साथ ही उसमें कार्यकी कारणरूपसे सत्ता होनेसे जो जिस कार्यका स्वकाल होता है उस कालमें उसका जन्म होता है।

पर्यायें क्रमनियमित ही होती हैं इस तथ्यका समर्थन आप्तमीमांसाके इस वचनसे भी होता है—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभाड्भावसम्वन्धः द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

तीनों कालोंसम्बन्धी नयों और उपनयोंके विषयभूत अनेक धर्मों (पर्यायों) के तादात्म्यसम्बन्धका नाम द्रव्य है। वह सामान्यकी अपेक्षा एक है और पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक है ॥१०७॥

यहाँ भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल लिये गये हैं। इससे सिद्ध है कि जितने कालके समय उतनी ही प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें। यतः वे पर्यायें द्रव्यके साथ तादात्म्यरूपसे अवस्थित हैं, इसलिये जिस पर्यायके उदयका जो काल उसी समय उसका उत्पाद होता है, इस प्रकार एक पर्यायका स्थान दूसरी पर्याय नहीं ले सकती यह सुतरां सिद्ध हो जाता है। इसी तथ्यका समर्थन गोम्मटसार जीवकाण्डसे भो होता है।

इस विषयके पोपक अन्य उदाहरणोंकी वात छोड़कर यदि हम कार्मणवर्गणाओंके कर्मरूपसे परिणमनकी जो प्रक्रिया है और कर्मरूप होनेके वाद उसकी जो विविध अवस्थाएँ होती हैं उनपर ध्यान दें तो प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है यह तत्त्व अनायास समझमें आ जाता है। साधारण नियम यह है कि प्रारम्भके गुणस्थानोंमें आयुवन्धके समय आठ कर्मोका और अन्य कालमें सात कर्मोका प्रति समय वन्ध होता है। यहाँ विचार यह करना है कि कर्मवन्ध होनेके पहले सव कार्मणवर्गणाएँ एक प्रकारकी होती हैं या सव कर्मोंकी अलग-अलग वर्गणाएँ होती हैं? साथ ही यह भी देखना है कि कार्मणवर्गणाएँ ही कर्मरूप क्यों परिणत होती हैं? अन्य वर्गणाएँ वाह्य निमित्तोंके द्वारा कर्मरूप परिणत क्यों नहीं हो जातीं? यद्यपि ये प्रश्न थोड़े जटिल तो प्रतीत होते हैं परन्तु शास्त्रीय व्यवस्थाओं पर ध्यान देनेसे इनका समाधान हो जाता है। शास्त्रोंमें वतलाया है कि योगके निमित्तसे प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध होता है। अव थोड़ा इस कथनपर विचार कीजिए कि क्या योग सामान्यसे कार्मणवर्गणाओंके ग्रहणमें वाह्य निमित्त होकर ज्ञानावरणादि-रूपसे उनके विभागमें भी वाह्य निमित्त होता है या ज्ञानावरणादिरूपसे जो कर्मवर्गणाएँ पहलेसे अवस्थित हैं उनके ग्रहण करनेमें वाह्य निमित्त होता है? इनमेंसे पहली वात तो मान्य हो नहीं सकती, क्योंकि कर्मवर्ग-णाओंमें ज्ञानावरणादिरूप स्वभावके पैदा करनेमें योगकी वाह्य निमि-त्तता नहीं है। जो जिस रूपमें हैं उनका उसी रूपमें ग्रहण हो इसमें ही योगकी वाह्य निमित्तता है। अव देखना यह है कि क्या वन्ध होनेके पहले ही कर्मवर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूपसे अवस्थित रहती हैं? यद्यपि पूर्वोक्त कथनसे इस प्रश्नका समाधान हो जाता है, क्योंकि योग जव ज्ञानावर-

णादिरूप प्रकृतिभेदमें बाह्य निमित्त नहीं होता किन्तु ज्ञानावरणादिरूप प्रकृतिबन्धमें बाह्य निमित्त होता है तब अर्थात् यह बात आ जाती है कि प्रत्येक कर्मकी कार्मणवर्गणाऐं ही अलग-अलग होती हैं। फिर भी इस बातके समर्थनमें हम आगम प्रमाण उपस्थित कर देना आवश्यक मानते हैं। वर्गणाखंड बन्धन अनुयोग द्वार चूलिकामें कार्मण द्रव्यवर्गणा किसे कहते हैं इसकी व्याख्या करनेके लिए एक सूत्र आया है। उसकी व्याख्या करते हुए वीरसेन आचार्य कहते हैं :—

णाणावरणीयस्स जाणि पाओग्गाणि दव्वाणि ताणि चेव मिच्छत्तादिपच्चएहि पंचणाणावरणीयसरूवेण परिणमंति ण अण्णेसिं सरूवेण। कुदो ? अप्पाओग्गत्तादो। एवं सव्वेसिं कम्माणं वत्तव्वं, अण्णहा णाणावरणीयस्स जाणि दव्वाणि ताणि घेत्तूण मिच्छत्तादिपच्चएहि णाणावरणीयत्ताए परिणामेदूण जीवा परिणमंति त्ति सुत्ताणुववत्तीदो। जदि एवं तो कम्मइयवग्गणाओ अट्ठेव त्ति किण्ण परूविदाओ ? ण, अंतराभावेण तथोवदेसाभावादो।

इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीयके योग्य जो द्रव्य हैं वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके कारण पाँच ज्ञानावरणीयरूपसे परिणमन करते हैं, अन्यरूपसे वे परिणमन नहीं करते, क्योंकि वे अन्य कर्मरूप परिणमन करनेके अयोग्य होते हैं। इसी प्रकार सब कर्मोंके विषयमें व्याख्यान करना चाहिए। अन्यथा 'ज्ञानावरणीयके जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहण कर मिथ्यात्व आदि प्रत्ययवश ज्ञानावरणीयरूपसे परिणमा कर जीव परिणमन करते हैं यह सूत्र नहीं बन सकता है।

शंका—यदि ऐसा है तो कार्मण वर्गणाऐं आठ हैं ऐसा कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि आठों कर्मवर्गणाओंमें अन्तरका अभाव होनेसे उस प्रकारका उपदेश नहीं पाया जाता।

यह षट्खंडागमके उक्त सूत्रके कथनका सार है जो अपनेमें स्पष्ट होकर उपादानकी विशेषताको ही सूचित करता है। यहाँ यह भी कहा गया है कि ज्ञानावरणकी वर्गणाऐं ही ऐसी द्रव्य-पर्याय योग्यतावाली होती हैं कि वे ज्ञानवरणरूपसे परिणमन करती हैं। सो क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जिन वर्गणाओंमें जिस समय ज्ञानावरणरूपसे परिणमनकी योग्यता होती है उसी समय वे उसरूपसे परिणमन करती हैं, अन्य समयमें नहीं। सामान्य योग्यता मानना और विशेष योग्यता नहीं मानना केवल आत्मवंचना है।

ज्ञानावरण आदि कर्मोंके अवान्तर भेदोंका उसीके अवान्तर भेदोंमें ही संक्रमण होता है यह जो कर्मसिद्धान्तका नियम है उससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। यहाँ यह शंका होती है कि यदि यह वात है तो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका परस्पर तथा चार आयुओंका परस्पर संक्रमण क्यों नहीं होता ? परन्तु यह शंका इसलिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अन्य कर्मोंके समान इन कर्मोंकी वर्गणाएँ भी अलग-अलग होनी चाहिए, इसलिए उनका परस्पर संक्रमण नहीं होता।

यहाँ निश्चय उपादानकी विशेषताको समझनेके लिए यह वात और ध्यान देने योग्य है कि प्रति समय जितना विस्रसोपचय होता है जो कि सर्वदा आत्मप्रदेशोंके साथ एकक्षेत्रावगाही रहता है वह सवका सव एक साथ कर्मरूप परिणत नहीं होता। ऐसी अवस्थामें यह विस्रसोपचय इस समय कर्मरूप परिणत हो और यह कर्मरूप परिणत न हो यह विभाग कौन करता है ? योग द्वारा तो यह विभाग हो नहीं सकता, क्योंकि विस्रसोपचयके ऐसे विभागमें वाह्य निमित्त होना उसका कार्य नहीं है। जो विस्रसोपचय उस समय कर्मपर्यायरूपसे परिणत होनेवाले हों उनके वन्धमें वाह्य निमित्त होना मात्र इतना योगका कार्य है। इस प्रकार कर्मशास्त्रमें वन्ध, संक्रमण और विस्रसोपचयके सम्वन्धमें स्वीकार की गई इन व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात करनेसे यही विदित होता है कि कार्यमें निश्चय उपादान ही नियामक है और जव निश्चय उपादानके कार्यरूप होनेका स्वकाल होता है तभी वह अन्य द्रव्यको निमित्त कर कार्यरूप परिणत होता है।

कर्म साहित्यमें वद्ध कर्मकी जो उदीरणा, उत्कर्पण और अपकर्षण आदि अवस्थाएँ वतलाई हैं उनपर सूक्ष्मतासे ध्यान देने पर भी उक्त व्यवस्था ही फलित होती है। उदयकालको प्राप्त हुए पूरे निषेकका अभाव हो जाता है यह ठीक है। परन्तु उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्पणमें ऐसा न होकर प्रति समय कुछ परमाणुओंकी विवक्षित निषेकमेंसे उदीरणा होती है, कुछका उत्कर्पण होता हैं, कुछका अपकर्षण होता है और कुछका संक्रमण होता है। तथा उसी निषेकमें कुछ परमाणु ऐसे भी हो सकते हैं जो उपशमरूप रहते हैं, कुछ निधत्तिरूप और कुछ निकाचितरूप भी रहते हैं। सो क्यों ? निषेक एक है। उसमें ये सव परमाणु अवस्थित हैं। फिर उनका प्रत्येक समयमें यह विभाग कौन करता है कि इस समय यह उदीरणारूप होवे और यह उत्कर्षणरूप होवे आदि। यह

बात तो स्पष्ट है कि प्रति समय इस प्रकार जो कर्मनिषेकोंका यथासम्भव उदीरणा आदिरूपसे बटवारा होता रहता है उसमें यथासम्भव प्रति समयके जीवके यद्यपि संक्लेशरूप या विशुद्धिरूप परिणाम निमित्त होते हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वह अपने हस्त-पाद आदिका व्यापारकर बलात् उनमें से किन्हींको उदीरित होनेके लिए, किन्हींको उत्कर्षित होनेके लिए, किन्हींको अपकर्षित होनेके लिए और किन्हींको संक्रमित होनेके लिए धकेलता रहता हो सो ऐसी बात तो है नहीं। अतएव निष्कर्षरूपमें यही फलित होता है कि जिस समय जिन कर्मपरमाणुओंकी जिसरूपमें होनेकी योग्यता होती है वे कर्मपरमाणु उस समय हुए जीवके परिणामोंको निमित्त करके उसरूप स्वयं परिणम जाते हैं।

कर्मसाहित्यमें अपकर्षणके लिए तो एकमात्र यह नियम है कि उदयावलिके भीतर स्थित कर्मपरमाणुओंका अपकर्षण नहीं होता। जो कर्मपरमाणु उदयावलिके बाहर अवस्थित हैं उनका वैसी योग्यता होनेपर अपकर्षण हो सकता है। परन्तु उत्कर्षण उदयावलिके बाहर स्थित सभी कर्मपरमाणुओंका हो सकता हो ऐसा नहीं है। उत्कर्षण होनेके लिए नियम बहुत हैं और अपवाद भी बहुत हैं। परन्तु संक्षेपमें एक यही नियम किया जा सकता है कि जिन परमाणुओंकी उत्कर्षणके योग्य शक्तिस्थिति शेष है और वे उत्कर्षणके योग्य कालमें स्थित हैं तथा उस जातिका प्रकृतिका बन्ध हो रहा हो तो उन्हींका उत्कर्षण हो सकता है, अन्यका नहीं। यदि हम इन नियमोंको ध्यानमें लेकर विचार करें तो भी यही बात फलित होती है कि जो कर्मपरमाणु उत्कर्षणके योग्य उक्त योग्यता सम्पन्न हैं वे ही जीव परिणामोंको निमित्त करके उत्कर्षित होते हैं। उसमें भी वे सब परमाणु उत्कर्षित होते हों ऐसा भी नहीं है। किन्तु जिनमें विवक्षित समयमें उत्कर्षित होनेकी योग्यता होती है वे विवक्षित समयमें उत्कर्षित होते हैं और जिनमें द्वितीयादि समयोंमें उत्कर्षित होनेकी योग्यता होती है वे द्वितीयादि समयोंमें उत्कर्षित होते हैं। और जिन कर्मपरमाणुओंमें उत्कर्षित होनेकी योग्यता नहीं होती वे उत्कर्षित नहीं होते। यही नियम अपकर्षण आदिके लिए भी जान लेना चाहिए।

यह कर्मो और विस्रसोपचयोंका विवक्षित समयमें विवक्षित कार्यरूप होनेका क्रम है। यदि हम कर्मप्रक्रियामें निहित इस रहस्यको ठीक तरहसे जान लें तो हमें अकालमरण और अकालपाक आदिके कथनका भी

रहस्य समझमें आनेमें देर न लगे। कर्मबन्धके समय जिन कर्मपरमाणुओं-में जितनी व्यक्तिस्थिति पड़नेकी योग्यता होती है उस समय उनमें उतनी व्यक्तिस्थिति पड़ती है और शेष शक्तिस्थिति रही आती है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उन कर्मपरमाणुओंको अपनी व्यक्तिस्थिति या शक्तिस्थिति के काल तक कर्मरूप नियमसे रहना ही चाहिये और यदि वे उतने काल तक कर्मरूप नहीं रहते हैं तो उसका कारण -वे स्वयं कथमपि नहीं हैं, अन्य ही है यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो कारणमें कार्य कथंचित् सत्तारूपसे अवस्थित रहता है इस सिद्धान्तका अपलाप होता है। दूसरे कौन किसका समर्थ उपादान है इसका कोई नियम न रहनेसे जड़-चेतनका भेद न रहकर अनियमसे कार्यकी उत्पत्ति प्राप्त होती है। इसलिये जब निश्चय उपादानकी अपेक्षा कथन किया जाता है तब प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है यही सिद्धान्त स्थिर होता है। इस दृष्टिसे अकालमरण और अकालपाक जैसे वस्तुको परमार्थसे कोई स्थान नहीं मिलता। और जब उनका अतर्कितोपस्थित या प्रयत्नोप-स्थित बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा कथन किया जाता है तब वे ही कार्य अकालमरण या अकालपाक जैसे शब्दों द्वारा भी पुकारे जाते हैं। यह निश्चय और व्यवहारके आलम्बनसे व्याख्यान करनेकी विशेषता है। इससे वस्तुस्वरूप दो प्रकारका हो जाता हो ऐसा नहीं है। अन्यथा अकालमरणके समान अकाल जन्मको भी स्वीकार करना पड़ेगा और ऐसामानने पर जन्मके अनुकूल नियत स्थान आदिकी व्यवस्था ही भंग हो जायगी।

यह तो हम मानते हैं कि वर्तमानमें लौकिक विज्ञानके नये-नये प्रयोग दृष्टिगोचर हो रहे हैं। संहारक अस्त्रोंकी तीव्रता भी हम स्वीकार करते हैं। आजके मानवकी आकांक्षा और प्रयत्न धरती और नक्षत्रलोकको एक करने की है यह भी हमें ज्ञात है पर इससे प्रत्येक कार्य अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होता है इस सिद्धान्तका कहाँ व्याघात होता है और इस सिद्धान्तके स्वीकार कर लेनेसे उपदेशादिकी व्यर्थता भी कहाँ प्रमाणित होती है? सब बाह्य-आभ्यन्तर कार्य-कारणपद्धतिसे अपने-अपने कालमें हो रहे हैं और होते रहेंगे।

लोकमें तत्त्वमार्गके उपदेष्टा और मोक्षमार्गके प्रवर्तन कर्ता बड़े-बड़े तीर्थङ्कर हो गये हैं और आगे भी होंगे, पर उनके उपदेशोंसे कितने प्राणी लाभान्वित हुए? जिन्होंने आसन्नभव्यताके परिपाकका स्वकाल आनेपर

भगवान्‌का उपदेश स्वीकार कर पुरुषार्थ किया वे ही कि अन्य सभी प्राणी। इसी प्रकार वर्तमानमें या आगे भी जो आसन्नभव्यताका परि-पाक काल आने पर भगवान्‌का उपदेश स्वीकार कर पुरुषार्थ करेंगे वे ही लाभान्वित होंगे कि अन्य सभी प्राणी। विचार कीजिये। यदि बाह्य-निमित्तोंमें पदार्थोंकी कार्य निष्पादनक्षम योग्यताका स्वकाल आये बिना अकेले ही अनियत समयमें कार्योंको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य होती तो भव्याभव्यका विभाग समाप्त होकर संसारका अन्त कभीका हो गका होता।

सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रकी उत्थानिका लिखते समय आचार्य पूज्य-पादने 'प्रत्यासन्ननिष्ठः' यह विशेषण इसीलिए दिया है कि जिन जीवोंका मोक्ष जानेके योग्य पाककाल सन्निकट होता है, वस्तुतः वे ही उसके अनुरूप पुरुषार्थ करके मोक्षगामी होते हैं, अन्य नहीं।

हम यह तो मानते हैं कि जो लोग भगवान्‌की वाणीके अनुसार विवेक और तर्कका आश्रय लेकर या विना लिए स्वयं अपनी विवेक बुद्धिसे तत्त्वका निर्णय तो करते नहीं और केवल सूर्यादिके नियत समय पर उगने और अस्त होने आदि उदाहरणोंको उपस्थित कर या शास्त्रोंमें वर्णित कुछ भविष्यत्कथनसम्बन्धी घटनाओंको उपस्थित कर एकान्त नियतिका समर्थन करना चाहते हैं उनकी यह विचारधारा बाह्य-आभ्य-न्तर कार्यकारणपरम्पराके अनुसार विवेक और तर्क मार्गका अनुसरण नहीं करती, इसलिए वे उदाहरण अपनेमें ठीक होकर भी आत्मपुरुषार्थ-को जागृत करनेमें समर्थ नहीं हो पाते। पण्डितप्रवर वनारसीदास जीके जीवनमें ऐसा एक प्रसंग उपस्थित हुआ था। वे उसका चित्रण करते हुए स्वयं अपने अर्धकथानकमें कहते हैं—

> करणीका रस जान्यो नहिं नहिं आयो आतमस्वाद।
> भई वनारसिकी दशा जथा ऊँटकौ पाद॥

किन्तु मात्र इस उदाहरणको उपस्थित कर दूसरे विचारवाले मनुष्य यदि अपने पक्षका समर्थन करना चाहें तो उनका ऐसा करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी विचारधारा कार्योत्पत्तिके समय बाह्य निमित्तका क्या स्थान है यह निर्णय करनेकी न होकर निश्चय उपादानको उपादान कारण न रहने देनेकी है। मालूम नहीं, वे निश्चय उपादान और वाह्य निमित्तका क्या लक्षण कर इस

विचारधाराको प्रस्तुत कर रहे हैं। वे अपने समर्थनमें कर्मसाहित्य और दर्शन-न्यायसाहित्यके अनेक ग्रन्थोंके नाम लेनेसे भी नहीं चूकते। पर वे एक बार इन ग्रन्थोंके आधारसे यह तो स्थिर करें कि इनमें निश्चय उपादानकारण और बाह्य निमित्तकारणके ये लक्षण किये गये हैं। फिर उन लक्षणोंकी सर्वत्र व्याप्ति बिठलाते हुए तत्त्वका निर्णय करें। हमारा विश्वास है कि वे यदि इस प्रक्रियाको स्वीकार कर लें तो यथार्थ तत्त्व-निर्णय होनेमें देर न लगे।

शुद्ध द्रव्योंमें तो सब पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं पर अशुद्ध द्रव्योंमें ऐसा कोई नियम नहीं है। केवल इतना प्रतिज्ञा वाक्य कह देनेसे क्या होता है? यदि कोई बाह्य निमित्तकारण निश्चय उपादानकारणमें निहित योग्यताकी परवा किये बिना उस समय निश्चय उपादान द्वारा न होनेवाले कार्यको कर सकता है तो वह मुक्त जीवको संसारी भी बना सकता है। हमें विश्वास है कि वे इस तर्कके महत्त्वको समझेंगे।

कहीं-कहीं लौकिक दृष्टिसे बाह्य निमित्तको कर्ता कहा गया है और कहीं कहीं उसे कर्ता न कहकर भी उस पर कर्तृत्व धर्मका आरोप किया गया है यह हम मानते हैं। पर वहाँ वह उसी अर्थमें कर्ता कहा गया है जिस अर्थमें परमार्थ उपादान कर्ता होता है या अन्य अर्थमें। यदि हम इस फरकको ठीक तरहसे समझ लें तो भी तत्त्वकी बहुत कुछ रक्षा हो सकती है। नैगमनयका पेट बहुत बड़ा है। उसमें कितनी विवक्षाएँ समाई हुई हैं यह प्रकृतमें ज्ञातव्य है। जब बाह्य निमित्त कुछ करता नहीं यह कहा जाता है तब वह 'यः परिणमति स कर्ता' इस अनुपचरित मुख्यार्थको ध्यान में रखकर ही कहा जाता है। इसमें अत्युक्ति कहाँ है यह हम अभी तक नहीं समझ पाये। यदि कोई कार्योत्पत्तिके समय 'जो बलाधानमें निमित्त होता है वह कर्ता' इस प्रकार बाह्य निमित्तमें कर्तृत्वका उपचार करके बाह्य निमित्तको कर्ता कहना चाहता है, जैसा कि अनेक स्थलों पर शास्त्रकारोंने उपचारसे कहा भी है तो उसका कोई निषेध भी नहीं करता। कार्योत्पत्तिमें अन्य द्रव्य बाह्य निमित्त है इसे तो किसीने अस्वीकार किया नहीं। इतना अवश्य है कि मोक्षमार्गमें स्वावलम्बनकी मुख्यता होनेसे कार्योत्पादन क्षम अपनी योग्यताके साथ पुरुषार्थको ही प्रश्रय दिया गया है और प्रत्येक भव्य जीवको उसी अनुपचरित अर्थको समझ लेनेका मुख्यतासे उपदेश दिया जाता है। क्या यह सच नहीं है कि अपने त्रिकाली आत्मस्वरूपको भूलकर अपने विकल्प द्वारा मात्र बाह्य निमित्त-

का अवलम्बन हम अनन्त कालसे करते आ रहे हैं पर अभी तक इष्ट-फल निष्पन्न नहीं हुआ और क्या यह सच नहीं है कि एक वार भी यदि यह जीव भीतरसे परका अवलम्बन छोड़कर श्रद्धा, ज्ञान, और चर्याके मूल कारण अपने आत्माका अवलम्बन स्वीकार कर ले तो उसे संसारसे पार होनेमें देर न लगे। वाह्य-आभ्यन्तर कार्य-कारणपरम्पराका ज्ञान कार्यरूपसे तत्त्वनिर्णयके लिए होता है, आश्रयके लिए नहीं। आश्रय तो परनिरपेक्ष त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप अपने आत्मा का ही करना होगा। इसके विना संसारका अन्त होना दुर्लभ है। वहुत कहाँ तक लिखें।

११. उपसंहार

इस प्रकरणका सार यह है कि प्रत्येक कार्य अपने स्वकालमें ही होता है, इसलिए प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें क्रमनियमित हैं। एकके वाद एक अपने अपने स्वकालमें निश्चय उपादानके अनुसार होती रहती हैं। यहाँ पर 'क्रम' शब्द पर्यायोंकी क्रमाभिव्यक्तिको दिखलानेके लिए स्वीकार किया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्यायका स्वकाल अपने अपने निश्चय उपादानके अनुसार नियमित है यह दिखलानेके लिए दिया गया है। वर्तमानकालमें जिस अर्थको 'क्रमवद्धपर्याय' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'क्रमनियमितपर्याय' का वही अर्थ है ऐसा स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं। मात्र प्रत्येक पर्याय दूसरी पर्यायसे वंधी हुई न होकर अपनेमें स्वतन्त्र है यह दिखलानेके लिए यहाँपर हमने 'क्रमनियमित' शब्दका प्रयोग किया है। आचार्य अमृतचन्द्रने समयप्राभृत गाथा ३०८ आदिकी टीकामें 'क्रमनियमित' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें किया है, क्योंकि वह प्रकरण सर्वविशुद्धज्ञानका है। सर्वविशुद्धज्ञान कैसे प्रगट होता है यह दिखलानेके लिए समयप्राभृतकी गाथा ३०८ से ३११ तककी टीकामें मीमांसा करते हुए आत्मा कर्म आदि पर द्रव्योंके कार्यका अकर्ता है यह सिद्ध किया गया है. क्योंकि अज्ञानी जीव अनादिकालसे अपनेको परका कर्ता मानता आ रहा है। यह कर्तापनका भाव कैसे दूर हो यह उन गाथाओंमें वतलानेका प्रयोजन है। जव इस जीवको यह निश्चय होता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने क्रमनियमितपनेसे परिणमता है इसलिए परका तो कुछ भी करनेका मुझमें अधिकार है नहीं, मेरी पर्यायोंमें भी मैं कुछ फेरफार कर सकता हूँ यह विकल्प भी गमन करने योग्य है। तभी यह जीव निज आत्माके स्वभावसन्मुख होकर ज्ञाता द्रष्टारूपसे परिणमन करता हुआ निजको परका अकर्ता वस्तुता स्वीकार

करता है और तभी उसने 'क्रमनियमित' के सिद्धान्तको परमार्थरूपसे स्वीकार किया यह कहा जा सकता है। 'क्रमनियमित' का सिद्धान्त स्वयं अपनेमें मौलिक होकर आत्माके परसम्बन्धी अकर्तापनको सिद्ध करता है। प्रकृतमें अकर्ताका फलितार्थ ही ज्ञाता-दृष्टा है। आत्मा पर-का अकर्ता होकर ज्ञाता दृष्टा तभी हो सकता है जब वह भीतरसे 'क्रम-नियमित' के सिद्धान्तको स्वीकार कर लेता है, इसलिए मोक्षमार्गमें इस सिद्धान्तका बहुत बड़ा स्थान है ऐसा प्रकृतमें जानना चाहिए। इस विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथाओंकी टीका करते हुए कहते हैं—

जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः काञ्चनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमनस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्धयति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्। तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्यचति। तदसिद्धौ च कर्तृ-कर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वाद् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्धयति, अतो जीवोऽकर्ताऽवतिष्ठते ॥३०८–३११॥

प्रथम तो जीव क्रमनियमित अपने परिणामों (पर्यायों) से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं, इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं, क्योंकि जैसे सुवर्णका कंकण आदि परिणामोंके साथ तादात्म्य है वैसे ही सब द्रव्योंका अपने अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है। इस प्रकार जीव अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है, अतः उसका अजीवके साथ कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सब द्रव्योंका अन्य द्रव्योंके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है और एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध न होनेपर अजीव जीवका कर्म है यह सिद्ध नहीं होता और अजीवके जीवका कर्मत्व सिद्ध न होने पर कर्ता-कर्म परनिर-पेक्ष सिद्ध होता है और कर्ता-कर्मके निरपेक्ष सिद्ध होनेसे जीव अजीवका कर्ता सिद्ध नहीं होता, इसलिए जीव अकर्ता है यह व्यवस्था बन जाती है।

इस उद्धरणमें यह सिद्ध करके बतलाया गया है कि प्रत्येक द्रव्यकी प्रत्येक पर्याय क्रमनियमितरूपसे उसकी उत्पाद्य होती है और वह द्रव्य

उसी विधिसे उसका उत्पादक होता है। यह उत्पाद्य-उत्पादकभाव ही वस्तुतः कारण-कार्यभाव है। इसके सिवाय अन्य सब उपचरित कथन मात्र है जो उक्त प्रकारके निश्चयकी सिद्धिके लिये किया जाता है।

इस प्रकार जीवनमें 'क्रमनियमितपर्याय' के सिद्धान्तको स्वीकार करनेका क्या महत्त्व है और उसकी सिद्धि किस प्रकार होती है इसकी मीमांसा की।

●

सम्यक् नियतिस्वरूपमीमांसा

उपादान निज गुण कहा 'नियति' स्वलक्षणद्रव्य ।
ऐसी श्रद्धा जो गहै जानो उसको भव्य ॥

१. उपोद्घात

अब प्रश्न यह है कि आत्मा परमार्थसे परका अकर्ता होकर ज्ञाता-द्रष्टा बना रहे इस तथ्यको फलित करनेके लिये 'क्रमनियमित पर्याय' का सिद्धान्त तो स्वीकार किया पर उसे स्वीकार करनेपर जो नियति-वादका प्रसंग उपस्थित होता है उसका परिहार कैसे होगा। यदि कहा जाय कि नियतिवादका प्रसंग आता है तो भले ही आओ, मात्र इस भयसे 'क्रमनियमित पर्याय' के सिद्धान्तका त्याग थोड़े ही किया जा सकता है तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रकारोंने नियतिवादको एकान्तमें सम्मिलितकर उसका निषेध ही किया है। इसका समर्थन गोम्मटसार कर्मकाण्डके इस वचनसे भी होता है—

जत्तु जहा जेण जस्स य णियमेण होदि तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

जो जब जिस रूपसे जिस प्रकार जिसके नियमसे होता है वह उस रूपसे उसके होता ही है इस प्रकार जो वाद है वह नियतिवाद है ॥८८२॥

यह एकान्त नियतिवादका अर्थ है।

इस प्रकार एकान्त नियतिवादका भय दिखलाकर जो महाशय 'क्रमनियमित पर्याय' के सिद्धान्तकी अवहेलना करते हैं उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिन एकान्त मतवालोंने सर्वथा नियतिवादको स्वीकार किया है वे न तो परमार्थस्वरूप कार्य-कारण परम्पराको ही स्वीकार करते हैं और न तदनुषंगी उपचरित कार्य-कारण परम्पराको ही स्वीकार करते हैं। और यह हमारा कोरा कथन नहीं है, किन्तु वर्तमानकालमें इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला जो भी साहित्य उपलब्ध होता है उससे इसका समर्थन होता है।

तीर्थंकर भगवान् महावीरके कालमें भी ऐसे अनेक मत प्रचलित थे जो ऐसे अनेक एकान्त मतोंका समर्थन करते थे। ऐसे कई मतोंका

उल्लेख गोम्मटसार कर्मकाण्डमें भी दृष्टिगोचर होता है। वे हैं एकान्त-कालवाद, एकान्त ईश्वरवाद, एकान्त आत्मवाद, एकान्त नियतिवाद और एकान्त स्वभाववाद। इसके लिए देखिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८७९ से ८८३ तक। अब विचार कीजिये कि जैनदर्शन इनमेंसे कारणरूपसे किसे नहीं स्वीकारता, अपि तो वह किसी न किसी रूपमें सभीको कारणरूपसे स्वीकार करता है, क्योंकि वह कार्यके प्रति काल-को भी कारण मानता है, ईश्वरके स्थानमें अनुकूल वाह्य सामग्रीको भी कारण मानता है। आत्माके स्थानपर जीवादि प्रत्येक द्रव्यसामान्य-को भी कारणरूपसे स्वीकार करता है। नियतिके स्थान क्रमनियमित प्रत्येक उपादानको भी कारणरूपसे स्वीकार करता है[1] और स्वभावको भी कारणरूपसे स्वीकार करता है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर पण्डित प्रवर वनारसीदासजीने 'पदस्वभाव पूरब उदय' इत्यादि दोहा लिपिबद्ध किया है। और साथ ही यह सूचना भी की है कि इनमेंसे मात्र किसी एकको कारण मानना मिथ्यात्व (अज्ञान) है। मोक्षमार्गी तो सबमें कारणता स्वीकार करता है। यह दूसरी वात है कि इनमेंसे कौन कारण कार्यरूप वस्तुका अंग होनेसे परमार्थस्वरूप हैं और कौन वास्तविक कारण न होनेसे वाह्य-व्याप्तिवश स्वीकार किया गया है।

हम देखते हैं कि लोकमें यथा प्रयोजन किसी एकको मुख्य कर कथन करने और उसके अतिरिक्त सबको गौण कर देनेकी पद्धति है। जैसे किसानोंको खेतीमें सफलता मिलने पर कोई ईश्वरको धन्यवाद देता है, कोई अपने परिश्रमको और कोई भाग्यको। विचार कर देखा जाय तो प्रयत्नपूर्वक खेत भी जुता हुआ था, उसमें खात भी पड़ा था, वीज भी पुष्ट था ऋतु भी अनुकूल थी और किसानने परिश्रम भी खूब किया था। इस प्रकार बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रता थी पर किसी एकको मुख्यकर और शेषको गौण कर यह कहा जाता है कि भाई! तुमने खूब परिश्रम किया इसका यह फल है आदि।

यह गौण-मुख्य रूपसे कथन करनेकी पद्धति आगममें भी स्वीकार की गई है। कर्मकी अपेक्षा जब कथन किया जाता है तव यह कहा जाता है कि दर्शनमोहनीय कर्मके उपशमसे उपशम सम्यग्दर्शन होता है, मनुष्यायुके उदयसे मनुष्य पर्याय मिलती है आदि। विचार कर देखा

---

१. आत्माके स्थानमें पुरुपार्थ और नियतिके स्थानमें निश्चय उपादान अर्थ जैन-दर्शनमें गृहीत हैं।

जाय तो यहाँ अन्य सब कारणोंको गौण कर कर्मकी मुख्यतासे कथन किया गया है। यह कथन करनेकी शैली है, इसलिये हम इसे एकान्त-परक कथन नहीं मानते, उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। इसके विप-रीत यदि कोई यह मान कर चलता है कि इस जीवने मात्र कर्मके उप-शमसे उपशम सम्यग्दर्शनको प्राप्त किया है, इसमें अन्य कोई कारण नहीं है तो वह अवश्य ही अज्ञानभाजन बन जायगा।

इस प्रकार विवेकसे विचार करने पर यह निश्चित होता है कि प्रत्येक कार्य जब सब कारणोंकी समग्रतामें होता है तब उसका नियति-रूप निश्चय उपादान कारण भी स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है और इस प्रकार जैनदर्शनमें कार्य-कारण परम्पराकी अपेक्षा, कारण-रूपसे सम्यक् नियतिको भी स्थान मिल जाता है। इसे और अधिक व्यापकरूपसे देखा जाय तो मालूम पड़ता है कि ऐसा वस्तुस्वभाव नियत है कि जो भव्य हैं वे ही मोक्षके पात्र होंगे। हुए या होते हैं, अभव्य नहीं। यह भी वस्तुका स्वभाव नियत है कि किसी भी द्रव्यका विवक्षित कार्य विवक्षित निश्चय उपादानकी भूमिका पर पहुँचने पर ही होता है, अन्य निश्चय उपादानके होनेपर नहीं। जैसे जो जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व-को उत्पन्न करता है वह जब अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें निश्चय उपादानकी भूमिकामें पहुँचता है तभी उसको वास्तवमें प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। उसमें भी उसे तद्योग्य आत्माके सन्मुख पुरुषार्थ करने पर ही यह भूमिका मिलती है, अन्य वाह्य पदार्थोंको कारण मानकर उनमें उपयोगके भ्रमानेसे नहीं। इससे हमें यह मालूम पड़ जाता है कि किस कार्यके होनेकी नियत व्यवस्था क्या है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शनने कार्य-कारण परम्पराको स्वीकार करके उसके अंगरूपमें सम्यक् नियतिको भी स्थान दिया है। इससे इतना अवश्य ही निश्चित होता है कि उसे एकान्तसे नियतिवाद स्वीकार नहीं है। एक नियतिवाद ही क्या उसे कालवाद, पुरुषार्थवाद, स्वभाववाद और ईश्वर (वाह्य कारण) वाद यह कोई भी वाद एकान्त-से स्वीकार नहीं है, क्योंकि वह आत्माके प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, वाह्य संयोग और नियति (निश्चय उपादान) इन सबकी यथासंभव निश्चय-व्यवहाररूप कारणता स्वीकार करता है। इसलिये उसने जहाँ एकान्तसे नियतिवादका निषेध किया है वहाँ उसने एकान्तसे माने गये इन सब वादोंका भी निषेध किया है। फलस्वरूप यदि कोई

महाशय कर्मकाण्डकी पूर्वोक्त गाथा परसे यह अर्थ निकाले कि जैन-दर्शनमें सम्यक् नियति (निश्चय उपादान) को रंचमात्र भी स्थान नहीं है तो उसका उस परसे यह अर्थ फलित करना अज्ञान ही कहा जायगा, क्योंकि कार्य-कारण परम्परामें उपादान-उपादेयके अविनाभावको स्वीकार करनेसे तो सम्यक् नियतिका समर्थन होता ही है। साथ ही जैनदर्शनमें ऐसी व्यवस्थाएँ भी स्वीकार की गई हैं जिनसे स्पष्टतः सम्यक् नियतिका समर्थन होता है। यथा—

द्रव्योंकी अपेक्षा—सामान्यसे सब द्रव्य छह हैं। विशेषकी अपेक्षा जीव द्रव्य अनन्त है, पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, काल द्रव्य असंख्यात हैं तथा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं। ये सब द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायोंमें नियत हैं। किसी भी द्रव्यके गुण-पर्याय किसी दूसरे द्रव्यके नहीं होते। ये उत्पाद-व्यय स्वभाववाले होकर भी इनकी संख्यामें वृद्धिहानि नहीं होती। सदा अन्वयकी अपेक्षा ध्रुवस्वभाव-को लिये हुए बने रहते हैं। ये सब द्रव्य एक साथ रहते हैं पर कोई भी द्रव्य अपना स्व' दूसरेको समर्पण नहीं करता और न ही दूसरेके 'स्व' को स्वीकार ही करता है। इसीलिये आगममें वस्तुका वस्तुत्व बतलाते हुए कहा गया है कि 'स्व'का उपादान और 'पर' का अपोहन करके रहना ही वस्तुका वस्तुत्व है। द्रव्य कहो या वस्तु कहो दोनोंका अर्थ एक ही है। प्रत्येक द्रव्यके अनन्तगुण और कालद्रव्यके समयोंके बराबर अनन्त पर्यायें हैं।

क्षेत्रकी अपेक्षा–आकाशके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है और लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश है। ऐसा स्वयंसिद्ध नियम है कि छहों द्रव्य लोकाकाशमें ही स्वयं अवस्थित रहते हैं। इन्हें किसीने लाकर यहाँ रखा हो या धर्म-अधर्म द्रव्यने उन्हें कैदकर रखा हो ऐसा नहीं है।

लोकाकाश अखण्ड एक होकर भी प्रयोजन विशेषसे उसके तीन भेद किये जाते है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। स्वभावतः वैमानिक देव और सिद्धोंके सदाकाल रहनेरूप क्षेत्रको ऊर्ध्वलोक कहते हैं। ऐसा स्वभावसिद्ध नियम है कि यहाँ एकेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति तो होती है, पर अन्य द्वीन्द्रियादि जीव त्रिकालमें नहीं पाये जाते। चित्रा पृथिवीसे लेकर ऋजु विमानके अधोभाग तक मध्य लोक है। यहाँ एकेन्द्रिय जीव तो पाये ही जाते हैं, अन्य द्वीन्द्रिय आदि जीव भी पाये जाते

हैं। मनुष्योंका क्षेत्र ढाई द्वीप और दो समुद्र है। इस मर्यादाको उल्लंघन करनेमें वे असमर्थ हैं। देव भी उन्हें मानषोत्तर पर्वतसे उस भागमें ले जानेमें असमर्थ हैं। वैमानिक देव भवनवासी और ज्योतिषी देव प्रयोजन विशेषसे यहाँ आते अवश्य हैं पर यहाँ उनकी उत्पत्ति नहीं होती। सो क्यों, क्योंकि ऐसा स्वभावसिद्ध नियम है। चित्रा पृथिवीके नीचेका भाग अधोलोक कहलाता है। इसमें मुख्यतया नारकियोंकी उत्पत्ति होती है और वे वहीं रहते भी हैं। उस क्षेत्रको छोड़कर उनका वाहर गमना-गमन होना सम्भव नहीं है यह भी स्वयंसिद्ध नियम है। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। उनमें जहाँ कर्मभूमि या भोग-भूमि या दोनोंका जो क्रम नियत है उसमें कभी भी व्यतिक्रम होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार क्षेत्रकी अपेक्षा हम विचार करते हैं तो जहाँ जो व्यवस्था है वह अपरिवर्तनीय है। लोकमें कोई ऐसी बाह्य सामग्री नहीं पाई जाती जो इस क्रमको भंग करनेमें समर्थ होती हो। क्षेत्रकी अपेक्षा सब व्यवस्थायें सुनिश्चित हैं।

कालकी अपेक्षा—ऊर्ध्वलोक और अधोलोकमें तथा मध्यलोकके भोगभूमिसम्बन्धी क्षेत्रोंमें इसी प्रकार स्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्ध और स्वयंरमण समुद्रमें तथा विदेह क्षेत्रमें जहाँ जिस कालकी व्यवस्था है वहाँ अनादि कालसे उसी कालकी प्रवृत्ति होती आ रही है और अनन्त काल तक उसी कालकी प्रवृत्ति होती रहेगी। इसके सिवा कर्मभूमिसम्बन्धी जो भरत-ऐरावत क्षेत्र बचता है उसमें कल्पकालके अनुसार निरन्तर और नियमितरूपसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकी प्रवृत्ति होती रहती है। मात्र हुण्डावसर्पिणी इसका अपवाद है सो इसका भी नियम है कि कितने काल बाद यह काल आता है। अनियम कुछ भी नहीं है।

एक कल्पकाल २० कोड़ा-कोड़ी सागरोपमका होता है। उसमेंसे दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल उत्सर्पिणीके लिये और इतना ही काल अवसर्पिणीके लिये सुनिश्चित है। उसमें भी ये प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी छह-छह कालोंमें विभक्त हैं। उसमें भी जिस लिये जो काल नियत है उसके पूरा होनेपर स्वभावतः उसके बादके कालका प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ अवसर्पिणी कालमें जीवोंकी आयु और काय ह्रासोन्मुख होते हैं तथा उनके जब जितने बाह्य निमित्त कर्म और नोकर्म होते हैं वे भी ह्रासोन्मुख पर्यायोंके होनेमें बाह्य निमित्त होते हैं। किन्तु अवसर्पिणीकालका अन्त होकर उत्सर्पिणीकालके प्रथम

समयसे यह स्थिति स्वयं बदल जाती है। तब कर्म और नोकर्म उसी प्रकारके जीवोंके परिणमनमें बाह्य निमित्त होने लगते हैं। विचार तो कीजिये कि जो औदारिक शरीर नामकर्म उत्तम भोगभूमिमें वहाँ प्राप्त होनेवाले शरीरके होनेमें बाह्य निमित्त होता है वही औदारिक शरीर नामकर्म कर्मभूमिके अन्तिम कालमें वहाँ प्राप्त होनेवाले शरीरके होनेमें भी बाह्य निमित्त होता है। दोनोंका अनुभाग एक समान होते हुए भी ऐसा भेद क्यों पड़ता है ? विचार कोजिये ? यदि कहा जाय कि काल-भेदसे ऐसा होता है तो कालमें अन्य द्रव्यके कार्यका कर्तृत्व स्वीकार करना पड़ेगा जो युक्तियुक्त नहीं है। अतः यही मानना पड़ता है कि प्रत्येक द्रव्यका ऐसा स्वभाव है कि अपने प्रति समयके नियत उपादानके अनुसार वह भिन्न-भिन्न प्रकारसे परिणमन करता है, अतः यह स्वीकार कर लेना ही आगम सम्मत प्रतीत होता है कि मात्र बाह्य व्याप्तिवश ही बाह्य सामग्रीमें कारणता स्वीकार की गई है।

इसी प्रकार इन कालोंकी अन्तर्व्यवस्था पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होता है कि उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें और अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमें चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र, ग्यारह रुद्र और चौबीस कामदेवोंका उत्पन्न होना सुनिश्चित है। नियमानुसार होनेवाले ये पद कभी अधिक और कभी कम क्यों नहीं होते, विचार कीजिये। कर्मभूमिमें आयुकर्मका बन्ध किसीके आठों अपकर्षकालोंमें और किसीके सात आदि अपकर्ष कालोंमें या मरणके अन्तर्मुहूर्त पहले ही क्यों होता है। इसके बन्धके योग्य परिणाम उसी समय होते हैं सो क्यों, विचार कीजिये। आयुबन्धके बाद भुज्यमान आयु जितनी शेष रहती है उसका पूरा भोग होकर ही जीवका परभव गमन होता है सो क्यों, विष, शस्त्रादिके बलसे इसमें फेर-फार क्यों नहीं होता, विचार कीजिये। जो इस व्यवस्थाके भीतर कारण अन्तर्निहित है उसे ध्यानमें लीजिये। छह माह आठ समयमें छह सौ आठ जीव नियमसे मोक्ष जाते हैं और उतने ही जीव नित्य निगोदसे निकलकर व्यवहार राशिमें आते है सो क्यों, विचार कीजिये। क्या इससे वस्तुस्वभावके ऊपर सुन्दर प्रकाश नहीं पड़ता। विकल्पके अनुसार कुछ भी बोलना और लिखना और बात है। यदि मिथ्या श्रुतज्ञानके बलसे होनेवाले विकल्पके अनुसार वस्तुका परिणमन मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य सामग्रीके बलसे अभव्य भी भव्य

वन जाते हैं आदि, क्योंकि जव प्रत्येक कार्यमें निश्चय उपादानकी मुख्यता न रहकर वाह्य सामग्रीकी मुख्यता मान ली जाती है तव यह मान लेनेमें आपत्ति ही क्या हो सकती है, इसलिये इस आपत्तिसे वचनेके लिये आगमकी साक्षीमें यही स्वीकार कर लेना ही उचित प्रतीत होता है कि तीनों कालोंकी पर्यायें अपने निश्चय उपादानके अनुसार क्रमनियमित ही होती हैं। यही कालनियम है और इसीलिये प्रत्येक कार्यमें कालकी निमित्तता स्वीकार की गई है।

भावकी-अपेक्षा—कषायस्थान और अनुभागस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं तथा योगस्थान जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। ये न्यूनाधिक नहीं होते। स्थूलरूपसे सव लेश्याएँ छह हैं। उनके अवान्तर भेदोंका प्रमाण भी सुनिश्चित है। देवलोकमें तीन शुभ लेश्याएं और नरक लोकमें तीन अशुभ लेश्याएं ही होती हैं। उसमें भी प्रत्येक देवलोककी और प्रत्येक नरकलोककी लेश्या सुनिश्चित है। यह भी नियम है कि मनुष्य या तिर्यञ्च जिस स्वर्ग या नरकमें जाता है उसकी मरणके अन्तर्मुहूर्त पहले वह लेश्या नियमसे हो जाती है। ऐसा क्यों होता है ? वाह्य सामग्रीके वलसे उसमें फेर-फार क्यों नहीं हो पाता, विचार कीजिये। यदि किसी तिर्यञ्च या मनुष्यने देवायुका वन्ध किया हो और मरणके समय वह अशुभ लेश्यामें मरे तो वह भवनत्रिकमें ही उत्पन्न होता है, सो क्यों ? विचार कीजिये। इसी प्रकार भोगभूमिके मनुष्यों और तिर्यंचोंमें भी लेश्याका नियम है। कर्मभूमिमें और एकेन्द्रियादि जीवोंमें यथासम्भव लेश्या परिवर्तन होता है अवश्य, पर वह नियत क्रमसे ही होता है, सो क्यों ? विचार कीजिये।

गुणस्थानोंमें भी परिणामोंका उतार-चढ़ाव शास्त्रोक्त नियत क्रमसे ही होता है। अधःकरण आदि परिणामोंका क्रम नियत है। तथा उसमें किस परिणामके सद्भावमें क्या कार्य होता है यह भी नियत है। एक सप्तम नरकका नारकी और एक नौवें ग्रैवेयकका देव ये दोनों जव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं तव इनके लेश्याभेद, गतिभेद आदि होनेपर भी अधःकरण आदि परिणामोंकी जातिमें अन्तर नहीं होता। कोई इसका अन्तरंग कारण तो होना चाहिये ? विचार कीजिये। उनके सद्भावमें जो कार्य होते हैं वे किसीके हों और किसीके न हों ऐसा न होकर स्थितिवन्धापसरण आदि कार्य सवके होते हैं सो क्यों ? विचार कीजिये। एक गुणितकर्मांशिक जीव है और एक क्षपितकर्मां-

मानना और विभावपर्यायोंके विषयमें अनियमकी बात करना युक्त प्रतीत नहीं होना।

शंका—अनगारधर्मामृतमें विभावका अर्थ निमित्त किया गया है, इसलिये विभावपर्याय और स्वभावपर्यायका यह अर्थ होता है कि जो पर्यायें वाह्य निमित्तोंसे होती हैं वे विभावपर्यायें कहलाती हैं और जो स्वभावसे होती हैं वे स्वभावपर्यायें कहलाती हैं। इस प्रकार उक्त पर्यायोंका यह अर्थ करना ही संगत प्रतीत होता है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि आगममें यह बतलाया गया है कि आकाशके अवगाहनके लिये वहीं स्वयं निमित्त है और कालद्रव्यके परिणमनके लिए भी वही स्वयं निमित्त है। इसके अतिरिक्त लोकमें जीवादि द्रव्योंके अन्य जितने भी कार्य होते हैं उनके कोई न कोई वाह्य निमित्त अवश्य होते हैं, चाहे वे स्वभावपर्यायें ही क्यों न हों। वस्तुतः विभावपर्याय और स्वभावपर्यायि ऐसा भेद होनेका कारण अन्य है। पुद्गल द्रव्यकी तो चाल ही निराली है एक तो वह जड़ है और दूसरे योग्य स्थिति आनेपर उसकी स्वभावपर्याय ही विभावपरिणमनकी कारण होती है आदि। किन्तु जीवद्रव्यकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अव प्रकृतमें विचार यह करना है कि विभाव पर्यायोंको जो बाह्य निमित्तोंसे होना कहा गया है सो वे द्रव्य यदि कर्ता होकर दूसरे द्रव्यका कार्य करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि परिणमन कोई करता है और कार्य कोई दूसरा द्रव्य कहलाता है। किन्तु उन महाशयोंको यदि यह अर्थ मान्य न हो तो फिर वे वाह्य निमित्तोंसे विभावपर्यायका होना क्यों कहते हैं, फिर तो उन्हें यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि वलात् कोई किसीको विभावरूप परिणमाता नहीं है। इससे यह कार्य हुआ यह केवल व्यवहारमात्र है जो वाह्य व्याप्तिको देखकर किया जाता है। और इसी तथ्यको देखकर समयसार गाथा ८० में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का उल्लेखकर ८३ गाथा द्वारा वाह्य निमित्तमें परमार्थसे परके कार्यके कर्तृत्वका निषेध कर दिया गया है।

शंका—यदि यह वात है तो इष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये तद्योग्य सामग्रीका संयोजन क्यों किया जाता है ?

समाधान—वाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें प्रत्येक कार्य होता है इस नियमके अनुसार इष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये प्रत्येक व्यक्ति उसके संयोजनमें प्रयत्नशील होता है। कार्य होता है अपने कालमें स्वयं ही, वाह्य सामग्री तो उसे उत्पन्न करती नहीं। आभ्यन्तर सामग्री

भी जब तक वह स्वयं योग्य भूमिकामें नहीं पहुँचती तव तक वाह्य सामग्रीकी सन्निधि रहनेपर भी वह इष्ट कार्यरूप नहीं परिणमती, इसीलिये कार्य अपने कालमें स्वयं होता है यह कहा गया है। उदाहरणार्थ अनन्तानन्त विस्रसोपचय आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह होकर रहते हैं, परन्तु वे सवके सब एक समयमें कर्मरूप नही परिणमते। जब जिनका कर्मरूप होनेका एक काल होता है तभी वे स्वयं कर्मरूप परिणमते है। जीवके कषाय और योग उनको कर्मरूप नहीं परिणमाते।

शंका—हम यह नहीं कहते कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य करता है, किन्तु हमारा कहना यह है कि एक द्रव्यकी सहायतासे दूसरा द्रव्य अपना कार्य करता है ?

समाधान—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी सहायतासे अपना कार्य करता है इसका अर्थ क्या है ? क्या यह अर्थ है कि जिस प्रकार हरदी और चूना दोनों मिलकर (एक क्षेत्रावगाहरूप होकर) लाल रंगरूप परिणम जाते हैं उसी प्रकार यदि विवक्षित द्रव्य वाह्य निमित्तरूप द्रव्यके साथ मिलकर कार्य करनेवाला मान लिया जाय तो दोनों द्रव्योंको एक प्रकारके परिणामसे परिणत दिखलाई देना चाहिये। और ऐसी अवस्थामें रसोईया और चावल आदि दोनों द्रव्य रसोईरूप परिणम जायेंगे। किन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये यही मानना चाहिये कि जिसे हम वाह्य निमित्त कहते हैं उसके विना ही प्रत्येक द्रव्य उससे पृथक् होकर ही स्वयं अपना कार्य करता है।

शंका—हम बाह्य निमित्तकी सहायताका यह अर्थ करते हैं कि उसके विना दूसरा द्रव्य अपना कार्य करनेमें असमर्थ है ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य बाह्य निमित्तके विना ही स्वयं अपना कार्य करता है। परन्तु त्रैकालिक बाह्य व्याप्तिको देखकर ही दो द्रव्योंमें निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धका व्यवहार किया गया है, इसलिये विवक्षित कार्यके समय उसके साथ अविनाभावको प्राप्त बाह्य निमित्तभूत दूसरा द्रव्य होता ही है, अतः बाह्य निमित्तरूप द्रव्यके विना दूसरा द्रव्य अपना कार्य करनेमें असमर्थ है यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जैसे यह कहा जाता है कि विवक्षित कार्यका बाह्य निमित्त होता है तभी वह कार्य होता है सो उसके स्थानपर हम यह भी कह सकते हैं कि जब विवक्षित कार्य होता है तब उसका बाह्य निमित्त होता ही है, क्योंकि इन दोनोंमें रूप-रसके समान समव्याप्ति है। इसी तथ्यको ध्यानमें

रखकर हरिवंशपुराणमें कहा भी है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥४४-१२॥

आत्मा स्वयं अपना कार्य करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसारमें परिभ्रमण करता है और स्वयं ही राग-द्वेष आदिरूप संसारसे मुक्त होता है ॥४४-१२॥

प्रत्येक वस्तु अपना कार्य वाह्य सामग्रीकी अपेक्षा किये विना ही करता है यह हम पहले ही लिख आये हैं सो इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यके समय वाह्य निमित्तको केवल वाह्य व्याप्तिवश ही स्वीकार किया गया है। वह विवक्षित कार्यमें किसी प्रकारकी सहायता करता है, इसलिये नहीं। जीवकी विभाव पर्याय और स्वभाव पर्याय होनेका यह कारण नहीं है कि जीवकी विभाव पर्याय होते समय परद्रव्य उसमें कुछ करामत कर देता है। करता तो जीव उसे स्वयं ही है। किन्तु जव जीवका परकी ओर झुकावरूप परिणाम होता है तव विभाव पर्याय होती है और जव स्वपरके भेद-विज्ञानके साथ स्वकी ओर झुकाववाला परिणाम होता है तव स्वभाव पर्याय होती है।

३. आगमके प्रकाशमें सम्यक् नियतिका समर्थन

इस प्रकार नियत स्वभावके अन्तर्गत नियत उपादानसे नियत कार्य होनेके कारण द्रव्यादिकी अपेक्षा पूर्वमें कही गई व्यवस्थायें कैसे नियत हैं यह व्यवस्था वन जाती है। आगममें भी ऐसे प्रमाण विपुल मात्रामें उपलब्ध होते हैं जिनसे उक्त तथ्योंके साथ सम्यक् नियतिका स्पष्टरूपसे समर्थन होता है। उदाहरणार्थ द्वादशानुप्रेक्षामें स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णाणं जिणेण णियदं जम्मं अहव मरणं वा ॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥३२२॥

जिस जीवका जिस देश और जिस कालमें जिस विधिसे जन्म अथवा मरण जिनेन्द्रदेवने नियत जाना है ॥३२२॥ उसका उस देश और उस कालमें जन्म अथवा मरण उस विधिसे नियमसे होता है। चाहे इन्द्र हो अथवा स्वयं जिनेन्द्रदेव हों इसे चलायमान कौन कर सकता है, अर्थात् कोई भी इसे चलायमान नहीं कर सकता ॥३२३॥

यहाँ जन्म और मरण ये उपलक्षण वचन हैं। इससे सभी कार्योंका नियत देश और नियत कालमें नियत विधिसे होना निश्चित होता है जो नियत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ प्रत्येक द्रव्यके अपने निश्चय उपादानके अनुसार नियत कार्य होनेका समर्थन करता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिनदेवने जिस कार्यको जिस देश और जिस कालमें जिस विधिसे जाना है कार्य तो उस देश और उस कालमें उसी विधिसे होगा इसमें सन्देह नहीं। परन्तु श्रुतज्ञानकी अपेक्षा विचार करते हैं तो किस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके योगमें कौन कार्य हो यह नियम नहीं किया जा सकता है। इसलिये श्रुतज्ञानकी अपेक्षा कोई कार्य अपने नियत समय पर ही होता है और कोई कार्य नियत समयको छोड़कर आगे-पीछे भी होता है। निश्चय उपादान तो अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिये बाह्य सामग्री जब जैसी मिलती है उसीके अनुसार कार्य होता है।

किन्तु उक्त कथनको देखते हुए ऐसा लगता है कि कार्तिकेय स्वामीके सामने भी ऐसा अनर्गल कथन करनेवाले व्यक्ति रहे हैं। इसीलिए ही ऐसे कथनको लक्ष्य कर स्वामीजीके मुखसे यह गाथा निकली है—

> एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
> सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो शंका करता है वह कुदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) है ॥३२३॥

यह कितनी मार्मिक दो टूक बात कही गई है। केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञान सब द्रव्योंको और उनकी समस्त पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानता है और श्रुतज्ञान उनको परोक्ष जानता है (आप्तमीमांसा १०५ का)। यह श्रुतज्ञानकी मात्र प्रशंसा नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति है। जो केवलज्ञानका अनुसरण करनेवाला न हो वह श्रुतज्ञान ही नहीं, मिथ्या श्रुतज्ञान है। इसलिये श्रुतज्ञान उसी प्रकारसे जानता और मानता है जैसा केवलज्ञानमें झलकता है, प्रकृतमें ऐसा निश्चय करना ही सम्यग्दृष्टिका बाह्य लक्षण है। यदि हम अपने अन्य शास्त्रोंको देखते हैं तो उनसे भी इसी तथ्य पर पहुँचते हैं कि सभी पर्यायें सम्यक् नियतिके पेटमें समाई हुई हैं। पद्मपुराणसे भी इसी तथ्यका

समर्थन होता है। वहाँ कहा गया है—

यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥२९-८३॥

जिस जीवके द्वारा जहाँ जिस कालमें जिस कारणसे जिस परिमाणमें जो प्राप्तव्य है उस जीवके द्वारा वहाँ उस कालमें उस कारणसे उस परिमाणमें वह नियमसे प्राप्त किया जाता है ॥२९-८३॥

यह वस्तु व्यवस्थाका उद्घोषणा करनेवाला वचन है। इस द्वारा नियत बाह्य देश और कालके साथ नियत आभ्यन्तर कारणसे होनेवाली नियत पर्यायके स्वरूपकी मर्यादा बतलाई गयी है। सम्यक् नियतिका कोई महाशय कितना ही निषेध क्यों न करें, तथा कितने ही स्वाध्याय प्रेमियोंको कितने ही महाशय अपने पक्षमें करनेका उपक्रम क्यों न करें, पर इतनेमात्रसे उसका निषेध नहीं हो जायगा। किसीके द्वारा अपने कुतर्कों द्वारा उसका निषेध किये जाने पर भी वह वस्तुका अंग बना ही रहेगा इसमें सन्देह नहीं। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें जहाँ एकान्त नियतिका निषेध किया गया है वहाँ एकान्त पुरुषार्थ आदिका भी निषेध किया गया है। इससे क्या यह माना जा सकता है कि जैनदर्शनमें पुरुषार्थ आदिको यत्किंचित् भी स्थान नहीं है। यदि नहीं तो जैसे प्राणीमात्रके प्रत्येक कार्यमें उनकी इहचेष्टा (पुरुषार्थ) आदिको स्थान प्राप्त है वैसे ही प्रत्येक कार्य (पर्यायकी उत्पत्ति) में पुरुषार्थ आदिके साथ स्वभाव नियतिको भी स्थान प्राप्त है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें पुरुषार्थ आदिके साथ जो नियतिका निषेध किया गया है सो वह एकान्त नियतिका ही निषेध किया गया है, सम्यक् नियतिका नहीं। सर्वथा एक-एक नयकी अपेक्षा जो ३६३ मत बनते हैं उनकी वहाँ विस्तारसे चर्चा करते हुए बतलाया है कि क्रियावादी एकान्तियोंके १८०, अक्रियावादी एकान्तियोंके ८४, अज्ञानी एकान्तियोंके ६७ और एकान्ती वैनयिकोंके ३२ ऐसे कुल मिलाकर ३६३ मत होते हैं। आगे इनका विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है कि—

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥ ८९४ ॥
परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो ॥ ८९५ ॥

जितने वचनपथ हैं उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद

होते हैं उतने ही परसमय (मिथ्या मत) होते हैं (८९४) मिथ्या मतों-के वचन सर्वथा वचनसे युक्त होनेके कारण मिथ्या होते हैं। किन्तु अनेकान्ती जैनोंके वचन कथंचित् वचनसे युक्त होनेके कारण सम्यक् होते हैं ॥ ८९५ ॥

यह जिनागमका निचोड़ है। इससे हम जानते हैं कि जो ३६३ एकान्त मत कहे गये हैं। सापेक्षरूपसे वे सभी मत जैनोंको मान्य है। जैनागममें यदि इन मतोंका निषेध है तो केवल एकान्तसे ही उनका निषेध हैं।

इसी तथ्यको स्वीकार करते हुए आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसामें कहते हैं—

> मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
> निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ १०० ॥

मिथ्या समूह यदि मिथ्या है तो हम स्याद्वादियोंके यहाँ मिथ्या एकान्त नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय वस्तु होते हैं और वे ही कार्यकारी माने गये हैं ॥ १०८ ॥

यह कारिका अर्थगर्भ है। इसमें सम्यक् नय, मिथ्या नय, सम्यक प्रमाण और मिथ्या प्रमाण इन चारोंके स्वरूप पर स्पष्टतः प्रकाश डाला गया है। तत्त्वार्थवार्तिकमें इन चारोंमें क्या अन्तर है इसे स्पष्ट किया गया है। उसके प्रकाशमें इस कारिकाको देखना-समझना चाहिये। वहाँ कहा है—

एकान्त दो प्रकारका है—सम्यक एकान्त और मिथ्या एकान्त। प्रमाण भी दो प्रकारका है—सम्यक अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। हेतु विशेषकी सामर्थ्यकी अपेक्षा करके प्रमाणके द्वारा कहे गये अर्थके एक देशका निर्देश करनेवाला सम्यक एकान्त है। एकान्तके निश्चयपूर्वक अन्य अशेष (धर्मों) के निराकरणमें उद्यत मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगमसे अविरुद्ध अस्ति, नास्ति आदि सप्रतिपक्ष धर्मोका निरूपण करनेवाला सम्यक अनेकान्त है और तत्-अतत्स्वभावरूप वस्तु-से शून्य परिकल्पित अनेकरूप कहनेवाला केवल वचन या जाननेवाला मात्र ज्ञान मिथ्या अनेकान्त है। उसमेंसे सम्यक् एकान्तका नाम नय है और सम्यक् अनेकान्तका नाम प्रमाण है।

यह उक्त चारोंका स्वरूप निर्देश है। इससे हम जानते हैं कि कार्य-

कारण परम्परामें जिन स्वभाव, नियति (निश्चय) वाह्य निमित्त, काल और पुरुषार्थ इन पाँच कारणोंका निर्देश किया जाता है उनका समुच्चय होने पर कार्य नियमसे होता है। उनका समुच्चय हो और कार्य न हो यह भी नहीं है और कार्य हो और उनका समुच्चय न हो यह भी नहीं है। यतः उत्पाद-व्ययरूप पर्याय प्रति समय होती है अतः उनका समुच्चय प्रति समय होता रहता है।

पहले जो हम क्रियावादियोंके १८० भेद वतला आये हैं। उनमेंसे एकान्त नियतिवादियोंके ३६ भेद हैं और इसी प्रकार एकान्त पुरुषार्थ-वादी आदि प्रत्येकके ३६, ३६ भेद हैं। जो इस एकान्त नियतिके अनुसार कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं उन्होंने कार्योंके प्रति अन्य वाह्याभ्यन्तर कारणोंका निषेध किया और इसी प्रकार जो केवल बाह्य निमित्त आदि एक एकसे कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं उन्होंने भी कार्योंके प्रति अन्य कारणोंका निषेध किया, इसलिये ये मिथ्या एकान्ती है। किन्तु जो प्रत्येक कार्यमें इन पाँचोंके समवायको स्वीकार करते हैं वे सम्यक अनेकान्ती हैं। प्रयोजन विशेषसे एक-एक कारणके द्वारा कार्यका कथन करना अन्य वात है। परन्तु प्रत्येक कार्यमें होता है इन पाँचोंका समवाय ही। इतना अवश्य है कि पुरुषार्थका विचार केवल जीवोंकी अपेक्षा ही किया जाता है क्योंकि अजीवोंमें पुरुषार्थका सर्वथा अभाव है। इसलिये अजीवोंके सभी कार्य विस्रसा ही स्वीकार किये गये हैं। दूसरे ईह चेष्टा द्वीन्द्रियादि जीवोंमें ही देखी जाती है, इसलिये उनके सभी कार्योंमें गौण-मुख्य भावसे पुरुषार्थको भी स्वीकार किया है। प्रायोगिक संज्ञा भी इन्हींकी है।

४. उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर जैनधर्ममें एकान्त नियतिवादका निषेध किया गया है वहाँ दूसरी ओर सम्यक् नियतिको स्थान भी मिला हुआ है, इसलिए इसे स्थान देनेसे हमारे पुरुषार्थकी हानि होती है और हमारे समस्त कार्य यन्त्रके समान सुनिश्चित हो जाते हैं यह कहकर सम्यक् नियतिका निषेध करना उचित नहीं है। यहाँ सबसे पहले यह विचार करना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिका पुरुषार्थ क्या है ? हम इसका तो निर्णय करें नहीं और पुरुषार्थकी हानि वतलावें, क्या इसे उचित कहा जा सकता है ? वस्तुतः प्रत्येक चेतन द्रव्य अपने-अपने कार्यके प्रति प्रतिसमय पुरुषार्थ कर रहा है, क्योंकि वह अपने पुरुषार्थसे प्रत्येक समयमें पुराने कार्यका ध्वंस कर नये कार्यका निर्माण

करना है। इसके सिवा कोई भी व्यक्ति अन्य कोई कार्य उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखता हो और अपने पुरुषार्थ द्वारा उसे उत्पन्न करता हो तो ऐसी बात नहीं।

सम्भवतः पुरुषार्थवादियोंका यह कहना हो कि जो यह जीव अपने अज्ञानभावके कारण अनादि कालसे परतन्त्र हो रहा है उसका अन्त करना ही इसका सच्चा पुरुषार्थ है तो इसके लिए रुकावट ही कौन डालता है। किन्तु उसे अपने अज्ञानभावका अन्त स्वयं करना होगा। यह कार्य बाह्य सापेक्ष्य नहीं है। अन्य पर्यायके कालमें यदि वह अज्ञानभावका अन्तकर अपनी इच्छानुसार ज्ञानमय पर्यायको उत्पन्न करना भी चाहे तो इतना स्पष्ट है कि अपने चाहने मात्रसे तो अज्ञान भावका अन्त होकर ज्ञानमय पर्याय उत्पन्न होगी नहीं। न तो कभी ऐसा हुआ और न कभी ऐसा होगा ही, क्योंकि पर्यायकी उत्पत्तिमें जो स्वभाव आदि पाँच कारण बतलाये हैं उनका समवाय होने पर ही कोई भी पर्याय उत्पन्न होती है ऐसा नियम है। इसके साथ यह भी निश्चित है कि इनमेंसे कोई कारण पहले मिलता हो और कोई कारण बादमें यह भी नहीं है, क्योंकि इनका समवाय प्रति समय एक साथ ही होता है और प्रति समय नियमसे कार्य होता है। बाह्य निमित्तकी निमित्तता भी तभी मानी जाती है। इसलिए पुरुषार्थकी हानि बतला कर सम्यक् नियतिका निषेध करना उचित नहीं है।

सम्यक् नियतिका वास्तविक अर्थ है कि बाह्य द्रव्यादिकी नियत अवस्थितिके साथ जो कार्य जिस निश्चय उपादानसे होनेवाला है वह उस स्थितिमें ही होगा अन्य स्थितिमें नहीं होगा। इसमें सम्यक् नियतिकी स्वीकृतिके साथ कार्य-कारण प्रक्रियाको भी स्वीकार कर लिया गया है। जैनधर्ममें जो सम्यक् नियतिको स्वीकार किया गया है वह इसी अर्थमें स्वीकार किया गया है। यहाँ सम्यक् नियतिका अन्य कोई अर्थ नहीं है। इसके स्थानमें यदि कोई चाहे कि जो कार्य जिस निश्चय उपादानसे होनेवाला है उसके स्थानमें अन्य निमित्तसे उस कार्यकी उत्पत्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा की जा सकती है तो उसका ऐसा सोचना भ्रम है। अतएव सम्यक् नियति कोई स्वतन्त्र पदार्थ न होकर पूर्वोक्त विधिसे कार्यकारणपरम्पराका एक अंग है ऐसा श्रद्धान करके ही चलना चाहिए। इतना अवश्य है कि जैन साहित्यमें नियति या नियत शब्द निश्चय, उपादान, योग्यता, नियम और स्वभावके अर्थमें व्यवहृत हुआ

है। उदाहरणार्थ प्रवचनसार गाथा १०१ में आये हुए 'नियत' शब्दका अर्थ आचार्य जयसेनने 'निश्चित' किया है। प्रवचनसार गाथा ४३ में आये हुए 'नियति' शब्दका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रने 'नियम' और आचार्य जयसेनने 'स्वभाव' किया है। तथा प्रवचनसारकी गाथा ४४ में आये हुए 'नियति' शब्दका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रने 'योग्यता' और 'स्वभाव' तथा आचार्य जयसेनने 'स्वभाव' किया है। प्रतिक्रमणभक्तिमें धर्मको नियतिलक्षणवाला बतलाया गया है। धर्मकी विशेषता बतलाते हुए वहाँ पर लिखा है—

इमस्स णिग्गंथस्स पावयणस्स अणुत्तरस्स केवलियस्स केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खमाबलस्स अट्ठारस-सीलसहस्सपरिमंडियस्स चउरासीदिगुणसयसहस्सविहूसियस्स णवबंभचेरगुत्तस्स णियतिलक्खणस्स परिचायफलस्स उवसमपहाणस्स खंतिमग्गदेसियस्स मुत्तिमग्ग-पयासयस्स सिद्धिमग्गपज्जवसाहणस्स....।

यद्यपि आचार्य प्रभाचन्द्रने अपनी टीकामें नियतिका अर्थ विषय-व्यावृत्ति किया है पर उन्होंने जिसे नियति (निश्चय) धर्मकी प्राप्ति हो जाती है वह सुतरां विषयोंसे व्यावृत्त हो जाता है इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ही फलितार्थ रूपमें यह अर्थ किया है, इसलिए प्रकृतमें उससे कोई बाधा नहीं आती।

लगभग इन्हीं विशेषणोंके साथ धर्मका लक्षण करते हुए सर्वार्थसिद्धि (अध्याय ९, सूत्र ७) में भी कहा है—

अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतावलम्बनः।

जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया यह धर्म अहिंसालक्षणवाला है सत्यसे अधिष्ठित है, विनय उसका मूल है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्यसे रक्षित है, उपशमभावकी उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है और परि-ग्रह रहितपना उसका आलम्बन है।

यदि हम हिन्दी पद्यबन्ध ग्रन्थोंका आलोडन करें तो उनमें भी निश्चय अर्थमें 'नियत' या नियति' शब्दकी उपलब्धि हो जाती है। छहढालाकी तृतीय ढालमें 'निश्चय' के अर्थमें 'नियत' शब्द आया है। इसलिए किस कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान कौन है और उसका बाह्य निमित्त कौन है इसकी निश्चिति 'नियति' शब्द द्वारा ध्वनित होकर भी मुख्यार्थकी दृष्टि-से उस द्वारा निश्चय उपादानका ही ग्रहण होता है ऐसा निर्णय करना

ही परमार्थभूत प्रतीत होता है। इन सब तथ्योंको दृष्टिमें रखकर यदि मनुष्यके विवेकमें यह बात आ जाय कि जिस निश्चय उपादानसे जो कार्य होनेवाला है उसे हम अपने तथाकथित प्रयत्न या बाह्य निमित्त द्वारा त्रिकालमें भी नहीं बदल सकते तो उसे 'सम्यक् नियति को स्वीकार करनेमें रंचमात्र भी अड़चन न रहे। समग्र कथनका तात्पर्य यह है कि नियति शब्द द्वारा कोई भी द्रव्य या द्रव्यांश, गुण या गुणांश अन्य हेतुओंसे अन्यथा परिणमन नहीं कर सकता यह सूचित किया गया है। कोई भी कार्य पर्यायार्थिनयकी अपेक्षा स्वयं होकर भी नैगम (व्यवहार) नयकी अपेक्षा अपने निश्चय उपादान और बाह्य निमित्तके बिना अपने आप होता है ऐसा नहीं है। इस प्रकार जैनधर्ममें सम्यक् नियतिका क्या स्थान है और वह किस रूपमें स्वीकार की गयी है इसका सम्यक् विचार किया।

●

निश्चय-व्यवहारमीमांसा

गुण-पर्ययके भेदसे भेदरूप व्यवहार।
द्रव्यदृष्टिसे देखिये एकरूप निरधार ॥
होता परके योगसे असत् रूप व्यवहार।
दृष्टि फिरे निश्चय लखे एकरूप अविकार ॥

१. उपोद्घात

मुख्य सो निश्चय गौणसो व्यवहार इस नियमके अनुसार प्रकृतमें हमें मोक्षमार्गकी दृष्टिसे निश्चय-व्यवहारके निर्णयके साथ उनको विषय करनेवाले नयोंका भी विचार करना है।

२ द्रव्य, गुण, पर्यायनिर्देश

सामान्यसे सब द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। विशेषकी अपेक्षा विचार करनेपर जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर असंख्यात हैं। ये सब द्रव्य स्वतःसिद्ध और अनादि-अनन्त हैं। स्वरूपकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यकी जो मर्यादा है स्वभावसे ही वे उसका उल्लंघनकर अन्यरूप नहीं होते, इसलिये स्वभावसे ही स्वप्रतिष्ठ होनेके कारण वे परनिरपेक्ष होकर ही अवस्थित है। जो जितने और जिस रूपमें हैं वे सदाकाल उतने और उस रूपमें बने रहते हैं। न तो वे अपने त्रिकाली स्वभावको ही बदलते हैं और न ही न्यूनाधिक होते हैं।

३. लक्षणकी दृष्टिसे द्रव्यविचार और उनके भेद

लक्षणकी दृष्टिसे विचार करनेपर जो गुण-पर्यायवाला हो वह द्रव्य है। एक लक्षण तो यह है और दूसरा लक्षण है जो उत्पाद-व्यय-ध्रुव-स्वभाववाला हो वह द्रव्य है। इन दोनों लक्षणों द्वारा द्रव्यके स्वरूप-सामान्य पर प्रकाश पड़ता है, इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उत्पाद-व्यय द्वारा पर्यायकी अभिव्यक्ति होती है और ध्रौव्यद्वारा गुणकी अभिव्यक्ति होती है। गुण अन्वयस्वभाववाले होते हैं, इसलिये उन्हें ध्रुवस्वरूप कहा गया है तथा पर्याय व्यतिरेक स्वभाववाली होती हैं,

इसलिये उन्हें उत्पाद-व्ययरूप कहा गया है। ये दोनों लक्षण प्रत्येक द्रव्य-में घटित होते हैं, इसलिये ये द्रव्यके सामान्य लक्षण हैं। छह द्रव्योंको जो अलग-अलग कहा गया है सो उनके पृथक्-पृथक् लक्षण होनेसे ही पृथक्-पृथक् कहा गया है। जैसे जीवका विशेष लक्षण उपयोग है। यह जिनमें पाया जाता है वे सब जीव कहलाते हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल का विशेष लक्षण है। यह जिनमें पाया जाता है वे सब पुद्गल कहलाते हैं। गतिहेतुत्व धर्मद्रव्यका विशेष लक्षण है। यह जिसमें पाया जाता है वह धर्मद्रव्य कहलाता है। स्थितिहेतुत्व अधर्मद्रव्यका विशेष लक्षण है। यह जिसमें पाया जाता है वह अधर्मद्रव्य कहलाता है। अवगाहनहेतुत्व आकाश द्रव्यका विशेष लक्षण है। यह जिसमें पाया जाता है वह आकाशद्रव्य कहलाता है तथा परिणमनहेतुत्व कालद्रव्यका विशेष लक्षण है। यह जिनमें पाया जाता है वे कालद्रव्य कहलाते हैं। इस प्रकार जातिकी अपेक्षा कुल द्रव्य छह हैं यह सिद्ध होता है।

४. गुणका स्वरूप और भेद

यावद्द्रव्यभावी त्रिकाली शक्ति विशेषका नाम गुण है। प्रत्येक द्रव्य-में ये अनन्त होते हैं। कहीं-कहीं इन्हें शक्तिशब्द द्वारा भी अभिहित किया गया है। समानजातीय द्रव्योंमें गुण समान होते हैं और भिन्न जातीय द्रव्योंमें ये समान भी होते हैं और भिन्न भी होते हैं।

५ पर्यायका स्वरूप

पर्यायकी दृष्टिसे विचार करने पर यावद्द्रव्यभावी प्रति समय अन्य-अन्य होनेवाली अवस्थाका नाम पर्याय है। द्रव्यपर्याय और गुणपर्यायके भेदसे पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं। इन्हें क्रमशः व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय भी कहते हैं। ये दोनों प्रत्येक विभावपर्याय और स्वभाव-पर्यायके भेदसे दो-दो प्रकारकी होती हैं। विभावपर्यायको संयोगीपर्याय और स्वभावपर्यायको असंयोगीपर्याय भी कहते हैं। संयोगीपर्यायें मात्र संसारी जीवों और पुद्गल स्कन्धोंमें ही होती हैं। जीवोंकी अपेक्षा जो आत्मीय पदार्थ नहीं हैं अहंकार और ममकाररूपसे उनमें आत्मभावका होना संयोग है। जैसे-जैसे यह भाव विलयको प्राप्त होता जाता है वैसे-वैसे जीवोंके स्वभाव पर्यायोंका उदय होने लग कर वह सब प्रकारके संयोग-से क्रमशः मुक्त होता जाता है। पुद्गलोंमें स्पर्शगुणकी विशेष पर्याय ही संयोग है। जीवोंमें अपना अपराध ही संयोगका हेतु है तथा पुद्गलोंमें स्पर्शगुणकी विशेष पर्याय ही संयोगका हेतु है। जीवमें कोई दूसरा द्रव्य

विकारको उत्पन्न कर उनकी पर्यायोंको विकारी बनाता हो ऐसा नहीं है। अपने त्रिकाली स्वभावको विस्मृत करने पर उनका उदय होता है इसलिये उन्हें विभावपर्याय या विकारीपर्याय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवका जानना-देखना स्वभाव है। इसको गौणकर जब जीव परमें ममकार और अहंकार करता है तव इसने अपने स्वभावके विरुद्ध परिणमन किया, इसलिये ऐसे परिणमनको ही विभावपर्याय या विकारीपर्याय शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। मोक्षमार्गकी दृष्टिसे अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावको लक्ष्यमें लेनेका प्रमुखतासे जो उपदेश दिया जाता है वह इसीलिये दिया जाता है।

६. प्रमाण-नयस्वरूप निर्देश

संक्षेपमें यह ज्ञेयतत्त्व मीमांसा है। जो ज्ञान न्यूनता और अधिकतासे रहित होकर संशय, विपर्यय और अनध्यवसायके बिना यथावस्थित पदार्थको उसी रूपमें जानता है वह सम्यग्ज्ञान है। दर्शनशास्त्रमें ऐसे ज्ञानको 'प्रमाण' ज्ञान संज्ञा दी गई है। प्रकृतमें सम्यग्ज्ञान दर्पण स्थानीय है। अविकल स्वच्छ दर्पणमें जो पदार्थ जिसरूपमें अवस्थित होता हैं वह उसी रूपमें प्रतिविम्वित होता है। यही सम्यग्ज्ञानकी स्थिति है। जिस प्रकार अपनी वनावटमें ठीक स्वच्छ दर्पणमें समग्र वस्तु अखण्डभावसे प्रतिविम्वित होती है उसी प्रकार प्रमाणज्ञानमें भी समग्र वस्तु गुण-पर्यायका भेद किये विना अखण्डरूपसे विषयभावको प्राप्त होती है। इसका भाव यह नहीं है कि प्रमाणज्ञान गुणों और पर्यायोंको नहीं जानता। जानता अवश्य है, परन्तु वह इन सहित समग्र वस्तुको गौण-मुख्यका भेद किये विना युगपत् जानता है।

इसके आश्रयसे जव किसी एक वस्तुका किसी एक धर्मकी मुख्यतासे प्रतिपादन किया जाता है तव उसमें अशेष धर्म अभेदवृत्ति या अभेदोपचारसे अन्तर्निहित समझे जाते हैं। इसलिये प्रमाण सप्तभंगीमें प्रत्येक भंग अशेष वस्तुका कथन करनेवाला स्वीकार किया गया है। यह तो प्रमाणज्ञान और उसके आधारसे होनेवाले वचन व्यवहारकी स्थिति है।

अव थोड़ा नयदृष्टिसे इसका विचार कीजिये। यों तो सम्यग्दर्शन आदिके सद्भावमें जितना भी क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञान होता है वह सव प्रमाणज्ञान ही है, क्योंकि उसमें विकल्प द्वारा भेदादि द्वारा वस्तुका निर्णय करना मुख्य नहीं है। किन्तु प्रमाणज्ञानका श्रुतज्ञान एक ऐसा भेद है जो श्रुतज्ञानके विषयभूत अर्थको ग्रहण करनेवाले

मनकी मुख्यतासे प्रवृत्त होता है। अतएव विकल्पात्मक होनेसे वह (श्रुतज्ञान) प्रमाण और नय उभयरूप होता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धिमें कहा भी है—

तत्र प्रमाणं द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः॥ अ० १, सू० ६।

प्रकृतमें प्रमाण दो प्रकारका है—स्वार्थ प्रमाण और परार्थ प्रमाण। श्रुतको छोड़कर शेष सब ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका है। ज्ञानात्मक स्वार्थ प्रमाण है और वचनात्मक परार्थ प्रमाण है। अ० १, सू० ६।

तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों स्वार्थप्रमाण हैं, क्योंकि ये परनिरपेक्ष होकर समग्ररूपसे अपने विषयको ग्रहण करते हैं। इनके अतिरिक्त जो मतिज्ञान है वह यद्यपि इन्द्रिय और मनको निमित्तकर होता है फिर भी वह अपने विषयको भेद किये विना समग्रभावसे ग्रहण करता है, इसलिये वह भी स्वार्थ-प्रमाण है। अब रहा श्रुतज्ञान सो वह विकल्पधाराके उभयात्मक होनेसे दोनोंरूप माना गया है। श्रुतज्ञानमें मनका जो विकल्प अखण्डभावसे वस्तुको स्वीकार करता है वह प्रमाणज्ञान है और जो विकल्प वस्तुको एक धर्मकी मुख्यतासे ग्रहण करता है वह नयज्ञान है। सम्यक् श्रुतका भेद होनेसे नयज्ञान भी उतना ही प्रमाण है जितना कि प्रमाणज्ञान। फिर भी शास्त्रकारोंने इसे जो अलगसे परिगणित किया है उसका कारण विवक्षाविशेषको दिखलाना मात्र है। जो ज्ञान समग्र वस्तुको अखण्ड-भावसे स्वीकार करता है उसकी उन्होंने प्रमाणसंज्ञा रखी है और जोज्ञान समग्र वस्तुके विवक्षित धर्मको मुख्यकर ग्रहण करता है उसकी नयसंज्ञा रखी है। सम्यग्ज्ञानके प्रमाण और नय ऐसे दो भेद करनेके यही कारण हैं। किन्तु इन भेदोंको देखकर यदि कोई सर्वथा यह समझे कि सम्यग्ज्ञान-के भेद होकर भी प्रमाणज्ञान यथार्थ है नयज्ञान नहीं तो उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि नयज्ञान भी संशय, विपर्यय और अनध्य-वसायके विना प्रकृत वस्तुको ही उसीरूपमें विषय करता है। तात्पर्य यह है कि नयज्ञानका प्रयोजन भी धर्मविशेषके द्वारा यथावस्थित वस्तु-का ज्ञान करना है, इसलिये उसकी अप्रमाणकोटिमें परिगणना नहीं की जा सकती। इन दोनोंमें यदि कोई अन्तर है तो इतना ही कि

प्रमाणज्ञानमें अंशभेदसे वस्तुको जानना अविवक्षित रहता है जब कि नयज्ञानमें अंशभेद मुख्य होकर उस द्वारा वस्तुको जाना जाता है। इसलिये नयका लक्षण करते हुए आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिमें कहते हैं—

वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः। अ० १, सू० ३३।

अनेकान्तात्मक वस्तुमें अविरोधपूर्वक हेतुकी मुख्यतासे साध्यविशेषकी यथार्थताके प्राप्त करानेमें समर्थ प्रयोगका नाम नय है।

आचार्य पूज्यपादने नयका यह लक्षण नयसप्तभंगीको लक्ष्यमें रखकर वचननयकी मुख्यतासे किया है। तत्त्वार्थवार्तिकमें भी यही सरणि अपनाई गई है। ज्ञाननयका लक्षण करते हुए नयचक्रमें यह वचन आया है—

जं णाणीण वियप्पं सुअमेयं वत्थुअंससंगहणं।
तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेण णाणेण ॥१७३॥

वस्तुके एक अंशको ग्रहण करनेवाला जो ज्ञानीका विकल्प होता है, जो कि श्रुतज्ञानका एक भेद है उसे प्रकृतमें नय कहा गया है। यतः नयज्ञान सम्यक् श्रुतका अंश है, अतः उस ज्ञानसे युक्त जीव ज्ञानी है ॥१७३॥

शंका—वस्तु अनेकान्तात्मक होती है, इसलिये एक अंशको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको सम्यक् नय कहना उचित नहीं है?

समाधान—अनेकान्तका द्योतक स्याद्वाद होता है और स्याद्वादकी प्रतिपत्ति नयके विना हो नहीं सकती, इसलिये नयज्ञानको सम्यग्ज्ञानके अंगरूपमें स्वीकार किया गया है। नयचक्रमें कहा भी है—

जम्हा ण णयेण विणा होई णरस्स सियवायपडिवत्ती।
तम्हा सो णायव्वो एयंतं हंतुकामेण ॥ १७४ ॥

यतः नयके विना मनुष्यको स्याद्वादकी प्रतिपत्ति नहीं होती, अतः जो एकान्तके आग्रहसे मुक्त होना चाहता है उसे नय जानने योग्य है ॥ १७४ ॥

इसी तथ्यको पुष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—

जह सद्धाणं[1] आई सम्मत्तं जह तवाई गुणणिलए।
झेओ वा एयरसो[2] तह णयमूलं अणेयंतो ॥ १७५ ॥

---

१. सत्याणं नयचक्र मु० वी० वि० सं० २४९७। २. धादुवाए रसो वही।

जिस प्रकार सम्यक्त्वमें श्रद्धानकी मुख्यता है, गुणोंमें तपकी मुख्यता है और ध्यानमें एकरस ध्येयकी मुख्यता है उसी प्रकार अनेकान्तकी सिद्धिमें नयज्ञानकी मुख्यता है ॥ १७६ ॥

शंका—अनेकान्तकी सिद्धि प्रमाण सप्तभंगीके द्वारा हो जाती है। उसके लिये नयसप्तभंगीकी आवश्यकता नहीं, अतः सम्यग्ज्ञान प्रमाणरूप ही रहा आवे, उसका एक भेद नय भी है ऐसा क्यों स्वीकार किया गया है ?

समाधान—प्रमाणसप्तभंगीमें भी प्रत्येक भंग नयात्मक ही होता है। मात्र उसमें 'स्यात्' पद द्वारा अनुक्त धर्मोंको स्वीकार कर लिया जाता है, इसीलिये आगममें नयज्ञानको भी सम्यग्ज्ञानके भेदरूपसे स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि जितना भी वचन प्रयोग होता है वह सब नयात्मक ही होता है। लोकमें ऐसा एक भी वचन उपलब्ध नहीं होता जो धर्म विशेषके द्वारा वस्तुका प्रतिपादन या द्योतन न करता हो। उदाहरणार्थ 'द्रव्य' शब्द ही लीजिए, इसे हम 'जो अपने गुण-पर्यायवाला हो या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हो' इस अर्थमें रूढ़ करके द्रव्यकी व्याख्या करते हैं, परन्तु इसका यौगिक अर्थ 'जो द्रवता है, अर्थात् व्यापता है' वह 'द्रव्य' यही होता है। इसलिए जितना वचन व्यवहार है वह तो नयरूप ही है। फिर भी हम प्रमाण सप्तभंगीके प्रत्येक भंगमें कहीं पर 'स्यात्' शब्द द्वारा अभेदवृत्ति करके और कहीं पर उसी द्वारा अभेदोपचार करके सब भंगोंके समूहको प्रमाण सप्तभंगी कहते हैं। उनमेंसे प्रथम भंग द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यतासे कहा जाता है। यतः प्रकृतमें 'द्रव्य' पद सामान्यवाची है, अतः अपने गुण-पर्यायोंको व्यापनेके कारण प्रथम भंगमें अभेद वृत्तिकी मुख्यता रहती है। दूसरा भंग पर्यायार्थिक नयकी मुख्यतासे कहा जाता है, क्योंकि पर्याय एक समयवर्ती धर्मविशेष है जिसके द्वारा पूरे द्रव्यका ग्रहण नहीं होता, किन्तु यह एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे पृथक् करनेमें समर्थ है, इसलिए इसमें विवक्षित द्रव्यके शेष बहुभागका अभेदोपचार किया जाता है। इनके अतिरिक्त शेष भंग क्रमसे और अक्रमसे दोनों नयोंकी मुख्यतासे कहे जाते हैं, इसलिए उनमें उसी विधिसे अभेद वृत्ति और अभेदोपचारकी मुख्यता रहती है। यद्यपि प्रत्येक भंग नयात्मक ही होता है, परन्तु यह वक्ताकी विवक्षा पर निर्भर है कि कहाँ किस वचनका किस अभिप्रायसे प्रयोग कर रहा है। एक ही वचन प्रमाण

सप्तभंगीको विषय करनेवाला हो सकता है और नयसप्तभंगीको विषय करनेवाला भी हो सकता है। अतः तत्त्व और तीर्थकी स्थापना करनेके लिए नयप्ररूपणा भी सम्यग्ज्ञानका अंग है ऐसा यहाँ समझना चाहिये। यहाँ तत्त्व पदसे वस्तु व्यवस्था ली गई है और तीर्थ पदसे मोक्षमार्ग लिया गया है।

शंका—बाह्य निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धमें जो एक द्रव्यकी विवक्षित पर्यायको दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायका निमित्त कह कर तथा उसे असद्भूत व्यवहारनयका विषय बतला कर उसकी भी जो सम्यक् नयमें परिगणना की गई है सो क्यों?

समाधान—इष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके अभिप्रायसे सत्त्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य धर्मोंके द्वारा दो द्रव्योंमें बुद्धि द्वारा एकत्व स्थापित करके यह कहा जाता है कि इसको निमित्त कर यह कार्य हुआ। वस्तुतः कोई भी कार्य अन्यको निमित्त कर नहीं होता, परन्तु दो द्रव्योंकी उन पर्यायोंमें कालप्रत्यासत्ति होनेसे लोकमें और आगममें प्रयोजनवश इस व्यवहारको स्वीकृति मिली हुई है, इसलिए ही ऐसे असद्भूत व्यवहारको उपनय-रूपसे सम्यक् नयोंमें परिगणित किया गया है।

७. नयोंके भेद

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि प्रत्येक द्रव्य न तो सामान्यात्मक ही होता है और न विशेषात्मक ही होता है। किन्तु वह अंश द्वारा दोनोंको ग्रहण करनेवाला होता है, अतः इनके द्वारा वस्तुको ग्रहण करनेवाले नय भी दो प्रकारके हैं--द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक-नय। जो विकल्पज्ञान पर्यायको गौण करके द्रव्यके सामान्य धर्म द्वारा उसे जानता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो विकल्पज्ञान द्रव्यके सामान्य अंशको गौण कर उसके विशेष धर्म द्वारा उसे ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है।

इस प्रकार नैगमनय आदि सात नयों और उनके भेद-प्रभेदोंके आधारभूत मुख्य नय दो ही हैं और उनके आधारसे प्रवृत्त होनेवाला वचन व्यवहार भी दो ही प्रकारसे प्रवृत्त होता है—द्रव्यके सामान्य अंशको मुख्य कर और विशेष अंशको गौण कर प्रवृत्त होनेवाला वचन व्यवहार तथा द्रव्यके विशेष अंशको मुख्य कर और सामान्य अंशको गौण कर प्रवृत्त होनेवाला वचन व्यवहार। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो नय मूल हैं, शेष नय उनके भेद-प्रभेद हैं इस तथ्यको स्पष्ट करते

हुए नयचक्रमें कहा भी है—

> दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ-पज्जयत्थगया।
> अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥ १८३ ॥ पृ० १०५

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मूल नय कहे गये हैं। असंख्यात संख्याको लिये हुए अन्य जितने नय हैं वे सब उन दोनोंके भेद जानने चाहिये ॥१८३॥

शंका—आगममें वचन व्यवहारकी मुख्यतासे पर्यायार्थिकनयके भेद शब्दादिक तीन नय ही माने गये हैं, इसलिये जब द्रव्यके सामान्य अंश-का प्रतिपादन करनेवाले किसी वचन व्यवहारकी उपलब्धि ही नहीं होती तब द्रव्यके सामान्य अंशको मुख्य कर और विशेष अंशको गौण कर वचन व्यवहार होता है ऐसा क्यों कहा गया ?

समाधान—बात यह है कि शब्दादिक तीन नयोंमें एक अर्थमें लिंगादिकके भेदसे जो वचन प्रयोग होता है या रौढ़िक और यौगिक अर्थमें जो वचन प्रयोग होता है वह किस नयकी अपेक्षा किस रूपमें मान्य है मात्र इतना विचार किया जाता है। जबकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी मुख्यतासे जो वचन व्यवहार होता है उसमें द्रव्य-सामान्यकी विवक्षासे यह वचन प्रयोग किया गया है या पर्यायविशेषकी विवक्षासे यह वचन प्रयोग किया गया है इसकी मुख्यता रहती है। जैसे अध्यात्ममें आत्मा शब्द अनन्त वर्णोंमें सामान्य अर्थकी मुख्यतासे रहकर यह कहा गया है—'एगो मे सासदो आदा' मेरा आत्मा एक और शाश्वत है। पर्यायदृष्टिको गौण करना इसका प्रयोजन है, क्योंकि पर्यायार्थिकनयमें उभयवस्तुको मुख्यतासे एक अंशरूप स्वीकार किया जाता है और द्रव्यार्थिकनयमें सब वर्णोंमें व्याप्त व्यापक वस्तु स्वीकार की जाती है।

तात्पर्य यह है कि पर्यायकी दृष्टिसे किस अर्थमें किस प्रकारका प्रयोग करना उचित है यह विचार शब्दादिक नयोंमें किया जाता है और यहाँ किस अपेक्षासे यह वचन बोला गया है इसकी मुख्यता है, इसलिये दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है।

८. अध्यात्मनय

यह नयदृष्टिसे विवक्षित वस्तुका निर्णय करनेकी पद्धति है जिसे पदार्थ व्यवस्थाके अङ्गरूपमें आगममें स्वीकार किया गया है। कर्म-शास्त्रमें मुख्यतया यही पद्धति अङ्गीकार की गई है। किन्तो कषायपाहुड

संक्रम अनुयोगद्वार)। इसके सिवाय अध्यात्म आगममें व्यवहृत होने-वाली एक नयपद्धति और है जो मोक्षमार्गकी प्ररूपणामें मुख्य है।

तात्पर्य यह है कि जहाँपर शब्द व्यवहारकी मुख्यतासे या उसकी मुख्यता किये विना उपचरित और अनुपचरित कथनको समान भावसे स्वीकार करके द्रव्य, गुण और पर्यायकी दृष्टिसे सब पदार्थोके भेदाभेद-का विचार किया जाता है। वहाँपर वैसा विचार करनेके लिये नैगमादि नयोंकी पद्धति स्वीकार की गई है। किन्तु जहाँपर आत्मसिद्धिमें प्रयो-जनीय दृष्टि सम्पादित करनेके लिये उपयोगिता और अनुपयोगिताकी दृष्टिसे विचार किया जाता है वहाँपर दूसरे प्रकारसे नयदृष्टि स्वीकार की गई है। प्रकृतमें इस नयपद्धतिकी मीमांसा करना मुख्य प्रयोजन होनेसे इसकी अपेक्षा विचार किया जाता है। इसका उल्लेख करते हुए नयचक्रमें लिखा है—

> णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
> णिच्छयसाहणहेऊ पज्जय-दव्वत्थियं मुणह ॥१८२॥ पृ० १०४।

निश्चयनय और व्यवहारनय ये दोनों सब नयोंके मूल भेद हैं। पर्यायार्थिक नय और द्रव्यार्थिकनयको निश्चयकी सिद्धिका हेतु जानो ॥१८२॥

नयचक्रमें सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनयको निश्चयनयकी सिद्धिका हेतु कहा गया है सो इसका भी वही अर्थ है जो पूर्वोक्त गाथामें कहा गया है। इसी तथ्यका निर्देश करते हुए नयचक्रमें यह गाथा उपलब्ध होती है—

> णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धी कया वि णिद्दिट्ठा।
> साहणहेऊ जम्हा तस्स य सो भणिय ववहारो ॥२९६॥ पृ० १४५।

व्यवहारके विना कदाचित् भी निश्चयकी सिद्धि नहीं होती, इस-लिये जो निश्चयकी सिद्धिका हेतु है वह व्यवहार कहा गया है ॥२९६॥

यहाँ उक्त कथन द्वारा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकरूप नैगमादिक सात नयों और उनके भेद-प्रभेदोंको व्यवहार कहकर उसे निश्चयकी सिद्धि-का हेतु कहा गया है सो इसका यह तात्पर्य है कि जिसने नैगमादिनयों द्वारा आगमके अनुसार वस्तुका यथार्थ निर्णय कर लिया है वही आत्म-स्वरूपके निर्णयपूर्वक उसे प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। इसलिये प्रकृतमें निश्चयनय और व्यवहारनयका क्या अर्थ है इसपर आगमके अनुसार विचार किया जाता है—

९. निश्चयनयका स्वरूपनिरूपण

अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते इति निश्चयः । आलापप०

अभेदरूपसे और अनुपचाररूपसे वस्तुका निश्चय करना निश्चय-नय है।

'अभेदरूपसे निश्चय करना' इसका अर्थ है कि गुण-पर्यायका भेद किये विना वस्तुके स्वरूपको समझना। तथा 'अनुपचाररूपसे निश्चय करना' इसका अर्थ है कि बाह्य-अभ्यन्तर उपाधिसे शून्य 'वस्तुस्वरूपको जानना।' इसे स्पष्ट करते हुए नयचक्रमें यह वचन आया है—

गेह्णइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं ।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥१९८॥ पृ० १०९ ।

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचारस्वभावसे रहित परमभावरूप द्रव्यके स्वभावको ग्रहण करता है (ध्येयरूपसे स्वीकारता है) सिद्धिके इच्छुक जीव द्वारा वह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानने योग्य है ॥१९८॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि नयचक्रके उक्त वचन द्वारा निश्चयनय-के स्वरूपपर ही प्रकाश डाला गया है।

उक्त गाथामें आया हुआ 'सिद्धिकामेण' पद ध्यान देने योग्य है। इस पदद्वारा यह सूचित किया गया है कि जो पुरुष आत्मसिद्धिके इच्छुक हैं उन्हें एकमात्र इस नयका विषय ही ध्येय बनाने योग्य है। किन्तु इस नयके विषयको ध्येय बनाना तभी सम्भव है जब इस जीवकी दृष्टि न तो सम्यग्दर्शनादिरूप शुद्धपर्यायपर रहती है, न रागादि, मनुष्यादि और मतिज्ञानादिरूप अशुद्ध अवस्थापर रहती है और न ही अतिरिक्त अन्य पदार्थोंपर रहती है।

इस निश्चयनयके विषयभूत आत्माके स्वरूपका निरूपण करते हुए अनगारधर्मामृतमें यह वचन आया है—

सर्वेऽपि शुद्ध-बुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति ।
शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्या एवात्मेत्यस्ति निश्चयः ॥१-१०३॥

सभी जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले हैं यह शुद्ध निश्चयनय है तथा राग-द्वेष आदिरूप मानना अशुद्ध निश्चयनय है ॥१-१०३॥

यहाँ जिसे अशुद्ध निश्चयनयका विषय कहा गया है वह अध्यात्ममें असद्भूतव्यवहारनयका विषय है यह आगे स्पष्ट करेंगे, क्योंकि मोक्षमार्ग-में ध्येय एकमात्र शुद्ध निश्चयनयका विषय ही होता है इस तथ्यका

निरूपण करते हुए आगे उसीमें यह कथन उपलब्ध होता है—

अत्र तु शुद्धनिश्चये शुद्ध-बुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठतीति शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च भावसवर इत्युच्यते ॥ अ० १, ११० ॥

संवरकी अपेक्षा शुद्ध निश्चयनयमें शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव अपना आत्मा ध्येय है, क्योंकि शुद्ध ध्येय होनेसे, शुद्धका अवलम्बन होनेसे और शुद्ध आत्मस्वरूप होनेसे शुद्धोपयोग घटित होता है। भावसंवर इसीका नाम है।

सो इस कथनसे भी त्रिकाली ज्ञायक आत्मा ही निश्चयनयका विषय है यही सिद्ध होता है।

यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अनगारधर्मामृत चरणानुयोगका ग्रन्थ है। तव भी उसमें भावसंवरमें प्रयोजनीय निश्चयनयके विषयका निरूपण करते हुए शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव आत्माको ही ध्येयरूपसे स्वीकार किया गया है, जव कि वह शुभाचारको मुख्यतासे मोक्षमार्ग कहकर उसका निरूपण करता है। उक्त वचनमें शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्मा ही ध्येयरूपसे क्यों स्वीकार किया गया है, इसका प्रयोजन क्या है यह भी स्पष्टकर दिया गया है। वात यह है कि चरणानु योग और द्रव्यानुयोग दोनों ही परमागम शुभाचारको आस्रव तत्त्वमें गर्भित करते हैं। और आस्रव संवरकी उत्पत्तिका यथार्थ कारण हो नहीं सकता। यही कारण है कि मोक्षमार्गमें शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव आत्मा ही ध्येय हो सकता है, अन्य नहीं।

शंका—जव कि चरणानुयोग भी शुभाचारको आस्रवतत्त्वमें गर्भित करता है तव वहाँ उसे मोक्षमार्ग क्यों कहा गया है, क्योंकि आस्रव संवरनिर्जरा-मोक्षका विरोधी भाव है?

समाधान—प्राक् भूमिकामें सहचर होनेसे ही उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहा गया है। परमार्थसे देखा जाय तो मोक्षमार्ग एक ही है दो नहीं।

१०. निश्चयनयके दो भेद और उनका कार्य

अव प्रश्न यह है कि शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव आत्माको ध्येय वनाकर जो उसका चिन्तन करता है उसे क्या भावसंवरकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रश्नका समाधान जहाँ उक्त वचनसे हो जाता है वहीं समयसार

परमागम इस विषय पर क्या कहता है इसपर विचार करनेके पहले निश्चयनयके भेद और उनके कार्योंको स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। नयचक्रमें इसके भेदोंका निरूपण इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है—

सवियप्पं णिव्वियप्पं पमाणरूवं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
तह विह णया वि भणिया सवियप्पा णिव्वियप्पा त्ति ॥

जिनेन्द्रदेवने सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका कहा है। उसी प्रकार सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे नय भी दो प्रकारके हैं।

जितने भी व्यवहारनय हैं वे सविकल्प ही होते हैं। एकमात्र निश्चय-नय ही सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकारका है।

शंका—जिस प्रकार निश्चयनयको दो प्रकारका कहा गया है उसी प्रकार व्यवहारनयको भी सविकल्प और निर्विकल्प माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—शंका महत्त्वपूर्ण है। समाधान यह है कि गुण-पर्यायोंसे द्रव्यमें अभेद होनेपर भी भेदकल्पना करना सद्भूत व्यवहारनय है। यही तथ्य द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग दोनों ही आगम स्वीकार करते हैं। समयसार गाथा ७ की आत्मख्यातिमें इस तथ्यको इन शब्दोंमें स्वीकार करता है—

धर्म-धर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः।

धर्म और धर्मीमें स्वभावसे अभेद होनेपर भी संज्ञासे भेद उत्पन्न करके व्यवहारमात्रसे ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है और चारित्र है ऐसा उपदेश है।

'व्यपदेशतो' यह उपलक्षण वचन है। इससे लक्षण, प्रयोजन आदिका ग्रहण हो जाता है। इसी तथ्यको आप्तमीमांसा दर्शनशास्त्र इन शब्दोंमें स्वीकार करता है—

द्रव्य-पर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥७१॥
संज्ञा-संख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥७२॥

द्रव्य और पर्यायमें अभेद होनेसे उनमें ऐक्य है। किन्तु परिमाणके भेदसे, शक्तिमान् और शक्तिके भेदसे, संज्ञा और संख्याके भेदसे, स्वलक्षणके भेदसे और प्रयोजन आदिके भेदसे उनमें नानापन है, सर्वथा नहीं ॥७१-७२॥

यहाँ यह कहा गया है कि जब हम गुण-पर्यायसे द्रव्यको भिन्न कहते हैं तब परिमाण, लक्षण आदिकी मुख्यतासे ही कहते हैं जो भेदकल्पना करने पर ही सम्भव है।

इसी तथ्यको चरणानुयोग शास्त्र इन शब्दोंमें व्यक्त करता है—

> सद्भूतेतरभेदव्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः।
> गुणगुणिनोरभिदायामपि सद्भूतो विपर्ययादितरः॥ १०४॥
>
> अनगार अ० १ अ०।

सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहारके भेदसे व्यवहार दो प्रकार-का है। गुण-गुणीमें अभेद होने पर भी भेदोपचार सद्भूत व्यवहार है और दो द्रव्योंमें सत्ताभेद होने पर भी अभेदरूपसे उपचार असद्भूत व्यवहार है।

यहाँ 'भिदुपचारः' पदका अर्थ भेदकल्पना किया गया है। असद्भूत व्यवहारमें तो विकल्पकी मुख्यता है ही। इससे मालूम पड़ता है कि ये दोनों नय एकमात्र विकल्पको आधार बना कर ही कहे गये हैं जो स्वात्मस्वरूपके भानमें किसी भी प्रकारसे उपयोगी नहीं हैं। इसीसे आत्माके निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होनेमें एकाग्ररूपसे आत्मानुभूति मुख्यतया स्वीकार की गई है। इसी तथ्यको कलश काव्यमें इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। यथा—

> आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
> विलीनसंकल्प-विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥ १०॥

जो परद्रव्य, परभाव तथा परको निमित्त कर हुए विभाव भाव इस प्रकार समस्त परभावोंसे भिन्न है, आपूर्ण है अर्थात् अपने गुण-पर्यायोंमें व्याप्त कर अवस्थित है, आदि और अन्तसे रहित है, एक है अर्थात् चिन्मात्र आकारके कारण क्रम और अक्रमरूप प्रवर्तमान समस्त व्याव-हारिक भावोंसे भेदरूप नहीं होता तथा जिसमें समस्त संकल्प और विकल्पोंका समूह विलयको प्राप्त हो गया है ऐसे आत्मस्वभावको प्रका-शित करता हुआ शुद्धनय उदित होता है॥ १०॥

शुद्धनय कहो चाहे निर्विकल्प निश्चय नय कहो दोनोंका एक ही अर्थ है। इसी तथ्यका समर्थन समयसारकी इस गाथासे स्पष्टतः होता है—

> जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठमणण्णयं णियदं।
> अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

जो अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माको अनुभवता है उसे शुद्धनय जानो ॥ १४ ॥

यहाँ कर्मोंसे भिन्न आत्माकी अनुभूतिके अर्थमें अबद्धस्पृष्ट पद आया है, नर-नारकादि पर्यायोंसे भिन्न आत्माकी अनुभूतिके अर्थमें अनन्य पद आया है, मति-श्रुत आदिके षड्गुणहानि-वृद्धिरूप पर्यायोंसे भिन्न आत्माकी अनुभूतिके अर्थमें नियत पद आया है, ज्ञान-दर्शनादि गुणोंसे भिन्न आत्माकी अनुभूतिके अर्थमें अविशेष पद आया है और मोहभावसे संयुक्त अवस्थासे भिन्न आत्माकी अनुभूतिके अर्थमें असंयुक्त पद आया है। ऐसे आत्माको अनुभवता हो शुद्ध नय है यह इसका तात्पर्य है। ऐसे आत्माका विशदरूपसे कथन समयसारकी ६वीं और ७वीं गाथा और उसकी आत्मख्याति टीकामें प्रांजलपनेसे किया गया है सो हम इसको पहले ही स्पष्ट कर आये हैं। इस विषय पर आगे और भी प्रकाश डालेंगे।

शंका—पुद्गलादि जितने अन्य द्रव्य हैं, वे भी अपने-अपने त्रिकाली स्वभावपनेकी अपेक्षा अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत अविशेष और असंयुक्त होते हैं, अतः ऐसी अनुभूतिको आत्मानुभूतिमात्र कहना ठीक नहीं, वह सत्सामान्यपनेकी अपेक्षा सर्वानुभूति क्यों न मानी जाय?

समाधान—उक्त सूत्रगाथामें 'अप्पाणं' पद आया है। और आत्मा पदका अर्थ है ज्ञान-दर्शनस्वभावी वस्तु। इसलिये इस पदद्वारा अन्य पुद्गलादि अशेष वस्तुओंका वारण सुतरां हो जाता है, क्योंकि अबद्धस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ज्ञान-दर्शन स्वभाव वस्तुकी अनुभूतिको प्रकृतमें स्वात्मानुभूतिरूपसे स्वीकार किया गया है।

शंका—जब व्यवहारनयके विषयको अनुपादेय बतला कर उस पर दृष्टि केन्द्रित न करनेके लिये कहा जाता है तब सविकल्प निश्चयनयके विषयको भी अनुपादेय क्यों नहीं कहा जाता, क्योंकि स्वभाव निमग्न होनेके लिये विकल्प मात्रसे परावृत्त होना आवश्यक है?

समाधान—स्वभाव निमग्न होने पर इस जीवके किसी प्रकारका भी विकल्प नहीं होता इसमें सन्देह नहीं। परन्तु सविकल्प निश्चयनय और व्यवहारनयमें विषयकी अपेक्षा स्वाश्रित और पराश्रितपनेका भेद है। सविकल्प निश्चय नय जहाँ स्वाश्रित विकल्प है वहाँ व्यवहारनय पराश्रित विकल्प है। इसलिये आध्यात्ममें पराश्रित विकल्पको सर्वथा हेय बतला कर उससे परावृत होनेका उपदेश दिया गया है। अब रही स्वाश्रित विकल्पकी बात सो निर्विकल्प निश्चयनयस्वरूप होनेके पूर्व ऐसे विकल्पका होना अवश्यंभावी है, क्योंकि निरन्तर ऐसी भावना होने पर ही जीव निर्विकल्प होता है। अतः व्यवहार नयकी तरह पराश्रित कह कर इसका निषेध नहीं किया गया है। फिर भी कोई ऐसे विकल्पको परमार्थकी प्राप्ति समझ ले तो उसका भी अध्यात्ममें निषेध ही किया गया है। इस तथ्यको विशेष रूपसे समझनेके लिये पंचास्तिकाय गाथा १७२ की समय टीका पर दृष्टिपात कीजिये।

११. भूतार्थ और अभूतार्थ पदोंका अर्थ

भूतार्थ और अभूतार्थके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए समयसार परमागममें लिखा है—

> ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
> भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

आगममें व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ कहा है। भूतार्थका आश्रय (अनुभव) करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है ॥११॥

इस गाथाकी आत्मख्याति टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतते। शुद्ध नय एक एव भूतार्थत्वाद् भूतार्थं प्रद्योतते।

समस्त व्यवहारनय नियमसे अभूतार्थ है, वह अभूत अर्थको ही द्योतित करता है। तथा शुद्धनय एकमात्र भूतार्थ है, वह भूत अर्थको ही द्योतित करता है।

आगे इसकी आत्मख्याति टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दोंके अर्थको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिपिबद्ध किया है उसका भाव यह है कि जिस प्रकार कीचड़से युक्त अवस्थामें जलका सहज स्वरूप तिरोहित रहता है, इसलिये ऐसी अवस्था युक्त जलको

मात्र जल समझना अभूतार्थ है और निर्मलीके निक्षेप द्वारा कीचड़से पृथक् किया गया जल सहज जल होनेसे भूतार्थ है। उसी प्रकार कर्म संयुक्त अवस्थामें जीवका सहज स्वरूप तिरोहित रहता है, इसलिए ऐसी अवस्थायुक्त जीवको मात्र जीव समझना अभूतार्थ है और शुद्ध दृष्टिके द्वारा कर्मसंयुक्त अवस्थासे त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्माको पृथक् करके उसे ही आत्मा समझना (अनुभवना) भूतार्थ है। इस प्रकार भूतार्थ क्या है और अभूतार्थ क्या है इसका स्पष्टीकरण करके जीवको अपने सहज कर्तव्यका बोध कराते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो अपनी निर्विकार अवस्थाको प्राप्त करनेके मार्ग पर आरूढ़ हैं अर्थात् कर्मसंयुक्त अवस्थासे भिन्न आत्माका अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं या उस मार्ग पर आरूढ़ हुए हैं उन्हें कर्मसंयुक्त अवस्थाको आत्मा कहनेवाले व्यवहारनयका अनुसरण करना योग्य नहीं है, क्योंकि जो कर्मसंयुक्त अवस्थाको ही आत्मा समझकर उसका अनुसरण करते रहते हैं वे कभी भी संसारका अन्त कर परमार्थ प्राप्तिके मार्गको उद्घाटित करनेमें समर्थ नहीं होते।

यहाँ यह प्रश्न है कि संसारकी भूमिकामें जीव कर्मसंयुक्त अवस्थावाला अभूतार्थ ही उपलब्ध होता है ऐसी अवस्थामें भूतार्थकी उपलब्धि न होनेसे उसका अनुसरण करना कैसे सम्भव है। यह एक मौलिक प्रश्न है जिसका समाधान यद्यपि उक्त कथनसे ही हो जाता है पर उसका विशद विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने भगवान् अरहंतदेवकी जिस वाणीको लिपिबद्ध किया है उसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

> ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
> एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

जो ज्ञायक भाव है वह न अप्रमत्त है और न प्रमत्त है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और इस विधिसे जो ज्ञात हुआ वह तो वही है ॥६॥

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रमत्त और अप्रमत्त ये दोनों कर्मसंयुक्त अवस्थाएँ हैं इसलिए अभूतार्थ हैं। इन दोनोंसे भिन्न जो आत्माको अनुभवता है उसे शुद्ध कहते हैं। यहाँ अनुभव करनेवाला आत्मा और अनुभवका विषयभूत आत्मा ये दो हुए ऐसे प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि जो अनुभव करनेवाला है और जिसका अनुभव किया गया है ये दो नहीं है, कर्ता-कर्ममें अभेद होनेसे दोनों एक ही हैं।

यहाँ ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला होनेसे ही आत्माको ज्ञायक कहा गया

है। और स्वभाव त्रिकाली होता है, इसलिए उसका यह स्वरूप फलित होता है कि जो स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि अनन्त हैं, निरन्तर उद्योत-रूप है और विशदज्योति है उसका नाम ज्ञायक है। विचार कर देखा जाय तो यहाँ ज्ञायकभाव स्पष्ट करनेके लिए जितने विशेषण दिये गये हैं वे सब सार्थक हैं। सर्वप्रथम उसे स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि अनन्त कहा है सो किसी भी वस्तुका त्रिकाली स्वभाव किसी बाह्याभ्यन्तर उपाधि-को निमित्त कर उत्पन्न नहीं होता, इसलिए तो वह स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि-अनन्त कहा गया है। जब वह अनादि-अनन्त है ऐसी अवस्थामें कर्मसंयुक्तपनेको निमित्त कर जो मलिनता आती है ऐसी मलिनता भी संभव नहीं है, अतः उसे नित्य उद्योतरूप कहा गया है। यतः वह सब प्रकारकी मलिनतासे मुक्त है अतः उसका विशदज्योति स्वरूप होना स्वाभाविक है। इस प्रकार जो अपने ज्ञायकस्वरूप आत्माको अनुभवता है उसने शुभाशुभभावरूप प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्थासे भिन्न आत्माका अनुभव किया यह सिद्ध होता है। इस प्रकार आत्मा पर अनादि कालसे जो प्रमत्त और अप्रमत्तपनेका व्यवहार होता आ रहा है ऐसे अनुभवकी दशामें वह उस व्यवहारसे मुक्त हुआ। तथा आत्माने उक्त प्रकारसे जो अपनेको अनुभवा सो वह अनुभव इन्द्रियादिकको निमित्त कर न उत्पन्न होनेके कारण स्वाश्रित सिद्ध हुआ, इसलिये ऐसे आत्मा पर न तो पराश्रितपनेका ही व्यवहार लागू होता है और न ही अशुद्धपनेका व्यवहार लागू होता है, अतः ऐसा आत्मा उपचरित और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार तथा उपचरित सद्भूत व्यवहारसे मुक्त होनेके कारण भूतार्थ है यह सिद्ध होता है।

अब प्रश्न यह है कि गुणभेद आदि कल्पनारूप अनुभवको स्वभा-वानुभव माननेमें तो आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि गुण भी स्वयं सिद्ध होनेसे अनादि-अनन्त हैं। आगे इसीका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाण ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

ज्ञानीके चारित्र है, दर्शन है और ज्ञान है यह व्यवहारसे कहा जाता है। किन्तु वह ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है। वह तो शुद्ध (भेदकल्पना निरपेक्ष) ज्ञायक ही है।

यहाँपर भेदकल्पनाकी अपेक्षा ज्ञायक आत्माको ज्ञान, दर्शन और

चारित्र कहनेका निषेध किया गया है, क्योंकि वह अनन्त धर्मोंमें व्याप्त एक धर्मी है। आगममें विविध धर्मों द्वारा जो उक्त कथन किया गया है सो वह आत्मतत्त्वके जिज्ञासु जनोंकी दृष्टिसे ही किया गया है। वस्तुतः देखा जाय तो धर्म और धर्मीमें स्वभावसे अभेद है, फिर भी भेदकल्पना द्वारा ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानीके ज्ञान है दर्शन है और चारित्र है, वस्तुतः वह अनन्त धर्मोंको पिये हुए एक धर्मी है। अतएव ऐसा अनुभव करनेवाले के दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपसे ज्ञायक आत्मा अनुभवमें नहीं आकर भेदकल्पना निरपेक्ष ज्ञायक आत्मा ही अनुभवमें आता है। इस प्रकार इस कथन द्वारा अनुपचरित सद्भूत व्यवहार क्यों अभूतार्थ है यह सिद्ध किया गया है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी सा० भूतार्थ और अभूतार्थके अर्थको स्पष्ट करते हुए पुरुषार्थसिद्धयुपायमें लिखते हैं—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

इस ग्रन्थमें निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ-वर्णन करते हैं। प्रायः भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयके ज्ञानसे विरुद्ध जो अभिप्राय है वह समस्त ही संसारस्वरूप है ॥५॥

टीका—'इह निश्चयं भूतार्थं व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति' आचार्यः इन दोनों नयोंमें निश्चयनयको भूतार्थ कहते हैं और व्यवहार नयको अभूतार्थ कहते हैं।

भावार्थ—भूतार्थ नाम सत्यार्थका है। भूत, जो पदार्थमें पाया जावे, और अर्थ अर्थात् 'भाव'। उनको जो प्रकाशित करे तथा अन्य किसी प्रकारकी कल्पना न करे उसे भूतार्थ कहते हैं। जिस प्रकार कि सत्य-वादी सत्य ही कहता है, कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता। वही यहाँ बताया जाता है। यद्यपि जीव और पुद्गलका अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध है और दोनों मिले हुए जैसे दिखाई पड़ते हैं तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्यको शरीरादि पर द्रव्योंसे भिन्न ही प्रकाशित करता है। वही भिन्नता मुक्त दशामें प्रकट होती है। इसलिये निश्चय-नय सत्यार्थ है।

अभूतार्थ नाम असत्यार्थका है। अभूत अर्थात् जो पदार्थमें न पाया जावे और अर्थ अर्थात् भाव। उनको जो अनेक प्रकारकी कल्पना करके प्रकाशित करे उसे अभूतार्थ कहते हैं। जैसे कोई असत्यवादी

पुरुष जरासे भी कारणका वहाना छल पाकर अनेक कल्पना करके असदृशको भी सदृश कर दिखाता है। उसीको कहते हैं। जैसे यद्यपि जीव पुद्गलकी सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न हैं, तथापि एक क्षेत्रावगाहसम्बन्धका छल (वहाना) पाकर 'आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्यसे एकत्वरूप कहता है।' मुक्त दशामें प्रकट भिन्नता होती है। तब व्यवहारनय स्वयं ही भिन्न-भिन्न प्रकाशित करनेको तैयार होता है। अतः व्यवहारनय असत्यार्थ है। **'प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वोऽपि संसारः'** अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय है उसके परिज्ञानसे विपरीत जो परिणाम (अभिप्राय) है वह समस्त संसारस्वरूप ही है।

भावार्थ—इस आत्माका परिणाम निश्चयनयके श्रद्धानसे विमुख होकर, शरीरादिक परद्रव्योंके साथ एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे उसीका नाम संसार है। इससे जुदा संसार नामका कोई पदार्थ नहीं है। इसीलिए जो जीव संसारसे मुक्त होनेके इच्छुक हैं उन्हें शुद्धनयके सन्मुख रहना योग्य है। इसीको उदाहरण देकर समझाते हैं। जिस प्रकार वहुत पुरुष कीचड़के संयोगसे जिसकी निर्मलता आच्छादित हो गई है, ऐसे गँदले जलको ही पीते हैं। और कोई अपने हाथसे कतकफल (निर्मली) डालकर कीचड़ और जलको अलग-अलग करता है। वहाँ निर्मल जलका स्वभाव ऐसा प्रकट होता है जिसमें अपना पुरुषाकार प्रतिभासित होता है, उसी निर्मल जलका वह आस्वादन करता है। उसी प्रकार वहुतसे जीव कर्मके संयोगसे जिसका ज्ञानस्वभाव ढँक गया है ऐसे अशुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं। कुछ ज्ञानी जीव अपनी वुद्धिसे शुद्ध निश्चयनयके स्वरूपको जानकर कर्म और आत्माको भिन्न-भिन्न करते हैं तब निर्मल आत्माका स्वभाव ऐसा प्रकट होता है जिससे अपने चैतन्य पुरुषका आकारस्वरूप प्रतिभासित हो जाता है। इस प्रकार वह निर्मल आत्माका स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं। अतः शुद्धनय कतकफल समान है उसीके श्रद्धानसे सर्वसिद्धि होती है ॥ ५ ॥

शंका—गाथा १३ में भूतार्थनयसे जाने गये जीवादि नव पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं ऐसा कहा गया है और गाथा ६-७ में उन्हें अभूतार्थ कहकर सम्यग्दर्शनकी प्रसिद्धिमें जीवादि नौ पदार्थोंके अनुभवका निषेध किया गया है सो क्यों ?

समाधान—भूतार्थरूपसे जीवादि नौ पदार्थोंका जानना यही

है कि इन नौ पदार्थोंमें व्याप्त एक ही जीव तत्त्व है और उसका जानना अर्थात् अनुभवना सम्यग्दर्शन है। आगममें जो इन्हें भूतार्थ कहा गया है सो वह सद्भूत-असद्भूत व्यवहारनयसे ही कहा गया है।

शंका—नव पदार्थोंमें अजीव पदसे तो पुद्गल आदि पाँच द्रव्योंका ग्रहण होता है। उनमें व्याप्त जीव पदार्थको मानना कैसे सम्भव है?

समाधान—अज्ञानी जीवके परपदार्थोंमें एकत्वबुद्धि और इष्टानिष्ट बुद्धि देखी जाती है। अज्ञान और राग-द्वेषसे तन्मय होनेके कारण वह इन्हें अपना स्वरूप मानता आ रहा है। वह इनकी हानिमें अपनी हानि और इनकी वृद्धिमें अपनी वृद्धि मानता रहता है। विचारकर देखा जाय तो वास्तवमें उसका यह भाव ही अजीव पदार्थ है और इसीलिये ही जीव-अजीव आदि नव पदार्थोंमें व्याप्त जीव तत्त्व कहा गया है।

शंका—यदि यह बात है तो अजीव पदार्थमें पुद्गलादिकका ग्रहण होता है या नहीं?

समाधान—ऐसी मान्यतामें पुद्गलादिकका ग्रहण तो सुतरां हो जाता है, क्योंकि उनको लक्ष्य कर ही ऐसे भाव होते हैं।

शंका—पुद्गलादिक द्रव्य लोकमें सदा काल अवस्थित रहते हैं इसलिये जीवके ये भाव सदाकाल होते रहते हैं ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—नहीं, उनका सद्भाव इन भावोंके होनेका मुख्य कारण नहीं है, क्योंकि जो अर्थहीन है उसके भी अर्थसम्बन्धी लालसा देखी जाती है। मुख्यतः यह स्वयं जीवका अपराध है। इस अपराधवृत्तिके कारण ही वह ऐसे भाव करता है। हाँ जिन पदार्थोंको लक्ष्यकर करता है उनमें उन भावोंके होनेमें निमित्त व्यवहार हो जाता है।

शंका—जीवकी यह अपराधवृत्ति कबसे देखी जाती है?

समाधान—अनादि कालसे।

शंका—तब तो इस वृत्तिको जीवका स्वभाव मान लेना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो अनादि हो वह वस्तुका स्वभाव होना ही चाहिये ऐसा नियम नहीं है। कारण कि स्वभाव अनादि-अनन्त होता है, अतः स्वतःसिद्ध उसे अपना अनुभव करने पर अपराधवृत्ति सुतरां टल जाती है। इसीलिये आगममें पराश्रितभावको आगन्तुक भाव भी कहा गया है।

शंका—जो आगन्तुक होता है वह कारणपूर्वक होनेसे अनादि नहीं हो सकता ?

समाधान—बीज वृक्षकी सन्तानकी तरह उसे अनादि स्वीकार किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो इसमें कारणकी मुख्यता है और न ही कालकी मुख्यता है। किसीने ऐसा पहले प्रारम्भ किया हो ऐसा नहीं है, इसलिये सन्तानकी दृष्टिसे अनादिता अकृत्रिम है। किन्तु प्रत्येक पर्यायकी दृष्टिसे वह सकारण कही जाती है। अनादि कालसे स्वयं ऐसा ही बनाव बन रहा है। इसी तथ्यको दूसरे शब्दोंमें व्यक्त करते हुए जयधवला पु० १, पृ० ५५में कहा भी है— 12-1-88

अकट्टिमत्तादो कम्मसंताणे ण वेच्छिज्जदि त्ति ण वोत्तुं जुत्तं, अकट्टिमस्स वि बीजंकुरसंताणस्सेव वोच्छेदुवलंभादो।

अकृत्रिम होनेसे कर्मसन्तान व्युच्छिन्न नहीं होती ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अकृत्रिम होते हुए भी बीज और अंकुरकी सन्तानका जैसे विच्छेद पाया जाता है वैसे कर्मसन्तान अकृत्रिम होनेपर भी उसका विच्छेद हो जाता है।

शंका—सविकल्प निश्चयनयमें रागकी चरितार्थता होनेसे उसे स्वाश्रित कहना ठीक नहीं है, अन्यथा सविकल्प दशामें भी सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति होने लगेगी ?

समाधान—सविकल्प निश्चयनयको जो स्वाश्रित कहा गया है वह ध्येयकी अपेक्षा ही कहा गया है, अन्यथा उसे निश्चयनय कहना नहीं बन सकता है। विकल्पकी अपेक्षा विचार किया जाय तो वह रागसे अनुरंजित उपयोग परिणाम ही है। देखो, प्रकृतमें उपयोग क्षयोपशम भाव है, इसलिये यह उसकी स्वतन्त्रता है कि वह स्वतन्त्ररूपसे अपने विषयको जाने तथा अनुभवे अन्यथा रागके बुद्धिपूर्वक राग और अबुद्धिपूर्वक राग ये भेद नहीं बन सकते। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर जयधवला पु० १ पृ० ५ पर एक गाथा द्वारा यह तथ्य स्पष्ट किया गया है—

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु परिणामिओ करणोभयवज्जिओ होइ॥

औदयिकभावोंसे कर्मबन्ध होता है, औपशमिक, क्षायिक और

क्षायोपशमिक भावोंसे मोक्ष होता है तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष इन दोनोंके कारण नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि क्षयोपशमभाव स्वयं स्वाश्रित है। सविकल्प निश्चयनयमें जो विकल्प अर्थात् राग है वही पराश्रितभाव है।

शंका—यहाँ औदयिकभावको बन्ध हेतु कहा है सो क्या मनुष्य गति आदि भी औदयिक होनेसे बन्धके हेतु हैं ?

समाधान—यह सामान्य वचन है। विशेष यह है कि दर्शमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयमें जो औदयिक भाव होता है मात्र उसे ही वन्धका हेतु माना गया है। धवला पु० ६ पृ० १२ में इसी तथ्यका समर्थन करते हुए लिखा भी है—

> जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
> ण य णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समासियदि॥

जीवके मिथ्यात्व आदि परिणामोंको निमित्त कर पुद्गल कर्मरूपसे परिणत होते हैं। किन्तु ज्ञानभावसे परिणत हुआ जीव कर्मवन्धको नहीं प्राप्त होता है।

यहाँ जीवपरिणाम पदसे मिथ्यात्व आदि प्रत्यय लिये गये हैं यह इसीसे स्पष्ट है कि कर्मवन्धके कारणोंमें ज्ञानभावको ग्रहण नहीं किया गया है। साथ ही इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि औदयिक भावों-में मात्र मिथ्यात्व आदिका ही ग्रहण हुआ है, मनुष्यगति आदिका नहीं।

समयसार परमागममें जो सम्यग्दृष्टिको अवन्धक कहा गया है सो वह ज्ञानधाराकी मुख्यतासे ही कहा गया है। उसके कर्मधारा गौण है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सविकल्प अवस्थामें भी रागादि भावोंको आत्म-रूपसे 'स्व' नहीं मानता। रागादिभाव शरीरके ज्वर आदिके समान रोग है, जिससे ज्ञानधारारूप परिणत होकर वह मुक्त होनेके उपायमें निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

१२. निश्चयनयका विषय

यद्यपि अभी तक हम जो कुछ भी लिख आये हैं उससे निश्चयनयके विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। फिर भी पंचाध्यायीकारकी दृष्टिको सामने रख कर उस पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। वहाँ निश्चयनयके विषयका निर्देश करते हुए लिखा है—

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥ १-५९८॥

व्यवहारः यथा स्यात् सद् द्रव्य. ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥ १-५९९ ॥

सद्भूत और असद्भूत जितना भी व्यवहार है वह प्रतिषेध्य है अर्थात् निश्चयनय परिणत आत्माके अनुभवमें उसका स्वयं निषेध हो जाता है अथवा ध्येयकी दृष्टिसे भी वह प्रतिषेध्य है—व्यवहारनयका विषय ध्येयरूपसे स्वीकार करने योग्य नहीं है, अतः निश्चयनय स्वरूपसे उसका प्रतिषेध करनेवाला है। इसलिये व्यवहारनयका प्रतिषेधरूप जो भी पदार्थ है वही निश्चयनयका वाच्य है ॥१-५८॥ जैसे यह कहना कि 'द्रव्य सत् है या जीव ज्ञानवान् है' यह व्यवहारनय है और इसका प्रतिषेध करनेवाला 'न' यह निश्चयनय है। यह सब नयोंका राजा है ॥१-५९९॥

यहाँ व्यवहारनयका जितना भी वाच्य (विषय) है वह निश्चयनयका वाच्य नहीं है, मात्र इसलिये निश्चयनयका वाच्य 'न' कहा गया है तथा इन दोनों नयोंमें जो प्रतिषेध्य और प्रतिषेधकपना स्वीकर किया गया है उसका भी कारण यही है। इसका अर्थ यह नहीं कि निश्चयनयस्वरूप अनुभूतिकी दशामें 'मैं व्यवहारनय स्वरूप नहीं हूँ' ऐसा अनुभव होता है, क्योंकि आत्माका अनुभव तो विधिरूपसे ही होता है, परन्तु वह अनुभव व्यवहारनयस्वरूप नहीं है तथा आत्मा परमार्थसे व्यवहारनय स्वरूप नहीं है ऐसे निर्णयपूर्वक विधिरूपसे ही आत्मा अनुभूत होता है। यही कारण है कि श्री समयसारमें विधिरूपसे आत्माका ख्यापन करनेके लिये सर्वत्र व्यवहारनयको प्रतिषेध्य बतलाया गया है। इसके लिये मुख्यरूपसे गाथा १४-१५ द्रष्टव्य है। इसी तथ्यको नयचक्रमें 'णहइ दव्वसहावं' इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसका विशेष स्पष्टीकरण इसी अध्यायमें हम पहले कर ही आये है।

बात यह है कि संसार और मुक्ति ये परस्पर विरुद्ध भाव है। संसाररूप आत्माको अनुभवने पर जीव मुक्त नहीं हो सकता और मुक्ति आदि व्यावहारिक पदोंसे अत्यन्त भिन्न आत्माके अनुभवनेपर संसारका अन्त हुए विना रहता नहीं। दूसरी बात यह है कि जितना भी व्यवहारनय है वह सब विकल्परूप है। वस्तुतः न तो वस्तुमें किसी भी प्रकारके उपचरित धर्मका अस्तित्व है और न ही गुणादिकी अपेक्षा वह खण्ड खण्डरूप ही है। कार्यादिककी दृष्टिसे या वस्तुस्वरूपको समझनेकी दृष्टिसे विकल्परूप

ऐसा व्यवहार होता है और इसीलिये आगममें व्यवहारनयकी स्वीकृति है। जब मोक्षको प्राप्त करनेकी दिशामें प्रयत्नशील जीव अपने त्रिकाली स्वभावको अनुभवता हुआ निर्विकल्प होता है तब उक्त प्रकारके विकल्पोंका अभाव होकर आत्माका एकरस अनुभव होता है जो व्यवहार (विकल्प) के निषेधरूप होनेसे प्रकृतमें निश्चयको प्रतिषेधक और व्यवहारको प्रतिषेध्य कहा गया है।

जब हम निश्चयनयसे विधिको मुख्य कर आत्माके स्वरूपका विचार करते हैं तो वह हमें स्वरूपसे ज्ञायक प्रतीतिमें आता है। आत्मा स्वभावसे जाननेवाला है, यह अनुजीवी धर्म है यह इसका तात्पर्य है। ज्ञानके कारण वह जाननेवाला है ऐसा विकल्प या कहना व्यवहार है, क्योंकि ऐसा माननेपर ज्ञानके कारण आत्माकी प्रसिद्धि माननी पड़ती है, स्वरूपसे नहीं। धर्मी क्या है ऐसी जब जिज्ञासा की जाय तब अनन्त धर्मोंसे भिन्न उसके स्वतन्त्र स्वरूपको स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि धर्मीके आत्मभूत लक्षणसे धर्मोंका आत्मभूत लक्षण अत्यन्त भिन्न है। धर्मी सब धर्मोंमें व्यापक है, जब कि यदि सहभावी धर्म भी हो तो वह सब धर्मोंमें व्यापक नहीं है, अन्य धर्म उससे भिन्न हैं। व्यतिरेकी धर्मोंकी तो बात ही अलग है। और इसी आधार पर धर्म और धर्मीमें कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है। आप्तमीमांसामें इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए कहा भी है—

> धर्म-धर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया।
> न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारक-ज्ञापकांगवत्॥ ७५॥

धर्म और धर्मीका अविनाभाव (एकके बिना दूसरेका नहीं पाया जाना) परस्परकी अपेक्षासे सिद्ध होता है, उनका स्वरूप नहीं। निश्चयसे वह तो कारकके अंग कर्ता और कर्म तथा ज्ञापकके अंग बोध्य और बोधकके समान स्वतःसिद्ध है।

इस आगमप्रमाणसे हम जानते हैं कि जैसे कर्ताका स्वरूप स्वतःसिद्ध है और कर्मका स्वरूप स्वतःसिद्ध है। यदि परस्परकी अपेक्षासे इनका स्वरूप माना जाता है तो दोनोंका अभाव प्राप्त होता है। अथवा जैसे बोधक (प्रमाण) का स्वरूप स्वतःसिद्ध है और बोध्य (प्रमेय) का स्वरूप स्वतःसिद्ध है। यदि परस्परकी अपेक्षासे इनका स्वरूप माना जाता है तो दोनोंका अभाव प्राप्त होता है। इसी प्रकार धर्म और धर्मीके विषयमें भी जानना चाहिये। यही कारण है कि आगममें विधिरूपसे आत्माका स्थापन करते हुए वह स्वरूपसे ज्ञायक स्वीकार किया गया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपेक्षापूर्वक कथन करना यह व्यवहार है। इसलिये ऐसे कथनमें या अपेक्षा पूर्वक जाननेमें मात्र व्यवहारको स्वीकार किया गया है। वस्तु तो स्वरूपसे स्वयं और निरपेक्ष ही होती है।

इस प्रकार प्रकृतमें विधिरूपसे निश्चय नयके विषयको स्वीकार करने पर वह ज्ञायक आत्मा ही प्रतीतिमें आता है और निषेध रूपसे उसके विषयका विचार करने पर वह पराश्रित विकल्परूप व्यवहारके निषेधरूपसे प्रतीतिमें आता है, यह सिद्ध हुआ। विचार कर देखा जाय तो ध्येयकी अपेक्षा स्वाश्रित विकल्प भी अनुभवकी दशामें निषिद्ध हो जाता है।

इसको और अधिक स्पष्ट करके देखा जाय तो पराश्रित विकल्पका तो बुद्धिपूर्वक निषेध किया जाता है। निषेध किया जाता है इसका यह अर्थ है कि मैं ये नहीं हूँ ऐसा बुद्धिपूर्वक स्वीकार किया जाता है। परन्तु जैसे जैसे आत्मा अनुभवके सन्मुख होकर स्वयं अनुभूतिरूपसे परिणत होता है वैसे वैसे उसका विवक्षित ध्येयाश्रित विकल्प स्वयं मन्द-मन्द होता हुआ अनुभूति की दशामें स्वयं छूट जाता है।

१३. उपचार पदका अर्थ

आत्मख्याति टीकामें उपचार पदका अर्थ करते हुए लिखा है—

'यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः।

और जो व्याप्य-व्यापक भावका अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गलद्रव्यरूप कर्मको आत्मा ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है इस प्रकार जो विकल्प होता है वह उपचारस्वरूप है।

इसे गाथामें व्यवहारका वक्तव्य बतलाया और आत्मख्याति टीकामें उक्त प्रकारके विकल्पको उपचार कहा है। तथा आगेकी गाथाकी आत्मख्याति टीकामें भी जीव दूसरे द्रव्यके दोष-गुणका उत्पादक है ऐसा जो भी व्यवहार होता है उसे विकल्प कहकर उपचार कहा गया है।

इससे मालूम पड़ता है कि उक्त प्रकारके विकल्पका नाम ही व्यवहार या उपचार है। इतना अवश्य है कि यह उपचार निराधार न किया

जाकर किसी प्रकारके निमित्त और प्रयोजनके होनेपर ही किया जाता है यह भी इससे ज्ञात होता है। इसीलिये आगममें उपचारकी प्रवृत्ति किस स्थितिमें होती है इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते।

मुख्यका अभाव होनेपर अर्थात् मुख्यकी विवक्षा न होनेपर तथा किसी भी निमित्त और प्रयोजनके होनेपर उपचार (इसने इसको किया या इससे यह हुआ इत्यादि विकल्प) प्रवृत्त होता है।

इसीलिए आगममें असद्भूत व्यवहारका यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूत व्यवहारः। स किल उपचारः।

कोई धर्म अन्य वस्तुमें प्रसिद्ध हो, उसे अन्य वस्तुमें आरोपित करना यह असद्भूत व्यवहार है और इसीका नाम उपचार है।

अब विचार कीजिये कि एक वस्तुके धर्मको अन्य वस्तुमें कैसे आरोपित किया जायगा। वह या तो विकल्प द्वारा सम्भव है या विकल्पपूर्वक वचन द्वारा सम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि वह विकल्प या उक्त प्रकारका वचन ही तो उपचाररूप होगा। यह उस विकल्प या वचनकी विशेषता है जिससे हम उसे उपचाररूप स्वीकार करते हैं। जैसे जब हम किसीके कारण-धर्मका अविनाभाव सम्बन्धवश अन्य वस्तुमें आरोप करते हैं तो वह कारणकी अपेक्षा विकल्पके द्वारा आरोपित कारण कहलाता है और विकल्प द्वारा जिसका वह आरोपित कारण स्वीकार किया जाता है उसका वह आरोपित कार्य कहलाता है। इसीलिये व्यवहारहेतुको आगममें अपरमार्थभूत स्वीकार किया गया है। यहाँ वन्ध्यापुत्रका उदाहरण लागू इसलिये नहीं होता है, कारण कि वन्ध्या तो है पर उसका पुत्र नहीं है। जब कि आरोपित कार्य-कारणभावमें दो पदार्थ स्वतन्त्र हैं। किन्तु जिस मुख्य कारणका वह कार्य है उसे गौणकर दिया गया है और जिसका वह कार्य नहीं है उसका उसे कार्य कहा गया है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार या उपचारका अर्थ ही विवक्षित विकल्प है और इस आधार पर जो कार्य-कारण कहा जाता है वह व्यावहारिक, उपचरित और कल्पित कार्य-कारण कहलाता है।

शंका—स्थापना निक्षेपमें भी विकल्पकी मुख्यता और द्रव्य निक्षेपमें तथा उसके भेद कर्म-नोकर्ममें भी विकल्प की मुख्यता है। फिर इन्हें अलग-अलग परिगणित क्यों किया गया है ?

समाधान—स्थापना निक्षेपमें अविनाभाव और कालप्रत्यासत्तिकी मुख्यता नहीं है जब कि द्रव्यनिक्षेपके भेद कर्म और नोकर्ममें अविनाभावके साथ कालप्रत्यासत्तिकी मुख्यता है। देखो, कोई व्यक्ति या पदार्थ सामने हो तो मात्र उसी समय उसको किसी अन्य वस्तुमें कल्पना द्वारा उपासना नहीं की जायगी। किन्तु कार्य-कारणमें विवक्षित वस्तु अपना कार्य कर रही है, फिर भी उसे गौण कर कालप्रत्यासत्तिवश वह कार्य अन्यका कहा जाता है या उससे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनोंमें महान् भेद है।

शंका—प्रतिकृति तैयार करते समय कभी-कभी वह व्यक्ति या वस्तु सामने होती है या बुद्धिपूर्वक उसे सामने रखकर उसकी प्रतिकृति बनाई जाती है ?

समाधान—उस समय वह व्यक्ति या वस्तु उस प्रतिकृतिरूप कार्यका निमित्त है, इसलिये वहाँ द्रव्यनिक्षेपकी मुख्यता है, स्थापनानिक्षेपकी नहीं। इतना अवश्य है कि नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेप ये तीनों विकल्पप्रधान होनेसे व्यवहारका विषय है। इसी दृष्टिसे आगममें इन्हें द्रव्यार्थिकनयमें परिगणित किया गया है। इसी प्रकार भेदव्यवहारमें भी विकल्पकी मुख्यता होनेसे वह भी व्यवहारनयमें परिगणित किया गया है।

अध्यात्ममें भेदव्यवहारको जो स्थान मिला हुआ है वह इसलिये नहीं कि भेदव्यवहारके विषयको लक्ष्यमें लेनेसे स्वभावभूत आत्माकी प्राप्ति होती है, बल्कि इसलिये कि चाहे असद्भूत व्यवहारनय हो या सद्भूत व्यवहारनय हो दोनों ही परमार्थकी प्राप्तिमें उपेक्षणीय हैं, क्योंकि उनके विषयको लक्ष्यमें लेने पर विकल्पकी चरितार्थता बनी रहती है। इसलिए ये दोनों प्रकारके ही व्यवहार कर्मबन्धके हेतु माने गये हैं। यदि यह कहें कि वे कर्मबन्धस्वरूप हैं तो भी कोई अत्युक्ति नहीं है। इस प्रकार उपचार पदसे क्या अर्थ ग्रहण किया गया है इसका स्पष्टीकरण किया।

१४. व्यवहारनयका विवेचन

इस प्रकार विवक्षित विकल्प, उपचार और व्यवहार ये तीनों एका-

र्थक होनेसे प्रकृतमें आगममें व्यवहारनयके जो भेद दृष्टिगोचर होते हैं उनकी यहाँ सांगोपांग मीमांसा कर लेना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि चाहे मोक्षफलरूप कार्य हो या लौकिक कोई अन्य कार्य हो वह परमार्थसे जैसे स्वयं एक है वैसे ही उसका परमार्थ हेतु भी स्वयं एक ही होता है, क्योंकि वह कार्य एक वस्तुका परिणाम है। और प्रत्येक वस्तु परिणामस्वभावी होनेसे वह प्रति समय अपने उपस्थित परिणामके व्ययके साथ दूसरे परिणामरूप स्वयं परिणमती है और इस प्रकार उसका यह क्रम अनादिकालसे अनन्त काल तक प्रवर्तित रहता है। ऐसा होने पर भी लोकमें और आगममें जो बाह्य कारणोंकी स्वीकृति है वह इसलिए नहीं कि प्रति समय कार्यरूप परिणमते समय वह वस्तु अपनेसे भिन्न अन्य वस्तुको सहायता लेती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वरूपसे स्वसहाय होती है। जैसे वह अपने अस्तित्वके लिए स्वसहाय हैं वैसे ही वह अपने परिणामके लिए भी स्वसहाय है, क्योंकि अस्तित्वका अर्थ ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपसे वस्तुका सदाकाल बना रहना है। जहाँ प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यरूपसे अस्तिस्वरूप है वहाँ वह उत्पाद-व्ययरूपसे भी अस्तिस्वरूप है। और यह हो नही सकता कि उसका ध्रौव्यरूप अस्तित्व तो स्वसहाय हो और उत्पाद-व्ययरूप अस्तित्व पराश्रित हो, क्योंकि इन तीनोंमें कथंचित् अव्यतिरेक है, इनमें जो भेद माना जाता है वह संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन आदिकी अपेक्षा ही भेद माना जाता है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो प्रत्येक वस्तुका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

यह वस्तुस्थिति है। इसके ऐसा होते हुए भी लोकमें और आगममें प्रत्येक कार्यके होते समय जो बाह्य वस्तुमें कारणता स्वीकार की गई है वह विवक्षित कार्यको प्रसिद्धिका हेतु होने मात्रसे ही स्वीकार की गई है, उस कार्यका जनक होनेसे या उसका उत्पत्तिमें सहायक, उपकारक आदि होनेसे नहीं। यह मात्र व्यवहार है जो अन्वय-व्यतिरेक या कालप्रत्यासत्तिवश विकल्परूपसे प्रवृत्त होता है। इतना ही नहीं ऐसा व्यवहार मात्र संयोग होनेसे या विकल्पवश भी प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है।

यह तो स्पष्ट है कि परमार्थसे स्वाश्रितपनेका भान होने पर उसके पूर्ण स्वाश्रित होनेके लिये यह व्यवहार अनुपादेय होनेसे त्यागने योग्य ही है। अन्यथा उसे स्वाश्रितपनेका भान ही नहीं हुआ यह कहा जायगा। इसलिये अध्यात्मवृत्त जीव 'मैं ऐसे कल्पित व्यवहारके परवश अनादिकालसे क्यों बना चला आया' इसके मूल कारणको जानकर उसमें हेय-

वुद्धि स्वीकारता है और जो स्वाश्रित होनेका साक्षात् उपाय है उसमें उपादेय वुद्धि करके उसरूप होनेके प्रयत्नमें जागरूक रहता है।

यहाँ पर हमने 'साक्षात्' शव्दका प्रयोग किया है सो इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जो सर्वथा हेय है वह परम्परासे स्वाश्रित होनेका उपाय है। किन्तु जो स्वाश्रित होनेका उपाय है वह एक ही है, उसके साथ दूसरा अन्य किसी भी प्रकारका उपाय नहीं यह दिखलानेके लिये प्रकृत में उपाय पदके पूर्व साक्षात् पदका प्रयोग किया है।

तत्त्वार्थसूत्रमें **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** यह सूत्र आया है। इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक पृ० ६४ में लिखा है—

निश्चयनयात्तूभयावधारणमपीष्टमेव, अनन्तरसमयनिर्वाणजननसमर्थानामेव सद्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः परेषामनुकूलमार्गताव्यवस्थानात्। एतेन मोक्षस्यैव मार्गो मोक्षस्य मार्ग एवेत्युभयावधारणमपीष्टमेव प्रत्यायनीयम्।

निश्चयनयकी अपेक्षा तो दोनों ओरसे अवधारण करना इष्ट ही है, अभ्यभिहित अनन्तर उत्तर समयमें निर्वाणके उत्पन्न करनेमें समर्थ सम्यग्दर्शनादिमें मोक्षमार्गपना वनता है तथा इनसे भिन्न जो पूर्व समीपवर्त्ती सम्यग्दर्शनादिक है उनमें अनुकूल मोक्षमार्गपनेकी व्यवस्था हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शनादिक मोक्षका ही मार्ग है या सम्यग्दर्शनादिक मोक्षका मार्ग ही है इस प्रकार दोनों ओरसे एव पद द्वारा अवधारण करना इष्ट ही है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

इसी तथ्यका निर्देश करते हुए प्रवचनसार गाथा ८२ की तत्त्वदीपिका टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने जो कुछ कहा है—उसका भाव यह है कि अतीत कालमें जितने तीर्थंकर हुए उन्होंने कर्मनाशका अन्य कोई उपाय नहीं होनेसे एकमात्र इसी निश्चय नयस्वरूप मोक्षमार्गके द्वारा कर्मनाश कर परमात्मदशा प्राप्त की और अन्य जीवोंको भी उसी मार्गका उपदेश दिया। इसलिये मोक्ष प्राप्त करनेका अन्य कोई मार्ग नहीं है यह निश्चित होता है।

इतने वक्तव्यसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे हम व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं वह वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है। मात्र सहचर सम्वन्ध वश उसमें निमित्तताका व्यवहार करके उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है, वस्तुतः वह मोक्षमार्ग नहीं है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पण्डित प्रवर टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थमें लिखते हैं—

अन्तरंगमें तो आपने निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गको

पहिचाना नहीं, जिन-आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं। सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है व सहचारी है उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा जाय सो व्यवहार मोक्षमार्ग है, क्योंकि निश्चय-व्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, इसलिये निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। तथा निश्चय-व्यवहार दोनोंको उपादेय मानता है वह भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय-व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है। कारण कि समयसारमें ऐसा कहा है— पृ० २४८-२४९।

ववहारोऽभूदात्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूपका निरूपण नहीं करता, किसी अपेक्षा उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्धनय जो निश्चयनय है वह भूतार्थ है, जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा निरूपण करता है। इस प्रकार इन दोनोंका स्वरूप तो विरुद्धता सहित है।

इस प्रकार पराश्रित विकल्पका नाम व्यवहार नय है या उपचार नय है यह सिद्ध होनेपर आगे नयचक्र व आलाप-पद्धति आदिमें अनेक प्रकारसे जो नयोंकी प्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है उसे ध्यानमें रखकर हम देखेंगे कि अध्यात्ममें किस नय पद्धतिसे तत्त्वप्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है और चरणानुयोगमें किस नय पद्धतिको अंगीकारकर आचारादि की प्ररूपणा की गई है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नय निक्षेप और प्रमाणके स्वरूप और उनके भेदोंका कथन द्रव्यानुयोगका विषय है। पर उनमेंसे किस नयसे किस अनुयोगमें किस विषयकी प्ररूपणा की गई है यह दिखलानेके लिए उस अनुयोगमें भी उन नयोंका निर्देश किया जाता है यह पद्धति पुरानी है। षट्खण्डागम और कषायप्राभृतमें इस पद्धतिके स्थल-स्थल पर दर्शन होते हैं। उसी सरणिका अनुसरणकर अनगारधर्मामृतमें भी उसमें वर्णित विषयको नयपद्धतिसे समझनेके लिये कतिपय नयोंका दिग्दर्शन कराया गया है। तदनुसार वहाँ शुद्ध निश्चय नयके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सर्वेऽपि शुद्ध-बुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति

सभी जीव शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाववाले हैं इस प्रकार निश्चय करना शुद्ध निश्चयनय है।

यहाँ 'शुद्ध-बुद्धैकस्वभावा:' पदका अर्थ करते हुए लिखा है—

शुद्ध-बुद्धैकस्वभावाः शुद्धो रागादिरहितो बुद्धो ज्ञानपरिणतः एकः केवलः स्वभावो येषां ते।

शुद्ध पदका अर्थ है कि निश्चयसे सभी जीव रागादिरहित हैं और बुद्धपदका अर्थ है कि सभी जीव ज्ञानपरिणत हैं। निश्चयसे देखा जाय तो उनका एकमात्र यही स्वभाव है यह एक स्वभावपद देकर स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अध्यात्ममें निश्चयनयका जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है दूसरे शब्दोंमें उसे ही यहाँ स्वीकार किया गया है। विचार कर देखा जाय तो सभी अनुयोगोंकी रचनाका मुख्य प्रयोजन वीतरागता ही है। शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्माकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब यह आत्मा अपने त्रिकाली स्वभावके सन्मुख हो उसमें तन्मय होता है। इससे हम जानते हैं कि ज्ञानीके बाह्यमें जो मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति देखी जाती है वह स्वर्गादिककी कामना या ऐहिक सुखकी कामनासे नहीं होती है। बाह्य प्रवृत्तिके मूलमें रागकी मुख्यता है, इसलिये उसको निमित्तकर पुण्यबन्ध और उसके फलस्वरूप स्वर्गादिककी प्राप्ति होनेपर भी वह उसकी अभिलाषासे सर्वथा मुक्त रहता है। और इसीलिये आगममें सम्यग्दृष्टिके लक्षणमें उसे निदानसे मुक्त स्वीकार किया गया है।

यद्यपि चरणानुयोगमें व्रतोंके अन्य दो शल्योंके समान उसे निदान शल्यसे रहित ही बतलाया गया है। सम्यग्दृष्टिके विषयमें वहाँ कुछ भी नहीं कहा गया है। परन्तु यह विवक्षाविशेषके कारण ही ऐसा कहा गया समझना चाहिये। बात यह है कि चरणानुयोग मुख्यतया ज्ञानी गृहस्थों और मुनियोंकी बाह्य प्रवृत्तिको लक्ष्यमें रखकर ही लिपिबद्ध हुआ है, इसलिये उसमें व्रतोंकी मुख्यतासे निदान करनेका निषेध किया गया है। वस्तुतः जो सम्यग्दृष्टि होता है, उसके पर वस्तुके ग्रहण-त्यागमें सहज ही उदासीनता वर्तती रहती है। ज्ञानधाराका ऐसा ही कुछ माहात्म्य है जिससे वह ऐसी वासनासे सहज ही मुक्त रहता है। इसलिये जो सम्यग्दृष्टि है वह न तो ऐहिक कामनासे देवभक्ति आदि कार्यमें प्रवृत्त होता है और न ही परलोकमें मुझे स्वर्गादि की प्राप्ति होओ ऐसी कामनाके साथ देवभक्ति, तीर्थ वन्दना, दान आदि कार्योंमें प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार चरणानुयोगमें विवक्षित प्रयोजनसे जो प्रतिपादनशैली स्वीकार की गई है उसे लक्ष्यमें रखकर मुख्यतया औदायिक आदि भावों को भी आत्मा का स्वीकार कर प्ररूपणा भी गई है। आगे अशुद्ध निश्चयके स्वरूपका निर्देश करते हुए वहाँ लिखा है—

शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्या एव आत्मेत्यस्ति निश्चयः ॥१०३॥

रागादिक ही आत्मा है यह अशुद्ध निश्चयनय है।

इस श्लोकके उत्तरार्धकी टीका इस प्रकार है—

तथाऽशुद्धनिश्चयोऽस्ति । कथम् । इति किमिति ? भवति, कोऽसौ ? आत्मा । के ? रागाद्या एव—रागद्वेषादिपरिणात्मक इत्यर्थः ।

राग-द्वेषादि परिणामवाला आत्मा है बुद्धिमें ऐसा स्वीकारना अशुद्ध निश्चयनय है।

यहाँ निश्चयनयके शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय ऐसे दो भेद दिखलानेका कारण यह है कि साध्यकी दृष्टिसे शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्माको स्वीकार करके भी प्रयोजन विशेषसे आत्माको रागादिरूप स्वीकार किया गया है। अब आगे इस दृष्टिसे व्यवहारनयके भेदोंको सोदाहरण स्पष्ट करते हुए वहाँ बतलाया है—

सद्भूतेतरभेदाद्व्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः ।
गुण-गुणिनोरभिध्यायामपि सद्भूतो विपर्ययादितरः ॥१०४॥

सद्भूत और असद्भूतके भेदसे व्यवहार दो प्रकारका है। गुण-गुणीमें अभेद होनेपर भी भेदरूप उपचार करना सद्भूत व्यवहार है। तथा दो द्रव्योंमें भेद होने पर भी अभेदरूप उपचार करना असद्भूत व्यवहार है ॥१०४॥

सद्भूतः शुद्धेतरभेदाद् द्वेधा तु चेतनस्य गुणाः ।
केवलबोधादय इति शुद्धोऽनुपचरित संज्ञोऽसौ ॥१०५॥

शुद्ध सद्भूत व्यवहार और अशुद्ध सद्भूत व्यवहारके भेदसे सद्भूत-व्यवहार दो प्रकारका है। केवलबोधादिक अर्थात् असहाय ज्ञान दर्शनादि जीवके हैं ऐसा स्वीकार करना शुद्ध सद्भूत व्यवहार है। इसे अनुपचरित सद्भूत व्यवहार भी कहते हैं ॥१०५॥

मत्यादिविभावगुणाश्चित इत्युपचरितकः स चाशुद्धः ।
देहो मदीय इत्यनुपचरितसंज्ञस्त्वसद्भूतः ॥१०६॥

मतिज्ञान आदिक जीवके गुण हैं ऐसा स्वीकार करना अशुद्ध सद्भूत व्यवहार है। इसीका दूसरा नाम उपचरित सद्भूत व्यवहार है।

संश्लेषसम्बन्ध होनेसे शरीर मेरा है ऐसा स्वीकार करना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है ॥११६॥

देशो मदीय इत्युपचरितसमाह्वः स एव चेत्युक्तम् ।
नयचक्रमूलभूतं नयषट्कं प्रवचनपट्विष्टैः ॥१०७॥

संश्लेषसम्बन्धका अभाव होनेसे 'देश मेरा है' ऐसा जानना उपचरित असद्भूत व्यवहार है। जो प्रवचनमें पटु हैं उन्होंने नयचक्रके मूलभूत ये छह नय कहे हैं।

नैगमादिक सात नय यहाँ क्यों नहीं कहे गये इसका समाधान पण्डितप्रवर आशाधरजी इन शब्दोंमें करते हैं कि जो प्रवचनपटु हैं अर्थात् अध्यात्मतन्त्रके रहस्यको जाननेवाले है उन्होंने ये छह नय कहे हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि ये छह नय स्वल्परूपमें अध्यात्म भाषाकी दृष्टिसे कहे गये हैं और आगमभाषाकी दृष्टिसे नैगमादि सात नय हैं।

इससे आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें परम साधक अध्यात्मको लक्ष्यमें रखकर चरणानुयोगमें क्या प्रतिपादन शैली स्वीकार की गई है इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि चरणानुयोग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक अशुभाचारके निरोधपूर्वक शुभाचाररूप प्रवृत्तिको जो मुख्यतासे स्वीकार करता है वह इसलिये नहीं स्वीकार करता कि वह आत्माका परमार्थस्वरूप धर्म है या उसका परमार्थ साधन है। यह दिखलाना उसका प्रयोजन भी नहीं है। वह तो केवल प्राक्पदवीमें सहचर सम्बन्धवश ही स्वीकार किया गया है और इसीलिये आगममें कही उसे साधक कहा गया है और कहीं निमित्त भी कहा गया है। जिसने अध्यात्मके रहस्यको जाना है वही इस तथ्यको समझता है और इसीलिये ही पण्डितप्रवर आशाधरजी ने 'प्रवचनपरिष्टैः' इस पदका 'अध्यात्मतन्त्ररहस्यज्ञैः' यह अर्थ किया है।

१६. अध्यात्मवृत्त होनेका उपाय

यही कारण है कि जो जीवनमें अध्यात्मवृत्त होनेके मार्गका अनुसरण कर रहा है वह यह अच्छी तरहसे जानता है कि आत्माकी सहज शुद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये उसमें एकाग्र होनेका आलम्बनभूत आत्मा भी सहज शुद्ध ही होना चाहिये, क्योंकि सहज स्वभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्माका हो जाना तभी सम्भव है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार परमागममें यह सूत्रगाथा लिपिबद्ध हुई है—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

भव्य जीवको लक्ष्यकर आचार्यदेव कहते हैं कि तूँ मोक्षमार्गमें अपने आत्माको स्थापित कर, उसीका ध्यान कर, उसीका अनुभव कर और उसीमें निरन्तर रमण कर, अन्य द्रव्योंमें इष्टानिष्ट बुद्धिद्वारा रममाण मत हो ॥४१२॥

अभेद दृष्टिसे स्वभावभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्रस्वरूप आत्मा अखण्ड और एक ही है। इसका अर्थ है कि प्रज्ञाके बलसे जो तत्स्वरूप अपने आत्मामें रममाण होता है वही तत्स्वरूप होनेका अधिकारी होता है। परमार्थसे ऐसा ही आत्मा साध्य है और ऐसा ही आत्मा साधन है। ये दो नहीं है। इस रूपसे वर्तनेवाले जीवके पर द्रव्यस्वरूप जो राग-द्वेषादि हैं उनमें अणुमात्र भी प्रवृत्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, अन्य द्रव्योंको जाननेरूप प्रवृत्तिसे भी वह मुक्त रहता है। परम ध्यानरूप होनेका यदि कोई उपाय है तो वह एकमात्र यही है और इसीलिये ही इसे आगममें निर्विकल्प समाधि शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। अध्यात्मकी दृष्टिसे आगममें समाधिके दो ही भेद हैं—सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधि आत्माके लक्ष्यसे होनेपर भी उसमें विकल्पकी चरितार्थता रहती है। परन्तु निर्विकल्प समाधि पर निर-पेक्ष ज्ञानभावसे आत्माको अनुभवनेपर ही प्राप्त होती है। मोक्ष प्राप्तिकी दृष्टिसे आगे बढ़नेका यदि कोई मार्ग है तो वह निर्विकल्प समाधि ही है। नयचक्र आदि जिनवाणीमें इसीलिये ही धर्मध्यानको सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकारका स्वीकार किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्विकल्प आत्माकी प्राप्तिके लिये निर्विकल्प ध्यानका आलम्बनभूत स्वात्मा निर्विकल्प ही स्वीकार किया गया है। इसीको कतिपय आचार्योने कारण परमात्मा भी कहा है, क्योंकि बीजरूपमें वह ऐसी शक्ति सम्पन्न होता है जो उत्तर कालमें स्वयं परमात्मा बन जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ७२ की आत्मख्याति टीकामें इसीलिये ही उसे भगवान् आत्मा शब्दद्वारा सम्बोधित किया है। अतः निर्विकल्प समाधिमें विकल्पके लिये अणुमात्र भी स्थान नहीं है, इसलिये विकल्पकी उत्पत्तिमें जितनी भी बाह्याभ्यन्तर सामग्री स्वीकार की गई है वह पर हो जाती है। न तो उसे निर्विकल्प आत्मामें किसी भी अपेक्षासे स्थान प्राप्त है और न ही उसके आलम्बनसे निर्विकल्प समाधिरूपसे परिणत स्वात्मामें ही उसे किसी प्रकारका स्थान प्राप्त है।

इस प्रकार स्व-परका विवेक प्राप्त होनेपर जो पर है उसमें सद्भूत क्या है और असद्भूत क्या है और जो सद्भूत हैं वह क्यों सद्भूत हैं और जो असद्भूत है वह क्यों असद्भूत है ऐसी जिज्ञासाके समाधान-स्वरूप समयसार गाथा ६ और ७ तथा उसकी आत्मख्याति टीकामें जो प्ररूपणा की गई है उसका स्पष्टरूपसे निर्देश हम पहले ही कर आये हैं। फिर भी पूरे प्रकरणपर पंचाध्यायो आदि अन्य आगमोंके प्रकाशमें हम पुनः सांगोपांग विचार करेंगे।

१७. निश्चयनय एक है

पंचाध्यायीमें निश्चनयके भेदोंका निषेध करते हुए लिखा है—

> शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम ।
> अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥१-६६०॥
> इत्यादिकाश्च वहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते ।
> स हि मिथ्यादृष्टिः स्यात् सर्वज्ञावमानतो नियमात् ॥१-६६१॥

शुद्धनिश्चनय संज्ञक एक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है और अशुद्धनिश्चय-संज्ञक एक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है ॥ १-६६ ॥

इत्यादिरूपसे जिसके मतमें निश्चयनयके वहुतसे भेद कल्पित किये गये हैं वह नियमसे सर्वज्ञका तिरस्कार करनेवाला होनेसे मिथ्यादृष्टि है ॥१-६६१॥

वात यह है कि वस्तु स्वभावकी दृष्टिसे उसका स्वरूप एक ही प्रकार का है। वस्तुके त्रिकाली स्वरूपमें न तो उसका अपेक्षा भेदसे भेद करना सम्भव है और न ही उसे शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका हो कहा जा सकता है। इस नयके कथनमें तीन विशेषतायें होती है। एक तो वह अभेदग्राही होता है। दूसरे वह अनन्त धर्मोंको गौण कर धर्मीकी मुख्यतासे प्रवृत्त होता है और तीसरे वह विशेषण रहित होता है। अतः इस दृष्टिसे निश्चय नयके भेद करना आगम बाह्य है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

यद्यपि अन्यत्र निश्चनयके अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु वहाँ पर वस्तुके परनिरपेक्ष त्रिकाली स्वरूपको गौण करके ही ये भेद किये गये हैं, इसलिये त्रिकाली वस्तुस्वरूपको ध्यानमें लेने पर उन सवको निश्चय-नय कहना आगम वाह्य हो जाता है यह स्पष्ट ही है।

शंका—जव कि चरणानुयोगके अनुसार भी ध्येय रूपसे शुद्ध-बुद्ध आत्माको ही स्वीकारा जाता है ऐसी अवस्थामें निश्चयनयके दो भेदोंका कथन क्यों दृष्टिगोचर होता है ?

समाधान—चरणानुयोग बाह्य मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिप्रधान आगम है। उसमें ध्येयके अनुकूल कहो या मोक्षमार्गके अनुकूल कहो मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिकी मुख्यता है और इसीलिये उसकी शुभाचार संज्ञा है। यतः इसमें तदनुकूल रागकी चरितार्थता है और ऐसा नियम है कि यह जीव जब जिस भावरूपसे परिणमता है उस समय तन्मय होता है। प्रवचनसारका सूत्र वचन है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

परिणामस्वभावी होनेसे जीव जब शुभ या अशुभ भावरूपसे परिणमता है तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्ध भावरूपसे परिणमता है तब शुद्ध होता है ॥९॥

यह वस्तुस्थिति है। इसे ध्यानमें रख कर ही चरणानुयोगमें निश्चयनयके दो भेदोंकी अपेक्षा विषय विवेचन दृष्टिगोचर होता है। किन्तु अध्यात्मवृत्त होनेकी कथन पद्धति इससे सर्वथा भिन्न है। स्वभावभूत आत्माको गौण कर या उससे विमुख होकर अन्य किसी भी पदार्थमें उपयुक्त होना संसारकी परिपाटीको जीवित रखना है इस तथ्यको हृदयंगम कर स्वभावभूत आत्माकी प्राप्तिमें साधक अध्यात्म आगम पराश्रितपनेका पूर्ण निषेध करता है। अतः उसके अनुसार निश्चयनयमें किसी भी प्रकारका भेद करना स्वीकार नहीं किया गया है। यतः ध्येय एक प्रकारका है, अतः उसे स्वीकार करनेवाला निश्चयनय भी एक ही प्रकारका है। कलशकाव्यमें कहा भी है—

इममेवात्र तात्पर्यं हेयो शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद् बन्ध एव हि ॥१०२॥

प्रकृतमें यही तात्पर्य है कि शुद्धनय किसी भी प्रकार हेय नहीं है, क्योंकि समरस होकर उसरूप परिणमनेसे बन्ध नहीं होता और उसके विरुद्ध परिणमनेसे नियमसे बन्ध होता है ॥१२२॥

इस प्रकार उक्त कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुमुक्षु जीव मोक्षकी प्राप्तिमें परम साधक ध्येयके प्रति सतत जागरूक रहता है। विकल्पकी भूमिकामें भी होनेवाली पराश्रित प्रवृत्तिको वह अपना कार्य नहीं अनुभवता। गुणस्थान प्रक्रियामें जो विकल्पकी भूमिकाको प्रमादमें परिगणित किया है सो उसका भी यही आशय है। जैसे कोई व्यक्ति शरीरके रुग्ण होनेपर नीरोग होनेमें अत्यन्त साधक सामग्रीके प्रति निरन्तर जागरूक रहता है। वह रोगको हितकारी या उपादेय मान कर उसकी

उपासना नहीं करता, वैसे ही संसार रोगसे पीड़ित व्यक्ति मुक्त होनेमें परम साधक सामग्रीस्वरूप अपने ध्येयके प्रति निरन्तर जागरूक रहता है। वह संसार और संसारको कारणभूत सामग्रीको हितकारी या उपादेय मान कर उनकी उपासना नहीं करता।

कहीं-कहीं 'ऐसा कहा गया है कि अशुभका' निरोध करनेके लिये यह जीव शुभ प्रवृत्ति करता है, पर वस्तुस्थिति यह है कि जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकारकी परिणतियोंको समानरूपसे संसारका कारण जानकर उक्त भेद नहीं करता और निरन्तर स्वभाव प्राप्तिके प्रति सन्नद्ध रहता है वही क्रमशः मोक्षका अधिकारी होता है।

१८. व्यवहारनय

इस प्रकार उक्त विधिसे निश्चयनयका स्वरूप स्पष्ट होने पर अब व्यवहार नयकी अपेक्षा विचार करते हैं।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि आध्यात्ममें व्यवहार नयको अभूतार्थ कहा है। वहाँ अभूतार्थका क्या अर्थ स्वीकृत है यह भी हम पहले बतला आये हैं। अब उसी आधारसे यहाँ पर इस नयका और उसके भेदोंका सांगोपांग विचार करते हैं। प्रकृतमें व्यवहार यह यौगिक शब्द है। यह 'वि' और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृ धातुसे निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है कि भेद करके या समारोप करके मूल वस्तुका अपहरण करना। एक तो यह वस्तुके किसी एक धर्मको मुख्यकर वस्तुको जाननेरूप ज्ञानपरिणाम है और दूसरे पराश्रितपनेसे वस्तुको जाननेरूप ज्ञानपरिणाम है। इसलिये जितना भी व्यवहारनय है वह उदाहरणसहित विशेषण-विशेष्यरूप ही होता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पंचाध्यायीमें कहा भी है—

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषण-विशेष्यरूपः स्यात्।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥ १-५९६ ॥

उदाहरणसहित विशेषण-विशेष्यरूप जितना भी नय है वह व्यवहार नामक पर्यायार्थिक नय है, वह द्रव्यार्थिक नय नहीं है।

पंचाध्यायीमें इसी विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ॥ १-५२१ ॥
व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः।
स यथा गुण-गुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥ १-५२२ ॥
साधारण गुण इति यदि वासाधारणः सतस्तस्य।
भवति विवक्ष्यो हि यथा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥ १-५२३ ॥

पर्यायार्थिकनय यह संज्ञा अथवा व्यवहारनय यह संज्ञा एकार्थक है, क्योंकि इसमें समस्त व्यवहार उपचार मात्र है ॥१-५२१॥ व्यवहरण करनेका नाम व्यवहार है यह उसका मात्र शब्दार्थ है, वह परमार्थरूप नहीं है। जैसे कि गुण-गुणीमें सत्तारूपसे अभेद होनेपर भेद करना व्यवहारनय है ॥१-५२२॥ जिस समय सत्का साधारण या असाधारण गुण विवक्षित होता है उस समय व्यवहारनय ठीक माना गया है ॥१-५२३॥

इसे और भी स्पष्ट करते हुए वहाँ लिखा है—

> इदमत्र निदानं किल गुणवद् द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे ।
> अस्ति गुणोऽस्ति द्रव्यं तद्योगादिह लब्धमित्यर्थात् ॥ १-६३४ ॥
> तदसन्न गुणोऽस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः ।
> केवलमद्वैतं तद् भवति गुणो वा तदेव सद्द्रव्यम् ॥ १-६३५ ॥
> तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः ।
> केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ॥ १-६३६ ॥

व्यवहारको अभूतार्थ कहनेका कारण यह है कि सूत्रमें द्रव्यको जो गुणवाला कहा है सो उसका तात्पर्य यह है कि गुण है, द्रव्य है और उनके योगसे एक द्रव्य है ॥१-६३४॥

परन्तु यह मानना असत् है. क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं और न उनका संयोग ही है, किन्तु सत् केवल अद्वैत है, वह चाहे गुण होओ, सत् होओ और चाहे द्रव्य होओ, है वह अद्वैतरूप ही ॥१-६३५॥

इसलिए न्यायसे यह प्राप्त हुआ कि व्यवहारनय नय होकर भी अभूतार्थ है। जो केवल व्यवहारनयको अनुभवते हैं अर्थात् स्वीकारते हैं वे मिथ्यादृष्टि और पथभ्रष्ट हैं ॥१-६३६॥

इस प्रकार यहाँ पर सामान्य और विशेषमें भेदका उपचार कर जो वस्तुको विषय करता है वह अभूतार्थ है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सद्भूत व्यवहारनय इसीकी संज्ञा है। इसके मुख्य भेद दो हैं—अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय। जिस पदार्थका जो धर्म है, यह नय उसे उस पदार्थका कहता है। यह सद्भूत व्यवहारनय है। जैसे यह कहना कि जीवके ज्ञान है यह सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण है। यद्यपि विवक्षित धर्मस्वरूप जीव पदार्थ है, इसलिये सद्भूत है। किन्तु जीवके विवक्षित धर्मस्वरूप होनेपर भी उसका जीवसे भेद करके कथन किया गया है, इसलिए व्यवहार है। इसीलिए ही यह नय सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। इतनी विशेषता और है कि यदि बाह्य पदार्थको निमित्त आदि कर इस नयके विषयको विशेषण सहित नहीं किया

जाता है तो यही उदाहरण अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका हो जाता है और यदि इसे परयोगसे विशेषण सहित कर दिया जाता है तो वह उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण हो जाता है। जैसे जीवके ज्ञान है उसे स्व-पर प्रकाशक कहना। यद्यपि जीव स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेसे वह सहज ही प्रकाशकस्वभाव है, तथापि परके योगसे उसे परप्रकाशक कहना यह उपचार है, इसलिए यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण है। उनमेंसे अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पंचाध्यायीमें कहा है—

स्यादादिमो यथान्तर्लीना शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद् विशेषनिरपेक्षम् ॥१-५३५॥
इदमत्रोदाहरणं स्यात् जीवोपजीविजीवगुणः।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ॥१-५३६॥
घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षम् चिदेव जीवगुणः।
अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥१-५३७॥

जिस पदार्थकी जो अन्तर्लीन स्वभावभूत शक्ति है उसे जो नय अवान्तर भेद किये विना सामान्यरूपसे उस पदार्थकी वतलाता है वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है ॥१-५२५॥ इस विषयमें यह उदाहरण है कि जिस प्रकार ज्ञानगुण जीवोपजीवी होता है उस प्रकार वह जाननेमें ज्ञेयके ज्ञापक निमित्त होते समय ज्ञेयोपजीवी नहीं होता ॥१-५३६॥ जैसे घटके सद्भावमें जीवगुण घटकी अपेक्षा किये विना चित्स्वरूप ही है वैसे घटके अभावमें भी जीवगुण ज्ञान घटकी अपेक्षा किये बिना चित्स्वरूप ही है ॥१-५३७॥

तात्पर्य यह है कि जीवद्रव्य अनन्त धर्मोंको अन्तर्लीन किये हुए एक अखण्ड चित्स्वरूप पदार्थ है। उसमें एक स्वभावभूत धर्मके भेद द्वारा उसे जानना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात् परतोऽप्युपचर्यते यथा स्वगुणः ॥१-५३७॥
अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा।
अर्थः स्व-परनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ॥१-५३८॥
असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्।
तदपि न विनालम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ॥१-५३९॥

तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ।।१-५४०।।

यतः हेतुवश स्वगुणका पररूपसे अविरोधपूर्वक उपचार करना उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है ।।१-५४०।। जैसे अर्थविकल्परूप ज्ञान-प्रमाण है यह प्रमाणका लक्षण है, सो यहाँपर स्व-पर समुदायका नाम अर्थ है और चैतन्यका तदाकार होना इसका नाम विकल्प है ।।१-५४१।। सत्सामान्य निर्विकल्प होता है, इस दृष्टिसे यद्यपि यह लक्षण असत् है तथापि ज्ञापक निमित्तके बिना विषय-रहित उसका कथन नहीं किया जा सकता ।।१-५४२।। इसलिये स्वरूपसिद्ध होनेसे अन्यकी अपेक्षा किये बिना ही ज्ञान सत्स्वरूप है तथापि हेतुवश वह 'ज्ञान अन्यकी सहायतासे होता है' ऐसा मानकर उपचरित किया जाता है ।।१-५४३।।

तात्पर्य यह है कि अखण्ड होनेसे विवक्षित पदार्थका स्वरूपसिद्ध (असाधारण) धर्म द्वारा भेद कर तथा विशेषण सहित कर उस द्वारा विवक्षित पदार्थका कथन करना यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण है ।

१९. प्रयोजनके अनुसार नयोंकी प्ररूपणा

इस प्रकार विविध आगमोंमें उदाहरण सहित नयोंके जो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं उनका प्रयोजनके अनुसार प्रकृतमें ऊहापोह कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) नयप्ररूपणाका अर्थप्ररूपणाके साथ निकटका सम्बन्ध है, क्योंकि ज्ञानियोंके अर्थके निमित्तसे जो ज्ञान विकल्प होते हैं उन्हें ही आगममें नय कहा गया है । अन्तर इतना है कि जब वह विकल्प सकल-ग्राही होता है तब उसे प्रमाणमें गर्भित किया जाता है और जब एकांश-ग्राही होता है तब उसे नय कहा जाता है । यह ज्ञानविकल्प वस्तु तक पहुँचानेका प्रमुख साधन है । यदि नयविवक्षाको गौण कर दिया जाय तो कभी-कभी युक्त भी अयुक्तकी तरह प्रतिभासित होने लगता है और अयुक्त भी युक्तकी तरह प्रतिभासित होता है, इसलिये नयविवक्षाको समझ कर वस्तुका निर्णय करना यह आगमसम्मत मार्ग है ।

(२) उसमें भी जितने भी नय और उनके उत्तर भेद आगममें दृष्टि-गोचर होते हैं वे सब प्रयोजनके अनुसार ही निर्दिष्ट किये गये हैं । आज-कल आगम बाह्य जो एक परिपाटी चल पड़ी है कि कोई भी कल्पित दो युगल ले लिये और उनमेंसे एकको निश्चय कहना और दूसरेको व्यवहार कहना ऐसा नहीं है । जयपुरखानिया तत्त्व चर्चाके समय ही

हमें इस नये मतका भान हो गया था। उस समय हमने इसपर आपत्ति भी की थी। पर ऐसा लगता है कि ऐसे महाशयोंको आगमसम्मत मार्गसे कोई प्रयोजन नहीं है। जो अपने मनमें विकल्प उठा उसको लिखना और उसे ही आगम कहना यह इनका एक प्रकारसे उद्देश्य वन गया है। अस्तु, यहाँ हमें इतना ही लिखना है कि आगममें जो भी तत्त्वप्ररूपणा हुई है वह कहाँ किस दृष्टिकोणसे की गई है इसे स्पष्ट करनेके लिये ही आगममें नयोंके भेद-प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं और इसीलिये ही आलापपद्धति और नयचक्र आदिमें उन नयोंके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उनके आगमसम्मत उदाहरण भी दे दिये गये हैं। अनगारधर्मामृतमें भी इसीलिये उन नयोंके भेद-प्रभेदोंका उदाहरण सहित निर्देश किया गया है।

(३) प्रकृतमें खासकर स्वरूप प्राप्तिके परम साधनभूत अध्यात्म और तदनुषंगी चरणानुयोगकी दृष्टिसे विचार करना है। यह तो सुविदित वात है कि जो प्ररूपणा अभेद और अनुपचरितरूपसे की जाती है, शुद्ध निश्चयनयका विषय वही प्ररूपणा मानी जाती है, इस दृष्टिसे विचार करनेपर अध्यात्मप्ररूपणा और चरणानुयोगकी प्ररूपणामें जो अन्तर है वह हमारी समझमें आ जाता है। और इसीलिये समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थोंमें एकत्वकी प्राप्तिमें परम साधक जितनी भी प्ररूपणा हुई है वह एक शुद्ध निश्चयनयके अन्तर्गत ही मानी गई है। तथा इससे अतिरिक्त शेष समस्त प्ररूपणाको व्यवहारनयके विषयके रूपमें स्वीकार किया गया है। किन्तु चरणानुयोगकी प्ररूपणाकी यह स्थिति नहीं है, क्योंकि उसमें आत्माको शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपमें स्वीकार करके प्ररूपणा हुई है। यही कारण है कि यहाँ शुद्ध-बुद्ध एक आत्माको शुद्ध निश्चय-नयका विषय स्वीकार किया गया है और रागादिरूप आत्माको अशुद्ध निश्चयनयका विषय स्वीकार किया गया है। उसका भी कारण यह है कि चरणानुयोगमें मोक्षप्राप्तिके साधनभूत स्वतन्त्र मार्गका निर्देश न होते हुए भी वह ज्ञानीकी सविकल्प अवस्थामें सहज सीमाका स्थापन करनेके प्रयोजनसे ही लिपिवद्ध हुआ है।

अध्यात्ममें तो यह स्वीकार किया ही गया है कि जो परमार्थसे वाह्य है वह चाहे जितने व्रत धारण करे, नियमोंका पालन करे, पर वह निर्वाणका अधिकारी नहीं हो सकता। चरणानुयोग भी इसे स्वीकार करता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कहा है कि जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न है वही राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिये व्रत-नियम

आदि रूप चारित्र धारण करनेका अधिकारी होता है। संयममार्गणाका व्यापन करते हुए इसी तथ्यका निर्देश धवला पुस्तक १ में भी दृष्टि-गोचर होता है। यह कोई सोनगढ या किसी व्यक्तिविशेषकी दृष्टिका उद्घाटन नहीं है, किन्तु अनादिकालसे चला आ रहा सनातन यथार्थ मार्ग है। वर्तमानमें सोनगढ़ उसी सनातन और यथार्थ मोक्षमार्गका मात्र दिग्दर्शन करा रहा है।

(४) मोक्षमार्गकी दृष्टिसे ज्ञान आत्मा है इसे परमभावग्राही अध्यात्म-के अनुसार स्वीकार करके भी चरणानुयोगमें रागको भी आत्माका स्वीकार किया गया है। इसलिये जहाँ अध्यात्मके अनुसार बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक राग असद्भूत व्यवहारनयसे आत्माके कहे जाते हैं। वहाँ चरणानुयोग रागमात्रको उपचरित सद्भूत व्यवहार नयसे आत्माका स्वीकार करता है। यही कारण है कि चरणानुयोगमें निश्चय सम्यग्दर्शन-पूर्वक जितनी भी मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति होती है वह ज्ञानीके किस प्रकारकी होती है इसकी प्ररूपणा की गई है। इस विषयमें अध्यात्म इतना ही कहता है कि जब तक आत्मा ज्ञानमार्गकी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त नहीं होता तबतक ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गका साथ-साथ होना भले ही विहित रहे। पर इतना निश्चित समझना चाहिये कि ज्ञानमार्ग पर सम्यक् प्रकारसे आरूढ हुआ व्यक्ति ही कर्मबन्धसे मुक्त होता है। रागरूप मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति तो एकमात्र बन्धका ही कारण है।

(५) इस प्रकार दोनों ही अनुयोगद्वारोंके अनुसार व्यवहारनयकी प्ररूपणामें एक भेद तो यह है। दूसरा भेद यह है कि जब अध्यात्म राग-को आत्माका स्वीकार ही नहीं करता तब वह शरीर और बाह्य दूसरे संयोगोंको आत्माका कैसे स्वीकार कर सकता है। अर्थात् नहीं कर सकता। किन्तु चरणानुयोग राग आत्माका सद्भूत धर्म है ऐसा स्वीकार करके वह रागके माध्यमसे शरीर और परपदार्थ इनको भी आत्माका स्वीकार कर लेता है। जब कि वे आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ द्रव्यानुयोगकी प्ररूपणा मात्र अन्तर्मुखी होनेसे आत्माके निजभावको उद्घाटित करनेमें समर्थ है वहाँ चरणानुयोगकी प्ररूपणा विषय-कषायसे कथंचित् परावृत्त करने-वाली होनेपर भी आत्माके निजभावको उद्घाटित करनेमें समर्थ नहीं हो पाती।

शंका—समयसारादिमें भी व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको स्वीकार किया गया है सो क्यों ?

समाधान—असद्भूत व्यवहारनयसे ही ये स्वीकार किये गये हैं। इसका अर्थ है कि ज्ञानभावकी दृष्टिसे वे आत्माके होते ही नहीं। मात्र ज्ञानीके प्राक्पदवीमें ऐसा व्यवहार किया जाता है।

शंका—तो ज्ञानीको देवपूजा, जिनागमका पठन-पाठन, और व्रताचरण इनमें सावधानी वर्तनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं ऐसा माना जाय ?

समाधान—उक्त सविकल्प अवस्थामें ये सहज होते हैं। इसीका नाम सावधानी वर्तना है। मुख्य बात यह है कि ये भूमिकानुसार होओ। ज्ञानभावकी दृष्टिसे ज्ञानीके इनका स्वामित्व नहीं होता। तथा कर्तृत्व और स्वामित्वका योग है। जिसका स्वामित्व नहीं उसका कर्तृत्व भी नहीं। ज्ञानी तो एकमात्र ज्ञानभावका ही कर्ता है। कलशकाव्यमें यही कहा है—

> कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
> अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥

चित्स्वरूप आत्माका जैसे पर पदार्थका भोगना स्वभाव नहीं है वैसे ही पर पदार्थका करना भी उसका स्वभाव नहीं है। वह अज्ञानसे ही पर पदार्थका कर्ता कहा जाता है। अज्ञानका अभाव होनेपर वह अकर्ता ही है ॥१९४॥

इसी अर्थको सूचित करनेवाला दूसरा कलशकाव्य देखिए—

> यः करोति स करोति केवलम्, यस्तु जानाति स तु वेत्ति केवलम्।
> यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

जो करता है अर्थात् मैंने यह किया, वह किया इस भावसे ग्रसित रहता है वह मात्र करता ही है और जो जानता है अर्थात् जाननरूप परिणमता है वह मात्र जानता ही है। जो करता है वह कभी जानता नहीं और जो जानता है वह कभी करता नहीं ॥९६॥

आशय यह है कि करनेका विकल्प अज्ञानीके होता है, ज्ञानीके नहीं। ज्ञानी तो जाननक्रियारूप ही परिणमता है।

शंका—तो क्या ऐसा समझा जाय कि ज्ञानमार्गमें बाह्य निमित्तको कुछ भी स्थान नहीं है। यदि ऐसा एकान्तसे मान लिया जाय तो समयसार परमागममें यह क्यों कहा कि एक-दूसरेके निमित्तसे दोनोंका परिणाम होता है (८१) ?

समाधान—यह ज्ञानमार्गकी कथनी नहीं है इस बातको वहीं गाथा ८३ में स्पष्ट कर दिया है। अतः ऐसा समझना चाहिये कि आगममें कर्ता आदिरूपसे बाह्य निमित्तका जितना भी कथन दृष्टिगोचर होता है वह सब योग और विकल्पको ध्यानमें रखकर ही किया गया है, ज्ञान-मार्गकी मुख्यतासे नहीं। वैसे विविध पदार्थोंका योग नियत क्रमसे बनता रहता है और उनके नियत कालमें परिणाम भी होते रहते हैं। उसी नियत क्रमका अविनाभाव देखकर यह कहनेकी पद्धति है कि इससे यह हुआ आदि।

शंका—यदि ऐसा है तो आगममें जो यह वचन या इसी प्रकारके अन्य वचन उपलब्ध होते हैं कि उभय निमित्तके वशसे आत्माका उत्पन्न होनेवाला परिणाम उत्पाद कहलाता है इत्यादि। सो क्या यह सब कथन अपरमार्थभूत है?

समाधान—यह वस्तुस्वरूप तो नहीं है। अब रही ऐसे कथनकी बात सो प्रत्येक कार्यके समय नियतबाह्य-अभ्यन्तर उपाधि नियमसे होती है और उससे नियत कार्यकी सिद्धि होती है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आगममें उक्त प्रकारके वचन पाये जाते हैं।

शंका—बाह्य निमित्तको यदि आगममें कर्ता आदिरूपसे नहीं स्वीकार किया गया है तो किस रूपमें स्वीकार किया गया है?

समाधान—जैसे कोई व्यक्ति देवाधिदेव तीर्थंकर जिनका दर्शन कर रहा है तो दर्शन करनेवाला या दूसरा देखनेवाला यह जानता है कि इस व्यक्तिके दर्शनमें देवाधिदेव तीर्थंकर जिनमें ज्ञापक निमित्तपनेका व्यवहार होता है। वैसे ही जिस समय जो कार्य होता है उस समय अन्य जिस पदार्थका उस कार्यके साथ अविनाभाव होता है उसमें कारक निमित्तपनेका व्यवहार होता है। यहाँ जिस प्रकार देवाधिदेवने उस व्यक्तिके दर्शन (श्रद्धा) को नहीं उत्पन्न किया है। वह अपने कालमें स्वयं उत्पन्न हुआ है वैसे ही उस बाह्य पदार्थने कार्यको नहीं उत्पन्न किया है वह अपने कालमें स्वयं उत्पन्न हुआ है। इसलिये उस समय बाह्य पदार्थमें निमित्त व्यवहार बन जाने पर भी कर्ता आदि व्यवहार करनेके लिये पुनः उपचार करना पड़ता है। वास्तवमें देखा जाय तो इस प्रकारका जितना भी व्यवहार किया जाता है वह सब परमार्थकी परिधिसे बाह्य है। अर्थात् वस्तुस्वरूपमें यह सब व्यवहार घटित नहीं होता।

२०. असद्भूत व्यवहारनय

आगमका वचन है

परान्श्रितो व्यवहारनयः

जो परके आश्रय (लक्ष्य) से होता है, अर्थात् यह मेरे लिये हितकर है यह अहितकर है इस प्रकारके रुझानसे अन्यके गुण-धर्मको अन्यका स्वीकारता है वह व्यवहारनय है।

निश्चयनय जीवको इसी प्रकारके रुझानसे परावृत करता है। उससे जीवकी यह श्रद्धा दृढ़ होती है कि न तो अन्य पदार्थ अन्यका भला ही करनेमें समर्थ है और न ही बुरा करनेमें समर्थ है। जो जिस समय होता है वह सब कर्मानुसार ही होता है। कर्मानुसार होता है इसका यह अर्थ है कि इस जीवने स्वयं भला-बुरा जैसा किया है उसका ही यह फल है। द्वात्रिंशतिकामें कहा भी है—

> स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
> परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

इस जीवने पहले अपने लिये हितकारी या अहितकारी मान कर स्वयं जो जो कार्य किया उत्तर कालमें उसके अनुसार शुभाशुभ फलको भोगता है। दूसरेके द्वारा दिये गये फलको यदि जीव भोगे तो उस समय स्वयं किये गये कर्म निरर्थक हो जाँय। पर ऐसा नहीं है, इसलिये यही स्वीकार कर लेना न्यायप्राप्त है कि जब जिस भावसे जो कार्य यह जीव करता है, उत्तर कालमें उसीके अनुरूप फलका भागी होता है ॥ ३० ॥

शंका—कर्मका अर्थ प्रकृतमें द्रव्यकर्म करना चाहिये ?

समाधान—उक्त श्लोकमें 'स्वयम्' पद आया है। उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह जीव जब जैसे परिणाम करता है उसके अनुसार उसका उत्तर जीवन बनता और विगड़ता है। द्रव्यकर्म तो मात्र माध्यम है जिससे उक्त तथ्यकी सूचना मिलती है। द्रव्यकर्म इस जीवका स्वयं किया गया कार्य नहीं है, वह पुद्गलका किया हुआ कार्य है, अन्यथा इस जीवको अपनी संम्भाल करनेका उपदेश देना निरर्थक हो जायगा।

शंका—आगममें तो यह बतलाया है कि मिथ्यात्व आदि परिणामोंके अनुसार द्रव्यकर्मका बन्ध होता है और द्रव्यकर्मके उदयानुसार जीवको शुभाशुभ फल मिलता है, इसलिये ऐसा मानना आगमसम्मत प्रतीत होता है ?

समाधान—यह परमार्थ कथन नहीं है। व्यवहार कथन है। परमार्थ तो यही है कि प्रत्येक जीव अपने द्वारा किये हुए कार्यके अनुसार ही उत्तर कालमें उसका फल भोगता है। उसमें भी यह नैगम नयका कथन है। पर्यायार्थिक नयसे विचार करने पर तो जिस समय जो परिणामरूप कार्य होता है वह स्वयं ही होता है। नयदृष्टिको समझ कर निर्णय लेने पर यह सब कथन सुसंगत प्रतीत होने लगता है। इससे प्रत्येक द्रव्य उसके गुण और पर्यायोंकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। विचार कर देखा जाय तो ऐसा निर्णय करना ही जैनधर्मका आत्मा है।

पराश्रित व्यवहारनय है इस द्वारा जो कुछ कहा गया है वह मुख्य रूपसे असद्भूत व्यवहारनय है। यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्दका परके आश्रयसे इस जीवके जो अध्यवसानभाव होते हैं उन्हें छुड़ानेका अभिप्राय है। उसी प्रसंगसे आचार्य अमृतचन्द्रने व्यवहारनयका यह लक्षण कहा है।

यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जितने भी पराश्रित विकल्प होते हैं वे असद्भूत हैं। अर्थात् असद्भूत अर्थको विषय करनेवाले हैं। इसीलिये जीव भावसे भिन्न रूपसे उन्हें स्वीकार कर उन्हें आगममें मूर्त भी कहा गया है। फिर भी उन्हें जीवका कहना यह असद्भूत व्यवहारनय है। इसी तथ्यको ध्यानमें रख कर पंचाध्यायीमें असद्भूत व्यवहारका यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है—

> अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो भवति यथा।
> अन्यद्रव्यस्य गुणाः संजायन्ते बलादन्यत्र ॥१-५२९॥

अन्य द्रव्यके गुणोंकी बलपूर्वक (उपचार सामर्थ्यसे) अन्य द्रव्यमें संयोजना करना यह असद्भूतव्यवहारनय है।

इस नयका उदाहरण देते हुए पंचाध्यायीमें कहा है—

> स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम्।
> तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ॥१-५३०॥

उदाहरणार्थ वर्ण आदिवाले मूर्त द्रव्यका कर्म एक भेद है, अतः वह नियमसे मूर्त है। उसके संयोगसे क्रोधादिक भी मूर्त हैं। फिर भी उन्हें जीवमें हुए कहना असद्भूत व्यवहार नय है ॥१-५३०॥

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ऐसा नियम है कि एक द्रव्यके गुण-धर्म अन्य द्रव्यमें संक्रमित नहीं होते। ऐसी अवस्थामें प्रकृतमें जीवके

रागादि भावोंको मूर्त क्यों कहा गया है, क्योंकि मूर्त यह धर्म पुद्गलोंका है। वह पुद्गलोंको छोड़कर जीवमें त्रिकालमें संक्रमित नहीं हो सकता और जब वह जीवमें संक्रमित नहीं हो सकता तब जिन क्रोधादिभावोंका उपादान कारण जीव है उनमें वह त्रिकालमें नहीं पाया जा सकता। यदि उन भावोंके नैमित्तिक होने मात्रसे उनमें मूर्त धर्मकी उपलब्धि होती है तो अज्ञान दशामें भी क्रोधादि भावोंका कर्ता जीव न होकर पुद्गल हो जायगा और इस प्रकार इन भावोंका कर्तृत्व पुद्गलमें घटित होनेसे पुद्गल ही उन भावोंका उपादान ठहरेगा जो युक्त नहीं है। अतएव रागादि भावोंको मूर्त मानकर असद्भूतव्यवहार नयका जो लक्षण किया जाता है वह नहीं करना चाहिये। यह एक प्रश्न है। समाधान यह है कि प्रकृतमें जीवकी रागादिरूप अवस्थासे त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव जीव-को भिन्न करना है, इसलिए सब वैभाविक भावोंकी व्याप्ति पुद्गल कर्मोके साथ घटित हो जानेके कारण उन्हें आध्यात्मशास्त्रमें पौद्गलिक कहा गया है। दूसरे उनका वेदन पररूपसे होता है, स्वानुभूतिमें वे भासते नहीं, अतः इस प्रकार वे पौद्गलिक हैं ऐसा निश्चित हो जानेपर उन्हें मूर्त माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं आती, क्योंकि मूर्त कहो या पौद्गलिक कहो दोनोंका एक ही अर्थ है। ये भाव पौद्गलिक हैं इसका निर्देश स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृत गाथा ५० से लेकर ५५ तक किया है। वे गाथा ५५ में उपसंहार करते हुए कहते हैं—

> णेव य जीवट्ठाणा गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
> जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

जीवके⋯जीवस्थान नहीं है और न गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं ॥५५॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

> ⋯ तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-भिन्नत्वात् ॥५५॥

ये जो जीवस्थान और गुणस्थान आदि भाव हैं वे सब जीवके नहीं हैं, क्योंकि वे सब पुद्गल द्रव्यके परिणाममय होनेसे आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं ॥५५॥

यहाँ पर परभावोंके समान रागादि विभावरूप भावोंसे त्रिकाली ज्ञायकभावका भेदज्ञान कराना मुख्य प्रयोजन है किन्तु इस प्रयोजनकी सिद्धि त्रिकाली ध्रुवस्वभावरूप ज्ञायकभावमें उनका तादात्म्य मानने

पर नहीं हो सकती, क्योंकि त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें उनका अस्तित्व ही उपलब्ध नहीं होता, ये तो पर्यायधर्म हैं। यदि त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें भी उनका अस्तित्व माना जाय तो उनमेंसे ज्ञानके समान उनका कभी भी अभाव नहीं हो सकता। अतएव ये जिसके सद्भावमें होते हैं उसीके परिणाम हैं ऐसा यहाँ कहा गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिये। इसी भावको पुष्ट करनेके अभिप्रायसे समयप्राभृतमें आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

> एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
> ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

इन वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध दूध और पानीके संयोगसम्बन्धके समान जानना चाहिये। इसलिए वे भाव जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह उपयोग गुणके द्वारा उनसे पृथक् है ॥५७॥

यहाँ पर आचार्य महाराजने परस्पर मिश्रित क्षीर और नीरका दृष्टान्त देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार मिले हुए क्षीर और नीरमें संयोगसम्बन्ध होता है अग्नि और उष्ण गुणके समान तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार वर्णसे लेकर इन गुणस्थान पर्यन्त सब भावोंका जीवके साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध जानना चाहिये, तादात्म्यसम्बन्ध नहीं।

जिस प्रकार जीवके साथ वर्णादिका संयोगसम्बन्ध है। उस प्रकार जीवमें उत्पन्न हुए इन रागादि भावोंका जीवके साथ संयोगसिद्धसम्बन्ध कैसे हो सकता है इस प्रश्नको उठाकर आचार्य जयसेनने इसका समाधान किया है। वे कहते हैं—

> ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् संश्लेषसम्बन्धो भवतु, न चाभ्यन्तराणां रागादीनां। तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यम्? नैवम्, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया। तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः।

शंका—वर्णादिक जीवसे अलग हैं, इसलिए उनके साथ जीवका व्यवहारनयसे क्षीर और पानीके समान संश्लेष सम्बन्ध रहा आओ, आभ्यन्तर रागादिकका जीवके साथ संयोगसम्बन्ध नहीं बन सकता। इन दोनोंमें तो अशुद्ध निश्चयरूप सम्बन्ध होना चाहिए?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि द्रव्यकर्मबन्धकी अपेक्षा जो यह

असद्भूत व्यवहार है उसकी अपेक्षा इनमें संयोगसिद्धसम्बन्ध माना गया है। यद्यपि रागादि भावोंका जीवमें तारतम्य दिखलानेके लिए इन्हें अशुद्ध निश्चयरूप कहा जाता है। परन्तु वास्तवमें शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है यह उक्त कथनका भावार्थ है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १६ की टीकामें भी इस विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

तथैवाशुद्धनिश्चयनयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्धः एव।

उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनयसे जो यह रागादिरूप भावबन्ध कहा जाता है वह भी शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा पुद्गलबन्ध ही है।

इनका जीवके साथ *संयोगसिद्धसम्बन्ध* क्यों कहा गया है इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए मूलाचार गाथा ४८ की टीकामें आचार्य वसुनन्दि संयोगसम्बन्धका लक्षण करते हुए कहते हैं—

अनात्मनीनस्यात्मभावः संयोगः। संयोग एव लक्षणं येषां ते संयोगलक्षणा विनश्वरा इत्यर्थः।

अनात्मीय पदार्थमें आत्मभाव होना संयोग है। संयोग ही जिनका लक्षण है वे संयोगलक्षणवाले अर्थात् विनश्वर माने गये हैं।

प्रकृतमें आचार्य कुन्दकुन्दने रागादि भावोंको जो संयोग लक्षण-वाला कहा है वह इसी अपेक्षासे कहा है, क्योंकि ये बन्धपर्यायरूप होनेसे *अनात्मीय हैं, अतएव मूर्त हैं। तात्पर्य यह है कि रागादिभावोंको आत्मा-*से संयुक्त बतलानेमें उपादानकी मुख्यता न होकर बन्धपर्यायकी मुख्यता है, क्योंकि ये पौद्गलिक कर्मोंके सद्भावमें परलक्षी ही होते हैं, अतः इन्हें मूर्तरूपसे स्वीकार करना न्यायसंगत ही हैं। प्रकृतमें दृष्टियाँ दो हैं—एक उपादानदृष्टि और दूसरी संयोगदृष्टि। रागादिकको अनात्मीय कहनेमें संयोगदृष्टिकी ही मुख्यता है, अन्यथा त्रिकाली ध्रुवस्वभाव आत्मामें उपादेय बुद्धि होकर इनका त्याग करना नहीं बन सकता। प्रकृतमें इन्हें मूर्त या पौद्गलिक माननेका यही कारण है।

इस प्रकार जीवमें होकर भी क्रोधादिभाव मूर्त कैसे हैं यह सिद्ध हुआ और यह सिद्ध हो जानेपर मूर्त क्रोधादिकको जीवका कहना असद्-भूत व्यवहारनय है ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

सद्भूतव्यवहारनयके समान यह असद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकार-

का है—अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय और उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण करते हुए पञ्चाध्यायीमें कहा है—

> अपि वासद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा।
> क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ॥१-५४६॥

जो बुद्धिमें न आनेवाले (अव्यक्त) क्रोधादिक भाव होते हैं उन्हें जीवके स्वीकार करनेवाला नय अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है ॥१-५४६॥

मूर्तक्रोधादिकको जीवके कहना यह असद्भूत व्यवहारनय है यह तो हम पहले ही बतला आये हैं। उसमें भी जो नय अन्य विशेषणसे रहित होकर ही उन्हें जीवका स्वीकार करता है उसमें विशेषण द्वारा उपचारको स्थान नहीं मिलता है। यतः अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिक सूक्ष्म होनेसे उस समयका ज्ञानोपयोग उन्हें नहीं जान सकता, इसलिए इसे अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय कहा गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

उक्त कथनको ध्यानमें रखकर उपचरित असद्भूतव्यवहार नयका लक्षण पञ्चाध्यायीमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

> उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा।
> क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद् बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥१-५४९॥
> बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात्।
> सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ॥१-५५०॥

जब जीवके क्रोधादिक औदयिकभाव बुद्धिमें आये हुए विवक्षित होते हैं तब उसरूपमें उन्हें स्वीकार करनेवाला उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय होता है ॥१-५४९॥ इस नयकी प्रवृत्तिमें यह कारण है कि जितने भी विभावभाव होते हैं वे नियमसे स्व और परहेतुक होते हैं, क्योंकि द्रव्यमें विभावरूपसे परिणमन करनेकी शक्तिविशेषके होनेपर भी वे परनिमित्तके बिना नहीं होते ॥१-५५०॥ २६-१-८७.

मूलमें बुद्धिजन्य क्रोधादिकको उपचरित असद्भूतव्यवहारनयका उदाहरण बतलाया गया है सो यहाँ समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके उपयोगमें ज्ञान और बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक ये दोनों अलग-अलग परि-लक्षित होते हैं तो भी बुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिकको आत्माका

कहना यह उपचार है। इसी उपचारको ध्यानमें रखकर उक्त उदाहरण-को उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय माना गया है।20-1-88

यहाँ पर अन्य द्रव्यके गुणधर्मकी अन्य द्रव्यमें संयोजना करना इसे असत्भूतव्यवहारनय बतलाया है। इस परसे यह शंका होती है कि इस प्रकार तो 'जीव वर्णादिवाला है' इसे स्वीकार करनेवाली दृष्टिको भी असद्भूत व्यवहारनय मानना पड़ेगा, क्योंकि इस उदाहरणमें भी अन्य द्रव्यके गुणधर्मका अन्य द्रव्यमें आरोप किया गया है। परन्तु विचार कर देखने पर यह शंका ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वास्तवमें नयका लक्षण तो जिस वस्तुके जो गुण-धर्म हैं उन्हें उसीका बतलाना ही हो सकता है। यदि कोई भी नय एक वस्तुके गुणधर्मको अन्य वस्तुका बतलाने लगे तो वह नय ही नहीं होगा। अतः जीव वर्णादिवाला है ऐसे विचारको समीचीन नय नहीं माना जा सकता, क्योंकि वर्णादिवाला तो पुद्गल ही होता है, जीव नहीं। जीवमें तो उनका अत्यन्ताभाव ही है। फिर भी प्रकृतमें अन्य द्रव्यमें आरोप करनेको जो असद्भूत व्यवहार-नय कहा गया है सो इस कथनका अभिप्राय ही दूसरा है। बात यह है कि रागादिभाव जीवमें उत्पन्न होकर भी नैमित्तिक होते हैं, इसलिए बन्धपर्यायकी दृष्टिसे अतद्गुण मानकर जिस प्रकार उनका जीवमें आरोप करना बन जाता है उस प्रकार पुद्गलसे तादात्म्यको प्राप्त हुए वर्णादि गुणोंका जीवमें आरोप करना त्रिकालमें घटित नहीं होता। यदि व्यवहारका आश्रय लेकर जीवको वर्णादिवाला माना भी जाता है तो उसे स्वीकार करनेवाला नय मिथ्या नय ही होगा। उसे सम्यक् नय मानना कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि वह नय जो पृथक् सत्ताक दो द्रव्योंमें एकत्वबुद्धिका जनक हो सम्यक् नय नहीं हो सकता। जो पदार्थ जिस रूपमें अवस्थित है उसे उसी रूपमें स्वीकार करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण माना गया है और नयज्ञान प्रमाणज्ञानका ही भेद है। यदि इन ज्ञानोंमें कोई अन्तर है तो इतना ही कि प्रमाणज्ञान अंशभेद किये विना पदार्थको समग्रभावसे स्वीकार करता है और नयज्ञान एक-एक अंश द्वारा उसे स्वीकार करता है। अतः प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जो नयज्ञान विवक्षित पदार्थके गुणधर्मको उसीके बतलाता है वही नय-ज्ञान सम्यक् कोटिमें आता है, अन्य नयज्ञान नहीं। पंचाध्यायीमें नयका लक्षण तद्गुणसंविज्ञानरूप करनेका यही कारण है।

२१. अध्यात्मनयोंकी सार्थकता

यदि कहा जाय कि यदि ऐसी बात है तो अन्यत्र (अनगारधर्मामृत

और आलापपद्धति आदि ग्रन्थोंमें) अतद्गुण आरोपको असद्भूत व्यवहारनय बतला कर 'शरीर मेरा है' इसे स्वीकार करनेवाले विकल्पज्ञानको अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय और 'धन मेरा है' इसे स्वीकार करनेवाले विकल्पज्ञानको उपचरित असद्भूत व्यवहारनय क्यों माना गया है। समाधान यह है कि मिथ्यादृष्टिके अज्ञानवश और सम्यग्दृष्टिके रागवश शरीर आदि पर द्रव्योंमें ममकाररूप विकल्प होता है इसमें सन्देह नहीं। पर क्या इस विकल्पके होनेमात्रसे वे अनात्मभूत शरीरादि पदार्थ उसके आत्मभूत हो जाते हैं? यदि कहा जाय कि रहते तो वे हैं अनात्मभूत ही, वे (शरीरादि पदार्थ) आत्मभूत त्रिकालमें नहीं हो सकते। फिर भी मिथ्यादृष्टिकी बात छोड़िए, सम्यग्दृष्टिके भी रागवश 'ये मेरे' इस प्रकारका विकल्प तो होता ही है। इसे मिथ्या कैसे माना जाय? समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टिके लोकव्यवहारकी दृष्टिसे रागवश 'ये मेरे' इस प्रकारका विकल्प होता है इसमें सन्देह नहीं। यहाँ सम्यग्दृष्टिके इस प्रकारका विकल्प ही नहीं होता यह बतलानेका प्रयोजन नहीं है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि जहाँ सम्यग्दृष्टिके 'ये मेरे' इस विकल्पको ही 'स्व' नहीं बतलाया है वहाँ शरीरादि पर द्रव्योंको उसका 'स्व' कैसे माना जा सकता है। अर्थात् त्रिकालमें नहीं माना जा सकता। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर समयप्राभृतमें कहा भी है—

> अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
> अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
> आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
> होहिदि पुणो वि मज्झं एयस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥
> एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
> भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

जो पुरुष सचित्त, अचित्त और मिश्ररूप अन्य पर द्रव्योंके आश्रयसे ऐसा असद्भूत (मिथ्या) आत्मविकल्प करता है कि मैं इस शरीर (धन और मकान आदि) रूप हूँ, ये मुझ स्वरूप हैं, मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं, ये मेरे पहिले थे, मैं इनका पहिले था, ये मेरे भविष्यमें होंगे और मैं भी इनका भविष्यमें होऊँगा वह मूढ़ है किन्तु जो पुरुष भूतार्थको जान कर ऐसा असद्भूत आत्मविकल्प नहीं करता वह ज्ञानी है ॥२०-२२॥

इसलिए जितने भी रागादि वैभाविक भाव आत्मामें उत्पन्न होते हैं

उन्हें आत्माका मानना तो अध्यात्ममूलक ज्ञाननयकी अपेक्षा असद्भूत व्यवहारनयका विषय हो सकता है। किन्तु इस दृष्टिसे 'शरीर मेरा' और 'धन मेरा' ये उदाहरण असद्भूत व्यवहारनयके विषय नहीं हो सकते। पंचाध्यायीमें इसी तथ्यका विवेक कर रागादिको असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण वतलाया गया है। शरीरादि और धनादि पर पदार्थ हैं, इसलिये वे तो आत्मामें असद्भूत हैं ही। इनके योगसे 'ये मेरे' इत्याकारक जो आत्मविकल्प होता है वह भी ज्ञायकस्वभाव और उसकी अनुभूतिमें असद्भूत है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य कुन्द-कुन्दने ऐसा विकल्प करनेवालेको मूढ़-अज्ञानी कहा है और यह वात ठीक भी है, क्योंकि जो परद्रव्य हैं उनमें इस जीवकी यदि आत्मबुद्धि वनी रहती है तो वह ज्ञानी कैसे हो सकता है। इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टिके शरीरादिपर द्रव्योंमें आत्मवुद्धि तो नहीं होती पर जहाँ तक प्रमाद दशा है वहाँ तक राग अवश्य होता है। उसका निषेध नहीं।

यद्यपि यह राग भी आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिए उसे परभाव वतलाया गया है पर होता वह आत्मामें ही है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि इस तथ्यको जानता है। जानता ही नहीं है, ऐसा उसका निर्णय भी रहता है कि यह राग आत्मामें उत्पन्न होकर भी कर्म (और नोकर्म) के सम्पर्क-में ही उत्पन्न होता है, उनके अभावमें उत्पन्न नहीं होता, अतः यह मेरा स्वभाव न होनेसे पर है अतएव हेय है और ये जो सम्यक्त्वादि स्वभाव-भूत आत्माके गुण हैं वे आत्माके स्वभाव सन्मुख होनेपर ही उत्पन्न होते हैं, परका आश्रय लेनेसे त्रिकालमें उत्पन्न नहीं होते, अतः मुझे परका आलम्बन छोड़कर मात्र अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभावका ही आलम्बन लेना श्रेयस्कर है। सम्यग्दृष्टिकी ऐसी श्रद्धा होनेके कारण वह आत्मामें रागादि वैभाविक भावोंको स्वीकार तो करता है किन्तु परभावरूपसे ही स्वीकार करता है। इस प्रकार रागादि परभाव हैं फिर भी वे आत्मा कहे गये, इसलिए जो अन्य वस्तुके गुणधर्मको अन्यमें आरोपित करता है वह असद्भूत व्यवहारनय है इस लक्षणके अनुसार तो 'रागादि जीवके' इसे असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण मानना ठीक है पर 'शरीरादि मेरे' और 'धनादि मेरे' ऐसे विशेषण युक्त विकल्पको असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण मानना ठीक नहीं है।

फिर भी यह चरणानुयोगके अङ्गरूप (अनगारधर्मामृत और तदनु-षंगी आलापपद्धति आदिमें) 'शरीर मेरा, धन मेरा' इसे स्वीकार

करनेवाला जो असद्भूत व्यवहारनय वतलाया गया है सो सम्यग्दृष्टिके वह लौकिक व्यवहारको स्वीकार करनेवाले ज्ञानकी मुख्यतासे वतलाया गया है, अध्यात्मदृष्टिको मुख्यकर नहीं। बात यह है कि लोकमें 'यह शरीर मेरा, यह धन या अन्य पदार्थ मेरा' ऐसा अज्ञानमूलक वहुजन-सम्मत व्यवहार होता है और सम्यग्दृष्टि भी इसे जानता है। यद्यपि यह व्यवहार मिथ्या है, क्योंकि जिन शरीरादिकके आश्रयसे लोकमें यह व्यवहार प्रवृत्त होता है उनका आत्मामें अत्यन्ताभाव है। फिर भी सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें लोकमें ऐसा व्यवहार होता है इसकी स्वीकृति है। अतः इसी बातको ध्यानमें रखकर अन्यत्र 'शरीर मेरा, धन मेरा' इस व्यवहारको स्वीकार करनेवाले नयको असद्भूत व्यवहारनय कहा गया है। लोकमें इसी प्रकारके और भी बहुतसे व्यवहार प्रचलित हैं। जैसे पर द्रव्यके आश्रयसे कर्ता-कर्मव्यवहार, भोक्ताभोग्यव्यवहार, और आधार-आधेयव्यवहार आदि सो इन सब व्यवहारोंके विषयमें भी इसी दृष्टिकोणसे विचारकर लेना चाहिए। अध्यात्मदृष्टिसे यदि विचार किया जाता है तो न तो 'आत्मा कर्ता है और अन्य पदार्थ उसका कर्म है' यह व्यवहार बनता है, न 'आत्मा भोक्ता है और अन्य पदार्थ भोग्य है' यह व्यवहार बनता है, तथा न 'घटादि पदार्थ आधार हैं और जलादि पदार्थ आधेय हैं' यह व्यवहार बनता है, क्योंकि एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अत्यन्ताभाव होनेसे निश्चयसे सब पदार्थ स्वतन्त्र है, कर्ता-कर्म आदिरूप जो भी व्यवहार होता है वह अपनेमें ही होता है। दो द्रव्योंके आश्रयसे इस प्रकारका व्यवहार त्रिकालमें नहीं हो सकता, इसलिये वह अपनी श्रद्धामें इन सब व्यवहारोंको परमार्थरूपसे स्वीकार नहीं करता। परन्तु निमित्तादिकी दृष्टिसे ये व्यवहार होते हैं ऐसा वह जानता है इतना अवश्य है, अतः अध्यात्ममें इन सब व्यवहारोंका किसी नयमें अन्तर्भाव न होकर भी ज्ञानकी अपेक्षा इनका असद्भूत व्यवहार-नयमें अन्तर्भाव हो जाता है। पंचाध्यायीमें इन व्यवहारोंको स्वीकार करनेवाले नयको नयाभास बतलानेका और अन्यत्र इन्हें नयरूपसे स्वीकार करनेका यही कारण है।

२२. उपसंहार

इसप्रकार मोक्षमार्गकी दृष्टिसे निश्चयनय और व्यवहारनयका स्वरूप क्या है इसका विचार किया। इससे ही हमें यह ज्ञान होता है कि जीवन संशोधनमें निश्चयनय क्यों तो उपादेय है और व्यवहारनय

क्यों हेय है। आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षमार्गमें उपादेयरूपसे व्यवहारनयका आश्रय करनेवाले जीवको पर्यायमूढ़ कहते हैं उसका कारण भी यही है। वे प्रवचनसारमें अपने इस भावको व्यक्त करते हुए कहते हैं—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुण पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥९३॥

प्रत्येक पदार्थ द्रव्यस्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और उन दोनोंसे पर्यायें होती हैं। जो पर्यायोंमें मूढ़ हैं वे पर समय हैं ॥९३॥

प्रवचनसारकी उक्त गाथा द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि वस्तु स्वरूपका निर्णय करते समय जिस प्रकार अभेदग्राही द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय उपयोगी है उसी प्रकार भेदग्राही (पर्यायार्थिक) नय भी उपयोगी हैं इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह संसारी जीव अनादिकालसे अपने निश्चयरूप आत्मस्वरूपको भूलकर मात्र पर्यायमूढ़ हो रहा है, अर्थात् पर्यायको ही अपना स्वरूप समझ रहा है। एक तो अज्ञानवश वह अपने स्वरूपको जानता ही नहीं, जब जो मनुष्यादि पर्याय मिलती है उसे ही आत्मा मानकर यह उसीकी रक्षामें प्रयत्नशील रहता है। यदि उसकी हानि होती है तो यह अपनी हानि मानता है और उसकी प्राप्तिमें अपना लाभ मानता है। यदा कदाचित् उसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान कराया भी जाता है तो भी यह अपनी पुरानी टेकको छोड़नेमें समर्थ नहीं होता। फलस्वरूप यह जीव अनादिकालसे पर्यायमूढ बना हुआ है और जब तक पर्यायमूढ़ बना रहेगा तब तक उसके संसारकी ही वृद्धि होती रहेगी। इसलिए इस जीवको उन पर्यायोंमें अभेदरूप अनादि-अनन्त एक भाव जो चेतना द्रव्य हैं उसे ग्रहण करके और उसे निश्चयनयका विषय कह कर जीव द्रव्यका ज्ञान कराया गया है और पर्यायाश्रित भेदनयको गौण कराया गया है। साथ ही अभेद दृष्टिमें वे भेद अनुभवमें नहीं आते, इसलिये अभेददृष्टिकी दृढ़ श्रद्धा करानेके लिए कहा गया है कि जो पर्यायनय है सो व्यवहार है, अभूतार्थ है और असत्यार्थ है। वह मोक्षमार्गमें अनुसरण करने योग्य नहीं है, अर्थात् मोक्ष मार्गमें लक्ष्यरूपसे स्वीकार करने योग्य नहीं है।

इसी प्रकार बाह्य निमित्तादिकी अपेक्षा जो व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है वह भी उपचरित होनेसे मोक्षमार्गमें अनुसरण करने योग्य नहीं है। यद्यपि यह तो हम मानते हैं कि बाह्य निमित्तादिकी अपेक्षा लोकमें जो व्यवहार होता है वह उपचरित होने पर भी इष्टार्थका बोध करानेमें

सहायक है। जैसे 'घीका घड़ा' कहने पर उसी घड़ेकी प्रतीति होती है जिसमें घी भरा जाता है या 'कुम्हारको बुला लाओ' ऐसा कहने पर उसी मनुष्यकी प्रतीति होती है जो घटकी उत्पत्तिमें निमित्त होता है, परन्तु इस व्यवहारको मोक्षमार्गमें उपादेयरूपसे स्वीकार करने पर स्वावलम्बिनी वृत्तिका अन्त होकर मात्र परावलम्बिनी वृत्तिको ही प्रश्रय मिलता है, अतएव अभूतार्थ (असत्यार्थ) होनेसे यह व्यवहार भी अनुसरणीय नहीं माना गया है।

यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि जिसने अभेददृष्टिका आश्रय कर पर्यायदृष्टि और उपचारदृष्टिको हेय समझ लिया है वह अपनी श्रद्धामें तो ऐसा ही मानता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता आदि त्रिकालमें नहीं हो सकता। जो मेरी संसार पर्याय हो रही है उसका कर्ता एकमात्र मैं हूं और मोक्ष पर्यायको मैं ही अपने पुरुषार्थसे प्रगट करूँगा। इसमें अन्य पदार्थ अकिंचित्कर है। फिर भी जब तक उसके विकल्पज्ञानकी प्रवृत्ति होती रहती है तब तक उसे भूमिकामें स्थित रहनेके लिए अन्य सुदेव, सुगुरु और आप्तोपदिष्ट आगम आदि हस्तावलम्ब (बाह्यनिमित्त) होते रहते हैं। तभी तो उसके मुखसे ऐसी वाणी प्रगट होती है—

मुझ कारज के कारण सु आप। शिव करहु हरहु मम मोहताप।

फिर भी वह इस प्रकारकी प्रवृत्तिको उपादेय नहीं मानता, क्योंकि बाह्य आचाररूप प्रवृत्ति होना अन्य बात है और शुभाचारको आत्मकार्य या मोक्षमार्ग मानना अन्य बात है। सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग तो स्वभावदृष्टिकी प्राप्ति और उसमें स्थितिको ही समझता है। यदि उसकी यह दृष्टि न रहे तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं हो सकता। यही कारण है कि मोक्षमार्गमें व्यवहारदृष्टि आश्रय करने योग्य नहीं है यह कहा गया है। यह बात थोड़ी विचित्र तो लगती है कि स्वभावदृष्टिके सद्भावमें सम्यग्दृष्टिकी प्रवृत्ति प्राथमिक अवस्थामें रागरूप होती रहती है, परन्तु इसमें विचित्रताकी कोई बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार किसी विद्यार्थीके पढ़नेका लक्ष्य होनेपर भी वह सोता है, खाता है, चलता-फिरता है, और मनोविनोदके अन्य कार्य भी करता है फिर भी वह अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी मोक्षकी उपायभूत स्वभावदृष्टिको ही अपना लक्ष्य बनाता है। कदाचित् उसके रागके आश्रयसे सच्चे देव, गुरु और शास्त्रकी उपासनाके भाव होते हैं, कदाचित् धर्मोपदेश देने और सुननेके भाव होते हैं, कदाचित् आजीविकाके

साधन जुटानेके भाव होते हैं और कदाचित् उसकी अन्य भोजनादि कार्योंमें भी रुचि होती है तो भी वह अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होता। यदि वह अपने लक्ष्यसे च्युत होकर अन्य कार्योंको ही उपादेय मानने लगे तो जिस प्रकार लक्ष्यसे च्युत हुआ विद्यार्थी कभी भी विद्यार्जन करनेमें सफल नहीं होता उसी प्रकार मोक्षप्राप्तिकी उपायभूत स्वभावदृष्टिसे च्युत हुआ सम्यग्दृष्टि कभी भी मोक्षरूप आत्मकार्यके साधनेमें सफल नहीं होता। तब तो जिस प्रकार विद्यार्जनरूप लक्ष्यसे भ्रष्ट हुआ विद्यार्थी विद्यार्थी नहीं रहता उसी प्रकार मोक्षप्राप्तिकी उपायभूत स्वभावदृष्टिसे भ्रष्ट हुआ जीव सम्यग्दृष्टि ही नहीं रहता। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके व्यवहारनय ज्ञान करनेके लिए यथापदवी प्रयोजनवान् होनेपर भी वह मोक्षकार्यकी सिद्धिमें रंचमात्र भी आश्रयणीय नहीं है। आचार्योंने जहाँ भी व्यवहारदृष्टिको बन्धमार्ग और स्वभावदृष्टिको मोक्षमार्ग कहा है वहाँ वह इसी अभिप्रायसे कहा है। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि इस प्रकार व्यवहारदृष्टिके बन्धमार्ग सिद्ध हो जाने पर न तो सम्यग्दृष्टिके देवपूजा, गुरुपास्ति, दान और उपदेश आदि देनेका भाव ही होना चाहिए और न उसके शुभाचाररूप प्रवृत्ति ही होनी चाहिये सो उसका ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिके स्वभावदृष्टि हो जानेपर भी रागरूप प्रवृत्ति होती ही नहीं यह तो कहा नहीं जा सकता। कारण कि जब तक उसके रागांशके सद्भावमें शुभोपयोग होता है तब तक उसके रागरूप प्रवृत्ति भी होती रहती है और जब तक उसके रागरूप प्रवृत्ति होती रहती है तब तक उसके फलस्वरूप देवपूजादि व्यवहार धर्मका उपदेश देनेके भाव भी होते रहते हैं और उस रूप आचरण करनेके भी भाव होते रहते हैं। फिर भी वह अपनी श्रद्धामें उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता, इसलिए उसका स्वामित्व न होनेसे उसका कर्ता नहीं होता। आगममें सम्यग्दृष्टिको अबन्धक कहा है सो वह स्वभावदृष्टिकी अपेक्षा ही कहा है, रागरूप व्यवहारधर्मकी अपेक्षासे नहीं। सम्यग्दृष्टि एक ही कालमें बन्धक भी है और अबन्धक भी है इस विषयको स्वयं आगममें स्पष्ट किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहते हैं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१६॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य वन्वनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य वन्धनं भवति ॥२१४॥

जिस अंशसे यह जीव सम्यग्दृष्टि है उस अंशसे इसके वन्धन नहीं है । किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके वन्धन है ॥२१२॥ जिस अंशसे यह जीव ज्ञान है उस अंशसे इसके बन्धन नहीं है । किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके वन्धन है ॥२१३॥ जिस अंशसे यह जीव चारित्र है उस अंशसे इसके वन्धन नहीं है । किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके वन्धन है ॥२१४॥

२३. उपदेश देनेकी पद्धति

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनयके विवेचन द्वारा यह निर्णय हो जाने पर कि मोक्षमार्गमें क्यों तो मात्र निश्चयनय उपादेय है और क्यों यथापदवी जाननेके लिए प्रयोजनवान् होने पर भी व्यवहारनय अनुपादेय है, यहाँ उनके आश्रयसे उपदेश देनेकी पद्धतिकी मीमांसा करनी है । यह तो हम पहले ही वतला आये हैं कि निश्चयनयमें अभेद-कथनकी मुख्यता होनेसे वह परसे भिन्न ध्रुवस्वभावी एकमात्र ज्ञायक-भाव आत्माको ही स्वीकार करता है । प्रकृतमें परका पेट वहुत बड़ा है । उसमें स्वात्मातिरिक्त अन्य द्रव्य अपने गुण-पर्यायके साथ तो समाये हुए हैं ही । साथ ही जिन्हें व्यवहारनय (पर्यायार्थिकनय) स्वात्मारूपसे स्वीकार करता है वे भी इस नयमें पर हैं, इसलिये निश्चयनय स्वात्मा-रूपसे न तो गुणभेदको स्वीकार करता है, न पर्यायभेदको ही स्वीकार करता है और न बाह्य निमित्ताश्रित विभावभावोंको ही स्वीकार करता है । संयोग पर उसकी दृष्टि ही नहीं है । ये सब उसकी दृष्टिमें पर है, इसलिए वह इन सब विकल्पोंसे मुक्त अभेदरूप और नित्य एकमात्र ज्ञायकस्वभाव आत्माको ही स्वीकार करता है ।

कार्यकारण पद्धतिकी अपेक्षा विचार करने पर जब वह ज्ञायक स्वभाव आत्माके सिवा अन्य सबको पर मानता है तब वह अन्यके आश्रयसे कार्य होता है इस दृष्टिकोणको कैसे स्वीकार कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता, इसलिये उसकी अपेक्षा एकमात्र यही प्रतिपादन किया जाता है कि जो कुछ भी कार्य होता है वह उपादानमें स्वाश्रयसे ही होता है । जो इसका निज भाव है वही अपनी परिणमनरूप सामर्थ्यके द्वारा कार्यरूप परिणत होता है । यह तो निश्चयनयकी तत्त्वविवेचनकी पद्धति है ।

किन्तु व्यवहारनयकी तत्त्वविवेचनकी पद्धति इससे भिन्न प्रकारकी है। यह गुणभेद और पर्यायभेदरूप तो आत्माको स्वीकार करता ही है। साथ ही जो विभाव भाव और संयोगी अवस्था है उनरूप भी आत्माको मानता है। इस नयका वल वाह्य निमित्तों पर अधिक है। इसलिए इस नयकी अपेक्षा यह कार्य इन निमित्तोंसे हुआ यह कहा जाता है। यह कथन इसी नयमें शोभा पाता है कि यदि निमित्त न हों तो कार्य भी नहीं होगा, निश्चयनयमें नहीं। निश्चयनयसे तो यही कहा जायगा कि जव तक निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती तव तक पूर्वके किसी भी भावको व्यवहार रत्नत्रय कहना संगत नहीं है। और जव निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाती है तव उसके पूर्व जो नव तत्त्वोंकी श्रद्धा और ज्ञान आदि भाव होते हैं उन्हें भी भूत नैगमनयसे व्यवहार रत्नत्रय कहा जाता है, क्योंकि जव तक निश्चय प्रगट नहीं होता तव तक व्यवहार किसका? अभव्योंने अनन्तवार द्रव्य मुनिपदको धारण किया पर उनका चित्त रागमें अटका रहनेसे उन्हें इष्टार्थकी प्राप्ति नहीं हुई। अतएव व्यवहार रत्नत्रय कार्यसिद्धिमें वस्तुतः साधक है ऐसी श्रद्धा छोड़कर त्रिकाली द्रव्यस्वभावकी उपासना द्वारा निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए।

इस जीवको निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होने पर व्यवहार रत्नत्रय होता ही है। उसे प्राप्त करनेके लिए अलगसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता। व्यवहार रत्नत्रय स्वयं धर्म नहीं है। निश्चय रत्नत्रयके सद्भावमें उसमें धर्मका आरोप होता है इतना अवश्य है। उसी प्रकार रूढ़िवश जो जिस कार्यका निमित्त कहा जाता है उसके सद्भावमें भी तव तक कार्यकी सिद्धि नहीं होती जव तक जिस कार्यका वह निमित्त कहा जाता है उसके अनुरूप उपादानकी तैयारी न हो। अतएव कार्यसिद्धिमें वाह्य सामग्रीका होना अकिंचित्कर है। जो संसारी प्राणी वाह्य सामग्रीको मिलानेके भाव तो करते हैं पर निजात्माकी सम्हाल नहीं करते वे इष्टार्थ-की सिद्धिमें सफल नहीं होते और अनन्त संसारके पात्र बने रहते हैं। अतएव वाह्य सामग्री कार्यसिद्धिमें साधक हैं ऐसी श्रद्धा छोड़कर अपने त्रिकाली ज्ञायक भावको मुख्यरूपसे लक्ष्यमें लेना चाहिए। उसको लक्ष्यमें लेने पर वाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी अनुकूलता रहती ही है। उन वाह्य द्रव्यादिको मिलाना नहीं पड़ता। वाह्य द्रव्यादिक स्वयं कार्यसाधक नहीं है। किन्तु उपादानके कार्यके अनुरूप व्यापार करनेपर जो वाह्य सामग्री उसमें हेतु होती है उसमें निमित्तपनेका व्यवहार किया

जाता है। निमित्त-नैमित्तिकभावकी यह व्यवस्था अनादिकालसे बन रही है। कोई उसमें उलट-फेर नहीं कर सकता, अतएव प्रत्येक कार्य स्वकालमें उपादानके अनुसार अपने पुरुषार्थसे होता है यही श्रद्धा करनी हितकारी है। इस प्रकार दोनों नयोंको अपेक्षा विवेचन करनेकी यह पद्धति है, अतः जहाँ जिस नयको अपेक्षा विवेचन किया गया हो उसे उसी रूपमें ग्रहण करना चाहिए। उसमें अन्यथा कल्पना करना उचित नहीं है। निश्चय कथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित (अयथार्थ) है, अतः उपचरित कथनसे दृष्टिको परावृत्त करनेके लिए वक्ता यदि मोक्षप्राप्तिमें परम साधक निश्चय रत्नत्रयकी दृष्टिसे तत्त्वका विवेचन करता है तो इससे व्यवहारधर्मका कैसे लोप होता है यह हमारी समझके बाहर है। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि निश्चय रत्नत्रयके अनुरूप तत्त्वका निर्णय हो जानेपर उसकी यथापदवी उपासना करनेवाले व्यक्तिकी जब जो व्यवहार धर्मरूप प्रवृत्ति होती है वह शुभरूप पुण्यवर्धक ही होती है। प्रायः अशुभमें तो उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय क्या है, उनके अनुसार तत्त्व-विवेचनकी पद्धति क्या है और मोक्षमार्गमें क्यों तो निश्चयनय आश्रयणीय है और क्यों व्यवहारनय आश्रयणीय नहीं है इसका सांगोपांग ऊहापोह किया।

अनेकान्त-स्याद्वादमीमांसा

एक कालमें देखिए अनेकान्तका रूप
एक वस्तुमें नित्य ही विधि-निषेधस्वरूप ।।

१. उपोद्घात

पिछले प्रकरणमें यद्यपि हमने निश्चयनय और व्यवहारनय तथा इनके उत्तर भेदोंका विचार किया। इनका विवेचन करनेके साथ इस बातका भी विचार किया कि मोक्षमार्गमें परम भावग्राही निश्चयनय क्यों आश्रयणीय है और सभी प्रकारका व्यवहारनय क्यों आश्रयणीय नहीं है। फिर भी प्रकृतमें अनेकान्त और उसके स्वरूपको लक्ष्यमें रख-कर इस तत्त्वकी गवेषणा करना प्रयोजनीय है, क्योंकि मोक्षमार्गमें सब प्रकारका व्यवहार दृष्टिमें हेय होनेसे गौण होनेपर उसे आश्रय करने योग्य न माननेके कारण एकान्तका प्रसंग आता है ऐसा व्यवहाराभासियों का मत है। किन्तु उनका ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं है, क्योंकि आगममें ऐसे अनेक वचन उपलब्ध होते हैं जिनके बल पर यह निश्चित होता है कि मोक्षसिद्धिके लिये मोक्षमार्गमें मात्र निश्चयनयका अवलम्बन लेना ही कार्यकारी है। उदाहरणार्थ समयप्राभृतमें आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षका हेतु एकमात्र परमार्थ (निश्चयनय) का अवलम्बन लेना ही है इस तथ्यका समर्थन करते हुए कहते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।।१५६।।

विद्वज्जन निश्चयनयके विषयको छोड़कर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु परमार्थका आश्रय करनेवाले यतियों (ज्ञानियों) का ही कर्मक्षय होता है ।।१५६।।

जो परमार्थस्वरूप मोक्षहेतुके अतिरिक्त व्रत, पूजा, दान, पर दया व्यवहार तप आदि स्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं उनका यहाँ आचार्यदेवने विद्वान् पद द्वारा उल्लेख किया है। क्योंकि वे ही आगमकी दुहाई देकर इन व्रत, तप आदिकी खेंच करते हैं। वे यह स्वीकार ही नहीं करना चाहते कि यथा पदवी परमार्थके साथ गौणरूपसे उसका व्यवहार स्वतः होता ही है।

गाथामें आया हुआ यति पद ज्ञानियोंके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। कारण कि लोकमें साधु, यति, मुनि आदि जितने भी शब्द प्रयुक्त होते हैं अध्यात्ममें वे सब भेदविज्ञानसम्पन्न जीवके लिये ही प्रयुक्त हुए हैं। यह इसीसे स्पष्ट है कि जो ज्ञानी है उसने अपने अभिप्रायमें सब प्रकारके परभावोंसे अपनेको जुदा कर लिया है।

२. भेदविज्ञानकी कलाका निर्देश

आचार्य कुन्दकुन्दने उक्त सूत्रगाथामें जो कुछ कहा है उसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

> वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
> एकद्रव्यस्वभावत्वात् मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥
> वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
> द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

ज्ञान एक द्रव्यका स्वभाव है, इसलिये ज्ञानका ज्ञानरूपसे होना एक मात्र वही मोक्षका हेतु है ॥१०६॥ किन्तु कर्मका (रागका) स्वभाव अन्य द्रव्यरूप है, इसलिये ज्ञानका उस रूपसे नहीं होनेके कारण कर्म मोक्षका हेतु नहीं है ॥१०७॥

यह भेद विज्ञानकी कला है। इस कलाके प्राप्त होने पर ही आत्मा अज्ञानभावसे मुक्त होकर मोक्षका पात्र होता है। इसकी प्राप्तिमें अज्ञानभावका अणुमात्र भी योगदान नहीं है। वे पुनः इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
> तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रितस्त्याजितः।
> सम्यक् निश्चयमेकमेव परमं निष्कम्पमाक्रम्य किं
> शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

बाह्य सभी पदार्थोंके आलम्बनसे जो अध्यवसान भाव होते हैं उन सभीको जिनेन्द्रदेवने त्यागने योग्य कहा है, इसलिये हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवने परको निमित्तकर होनेवाले सभी प्रकारके व्यवहारको छुड़ाया है। फलस्वरूप जो सत्पुरुष हैं वे सम्यक् प्रकारसे एक निश्चय (ज्ञायकस्वरूप आत्मा) को ही निश्चलरूपमें अंगीकार कर शुद्ध (केवल) ज्ञानघनस्वरूप अपनी महिमामें स्थिरताको क्यों नहीं धारण करते?॥१७३॥

पर पदार्थोंमें आत्मबुद्धि होना अध्यवसान भाव है। यह सामान्य

निर्देश है। वस्तुतः देखा जाय तो परको परमार्थसे आत्मकार्यमें साधक मानना यह भी अध्यवसानभाव है। ऐसे पराश्रित जितने प्रकारके भाव होते हैं, अध्ययवसानभाव भी उतने ही प्रकारके होते हैं। ये आत्मासे आत्माको विलग करके पर पदार्थोंसे आत्माको युक्त करते हैं, इसलिये जिनेन्द्रदेवने ऐसे सभी प्रकारके अध्यवसानभावोंको छोड़नेका उपदेश दिया है। ऐसा होने पर ही संसारी प्राणी आत्मकार्यके सन्मुख होकर आत्मामें स्थिति करनेमें समर्थ हो सकता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

मोक्षमार्गकी सिद्धि निश्चयनयस्वरूप उपयोग परिणामके होने पर ही होती है इस वातका स्पष्ट निर्देश करते हुए नयचक्रमें भी कहा है—

णिच्छयदो खलु मोक्खो वंधो ववहारचारिणो जम्हा।
तम्हा णिव्वुदिकामो ववहारं चयदु तिविहेण ॥३८२॥

यतः निश्चयनयस्वरूप होनेसे मोक्ष होता है और व्यवहारचारी अर्थात् पराश्रित प्रवृत्ति करनेवालेके वन्ध होता है, अतः मोक्षप्राप्तिकी रुचि जिसके चित्तमें जागृत हुई है उसे मन, वचन, और कायसे व्यवहारका त्यागकर देना चाहिये अर्थात् सव प्रकारके अध्यवसानभावोंसे मुक्त हो जाना चाहिये। तथा ज्ञानीके चतुर्थादिगुणस्थानोंमें जो शुभाचार-सम्वन्धी पराश्रित विकल्प होते हैं उनमें भी हेयवुद्धि कर लेनी चाहिये ॥३८२॥

शंका—ज्ञानीके शुभाचारमें हेयवुद्धि होती ही है। ऐसी अवस्थामें उसे शुभाचारमें हेयबुद्धि कर लेनी चाहिये ऐसा क्यों कहा?

समाधान—यह सच है कि ज्ञानीके शुभाचारमें स्वयं हेयवुद्धि होती ही है, क्योंकि निश्चयनयके समान यदि उसमें उपादेय बुद्धि हो जाय तो उसे ज्ञानी कहना ही नहीं वनता। फिर भी समझानेकी दृष्टिसे ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानीको शुभाचारमें हेयवुद्धि कर लेनी चाहिये।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वहाँ पुनः कहा है—

मोत्तूण वहिविसयं आदा वि वट्टदे काउं।
तइया संवर णिज्जर मोक्खो विय होइ साहुस्स ॥३८४॥

जव साधु (ज्ञानी) वाह्य विषयको छोड़कर आत्मामें स्थित होता है तव उसे संवर, निर्जरा और मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥३८४॥

३. तर्कपूर्ण शैलीमें व्यवहारका निषेध

निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म होता है, व्यवहारनयके आश्रयसे

नहीं इस विषयको तर्कपूर्ण शैली द्वारा स्पष्ट करते हुए भ० देवसेनकृत नयचक्रकी टीका (प्रकाशक श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री सोलापुर १९४९) में कहते हैं—

खलु प्रमाणलक्षणो योऽसौ व्यवहारः स व्यवहार निश्चयमनुभयं च गृह्णन्नप्यधिकविषयत्वात्कथं न पूज्यनीयः ? नैवम्, नयपक्षातीतमात्मानं कर्तुमशक्यत्वात्। तद्यथा—निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदं न करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाभावे व्यवहारलक्षणभावक्रियां निरोद्धुमशक्तः, अतएव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवासावात्मानमिति। तथा प्रोच्यते—निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानन्दं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोति तमिति पूज्यतमः। अतएव निश्चयनयः परमार्थप्रतिपादकत्वात् भूतार्थः अत्रैवाविश्रान्तदृष्टिर्भवत्यात्मा।

शंका—जो यह प्रमाणलक्षण व्यवहार (विकल्प) है वह व्यवहार, निश्चय और अनुभयको ग्रहण करता हुआ अधिक विषयवाला होनेसे पूज्य क्यों नहीं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रमाणलक्षण व्यवहार (विकल्प) आत्माको नयपक्षसे अतिक्रान्त करनेमें समर्थ नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—प्रमाणलक्षण व्यवहार निश्चयनयको ग्रहण करके भी अन्ययोग व्यवच्छेद नहीं करता और अन्ययोगव्यवच्छेदके अभावमें वह व्यवहारलक्षण भावक्रिया (पराश्रित विकल्प) को रोकनेमें असमर्थ है। अतएव वह आत्माको ज्ञानस्वरूप चैतन्यमें स्थापित करनेके लिए असमर्थ ही है। उसीको समझाते हुए कहते हैं—निश्चयनय तो एकत्वको प्राप्त करनेके साथ आत्माको ज्ञानस्वरूप चैतन्यमें स्थापित कर परमानन्दको उत्पन्न करता हुआ उसे वीतराग करके स्वयं निवृत्त होता हुआ उसे (आत्माको) नयपक्षसे अतिक्रान्त करता है, इसलिये वह सब प्रकारसे पूज्य है। तथा निश्चयनय परमार्थका प्रतिपादक होनेसे भूतार्थ है, क्योंकि इसी विधिसे आत्मा स्वयंमें अविश्रान्तरूपसे अन्तर्दृष्टि होता है।

यहाँ प्रमाण सप्तभंगीका कोई भी भंग मोक्षमार्गमें अनुपादेय है यह स्पष्ट करके नयसप्तभंगीका प्रथम भंग ही प्रयोजनीय है यह सुस्पष्ट किया गया है।

शंका—मोक्षमार्गमें नयसप्तभंगीके द्वितीयादि भंग क्यों प्रयोजनीय नहीं है ?

समाधान—क्योंकि एकत्वको बतलानेवाले निश्चयनयका जो अव-

लम्बन लेकर एकत्वस्वरूप आत्माके अनुभवके सन्मुख होनेका उद्यम कर रहा है उसके अन्य सब विकल्प स्वयं छूट जाते हैं।

शंका—जब यह आत्मा निर्णय करनेके सन्मुख होता है तब क्या विचार करता है?

समाधान—तब अवश्य ही वह यह विचार करता है कि मोक्षमार्गमें निश्चयका अवलम्बन लेना ही प्रयोजनीय है, अन्य नहीं। और जब यह जीव ऐसा निर्णय कर लेता है तभी वह निश्चयस्वरूप एकत्वके सन्मुख होनेका उद्यम करनेमें समर्थ होता है।

इसीलिये नयचक्रमें यह कहा गया है—

ववहारादो बन्धो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले ॥३४२॥

यतः व्यवहारसे (पराश्रित विकल्पसे) बन्ध होता है और स्वभावमें लीन होनेसे मोक्ष होता है, इसलिये स्वभावकी आराधनाके समय व्यवहारको गौण करना चाहिये ॥३४२॥

और भी कहा है—

जीवो सहावमओ कहं पि सो चेव जादपरसमओ।
जुत्तो जइ ससहावे तो परभावं खु मुंचेदि ॥४०२॥

जीव अपने स्वभावमय है, किसी प्रकार वह परसमय हो गया है। यदि वह अपने स्वभावमें लीन हो जाय तो परभावको छोड़ देता है अर्थात् परभावसे स्वयं मुक्त हो जाता है ॥४०२॥

परभावसे मुक्त होना ही मोक्ष है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वभावमें लीन होना ही मोक्षका उपाय है, अन्य नहीं।

इसी तथ्यको दूसरे प्रकारसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकायमें लिखा है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ।
जइ कुणइ सगसमयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो ॥१०५॥

जीव स्वभावनियत होनेपर भी संसार अवस्थामें अनियत गुणपर्यायवाला होनेसे परसमय है। यदि वह स्वसमयरूप परिणमता है तो द्रव्य-भाव उभयरूप कर्मबन्धसे छूट जाता है।

जीव ज्ञान-दर्शनस्वभाव है। किन्तु संसार अवस्थामें अनादि कालसे मोहोदयका अनुसरणकर उपरक्त उपयोगवाला होकर राग-द्वेषादि रूप

अनियत गुणपर्यायपनेको प्राप्त होनेसे परसमय अर्थात् परचरित हो रहा है। किन्तु जब वह अनादि मोहोदयके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिसे वियुक्त होता हुआ शुद्ध उपयोगवाला होता है तभी अपने ज्ञान-दर्शनस्वभावमें स्थित होनेके कारण स्वसमय अर्थात् स्वचरित होता है।

स्वभावकी आराधना कहो या मोक्षमार्ग कहो दोनोंका अर्थ एक ही है। तदनुसार उक्त कथनका यह अभिप्राय है कि एकमात्र स्वभावकी आराधना करनेसे ही जीवनमें मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि होती है। अतएव स्वभाव उपादेय है और जीवादि नौ पदार्थस्वरूप परभाव हेय हैं ऐसा समझकर सदा स्वभावपर अपनी दृष्टि स्थिर रखनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। चित्तकी अस्थिरतावश कदाचित् रागादिरूप विकल्प उत्पन्न हों तो उन्हें अनुपादेय अर्थात् अहितकारी समझकर स्वभावके आलम्बन द्वारा निवृत्त होनेका सतत प्रयत्न (पुरुषार्थ) करते रहना चाहिए।

रागादिभावोंका अवलम्बनकर प्रवृत्ति करना उपादेय नहीं है ऐसी दृढप्रतीतिके साथ जो मोक्षमार्गपर आरूढ़ होता है वही समस्त औपाधिकभावोंसे निवृत्त होकर मोक्षका अधिकारी होता है। प्रकृतमें निश्चयनयके आश्रय करनेका और व्यवहारनयके आश्रय छोड़नेका यही तात्पर्य है।

इस प्रकार उक्त प्रमाणोंके प्रकाशमें हम देखते हैं कि मोक्षमार्गमें एकमात्र निश्चयनयको ही आश्रय करनेयोग्य बतलाया गया है, व्यवहारनयको नहीं। फिर भी कतिपय व्यवहाराभासी जन इसे एकान्त कहकर परमार्थमार्गके विरोधमें प्रचार करते रहते हैं उनका ऐसा करना कैसे आगमविरुद्ध है इसे स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे सर्वप्रथम यहाँ अनेकान्त क्या है इसका निर्णय करते हैं। साथ ही इस मीमांसामें यह भी स्पष्ट करेंगे कि जैनदर्शनमें अनेकान्त किस दृष्टिसे स्वीकार किया गया है और किस प्रकारकी प्रवृत्तिके लिए कौन-सी दृष्टि अपनाना श्रेयस्कर है। तत्त्वनिर्णयपूर्वक मोक्षमार्गमें उपयुक्त होनेका मार्ग भी यही है।

४. अनेकान्तका स्वरूपनिर्देश

अनेकान्त शब्द अनेक और अन्त इन दो शब्दोंके मेलसे बना है। उसका सामान्य अर्थ है—अनेके अन्ताः धर्माः यस्यासौ अनेकान्तः। जिसमें

अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं। जो भी जीवादि पदार्थ हैं वे सब अनेकान्तस्वरूप हैं यह इस कथनका तात्पर्य है। जो कोई पदार्थ अस्तिरूप है वह प्रत्येक त्रैकालिक होनेके साथ अर्थक्रिया-कारी भी है। और वह तभी उक्त विधिसे अर्थक्रियाकारी बन सकता है जब उसे अनेकान्तस्वरूप स्वीकार किया जाय। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए स्वामी कार्तिकेय स्वरचित द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए ॥ २२५ ॥

जो वस्तु अनेकान्त स्वरूप है वही नियमसे कार्य करनेमें समर्थ है, क्योंकि लोकमें बहुत धर्मवाला अर्थ ही कार्यकारी देखा जाता है ॥२२५॥

शंका—वस्तु बहुत धर्मोंवाली होती है इसका क्या अर्थ है? जैसे जीव द्रव्य लीजिये। वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख और वीर्य आदि अनन्त धर्मोंवाला है या अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्त धर्मोंवाला है। इस प्रकार वस्तु बहुत धर्मोंवाली है, अनेकान्तका क्या यह अर्थ लिया जाय या इसका कोई दूसरा अर्थ है।

समाधान—विचार कर देखा जाय तो प्रत्येक वस्तु केवल उक्त विधिसे ही अनेकान्तस्वरूप नहीं स्वीकार की गई है। किन्तु प्रत्येक वस्तु-को अनेकान्तस्वरूप स्वीकार करनेका प्रयोजन ही दूसरा है। बात यह है कि प्रत्येक वस्तुका स्वरूप क्या है इसे स्पष्ट करते हुए जैनदर्शनमें यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक वस्तु जैसे स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति-स्वरूप है वैसे वह परद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तिस्वरूप नहीं है, क्योंकि एक द्रव्यमें अन्य सजातीय और विजातीय अन्य द्रव्योंका अत्यन्ताभाव है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो न तो प्रत्येक द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध होता है और न ही प्रत्येक जीवकी बन्ध-मोक्ष व्यवस्था ही बन सकती है। यह तो है ही, इसके साथ ही एक वस्तुमें भी धर्मी और अनन्त धर्मोकी अपेक्षा विचार करने पर उनमेंसे भी प्रत्येकका अपने अपने विवक्षित स्वरूपादिकी अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे प्रत्येक धर्मी स्वरूपसे सत् है वैसे ही गुण-पर्यायरूप प्रत्येक धर्म भी स्वरूपसे सत् हैं। कोई किसीके कारण स्वरूपसत् हो ऐसा नहीं है। जैनदर्शनमें स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् इत्यादि तथ्यको स्वी-कारकर जो अनेकान्तकी प्रतिष्ठा है उसका प्रमुख कारण यही है। भेद-विज्ञान जैनदर्शनका प्राण है, इसलिये उक्त विधिसे अनेकान्तको

हृदयंगम करने पर ही भेदविज्ञानमें निपुणता प्राप्त होना सम्भव है, अन्य प्रकारसे नहीं। उदाहरणार्थ जब यह कहा जाता है कि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है तब उसका अर्थ होता है कि रत्नत्रयको छोड़कर अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इसे और खुलासा कर समझा जाय तो यह कहा जायगा कि यद्यपि जीव वस्तु अनन्त धर्मगर्भित एक पदार्थ है, परन्तु उसमें भी मोक्षमार्गता मात्र रत्नत्रयपरिणत आत्मामें ही घटित होती है, अन्य अनन्त धर्मपरिणत आत्मामें नहीं। इस प्रकार विविध दृष्टिकोणों से देखने पर एक ही वस्तु कैसे अनेकान्तस्वरूप है यह स्पष्ट हो जाता है, इसलिये उसके स्वरूपका ख्यापन करते हुए समयसार आत्मख्याति टीकामें कहा भी है—

तत्र यदेव तत् तदेव अतत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत् तदेव असत् यदेव नित्यं तदेव अनित्यं इत्येकस्मिन् वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

स्वतन्त्र सत्ताकी वस्तुएँ अनन्त हैं। उन्हें बुद्धिगम्य करके विविध दृष्टिकोणोंसे देखने पर प्रत्येक वस्तु कैसी प्रतीतिमें आती है इसीका ख्यापन करते हुए परमागममें कहा है—

जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है तथा जो नित्य है वही अनित्य है इस प्रकार एक ही वस्तुमें वस्तुत्वकी प्रतिष्ठा करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंके प्रकाशनका नाम अनेकान्त है।

५. चार युगलोंकी अपेक्षा अनेकान्तकी सिद्धि

यद्यपि जीवद्रव्य अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य प्रत्येक एक-एक हैं तथा कालद्रव्य लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं तत्प्रमाण हैं। उनमेंसे यहाँ उदाहरणस्वरूप एक जीव द्रव्यकी अपेक्षा विचार करते हैं। उसमें भी अनेकान्तके स्वरूपका ख्यापन करते समय जिन परस्पर विरुद्ध चार युगलोंका निर्देश कर आये हैं उनको ध्यानमें रखकर क्रमसे मात्र आत्मतत्त्वका निरूपण करेंगे—

१. पहला युगल है—आत्मा तत्स्वरूप ही है और अतत्स्वरूप ही है, क्योंकि अन्तरंगमें अपने सहज ज्ञानस्वरूपके द्वारा तत्स्वरूप ही है और बाहर अनन्त ज्ञेयोंको जानता है इस अपेक्षा वह अतत्स्वरूप ही है।

२. दूसरा युगल है—आत्मा एक ही और अनेक ही है, क्योंकि सह-

प्रवृत्तमान गुण और क्रमशः प्रवृत्तमान पर्यायों स्वरूप अनन्त चैतन्यरूप अंशोंके समुदायपनेकी अपेक्षा वह एक ही है और सहज ही अविभक्त एक द्रव्यमें व्याप्त सह प्रवृत्तमान गुण और क्रमशः प्रवृत्तमान पर्याय-स्वरूप अनन्त चैतन्य अंशरूप पर्यायोंकी अपेक्षा वह अनेक ही है। यहाँ भेद-कल्पनामें गुणोंको पर्याय कहा गया है।

३. तीसरा युगल है—आत्मा सत् ही है और असत् ही है, क्योंकि वह अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूपसे होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला है, इसलिये सत् ही है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होनेकी शक्ति-रूप स्वभाववाला है, इसलिये असत् ही है।

४. चौथा युगल है—आत्मा नित्य ही है और अनित्य ही है, क्योंकि अनादि-निधन-अविभाग एकरस परिणत होनेके कारण वह नित्य ही है और क्रमशः प्रवर्तमान एक समयकी मर्यादावाले अनेक वृत्त्यंशरूपसे परिणत होनेके कारण वह अनित्य ही है।

इस प्रकार एक ही आत्मा तत् है और अतत् है, एक है और अनेक है, सत् है और असत् है तथा नित्य है और अनित्य है। इसलिये वह अनेकान्तस्वरूप है यह निश्चित होता है। इसी प्रकार जितना भी द्रव्य-जात है उनमेंसे प्रत्येकको अनेकान्तस्वरूप घटित कर लेना चाहिये।

शंका—श्री समयसार परमागममें आत्माको ज्ञानमात्र कहा गया है सो यदि आत्मद्रव्य ज्ञानमात्र होनेसे स्वयं ही अनेकान्तस्वरूप है तो फिर आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिए पृथक्से अनेकान्तकी प्ररूपणा क्यों की जाती है ?

समाधान—अज्ञानी जन आत्मतत्त्वको ज्ञानमात्र नहीं मानते, इसलिये आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र है यह उपदेश दिया जाता है। वस्तुतः अनेकान्तके विना ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी सिद्धि होना सम्भव नहीं है, इसलिए पृथक् अनेकान्तको प्ररूपणा की जाती है।

शंका—जैसे प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मगर्भित एक वस्तु है वैसे ही आत्मा भी अनन्त धर्मगर्भित एक वस्तु है। फिर प्रकृतमें उसे ज्ञानमात्र क्यों बतलाया गया है।

समाधान—लक्ष्य-लक्षणमें अभेद करके आत्माको ज्ञानमात्र कहनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। यद्यपि आत्मा भी अन्य द्रव्योंके समान अनन्त-धर्मगर्भित एक वस्तु है। किन्तु उसमें साधारण और असाधारण दोनों

प्रकारके धर्म हैं। जो साधारण धर्म हैं वे अन्य द्रव्योंसे आत्मद्रव्यके भेदक नहीं हो सकते। जो असाधारण होकर भी पर्यायरूप हैं वे भी एक त्रिकालवर्ती आत्मद्रव्यका व्यापन करनेमें असमर्थ हैं। और जो असाधारण होकर भी त्रिकाल व्याप्ति समन्वित है जैसे चारित्र, सुख और वीर्य आदि सो वे भी बोधगम्य होने पर ही माने जाते हैं। अतः वे स्वयं आत्मतत्त्वको अन्य द्रव्योंसे पृथक् करनेमें असमर्थ हैं। रहा दर्शन सो वह अनाकारस्वरूप है। एक ज्ञान ही ऐसा है जो अनुभवगोचर है, इसलिए उस द्वारा आत्मतत्त्वको अन्य द्रव्योंसे पृथक् करना सम्भव है, इसलिए जिनागममें आत्माको ज्ञानमात्र स्वीकार किया गया है।

तत्त्वार्थवार्तिकमें लक्षण किसे कहते हैं इसका निर्देश करते हुए बतलाया है—

परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।

सभी पदार्थ (एकक्षेत्रपनेकी अपेक्षा) परस्पर मिलकर रहते हैं, इसलिए जिसके द्वारा एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे जुदा किया जाता है उसे लक्षण कहते हैं।

इस दृष्टिसे विचार करने पर द्रव्य (सामान्य) गुण (प्रत्येक द्रव्यव्यापी त्रिकाली विशेष धर्म) और पर्याय (प्रत्येक द्रव्यव्यापी एक समयवर्ती धर्मविशेष) का लक्षण स्वतन्त्र रूपसे प्रतीतिमें आता है। यही कारण है कि प्रकृतमें इसी दृष्टिको माध्यम बना कर अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी व्यवस्था की गई है। एक ही वस्तु दूसरी वस्तुसे अत्यन्त भिन्न है यह तो है ही। उसे दिखलाना यहाँ मुख्य प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो एक ही वस्तु द्रव्य, गुण और पर्यायपनेकी अपेक्षा कैसे तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्यस्वरूप है यह दिखलाया है। जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तस्वरूप दिखलाना यह मुख्य प्रयोजन है। अन्यथा प्रत्येक वस्तु स्वयंमें अनेकान्तस्वरूप नहीं सिद्ध होती।

तत्त्वार्थवार्तिक अ० ४ सूत्र ४२में जीव पदार्थ अनेकान्तात्मक कैसे है इसका विचार करते हुए लिखा है—

जीव पदार्थ एक होकर भी अनेकरूप है, क्योंकि वह अभावसे विलक्षण स्वरूपवाला है। वस्तुतः देखा जाय तो अभावमें कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। उसके विपरीत भावमें तो अनेक धर्म और अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं। जो घटका उत्पाद है वही पट आदि अनन्त पदार्थों-

का उत्पाद नहीं है। इस प्रकार स्वकी अपेक्षा उत्पाद एक होकर भी उसमें परकी अपेक्षा अनन्तरूपता घटत हो जाती है। यह एक उदाहरण है। परसे भेद दिखलानेकी अपेक्षा इस प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार लोकमें जितने भी सद्भावरूप पदार्थ हैं उनमेंसे प्रत्येक कैसे अनेकान्तस्वरूप हैं इसका संक्षेपमें ऊहापोह किया।

६. स्याद्वाद और अनेकान्त

अब अनेकान्तस्वरूप वस्तुका वचन मुखसे विचार करते हैं। अनेकान्तस्वरूप एक ही वस्तुका शब्दों द्वारा कथन दो प्रकारसे होता है— एक क्रमिकरूपसे और दूसरा यौगपद्यरूपसे। इनके अतिरिक्त कथनका तीसरा कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्त्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न रूपसे विवक्षित होते हैं तब एक शब्दमें अनेक धर्मों-के प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे उनका क्रमसे प्रतिपादन किया जाता है। इसीका नाम विकलादेश है। परन्तु जब वे ही अस्तित्वादि धर्म कालादिकी अपेक्षा अभेदरूपसे विवक्षित होते हैं तब एक ही शब्द द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्डरूपसे युगपत् कथन हो जाता है। इसीका नाम सकलादेश है। विकलादेश नयरूप है और सकलादेश प्रमाणरूप है। कहा भी है—विकलादेश नया-धीन है और सकलादेश प्रमाणाधीन है।

७. सकलादेशकी अपेक्षा ऊहापोह

जिस समय एक वस्तु अखण्डरूपसे विवक्षित होती है उस समय वह अस्तित्वादि धर्मोंकी अभेदवृत्ति या अभेदोपचार करके पूरीकी पूरी एक शब्द द्वारा कही जाती है। इसीका नाम सकलादेश है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नयसे सभी धर्मोंमें अभेदवृत्ति घटित हो जानेसे अभेद है तथा पर्यायार्थिक नयसे प्रत्येक धर्ममें दूसरे धर्मोंसे भेद होने पर भी अभेदोपचार कर लिया जाता है। जिसे स्याद्वाद कहते हैं उसमें इस दृष्टिसे प्रत्येक भंग समग्र वस्तुको कहनेवाला माना जाता है इसीको आगे सप्तभंगीके द्वारा स्पष्ट करते हैं—

८. सप्तभंगीका स्वरूप और उसमें प्रत्येक भंगकी सार्थकता

सप्तभंगी कहनेसे इसके अन्तर्गत सात भंगोंका बोध होता है। वे हैं— (१) स्यात् है ही जीव, (२) स्यात् नहीं ही है जीव, (३) स्यात् अवक्तव्य ही है जीव, (४) स्यात है और नहीं है जीव, (५) स्यात् है और अवक्तव्य

है जीव, (६) स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है जीव तथा (७) स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य है जीव।

प्रश्नके वश होकर एक वस्तुमें अविरोधपूर्वक विधि-प्रतिषेध कल्पना-का नाम सप्तभंगी है। किसी वस्तुको जाननेके लिए जिज्ञासा सात प्रकार-की होती है, इसलिए एक सप्तभंगीमें भंग भी सात ही होते हैं। ये भंग पूर्वमें दिये ही हैं।

शंका—उक्त सात भंगोंमें यदि 'स्यादस्त्येव जीवः' यह भंग सकला-देशी है तो इसी एक भंगसे जीवद्रव्यके सभी धर्मोंका संग्रह हो जाता है, इसलिये आगेके सभी भंग निरर्थक हैं?

समाधान—गौण और मुख्य विवक्षासे सभी भङ्ग सार्थक हैं। द्रव्या-र्थिक नयकी प्रधानता और पर्यायार्थिक नयकी गौणतामें प्रथम भङ्ग सार्थक है। तथा पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता और द्रव्यार्थिकनयकी गौणतामें दूसरा भङ्ग सार्थक है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यहाँ प्रधानता केवल शब्द प्रयोगकी है। वैसे प्रमाण सप्तभङ्गीकी अपेक्षा वस्तु तो प्रत्येक भङ्गमें पूरी ही ग्रहण की जाती है। जो शब्दसे कहा नहीं गया है अर्थात् गम्य हुआ है वह प्रकृतमें अप्रधान है। तृतीय भङ्गमें कहनेकी युगपत् विवक्षा होनेसे दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं, क्योंकि दोनोंको एक साथ प्रधानभावसे कहनेवाला कोई शब्द नहीं है। चौथे भङ्गमें क्रमशः उभय धर्म प्रधान होते हैं। इसी सरणिसे आगेके तीन भङ्गोंका विचार कर लेना चाहिये।

८. प्रत्येक भंगमें 'अस्ति' आदि पदोंकी सार्थकता

'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यमें 'जीव'पद विशेष्य है—द्रव्यवाची है और 'अस्ति' पद विशेषण है—गुणवाची है। उनमें परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव है इसके द्योतनके लिये 'एव' पदका प्रयोग किया गया है। इससे इतर धर्मोंकी निवृत्तिका प्रसंग प्राप्त होनेपर उन धर्मोंके सद्भाव को द्योतन करनेके लिए उक्त वाक्यमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है। यहाँ 'स्यात्' तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। प्रकृतमें इसका अर्थ अनेकान्त लिया गया है।

शंका—जब कि 'स्यात्' पदसे ही अनेकान्तका द्योतन हो जाता है तो फिर 'अस्त्येव जीवः' या 'नास्त्येव जीवः' इत्यादि पदोंके प्रयोगकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती है?

समाधान—माना कि 'स्यात्' पदसे अनेकान्तका द्योतन हो जाता है फिर भी विशेषार्थी विशेष शब्दोंका प्रयोग करते हैं। जैसे जीव कहनेसे मनुष्यादि सभीका ग्रहण हो जाता है, फिर भी विवक्षित पर्यायविशिष्ट जीवको जाननेवाला उस-उस शब्दका प्रयोग करता है। इसलिये पूर्वोक्त कोई दोष नहीं है।

एक बात और है। वह यह कि यद्यपि 'स्यात्' पद अनेकान्तका द्योतक होता है और जो द्योतक होता है वह किसी वाचक शब्दके द्वारा कहे गये अर्थको ही अनेकान्तरूप द्योतन करता है, अतः वाचक द्वारा प्रकाश्य धर्मकी सूचनाके लिये इतर शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। बात यह है कि जब हम किसी विवक्षित धर्मके द्वारा वस्तुका कथन करते हैं तब वस्तुमें रहनेवाले अन्य सब धर्म अविवक्षित रहते हैं, इसलिये उनके सूचित करनेके लिये 'स्यात्' पदका प्रयोग किया जाता है। यदि 'स्यात्' पदका प्रयोग न किया जाय तो सभी प्रयोग अनुक्ततुल्य हो जाते हैं। 'स्यात्' पद अनेकान्तका द्योतक है इस अर्थको स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसामें आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

> वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
> स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिना मपि ॥१०३॥

हे भगवन्! आपके शासनमें 'स्यादस्त्येव जीव.' या 'स्यान्नास्त्येव जीवः' इत्यादि वाक्योंमें अर्थके सम्बन्धवश 'स्यात्' पद अनेकान्तका द्योतक होता है और गम्य अर्थका विशेषण होता है। प्रकृतमें 'स्यात्' पद निपात है। यह केवलियों और श्रुतकेवलियों दोनोंको अभिमत है।

यहाँ आचार्य समन्तभद्रने यह स्पष्ट किया है कि सप्तभङ्गीके प्रत्येक भङ्गको 'स्यात्' पदसे युक्त करनेके दो प्रयोजन हैं। प्रथम प्रयोजनके अनुसार तो प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' पद अनेकान्तका द्योतक होता है, क्योंकि निपात द्योतक होते हैं ऐसा वचन है। दूसरे प्रयोजनके अनुसार जिस वाक्यमें जो गम्य अर्थ है उसका विशेषण होनेसे वह अपेक्षा विशेषको सूचित करता है। इससे हम जानते हैं कि प्रथम भङ्गमें 'जीव है ही' यह जो कहा गया है वह अपेक्षा विशेषसे ही कहा गया है और दूसरे भङ्गमें 'जीव नहीं ही है' यह जो कहा गया है वह भी अपेक्षा विशेषसे ही कहा गया है। इस प्रकार प्रत्येक भङ्गमें 'स्यात्' पदका प्रयोग होनेसे एक तो अनुक्त धर्मोका स्वीकार हो जाता है दूसरे विवक्षित भंग किस अपेक्षासे कहा गया है इसका सूचन हो जाता है यह उक्त कथनका

(५) गुणीसे सम्बन्ध रखनेवाला जो देश अस्तित्वका है वही देश अन्य समस्त धर्मोंका है, इसलिये गुणिदेशकी अपेक्षा समस्त धर्मोंकी एक वस्तुमें अभेदवृत्ति बन जाती है। (६) जो उपकार अस्तित्वके द्वारा किया जाता है वही अनन्त धर्मोंके द्वारा किया जाता है, इसलिये उपकारकी अपेक्षा एक वस्तुमें समस्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति बन जाती है। (७) एक वस्तुरूपसे अस्तित्वका जो संसर्ग है वही अनन्त धर्मोंका है, इसलिये संसर्गकी अपेक्षा एक वस्तुमें समस्त धर्मोकी अभेदवृत्ति बन जाती है। (८) जिस प्रकार अस्ति' यह शब्द अस्तित्व धर्मरूप वस्तुका वाचक है उसी प्रकार वह अशेष धर्मात्मक वस्तुका भी वाचक है, इसलिये शब्दकी अपेक्षा एक वस्तुमें समस्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति बन जाती है। यह सब व्यवस्था पर्यायार्थिक नयको गौणकर द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे बनती है।

परन्तु पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता रहने पर अभेदवृत्ति सम्भव नहीं है। खुलासा इस प्रकार है;—बात यह है कि पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता रहनेपर अभेद वृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि (१) इस नयकी विवक्षासे एक वस्तुमें एक समय अनेक धर्म सम्भव नहीं हैं। यदि एक कालमें अनेक धर्म स्वीकार भी किये जायं तो उन धर्मोंकी आधारभूत वस्तुमें भी भेद स्वीकार करना पड़ता है। (२) एक धर्मके साथ सम्बन्ध रखनेवाला जो वस्तुरूप है वह अन्यका नहीं हो सकता और जो अन्यसे सम्बन्ध रखनेवाला वस्तुरूप है वह उसका नहीं हो सकता। यदि ऐसा न माना जाय तो उन धर्मोंमें भेद नहीं हो सकता। (३) एक धर्मका आश्रयभूत अर्थ भिन्न है और दूसरे धर्मका आश्रयभूत अर्थ भिन्न है। यदि धर्मभेदसे आश्रयभेद न माना जाय तो एक आश्रय होनेसे धर्मोंमें भेद नहीं रहेगा। (४) सम्बन्धीके भेदसे सम्बन्धमें भी भेद देखा जाता है, क्योंकि नाना सम्बन्धियोंकी अपेक्षा एक वस्तुमें एक सम्बन्ध नहीं बन सकता है। (५) अनेक उपकारियोंके द्वारा जो उपकार किये जाते हैं वे अलग-अलग होते हैं उन्हें एक नहीं माना जा सकता है (६) प्रत्येक धर्मका गुणिदेश भिन्न-भिन्न होता है वह एक नहीं हो सकता। यदि अनन्त धर्मोंका एक गुणिदेश मान लिया जाय तो वे धर्म अनन्त न होकर एक हो जायेंगे। अथवा भिन्न-भिन्न वस्तुओंके धर्मोंका भी एक गुणिदेश हो जायगा। (७) अनेक संसर्गोंकी अपेक्षा संसर्गमें भी भेद है, वह एक नहीं हो सकता। (८) तथा प्रतिपाद्य विषयके भेदसे प्रत्येक शब्द जुदा-जुदा है। यदि सभी धर्मोंको एक शब्दका वाच्य माना जायगा तो

वाचकके अभेदसे उन वाच्यभूत धर्मोंमें भी भेद नहीं रहेगा। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे विचार करने पर कालादिकी अपेक्षा अर्थभेद स्वीकार किया जाता है। फिर भी उनमें अभेदका उपचार कर लिया जाता है। अतः इस विधिसे जिस वचन प्रयोगमें अभेदवृत्ति और अभेदोपचारकी विविक्षा रहती है वह वचन प्रयोग सकलादेश है यह निश्चित होता है। यद्यपि प्रमाण सप्तभंगीका प्रत्येक भंग सुनयवाक्य है, फिर भी वह प्रमाणाधीन है, क्योंकि उसके द्वारा अशेष वस्तु कही जाती है।

यह प्रमाण सप्तभंगीके दो भंगोंकी मीमांसा है। शेष पाँच भागोंकी मीमांसा भी इसी विधिसे कर लेनी चाहिये। इन भंगोंको विशेष रूपसे समझनेके लिये तत्त्वार्थवार्तिक अ० ४ के अन्तिम सूत्रवृत्तिपर दृष्टिपात करना चाहिये।

१०. पूर्वोक्त विषयका सुबोध शैलीमें खुलासा

यहाँ तक हमने शास्त्रीय दृष्टिसे अनेकान्तके स्वरूपका विचार किया। आगे उसपर सुबोध शैलीमें विशेष प्रकाश डाला जाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जो वस्तु तत्स्वरूप हो वही अतत्स्वरूप कैसे हो सकती है, क्योंकि एक ही वस्तुको तत्-अतत् स्वरूप माननेपर विरोध दिखाई देता है। परन्तु विचारकर देखा जाय तो इसमें विरोध-की कोई बात नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—

यहाँपर वस्तुको जिस अपेक्षासे तत्स्वरूप स्वीकार किया है उसी अपेक्षासे उसे अतत्स्वरूप नहीं स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है, इसलिए जिस प्रकार एक ही व्यक्तिमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे पितृत्व और पुत्रत्व आदि विविध धर्मोंका सद्भाव बन जाता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिक दृष्टिसे तत्स्वरूप है, क्योंकि अनन्तकाल पहले वह जितना और जैसा था उतना और वैसा ही वर्तमानकालमें भी दृष्टिगोचर होता है और वर्तमानकालमें वह जितना और जैसा है उतना और वैसा ही वह अनन्तकाल तक बना रहेगा। उसमेंसे कोई एक प्रदेश या गुण खिसक जाता हो और उसका स्थान कोई अन्य प्रदेश या गुण ले लेता हो ऐसा नहीं है, इसलिए तो वह सदाकाल तत्स्वरूप ही है।

किन्तु इस प्रकार उसके तत्स्वरूप सिद्ध होनेपर भी पर्यायरूपसे भी वह नहीं बदलता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि जो बालक

जन्मके समय होता है। कालान्तरमें वह वही होकर भी अन्य रूप भी हो जाता है, अन्यथा उसमें बालक, युवा और वृद्ध इत्यादिरूपसे विविध अवस्थाएँ दृष्टिगोचर नहीं हो सकतीं, इसलिए विवक्षाभेदसे तत् और अतत् इन दोनों धर्मोंको एक ही वस्तुमें स्वीकार करनेमें कोई बाधा नहीं आती। मात्र अन्वयको स्वीकार करनेवाले द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे विचार करनेपर तो प्रत्येक पदार्थ हमें तत्स्वरूप ही प्रतीत होता है और उसी पदार्थको व्यतिरेकको स्वीकार करनेवाले पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे देखनेपर वह मात्र अतत्स्वरूप ही प्रतीत होता है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिकनयसे तत्स्वरूप ही है और पर्यायार्थिकनयसे अतत्स्वरूप ही है।

इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूपसे अस्तिरूप ही है, इसलिए तो वह सत् ही है और उसमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावका सर्वथा अभाव है इसलिए इस दृष्टिसे वह असत् ही है। प्रत्येक पदार्थकी नित्यानित्यता और एकानेकता इसी प्रकार साध लेनी चाहिये, क्योंकि जब हम किसी पदार्थका द्रव्यदृष्टिसे अवलोकन करते हैं तो वह जहाँ हमें एक और नित्य प्रतीत होता है वहाँ उसे पर्याय-दृष्टिसे देखनेपर उसमें अनेकता और अनित्यता भी प्रमाणित होती है।

शास्त्रोंमें प्रकृत विषयको पुष्ट करनेके लिए अनेक उदाहरण दिये गये हैं। विचार करने पर विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है। इस दृष्टिसे उसका विचार करनेपर उसमें द्रव्यभेद, क्षेत्रभेद कालभेद और भावभेद सम्भव नहीं है, अन्यथा वह अखण्ड एक पदार्थ नहीं हो सकता, इसलिए द्रव्यार्थिकदृष्टि (अभेददृष्टि) से उसका अव-लोकन करनेपर वह तत्वस्वरूप, एक, नित्य और अस्तिरूप ही प्रतीतिमें आता है। किन्तु जब उसका नाना अवयव, अवयवोंका पृथक्-पृथक् क्षेत्र, प्रत्येक समयमें होनेवाला उनका परिणामलक्षण स्वकाल और उसके रूप-रसादि या ज्ञान दर्शनादि विविध भाव इन सबकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो वह एक अखण्ड पदार्थ अतत्वरूप, अनेक, अनित्य और नास्तिरूप ही प्रतीतिमें आता है।

प्रत्येक पदार्थ तद्भिन्न अन्य अनन्त पदार्थोंसे पृथक् होनेके कारण उसमें उन अनन्त पदार्थोंका अत्यन्ताभाव है यह तो स्पष्ट है ही, अन्यथा उसका स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा स्वरूपास्तित्व आदि ही सिद्ध नहीं हो सकता

और न उन अनन्त पदार्थोंमें अपने अपने द्रव्यादिकी अपेक्षा भेदक रेखा ही खींची जा सकती है। आचार्य समन्तभद्रने अत्यन्ताभावके नहीं मानने पर किसी भी द्रव्यका विवक्षित द्रव्यादिरूपसे व्यपदेश करना सम्भव नहीं है यह जो आपत्ति दी है वह इसी अभिप्रायको ध्यानमें रख कर ही दी है। साथ ही गुण-पर्यायोंके किंचित् मिलित स्वभावरूप वह स्वयं ही एक है और एक नहीं है, नित्य है और नित्य नहीं है, तत्स्वरूप है और तत्स्वरूप नहीं है तथा अस्तिरूप है और अस्तिरूप नहीं है. क्योंकि द्रव्यार्थिकदृष्टिसे उसका अवलोकन करनेपर जहाँ वह एक, नित्य, तत्स्वरूप और अस्तिरूप प्रतीतिमें आता है वहाँ पर्यायार्थिकदृष्टिसे उसका अवलोकन करनेपर वह एक नहीं है अर्थात् अनेक है, नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है, तत्स्वरूप नहीं है अर्थात् अतत्स्वरूप है और अस्तिरूप नहीं है, अर्थात् नास्तिरूप है ऐसा भी प्रतीतिमें आता है। अन्यथा उसमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभावकी सिद्धि न हो सकनेके कारण न तो उसका विवक्षित समयमें विवक्षित आकार हो सिद्ध होगा और न उसमें जो गुणभेद और पर्यायभेदकी प्रतीति होती है वह भी बन सकेगी। आचार्य समन्तभद्रने प्रागभावके नहीं माननेपर कार्यद्रव्य अनादि हो जायगा, प्रध्वंसाभावके नहीं माननेपर कार्यद्रव्य अनन्तताको प्राप्त हो जायगा और इसरेतराभावके नहीं माननेपर वह एक सर्वात्मक हो जायगा यह जो आपत्ति दी है वह इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ही दी है। स्वामी समन्तभद्र 'प्रत्येक पदार्थ कथंचित सत् है और और कथंचित् असत् है' इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥

ऐसा कौन पुरुष है, जो, चेतन और अचेतन समस्त पदार्थ जात स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा सत्स्वरूप हो हैं, ऐसा नहीं मानता और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा असत्स्वरूप ही हैं, ऐसा नहीं मानता, क्योंकि ऐसा स्वीकार किये बिना किसी भी इष्टतत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकती ॥१५॥

उक्त व्यवस्थाको स्वीकार नहीं करनेपर इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था किस प्रकार नहीं बन सकती इस विषयको स्पष्ट करते हुए विद्यानन्दस्वामी उक्त श्लोकको टीकामें कहते हैं—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य, स्वरूपादिव

पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसंगात् तत्स्वात्मवत्, पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः, स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियमविरोधात् ।

इसमें सर्वप्रथम तो वस्तुका वस्तुत्व क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य विद्यानन्दने कहा है कि जिस व्यवस्थासे स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन हो वही वस्तुका वस्तुत्व है । फिर भी जो इस व्यवस्थाको नहीं मानना चाहता उसके सामने जो आपत्तियाँ आती हैं उनका खुलासा करते हुए वे कहते हैं—

१. यदि स्वरूपके समान पररूपसे भी वस्तुको अस्तिरूप स्वीकार किया जाता है तो जितने भी चेतनादिक पदार्थ हैं वे जैसे स्वरूपसे चेतन हैं वैसे ही वे अचेतन आदि भी हो जावेंगे ।

२. पररूपसे जैसे उनका असत्त्व है उसी प्रकार स्वरूपसे भी यदि उनका असत्त्व मान लिया जाता है तो स्वरूपास्तित्वके नहीं बननेसे सर्वथा शून्यताका प्रसंग आ जायगा ।

३. तथा स्वद्रव्यके समान परद्रव्यरूपसे भी यदि सत्त्व मान लिया जाता है तो द्रव्योंका प्रतिनियम होनेमें विरोध आ जायगा ।

यतः उक्त दोष प्राप्त न हों अतः प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्यको स्वरूपसे सद्रूप ही और पररूपसे असद्रूप ही मानना चाहिए ।

११. उदाहरणद्वारा उक्त विषयका स्पष्टीकरण

एक घटके आश्रयसे भट्टाकलंकदेवने घटका स्वात्मा क्या और परात्मा क्या इस विषयपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है । इससे समयप्राभृत आदि शास्त्रोंमें स्वसमय और परसमयका जो स्वरूप बतलाया गया है उसपर मौलिक प्रकाश पड़ता है, इसलिए यहाँपर घटका स्वात्मा क्या और परात्मा क्या इसका विविध दृष्टियोंसे ऊहापोह करना इष्ट समझकर तत्त्वार्थवार्तिक, (अ० १, सूत्र ६) में इस सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा गया है उसके भावको यहाँ उपस्थित करते हैं—

१. जो घट बुद्धि और घट शब्दकी प्रवृत्तिका हेतु है वह स्वात्मा है और जिसमें घट बुद्धि और घट शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती वह परात्मा है । घट स्वात्माकी दृष्टिसे अस्तित्वरूप है और परात्माकी दृष्टिसे नास्तित्वरूप है ।

२. नामघट, स्थापनाघट, द्रव्यघट और भावघट इनमेंसे जब जो

विवक्षित हो वह स्वात्मा और तदितर परात्मा। यदि उस समय विवक्षितके समान इतररूपसे भी घट माना जाय या इतर रूपसे जिस प्रकार वह अघट है उसी प्रकार विवक्षित रूपसे भी वह अघट माना जाय तो नामादि व्यवहारके उच्छेदका प्रसंग आता है।

३. घट शब्दके वाच्य समान धर्मवाले अनेक घटोंमेंसे विवक्षित घटके ग्रहण करने पर जो प्रतिनियत आकार आदि है वह स्वात्मा और उससे भिन्न अन्य परात्मा। यदि इतर घटोंके आकारसे वह घट अस्तित्वरूप हो जाय तो सभी घट एक घटरूप हो जायेंगे और ऐसी अवस्थामें सामान्यके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारका लोप ही हो जायगा।

४ द्रव्यार्थिकदृष्टिसे अनेक क्षणस्थायी घटमें जो पूर्वकालीन कुशूलपर्यन्त अवस्थायें होती हैं वे और जो उत्तरकालीन कपालादि अवस्थायें होती हैं वे सब परात्मा और उनके मध्यमें अवस्थित घटपर्याय स्वात्मा। मध्यवर्ती अवस्थारूपसे वह घट है, क्योंकि घटके गुण-क्रिया आदि उसी अवस्थामें होते हैं। यदि कुशूलान्त और कपालादिरूपसे भी घट होवे तो घट अवस्थामें भी उनकी उपलब्धि होनी चाहिए। और ऐसी अवस्थामें घटकी उत्पत्ति और विनाशके लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसके अभावका प्रसंग आता है। इतना ही क्यों, यदि अन्तरालवर्ती अवस्थारूपसे भी वह अघट हो जावे तो घटकार्य और उससे होनेवाले फलकी प्राप्ति नहीं होनी चाहिये।

५ उस मध्य कालवर्ती घटस्वरूप व्यञ्जनपर्यायमें भी घट प्रति समय उपचय और अपचयरूप होता रहता है, अतः ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एक क्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है और उसी घटकी अतीत और अनागत पर्यायें परात्मा हैं। यदि प्रत्युत्पन्न क्षणकी तरह अतीत और अनागत क्षणोंसे भी घटका अस्तित्व माना जाय तो सभी घट वर्तमान क्षणमात्र हो जायेंगे। या अतीत अनागतके समान वर्तमान क्षणरूपसे भी असत्त्व माना जाय तो घटके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारका ही लोप हो जायगा।

६. अनेक रूपादिके समुच्चयरूप उसी वर्तमान घटमें पृथुबुध्नोदराकारसे घट अस्तित्वरूप है, अन्यरूपसे नहीं, क्योंकि उक्त आकारसे ही घट व्यवहार होता है, अन्यसे नहीं। यदि उक्त आकारसे घट न होवे तो उसका अभाव ही हो जायगा और अन्य आकारसे रहित पदार्थोंमें भी घटव्यवहार होने लगेगा।

७. रूपादिके सन्निवेशविशेषका नाम संस्थान है। उसमें चक्षुसे घट-ग्रहण होने पर रूपमुखसे घटका ग्रहण हुआ इसलिए रूप स्वात्मा है और रसादि परात्मा हैं। वह घट रूपसे अस्तित्वरूप है और रसादिरूपसे नास्तित्वरूप है। जब चक्षुसे घटको ग्रहण करते हैं तब यदि रसादि भी घट हैं ऐसा ग्रहण हो जाय तो रसादि भी चक्षुग्राह्य होनेसे रूप हो जायेंगे और ऐसी अवस्थामें अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी। अथवा चक्षु इन्द्रियसे रूप भी घट है ऐसा ग्रहण न होवे तो वह चक्षु इन्द्रियका विषय ही न ठहरेगा।

८. शब्दभेदसे अर्थभेद होता है, अतः घट, कुट आदि शब्दोंका अलग अलग अर्थ होगा। जो घटनक्रियासे परिणत होगा वह घट कहलायेगा और जो कुटिलरूप क्रियासे परिणत होगा वह कुट कहलायेगा। ऐसी अवस्थामें घटन क्रियाका कर्तृभाव स्वात्मा है और अन्य परात्मा। यदि अन्यरूपसे भी घट कहा जाय तो पटादिसे भी घट व्यवहार होना चाहिए और इस तरह सभी पदार्थ एक शब्दके वाच्य हो जायेंगे। अथवा घटन क्रियाको करते समय भी वह अघट होवे तो घट व्यवहारकी निवृत्ति हो जायगी।

९ घट शब्दके प्रयोगके बाद उत्पन्न हुआ घटरूप उपयोग स्वात्मा है, क्योंकि वह अन्तरंग है और अहेय है तथा बाह्य घटाकार परात्मा है, क्योंकि उसके अभावमें भी घटव्यवहार देखा जाता है। वह घट उप-योगाकारसे है अन्यरूपसे नहीं। यदि घट उपयोगाकारसे भी न हो तो वक्ता और श्रोताके उपयोगरूप घटाकारका अभाव हो जानेसे उसके आश्रयसे होनेवाला व्यवहार लुप्त हो जायगा। अथवा इतररूपसे भी यदि घट होवे तो पटादिको भी घटत्वका प्रसंग आ जायगा।

१०. चैतन्यशक्तिके दो आकार होते हैं—ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। प्रतिबिम्बसे रहित दर्पणके समान ज्ञानाकार होता है और प्रतिबिम्बयुक्त दर्पणके समान ज्ञेयाकार होता है। उसमें घटरूप ज्ञेयाकार स्वात्मा है, क्योंकि इसीके आश्रयसे घट व्यवहार होता है और ज्ञानाकार परात्मा है, क्योंकि वह सर्वसाधारण है। यदि ज्ञानाकारसे घट माना जाय तो पटादि ज्ञानके कालमें भी ज्ञानाकारका सन्निधान होनेसे घटव्यवहार होने लगेगा और यदि घटरूप ज्ञेयाकारके कालमें घट नास्तित्वरूप माना जाय तो उसके आश्रयसे इतिकर्तव्यताका लोप हो जायगा।

यह एक ही पदार्थमें एक कालमें नयभेदसे सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्म-

की व्यवस्था है। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थमें जब जो धर्म विवक्षित होता है तब उसकी अपेक्षा वह अस्तित्वरूप होता है और तदितर अन्य धर्मोंकी अपेक्षा वह नास्तित्वरूप होता है। अस्तित्व धर्मका नास्तित्व धर्म अविनाभावी है, इसलिए जहाँ किसी एक विवक्षासे अस्तित्व घटित किया जाता है वहाँ तद्भिन्न अन्य विवक्षासे नास्तित्व धर्म होता ही है। न तो केवल अस्तित्व ही वस्तुका स्वरूप है और न केवल नास्तित्व ही। सत्ताका लक्षण करते हुए आचार्योंने उसे सप्रतिपक्ष कहा है वह इसी अभिप्रायसे कहा है।

उदाहरणार्थ जब हम किसी विवक्षित मनुष्यको नाम लेकर बुलाते हैं तो उसमें उससे भिन्न अन्य मनुष्योंको बुलानेका निषेध गर्भित रहता ही है। या जैसे हम किसी विवक्षित पर्यायके ऊपर दृष्टि डालते है तो उसमें तद्भिन्न पर्यायोंका अभाव गर्भित रहता ही है। या जब हम किसीके भव्य होनेका निर्णय करते हैं तो उसमें अभव्यताका अभाव गर्भित है ही। इसलिए कहीं पर मात्र विधिद्वारा किसी धर्म विशेषका सत्त्व स्वीकार किया गया हो तो उसमें तदितरका अभाव गर्भित ही है ऐसा समझना चाहिए। एक वस्तुमें विवक्षित धर्मकी अपेक्षासे अस्तित्व और अन्यकी अपेक्षासे नास्तित्व यही अनेकान्त है। इससे विवक्षित वस्तुमें धर्मविशेषकी प्रतिष्ठा होकर उसमें अन्यका उसरूपसे होनेका निषेध हो जाता है। यहाँ जिस प्रकार सदसत्त्वकी अपेक्षा अनेकान्तका निर्देश किया है उसी प्रकार तदतत्त्व, एकानेकत्व और भेदाभेदत्व आदिकी अपेक्षा भी उसका निर्देश कर लेना चाहिए। इस विषयको स्पष्ट करते हुए नाटकसमयसारके स्याद्वाद अधिकारमें पण्डितप्रवर बनारसी दासजी कहते हैं—

द्रव्य क्षेत्र काल भाव चारों भेद वस्तु ही में
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानिये।
परके चतुष्क वस्तु न अस्ति नियत अंग
ताको भेद द्रव्य परयाय मध्य जानिये॥

दरब जो वस्तु क्षेत्र सत्ताभूमि काल चाल
स्वभाव सहज मूल सकति बखानिये।
याही भाँति पर विकलप बुद्धि कलपना
व्यवहार दृष्टि अंश भेद परमानिये॥ १०॥

प्रवचनसार ज्ञेयाधिकार गाथा १०३ से ११५ तक विशेष द्रष्टव्य हैं।

इसमें एक ही द्रव्य कैसे तत्-अतत्स्वरूप आदि है यह स्पष्ट करनेके साथ सप्तभंगीका भी निर्देश किया गया है।

१२. जिनागममें मूल दो नयोंका ही उपदेश है

प्रवचनसार और तत्त्वार्थसूत्र आदिमें द्रव्यका गुणपर्ययवद्द्रव्यम्। यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है। इस पर तत्त्वार्थवार्तिकमें शंका-समाधान करते हुए भट्टाकलंकदेव कहते हैं—

गुणा इति संज्ञा तन्त्रान्तराणाम्, आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितीयमेव तत्त्वम्, अतश्च द्वितीयमेव तद्द्वयोपदेशात्। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ। यदि गुणोऽपि कश्चित् स्यात्, तद्विपयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम्। न चास्त्यसाविति अतो गुणाभावात् गुणपर्यायवदिति निर्देशो न युज्यते? तन्न, किं कारणम्, अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्। उक्तं हि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इति। अन्यत्र चोक्तम्—

गुण इदि दव्वविधाणं दव्ववियारो य पज्जयो भणिदो।
तेहिं अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवदि णिच्चं॥

यदि गुणोऽपि विद्यते, ननु चोक्तम्—तद्विपयस्तृतीयो मूलनयः प्राप्नोति? नैप दोपः, द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यं विशेषश्चेति। तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थान्तरम्। विशेपो भेदः पर्याय इति पर्यायशब्दः। तत्र सामान्यविपयो नयो द्रव्यार्थिकः। विशेपविपयः पर्यायार्थिकः। तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते। न तद्विपयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति, विकलादेशत्वान्नयानाम्। तत्समुदायोऽपि प्रमाणगोचरः, सकलादेशत्वात् प्रमाणस्य। गुणा एव पर्याया इति वा निर्देशः। अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्याणि न पर्यायाः। न तेभ्योऽन्ये गुणा सन्ति। ततो गुणा एव पर्याया इति सति समानाधिकरण्ये मतौ सति गुण-पर्यायवदिति निर्देशो युज्यते। पृ० २४३।

शंका—गुण यह संज्ञा अन्य दर्शनोंकी है। आर्हत दर्शनमें तो द्रव्य और पर्याय इस प्रकार दो रूप ही तत्त्व है और इसलिये तत्त्वको दो रूप स्वीकार कर उन दोका उपदेश दिया गया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मूल नय हैं। यदि गुण भी कोई पृथक् तत्त्व है तो उसको विषय करनेवाला तीसरा नय होना चाहिये। परन्तु तीसरा नय नहीं है, इसलिये गुणका अभाव होनेसे 'गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्' यह निर्देश नहीं वन सकता?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्हत्प्रवचन आदि आगमोंमें गुण-

का उपदेश है। अर्हत्प्रवचनमें कहा भी है—जो द्रव्यके आश्रयसे हों और स्वयं गुणरहित हों वे गुण हैं। अन्यत्र भी कहा है—

प्रत्येक द्रव्यके त्रिकाली स्वरूपका व्यापन करनेवाला गुण है और द्रव्यका विकार पर्याय कहा गया है। इन दोनोंसे सदा काल अयुतसिद्ध द्रव्य है।

शंका—यदि गुण अस्तिरूप है तो हम जो कह आये हैं कि उसको विषय करनेवाला तीसरा नय होना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य सामान्य और विशेष इन दो रूप है। उनमेंसे सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एक ही अर्थके वाचक शब्द हैं। तथा विशेष, भेद और पर्याय ये तीनों पर्याय-वाची शब्द हैं। उनमेंसे सामान्यको विषय करनेवाले नयका नाम द्रव्यार्थिक है और विशेषको विषय करनेवाले नयका नाम पर्यायार्थिक है। इन दोनोंसे अयुतसिद्ध समुदायरूप द्रव्य कहा जाता है। अतएव गुणको विषय करनेवाला तीसरा नय नहीं हो सकता, क्योंकि नय विकल्पोंके अनुसार प्रवृत्त होते हैं। सामान्य और विशेषका समुदित रूप प्रमाणका विषय है, क्योंकि प्रमाण सकलादेशी होता है।

अथवा गुण ही पर्याय है ऐसा निर्देश करना चाहिये। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हैं, पर्याय नहीं है और उनसे भिन्न गुण नहीं हैं। इसलिये गुण ही पर्याय हैं। ऐसी अवस्थामें समानाधिकरणमें मतुप् प्रत्यय करनेपर गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्' यह निर्देश बन जाता है।

आशय यह है कि गुणोंका सामान्यमें अन्तर्भाव होनेपर वे द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं और भेद विवक्षामें गुण और पर्यायोंमें अभेद स्वीकार करने पर वे पर्यायार्थिक नयके विषयरूपसे स्वीकृत किये जाते हैं, इसलिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय सिद्ध होते हैं, तीन नहीं।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी द्रव्यके उक्त लक्षण पर विचार करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—

नन्वेवमत्रापि पर्यायवद् द्रव्यमित्युक्ते गुणवदित्यनर्थकम्, सर्वद्रव्येषु पर्याय-वत्त्वस्य भावात्। गुणवदिति चोक्ते पर्यायवदिति व्यर्थम्, तत एवेति तदुभयं लक्षणं द्रव्यस्य किमर्थ मुक्तम्।

शंका—जो गुण-पर्यायवाला हो वह द्रव्य है इस लक्षणमें भी जो

पर्यायवाला हो वह द्रव्य है इतना कहने पर जो गुणवाला है वह द्रव्य है ऐसा कहना निरर्थक है, क्योंकि सभी द्रव्योंमें पर्यायोंकी अनुवृत्ति देखी जाती है। और यदि जो गुणवाला हो वह द्रव्य है ऐसा कहने पर जो पर्यायवाला हो वह द्रव्य है ऐसा कहना व्यर्थ है, क्योंकि सभी द्रव्य गुणवाले देखे जाते हैं, इसलिये द्रव्यका लक्षण उभयरूप किसलिये कहा गया है ?

यह एक शंका है। इसका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—

गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये ॥२॥ पृ० ४३८।

जो गुणवाला हो वह द्रव्य है यह वचन सह अनेकान्तकी सिद्धिके लिये कहा गया है तथा जो पर्यायवाला हो वह द्रव्य है यह वचन क्रम अनेकान्तकी सिद्धिके लिये कहा गया है ॥ २ ॥

आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य युगपत् अनेक धर्मोंका आधार है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोंका सद्भाव एकद्रव्यमें बन जाता है इसलिये सह अनेकान्तकी सिद्धिके लिये द्रव्यका जो गुणवाला हो वह द्रव्य है यह लक्षण योजित किया गया है। परन्तु जो द्रव्यजात है वह नित्य होनेके साथ परिणामी भी है इस प्रकार क्रम अनेकान्तकी सिद्धिके लिये द्रव्यका जो पर्यायवाला हो वह द्रव्य है यह लक्षण कहा गया है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोंका आधार होनेके साथ कथंचित् (किसी अपेक्षासे) नित्य ही है और कथंचित् (किसी अपेक्षासे) अनित्य ही है यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यके अपेक्षा-भेदसे तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य सिद्ध होनेमें कोई बाधा नहीं आती।

शंका—यदि सापेक्ष दृष्टिसे वस्तुको अनेकान्तात्मक माना जाता है तो प्रत्येक वस्तु स्वरूपसे अनेकान्तरूप है यह नहीं सिद्ध होता ?

समाधान—अनेकान्त यह वस्तुका स्वरूप है, क्योंकि अपने स्वरूपको ग्रहणकर और परके स्वरूपका अपोहनकर स्थित रहना यह वस्तुका वस्तुत्व है। इसलिये अपेक्षा भेदसे अनेकान्तरूप वस्तुकी सिद्धि करना अन्य बात है। स्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो निरपेक्षरूपसे वह स्वयं ही अनेकान्तमय है।

१३. स्यात् पदकी उपयोगिता

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं अनेकान्तस्वरूप कैसे है और इस रूप उसकी सिद्धि कैसे होती है इसका स्पष्टीकरण करनेके बाद अब जयधवला पु० १ पृ० २८१ के आधारसे स्यात् पदकी उपयोगतापर विशेष प्रकाश डालते हैं।

रसकषाय किसे कहते है इसका समाधान करते हुए आचार्य यतिवृषभ कहते हैं कि कषायरसवाले द्रव्य या द्रव्योंको कषाय कहते हैं। (ज० ध०, पु० १, पृ० २७७)

इस सूत्रकी टीका करते हुए आचार्य वीरसेन कहते हैं कि द्रव्य दो प्रकारके पाये जाते हैं एक कषाय (कसैले) रसवाले और दूसरे अकषाय (अकसैले) रसवाले। इसलिये उक्त सूत्रका यह अर्थ होता है कि जिस एक या अनेक द्रव्योंका रस कसैला होता है वे स्यात् कषाय कहलाते हैं।

इसपर यह शंका हुई कि सूत्रमें 'स्यात्' पदका प्रयोग नहीं किया गया है, फिर यहाँ स्यात् पदका प्रयोग क्यों किया गया है। इसका समाधान करते हुए आचार्य वीरसेन कहते हैं कि जिस प्रकार प्रभा दो स्वभाववाली होती है। एक तो वह अन्धकारका ध्वंस करती है और दूसरे वह सभी पदार्थोंको प्रकाशित करती है उसी प्रकार प्रत्येक शब्द प्रतिपक्ष अर्थका निराकरणकर इष्टार्थका ही समर्थन करता है। इसलिये विवक्षित अर्थके साथ प्रतिपक्ष अर्थ है इसे द्योतित करनेके लिये यहाँ सूत्रमें 'स्यात्' पदके प्रयोगका अध्याहार किया गया है। इतना स्पष्ट करनेके बाद उक्त तथ्यको ध्यानमें रखकर सप्तभंगीकी योजना की गई है। यथा—

(१) द्रव्य स्यात् कषाय है, (२) स्यात् नोकषाय है। ये प्रथम दो भंग हैं। इनमें प्रयुक्त हुआ 'स्यात्' पद क्रमसे नोकषाय और कषाय तथा कषाय-नोकषायविषयक अर्थ पर्यायोंको द्रव्यमें घटित करता है।

(३) स्यात् अवक्तव्य है। यह तीसरा भंग है। यहाँ कषाय और नोकषायविषयक अर्थपर्यायोंकी अपेक्षा द्रव्यको अवक्तव्य कहा गया है। और स्यात् पद द्वारा कषाय-नोकषायविषयक व्यंजनपर्यायोंको द्रव्यमें घटित किया गया है।

(४) द्रव्य स्यात् कषाय और नोकषाय है। यह चौथा भंग है। यहाँ प्रयुक्त हुआ स्यात् पद द्रव्यमें कषाय और नोकषाय विषयक अर्थ-पर्यायोंको घटित करता है।

(५) द्रव्य स्यात् कषाय और अवक्तव्य है। यह पाँचवा भंग है। इसमें प्रयुक्त हुआ स्यात् पद द्रव्यमें नोकषायपनेको घटित करता है।

(६) द्रव्य स्यात् नोकषाय और अवक्तव्य है। यह छटा भंग है। इसमें प्रयुक्त हुआ स्यात् पद कषायपनेको घटित करता है।

(७) द्रव्य स्यात् कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य है। यह सातवाँ भंग है। इसमें प्रयुक्त हुआ स्यात् पद कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य इन तीनों धर्मोंकी अक्रमवृत्तिको सूचित करता है।

इससे विदित होता है कि प्रमाण सप्तभंगीका प्रत्येक भंग किस प्रकार अपूर्व धर्मके साथ समग्र वस्तुको सूचित करता है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो ये सातों भंग अपुनरुक्त हैं यह सूचित होता है। इसीका नाम स्याद्वाद है। तथा इसीको कथंचित्वाद भी कहते हैं।

१४. अनेकान्त कथंचित् अनेकान्तस्वरूप है

इस प्रकार प्रमाण सप्तभंगीके द्वारा अनेकान्तस्वरूप वस्तुका कथन करनेके बाद अनेकान्तरूप वस्तु सर्वथा अनेकान्तरूप है या कथंचित् अनेकान्तरूप है इसे स्पष्ट करनेके लिये तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ६ में शंका—समाधान करते हुए लिखा है—

शंका—अनेकान्तमें यह विधि-प्रतिषेध कल्पना नहीं घटित होती। यदि अनेकान्तमें भी विधि-प्रतिषेध कल्पना घटित होती है तो जिस समय प्रतिषेध कल्पना द्वारा अनेकान्तका निषेध किया जाता है उस समय एकान्तकी प्राप्ति होती है। यदि अनेकान्तमें भी अनेकान्त लगाया जाता है तो अनवस्था दोष आता है, इसलिये वहाँ अनेकान्तपना ही बननेसे उसमें सप्तभंगी घटित नहीं होती ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनेकान्तमें भी सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा—

(१) स्यात् एकान्त है, (२) स्यात् अनेकान्त है, (३) स्यात् उभय है, (४) स्यात् अवक्तव्य है, (५) स्यात् एकान्त अवक्तव्य है, (६) स्यात् अनेकान्त अवक्तव्य है, (७) स्यात् एकान्त, अनेकान्त अवक्तव्य है।

शंका—यह कैसे ?

समाधान—प्रमाण और नयकी मुख्यतासे यह व्यवस्था बन जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

एकान्त दो प्रकारका है—सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। अनेकान्त भी दो प्रकारका है—सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। खुलासा इस प्रकार है।

प्रमाणके द्वारा निरूपित वस्तुके एक देशको सयुक्तिक ग्रहण करनेवाला सम्यक् एकान्त है। एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। तथा एक वस्तुमें युक्ति और आगमसे अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मोंको ग्रहण करनेवाला सम्यक् अनेकान्त है और वस्तुको सत्-असत् आदि स्वभावसे शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मोंकी मिथ्याकल्पना करनेवाला मिथ्या अनेकान्त है। इनमेंसे सम्यक् एकान्त नय कहलाता है और सम्यक् अनेकान्त प्रमाण कहलाता है। उक्त तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें कहते हैं—

> अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
> अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१०३॥

हे भगवन् आपके मतमें प्रमाण और नयके द्वारा साधित होनेसे अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाणकी अपेक्षा अनेकान्तस्वरूप है और विवक्षित नयकी अपेक्षा एकान्तस्वरूप है ॥१०३॥

विकलादेश और सप्तभंगी

इस प्रकार विवक्षित नयकी मुख्यतासे वस्तुके कथंचित् एकान्तस्वरूप सिद्ध होनेपर विकलादेश क्या है और उस दृष्टिसे सप्तभंगी कैसे बनती है इस पर ऊहापोह करते हैं—

एक अखण्ड वस्तुमें गुणभेदसे अंश कल्पना करना विकलादेश है। इसमें भी कालादिकी अपेक्षा भेदवृत्ति और भेदोपचारसे सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा 'स्यादस्त्येव जीवः' यह प्रथम भंग है तथा 'स्यान्नास्त्येव जीवः' यह दूसरा भंग है। इसी प्रकार उत्तर पाँच भंग जान लेने चाहिये। यहाँ सामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थिककी अपेक्षा पहला विकलादेश है। इस भंगमें वस्तुमें यद्यपि अन्य धर्म विद्यमान हैं तो भी कालादिकी अपेक्षा भेद विवक्षा होनेसे शब्द द्वारा वाच्यरूपसे वे स्वीकृत नहीं हैं। न तो उनका विधान ही है और न प्रतिषेध ही है। इसी प्रकार अन्य भंगोंमें भी स्वविवक्षित धर्मकी प्रधानता रहती है। तथा अन्य

धर्मोंके प्रति उदासीनता रहती है। न तो उनका विधान ही होता है और न प्रतिषेध ही।

शंका—'अस्त्येव जीवः' इसमें एव पद लगाकर विशेषण-विशेष्य-भावका नियमन करते हैं तव अर्थात् ही इतर धर्मों की निवृत्ति हो जाती है, उदासीनता कहाँ रही ?

समाधान—इसलिये इतर धर्मों को द्योतन करनेके लिये 'स्यात्' पदका प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि एवकारके प्रयोगसे जब इतर निवृत्तिका वस्तुतः प्रसंग प्राप्त होता है तव 'स्यात्' पद विवक्षित धर्मके साथ इतर धर्मोंकी सूचना दे देता है।

यहाँ भी पहला भंग द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे कहा गया है और दूसरा भंग पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे घटित होता है। द्रव्यार्थिक नय सत्त्वको विषय करता है और पर्यायार्थिक नय असत्त्वको विषय करता है। यहाँ असत्त्वका अर्थ सर्वथा अभाव नहीं है। किन्तु भावान्तरस्वभाव धर्म ही यहाँ असत्त्वपदसे स्वीकृत है।

यह प्रमाण सप्तभंगीके साथ नय सप्तभंगीकी संक्षिप्त प्ररूपणा है।

१५ मोक्षमार्गमें दृष्टिकी मुख्यता है

अव सवाल यह है कि जीवनमें मोक्षमार्गकी प्रसिद्धिके अभिप्रायसे द्रव्यानुयोग परमागममें आत्माको जो स्वत सिद्ध होनेसे अनादि अनन्त, विशदज्योति, और नित्य उद्योतरूप एक ज्ञायकस्वरूप बतलाया गया है सो क्यों, क्योंकि जव आत्मा द्रव्य-पर्याय उभयरूप है तव आत्मा प्रमत्त नहीं है, अप्रमत्त नहीं है ऐसा कहकर पर्यायस्वरूप आत्माका निषेध क्यों किया गया है ? यह एक सवाल है जो उन महाशयोंकी ओरसे उठाया जाता है जो तत्त्वप्ररूपणा और मोक्षमार्ग प्ररूपणाको मिलाकर देखते हैं। वस्तुतः ये महाशय आचार्योंकी दृष्टिमें करुणाके मात्र हैं।

यहाँ यह दृष्टिमें नहीं लेना है कि उपयोग लक्षणवाला जीव अनेकान्त-स्वरूप कैसे हैं। आत्मज्ञान करते समय यह तो पहले ही हृदयंगम कर लिया गया है। यहाँ तो यह दृष्टिमें लेना है कि किस रूपमें स्वात्माकी भावना करनेसे हम मोक्षमार्गके अधिकारी बनकर मोक्षके पात्र हो सकते हैं। समयसार परमागममें इसी तथ्यको विशदरूपसे स्पष्ट किया गया है। हमें समयसार परमागमका मनन इसी दृष्टिसे करना चाहिये।

वैसे विचार कर देखा जाय तो वहाँ हमें अनेकान्तगर्भित स्याद्वाद-

वाणीका पद-पद पर दर्शन होता है क्योंकि उसमें आचार्य कुन्दकुन्दने परसे भिन्न एकत्वरूप आत्माको दिखलाते हुए उस द्वारा उसी अनेकान्त-का सूचन किया है। वे यह नहीं कहते कि जिसका कोई प्रतिपक्षी ही नहीं है ऐसे एकत्वको दिखलाऊँगा। यदि वे ऐसी प्रतिज्ञा करते तो वह एकान्त हो जाता जो मिथ्या होनेसे इष्टार्थकी सिद्धिमें प्रयोजक नहीं होता,। किन्तु वे प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं कि मैं आत्माके जिस एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला हूँ उसका परसे भेद दिखलाते हुए ही प्रतिपादन करूँगा। यदि कोई समझे कि वे इस प्रतिज्ञा वचनको ही करके रह गये हैं सो भी बात नहीं है, क्योंकि जहाँ पर भी उन्होंने आत्माके ज्ञायकस्वभावकी स्थापना की है वहाँ पर उन्होंने परको स्वीकार करके उसमें परका नास्तित्व दिखलाते हुए ही उसकी स्थापना की है। इसी प्रकार प्रकृतमें प्रयोजनीय अन्य तत्त्वका कथन करते समय भी उन्होंने गौण-मुख्यभावसे विधि-निषेध दृष्टिको साध कर ही उसका कथन किया है। अब इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम समयप्राभृतके कुछ उदाहरण उपस्थित कर देना चाहते हैं—

१. 'ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो' इत्यादि गाथाको लें। इस द्वारा आत्मामें ज्ञायकस्वभावका 'अस्तित्वधर्म द्वारा और उसमें प्रमत्ताप्रमत्तभाव-का 'नास्तित्वधर्म द्वारा प्रतिपादन किया गया है।' दृष्टियाँ दो हैं—द्रव्या-र्थिकदृष्टि और पर्यायार्थिकदृष्टि। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्माका अवलोकन करने पर वह ज्ञायकस्वभाव ही प्रतीतिमें आता है, क्योंकि यह आत्माका त्रिकालाबाधित स्वरूप है। किन्तु पर्यायार्थिकदृष्टिसे उसी आत्माका अव-लोकन करने पर वह प्रमत्तभाव और अप्रमत्तभाव आदि विविध पर्यायरूप ही प्रतीत होता है। इन दोनों रूप आत्मा है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यहाँ पर बन्धपर्यायरूप प्रमत्तादि क्षणिक भावोंसे रुचि हटाकर इस आत्माको अपने ध्रुवस्वभावकी प्रतीति करानी है, इसलिए मोक्षमार्ग-में द्रव्यार्थिकदृष्टि (निश्चयनय) -की मुख्यता होकर पर्यायार्थिकदृष्टि (व्यवहारनय) गौण हो जाती है। अर्थात् दृष्टिमें उसका निषेध हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ पर द्रव्यार्थिकदृष्टिकी मुख्यता होनेसे आत्मा ज्ञायकस्वभाव है इसकी अस्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराई गई है और आत्माके त्रिकालाबाधित ज्ञायकस्वभावमें प्रमत्तादि भाव नहीं हैं यह जान-कर आत्मामें इनकी नास्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराई गई है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिमें द्रव्यार्थिकनयका विषय विवक्षित होनेसे विवक्षितका

'अस्तित्व' द्वारा और अविवक्षितका 'नास्तित्व' द्वारा कथन कर अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

२. अब 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स' इत्यादि गाथाको लें। इसमें सर्वप्रथम उस ज्ञायकस्वभाव आत्मामें पर्यायार्थिकदृष्टिसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य आदि विविध धर्मोंकी प्रतीति होती है यह दिखलानेके लिए व्यवहारनयसे उनका सद्भाव स्वीकार किया गया है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टिसे उसी आत्माका अवलोकन करने पर ये भेद उसमें लक्षित न होकर एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी आत्मा ही प्रतीतिमें आता है, इसलिए यहाँपर भी गाथाके उत्तरार्धमें ज्ञायकस्वभाव आत्माकी अस्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराकर उसमें अनुपचरित सद्भूत व्यवहारका 'नास्तित्व' दिखलाते हुए अनेकान्तको ही स्थापित किया गया है।

३. जब कि मोक्षमार्गमें निश्चयके विषयमें व्यवहारनयके विषयका असत्त्व ही दिखलाया जाता है तो उसके प्रतिपादनकी आवश्यकता ही क्या है ऐसा प्रश्न होने पर 'जह ण वि सक्कमणज्जो' इत्यादि गाथामें दृष्टान्त द्वारा उसके कार्यक्षेत्रकी व्यवस्था की गई है और नौवीं तथा दशवीं गाथामें दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिमें घटित करके बतलाया गया है। इन तीनों गाथाओंका सार यह है कि व्यवहारनय निश्चयनयके विषयका ज्ञान करानेका साधन (हेतु) होनेसे प्रतिपादन करने योग्य तो अवश्य है, परन्तु मोक्षमार्गमें अनुसरण करनेयोग्य नहीं है। •क्यों अनुसरण करने योग्य नहीं है इस बातका समर्थन करनेके लिए ११वीं गाथामें निश्चयनयकी भूतार्थता और व्यवहारनयकी अभूतार्थता स्थापित की गई है। यहाँ पर जब व्यवहारनय है और उसका विषय है तो निश्चयनयके समान यथावसर उसे भी अनुसरण करने योग्य मान लेनेमें क्या आपत्ति है ऐसा प्रश्न होने पर १२वीं गाथा द्वारा उसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि मोक्षमार्गमें उपादेयरूपसे व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य तो कभी भी नहीं है। हाँ गुणस्थान परिपाटीके अनुसार वह जहाँ जिस प्रकारका होता है उतना जाना गया प्रयोजनवान् अवश्य है। इस प्रकार इस वक्तव्य द्वारा भी व्यवहारनय और उसका विषय है यह स्वीकार करके तथा उसका त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें असत्त्व दिखलाते हुए अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

४. गाथा १३ में जीवादिक नौ पदार्थ हैं यह कहकर व्यवहारनयके

विषयको स्वीकृति देकर भी भूतार्थरूपसे वे जाने गये सम्यग्दर्शन हैं सो प्रकृतमें भूतार्थरूपसे उनका जानना यही है कि जीवपदार्थ नौ तत्त्वगत होकर भी अपने एकत्वसे व्याप्त रहता है यह कहकर मोक्षमार्गमें एकमात्र निश्चयनयका विषय ही उपादेय है यह दिखलाया गया है। इसके बाद गाथा १४में भूतार्थरूपसे नौ पदार्थोंके देखने पर एकमात्र अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माका ही अनुभव होता है, अतएव इस प्रकार आत्माको देखनेवाला जो नय है उसे शुद्धनय कहते हैं यह कहकर व्यवहारनयके विषयको गौण और निश्चयनयके विषयको मुख्य करके पुनः अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

५. १५वीं गाथामें उक्त विशेषणोंसे उक्त आत्माको जो अनुभवता है उसने पूरे जिनशासनको अनुभवा यह कहकर पूर्वोक्त प्रतिपादित निश्चय मोक्षमार्गकी महिमा गाई गई है। व्यवहारनय है और उसका विषय भी है, परन्तु उससे मुक्त होनेके लिए व्यवहारनयके विषय परसे अपना लक्ष्य हटाकर निश्चयनयके विषय पर अपना लक्ष्य स्थिर करो। ऐसा करनेसे ही व्यवहाररूप बन्धपर्याय छूट कर निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मुक्तिकी प्राप्ति होगी। जिस महान् आत्माने व्यवहाररूप बन्धपर्यायको गौण करके निश्चय रत्नत्रयकी आराधना द्वारा साक्षात् निश्चय रत्न-त्रयको प्राप्त किया है उसीने तत्त्वतः पूरे जिनशासनको अनुभवा है। सोचिये तो कि इसके सिवा जिनशासनका अनुभवना और क्या होता है। जैनधर्मके विविध शास्त्रोंको पढ़ लिया, किसी विषयके प्रगाढ़ विद्वान् हो गये यह जिनशासनका अनुभवना नहीं है। जिनशासन तो रत्नत्रयस्वरूप है और उसकी प्राप्ति व्यवहारको गौण किये विना तथा निश्चय पर आरूढ़ हुए विना हो नहीं सकती, अतः जिसे पूरे जिनशासनको अपने जीवनमें अनुभवना है उसे हेय या बन्धमार्ग जानकर व्यवहारको गौण और मोक्षमार्गमें उपादेय जानकर निश्चयको मुख्य करना ही होगा तभी उसे निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जिनशासनके अपने जीवनमें दर्शन होंगे। यह इस गाथाका भाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा द्वारा भी गौण-मुख्यभावसे उसी अनेकान्तका उद्घोष किया गया है।

६. 'दंसण-णाण-चरित्ताणि' यह सोलहवीं गाथा है। इसमें सर्वप्रथम साधु अर्थात् ज्ञानीको निरन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्रके सेवन करनेका उपदेश देकर व्यवहारका सूचन किया है। परन्तु विचार कर देखा जाय तो ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं

हैं, इसलिए इस द्वारा भी तत्स्वरूप अखण्ड आत्मा सेवन करने योग्य है यह सूचित किया गया है। तात्पर्य यह है कि निश्चयका ज्ञान करानेके लिए व्यवहार द्वारा ऐसा उपदेश दिया जाता है इसमें सन्देह नहीं, पर उसमें मुख्यता सिश्चयकी ही रहती है। इसके विपरीत यदि कोई उस व्यवहारकी ही मुख्यता मान ले तो उसे तत्स्वरूप अखण्ड और अविचल आत्माकी प्रतीति त्रिकालमें नहीं हो सकती। इस गाथाका यही भाव है।

इस विषयको स्पष्टरूपसे समझनेके लिए गाथाके उत्तरार्धपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है, क्योंकि गाथाके पूर्वार्धमें जो कुछ कहा गया है उसका उत्तरार्धमें निषेध कर दिया है। सो क्यों? इसलिए नहीं कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि पर्यायदृष्टिसे भी अभूतार्थ हैं, बल्कि इसलिए कि व्यवहारनयसे देखने पर ही उनकी सत्ता है। निश्चयनयसे देखा जाय तो एक ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही अनुभवमें आता है, ज्ञान, दर्शन चारित्र नहीं। इसलिए इस कथन द्वारा भी एक अखण्ड और अविचल आत्मा ही उपासना करने योग्य है यही सूत्रित किया है। इस प्रकार विचार करके देखा जाय तो इस गाथा द्वारा भी व्यवहारको गौण करके और निश्चयको मुख्य करके अनेकान्त ही सूचित किया गया है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने व्यवहारसे क्या कहा जाता है और निश्चयसे क्या है इसकी सन्धि मिलाते हुए सर्वत्र अनेकान्नकी ही प्रतिष्ठा की है। इतना अवश्य है कि बहुत-सा व्यवहार तो ऐसा होता है जो अखण्ड वस्तुमें भेदमूलक होता है। जैसे आत्माका ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदिरूपसे भेद-व्यवहार या वन्धपर्यायकी दृष्टिसे आत्मामें नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदिरूपसे पर्यायरूप भेदव्यवहार। ऐसे भेदद्वारा एक अखण्ड आत्माका जो भी कथन किया जाता है, पर्यायकी मुख्यतासे आत्मा वैसा है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि आत्मा जब जिस पर्यायरूपसे परिणत होता है उस समय वह तद्रूप होता है, अन्यथा आत्माके संसारी और मुक्त ये भेद नहीं बन सकते, इसलिये जब भी आत्माके ज्ञायक स्वभावमें उक्त व्यवहारका 'नास्तित्व' कहा जाता है तब भेदमूलक व्यवहार गौण है और त्रिकाली ध्रुवस्वभावकी मुख्यता है यह दिखलाना ही उसका प्रयोजन रहता है।

परन्तु बहुत-सा व्यवहार ऐसा भी होता है जो आत्मामें बाह्य निमित्तादिकी दृष्टिसे या प्रयोजन विशेषसे आरोपित किया जाता है।

यह व्यवहार आत्मामें है नहीं, पर परसंयोगकी दृष्टिसे उसमें कल्पित किया गया है यह उक्त कथनका भाव है। इस विषयको ठीक तरहसे समझनेके लिए स्थापना निक्षेपका उदाहरण पर्याप्त होगा। जैसे किसी पाषाणकी मूर्तिमें इन्द्रकी स्थापना करने पर यही तो कहा जायगा कि वास्तवमें वह पाषाणकी मूर्ति इन्द्रस्वरूप है नहीं, क्योंकि उसमें जीवत्व, आज्ञा, ऐश्वर्य आदि आत्मगुणोंका अत्यन्ताभाव है। फिर भी प्रयोजन-विशेषसे उसमें इन्द्रकी स्थापना की गई है उसी प्रकार बाह्य निमित्तादिकी अपेक्षा आरोपित व्यवहार जानना चाहिए। बाह्य निमित्तादिकी दृष्टिसे आरोपित व्यवहार, जैसे कुम्हारको घटका कर्ता कहना। प्रयोजन विशेष-से आरोपित व्यवहार, जैसे शरीरकी स्तुतिको तीर्थंकरकी स्तुति कहना या सेनाके निकलने पर राजा निकला ऐसा कहना आदि।

विचार कर देखा जाय तो रागादिरूप जीवके परिणाम और कर्म-रूप पुद्गल परिणाम ये एक दूसरेके परिणमनमें निमित्त (उपचरित हेतु) होते हुए भी तत्त्वतः जीव और पुद्गल परस्परमें कर्तृ-कर्मभावसे रहित हैं। ऐसा तो है कि जब विवक्षित मिट्टी अपने परिणामस्वभावके कारण घटरूपसे परिणत होती है तब कुम्हारकी योग-उपयोगरूप पर्याय स्वय-मेव उसमें निमित्त व्यवहारको प्राप्त होती है। ऐसी वस्तुमर्यादा है। परन्तु कुम्हारकी उक्त पर्याय घट पर्यायकी उत्पत्तिमें व्यवहारसे निमित्त होनेमात्रसे उसकी कर्ता नहीं होती, और न घट उसका कर्म होता है, क्योंकि अन्य द्रव्यमें अन्य द्रव्यके कर्तृत्व और कर्मत्व धर्मका अत्यन्त अभाव है। फिर भी लोक-व्यवहारवश कुम्हारकी विवक्षित पर्यायने मिट्टीकी घट पर्यायको उत्पन्न किया इस प्रकार उस पर मिट्टीकी घट पर्यायके कर्तृत्व धर्मका और घटमें कुम्हारके कर्मत्वधर्मका आरोप किया जाता है। यद्यपि शास्त्रकारोंने भी इसके अनुसार लौकिक दृष्टिसे वचन प्रयोग किये हैं, परन्तु है यह व्यवहार असत् ही। यह तो बाह्य निमि-त्तादिकी दृष्टिसे आरोपित व्यवहारकी चरचा हुई। इसका विशेष खुलासा हम कर्तृ-कर्ममीमांसा प्रकरणमें कर आये हैं और वहाँ इसके समर्थनमें प्रमाण भी दे आये है, इसलिए यहाँ पर इस विषयमें अधिक नहीं लिखा है।

अब प्रयोजनविशेषसे आरोपित व्यवहारके उदाहरणोंका विश्लेषण कीजिए—जितने भी संसारी जीव हैं उनके एक कालमें कमसे कम दो और अधिकसे अधिक चार शरीरोंका संयोग अवश्य होता है। यहाँ तक

कि तीर्थंकर सयोगी-अयोगी जिन भी इसके अपवाद नहीं हैं। अब विचार कीजिए कि जीवके साथ एकक्षेत्रावगाहीरूपसे सम्बन्धको प्राप्त हुए उन शरीरोंमें जो अमुक प्रकारका रूप होता है, उनका यथासम्भव जो अमुक प्रकारका संस्थान और संहनन होता है इसका व्यवहार हेतु पुद्गल-विपाकी कर्मों का उदय ही है, जीवकी वर्तमान पर्याय नहीं तो भी शरीर-में प्राप्त हुए रूप आदिको देखकर उस द्वारा तीर्थंकर केवली जिनकी स्तुतिकी जाती है और कहा जाता है कि अमुक तीर्थंकर केवली लोहित वर्ण हैं, अमुक तीर्थंकर केवली शुक्ल वर्ण हैं और अमुक तीर्थंकर केवली पीतवर्ण हैं आदि। यह तो है कि जब शरीर पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है तो उसका कोई न कोई वर्ण अवश्य होगा। पुद्गलकी पर्याय होकर उसमें कोई न कोई वर्ण न हो यह नहीं हो सकता। परन्तु विचार कर देखा जाय तो तीर्थंकर केवलीकी पर्यायमें उसका अत्यन्त अभाव ही है, क्योंकि तीर्थंकर केवली जीवद्रव्यकी एक पर्याय है जो अनन्त ज्ञानादि गुणोंसे विभूषित है। उसमें पुद्गलद्रव्यके गुणोंका सद्भाव कैसे हो सकता है? अर्थात् त्रिकालमें नहीं हो सकता। फिर भी तीर्थंकर केवलीसे संयोगको प्राप्त हुए शरीरमें अन्य तीर्थंकर केवलीसे संयोगको प्राप्त हुए शरीरमें वर्णका भेद दिखलानेरूप प्रयोजनसे यह व्यवहार किया जाता है कि अमुक तीर्थंकर केवली लोहित वर्ण हैं और अमुक तीर्थंकर केवली पीतवर्ण हैं आदि। जैसा कि हम लिख आये हैं कि तीर्थंकर के[illegible] जीव द्रव्यकी एक पर्याय है। उसमें वर्णका अत्यन्त अभाव है। फिर [illegible] लोकानुरोधवश प्रयोजन विशेषवश तीर्थंकर केवलीमें उक्त प्रकारका व्य-हार किया जाता है जो तीर्थंकर केवलीमें सर्वथा असत् है, इसलिए प्रयो-जन विशेषसे किया गया यह आरोपित असत् व्यवहार ही जानना चाहिये।

सेनाके निकलनेपर राजा निकला ऐसा कहना भी आरोपित असद् व्यवहारका दूसरा उदाहरण है। विचार कर देखा जाय तो सेना निकली यह व्यवहार स्वयं उपचरित है। उसमें भी सेनासे राजामें अत्यन्त भेद है। वह सेनाके साथ गया भी नहीं है। अपने महलमें आराम कर रहा है। फिर भी लोकानुरोधवश प्रयोजनविशेषसे सेनाके निकलनेपर राजा निकला या राजाकी सवारी निकली यह व्यवहार किया जाता है जो सर्वथा असत् है इसलिये प्रयोजन विशेषसे किये गये इस व्यवहारको भी आरोपित असद् व्यवहार ही जानना चाहिए।

इसी प्रकार लोकमें और भी बहुतसे व्यवहार प्रचलित हैं, क्योंकि वे किसी द्रव्यके न तो गुण ही हैं और न पर्याय ही हैं, इसलिए जो व्यवहार विवक्षित पदार्थोंमें पर्यायदृष्टिसे प्रतीतिमें आता है वह मोक्ष-मार्गमें अनुपादेय होनेसे आश्रय करने योग्य नहीं माना गया है अतएव उसे गौण करके अनेकान्तमूर्ति ज्ञायकस्वभाव आत्माकी स्थापना करना तो उचित है।

किन्तु जो व्यवहार वस्तुभूत न होनेसे सर्वथा असत् है, मात्र लौकिक-दृष्टिसे ज्ञानमें उसकी स्वीकृति है। उसका मोक्षमार्गमें सर्वथा निषेध ही करना चाहिये। वस्तुमें अनेकान्तकी प्रतिष्ठा करते समय आत्मामें ऐसे व्यवहारको गौण करनेका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जो व्यवहार भूतार्थ होता है उसे ही नय विशेषके आश्रयसे गौण किया जाता है। किन्तु जिसकी विवक्षित वस्तुमें सत्ता ही नहीं है उसे गौण करनेका अर्थ ही उसकी सत्ताको स्वीकार करना है जो युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए जितना भी असत् व्यवहार है उसे दूरसे ही त्यागकर और जितना पर्यायदृष्टिसे भूतार्थ व्यवहार है उसे गौण करके एकमात्र ज्ञायक-स्वभाव आत्माकी उपासना ही मोक्षमार्गमें तरणोपाय है ऐसा निर्णय यहाँपर करना चाहिए।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि वर्णादि तो पुद्गलके धर्म हैं, इसलिए आत्मामें ज्ञायकस्वभावके अस्तित्वको दिखलाकर उसमें उनका नास्तित्व दिखलाना तो उचित प्रतीत होता है। परन्तु आत्मामें ज्ञायकभावके अस्तित्वका कथन करते समय उसमें प्रमत्तादि भावोंके नास्तित्वका कथन करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ये दोनों भाव (ज्ञायक भाव और प्रमत्तादि भाव) एक द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं, इसलिए एक द्रव्यवृत्ति होनेसे ज्ञायकभावके अस्तित्वके कथनके समय इन भावोंका निषेध नहीं बन सकता, अतएव इस दृष्टिसे अनेकान्तका कथन करते समय 'कथंचित् आत्मा ज्ञायक भावरूप है और कथंचित् प्रमत्तादि भाव-रूप है' ऐसा कहना चाहिए। यह कहना तो बनता नहीं कि आत्मामें प्रमत्तादि भावोंकी सर्वत्र व्याप्ति नहीं देखी जाती, इसलिए आत्मामें उनका निषेध किया है, क्योंकि कहींपर (प्रमत्तगुणस्थान तक) प्रमत्त-भावकी और आगे अप्रमत्तभावकी व्याप्ति बन जानेसे आत्मामें ज्ञायक-भावके साथ इनका सद्भाव मानना ही पड़ता है?

यह एक प्रश्न है। समाधान यह है कि इस अनेकान्तस्वरूप प्रत्येक

पदार्थका कथन शब्दोंसे दो प्रकारसे किया जाता है। एक क्रमिकरूपसे और दूसरा यौगपद्यरूपसे। कथन करनेका तीसरा कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न अर्थ-रूप विवक्षित होते हैं उस समय एक शब्दमें अनेक धर्मोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। परन्तु जब उन्हीं अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिकी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है तब एक ही शब्दके द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्व-को प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्डभावसे युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। विकलादेश नयरूप है और सकलादेश प्रमाण-रूप। इसलिए वस्तुके स्वरूपके स्पर्शके लिए सकलादेश और विकलादेश दोनों ही कार्यकारी हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए। एक ही वचनप्रयोग जिसे हम सकलादेश कहते हैं वह विकलादेशरूप भी होता है और सकलादेश रूप भी। यह वक्ताके अभिप्रायपर निर्भर है कि वह विवक्षित वचन प्रयोग किस दृष्टिसे कर रहा है। यथावसर उसे समझनेकी चेष्टा तो की न जाय और उसपर एकान्त कथनका आरोप किया जाय यह उचित नहीं है। अतएव वक्ता कहाँ किस अभिप्रायसे वचनप्रयोग कर रहा है इसे समझकर ही पदार्थका निर्णय करना चाहिए।

'कथंचित् जीव है ही' यह वचनप्रयोग सकलादेश भी है और विकला-देशरूप भी। यदि इस वाक्यमें स्थित 'है' पद अन्य अशेष धर्मोंको अभेदवृत्तिसे स्वीकार करता है तो यही वचन सकलादेशरूप हो जाता है और इस वाक्यमें स्थित 'है' पद मुख्यरूपसे अपना ही प्रतिपादन करता है तथा शेष धर्मोंको 'कथंचित्' पद द्वारा गौणभावसे ग्रहण किया जाता है तो यही वचन विकलादेशरूप हो जाता है। कौन वचन सकला-देशरूप है और कौन वचन विकलादेशरूप यह वचन प्रयोग पर निर्भर न होकर वक्ताके अभिप्राय पर निर्भर करता है। अतएव 'जीव ज्ञायक-भावरूप ही है' ऐसा कहने पर यदि इस वचनमें अभेदवृत्तिको मुख्यता है तो यही वचन सकलादेशरूप हो जाता है और इस वचनमें कथंचित् पद द्वारा गौणभावसे अन्य अशेष धर्मोंको स्वीकार किया जाता है तो वही वचन विकलादेशरूप भी हो जाता है ऐसा यहाँ पर समझना चाहिए।

यद्यपि यह बात तो है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें जहाँ ज्ञायकस्वभाव आत्माकी स्वीकृति है वहाँ उसमें संसार अवस्था और मुक्ति अवस्थाकी

भी स्वीकृति है। वह जीवको संसार और मुक्त अवस्थाका अभाव नहीं मानता। संसारमें जो उसकी नर-नारकादि और मतिज्ञान-श्रुतज्ञानादि रूप विविध अवस्थायें होती हैं उनका भी अभाव नहीं मानता। यदि वह वर्तमानमें उनका अभाव माने तो वह मुक्तिके लिए प्रयत्न करना ही छोड़ दे। सो तो वह करता नहीं, इसलिए वह इन सबको स्वीकार करके भी इन्हें आत्मकार्यकी सिद्धिमें अनुपादेय मानता है, इसलिए वह इनमें रहता हुआ भी इनका आश्रय न लेकर त्रिकाली नित्य एकमात्र ज्ञायकस्वभावका आश्रय स्वीकार करता है। निश्चयनय और व्यवहार-नयके विषयोंको जानना अन्य बात हैं और जानकर निश्चयनयके विषय-का अवलम्बन लेना अन्य बात है। मोक्षमार्गमें इस दृष्टिकोणसे हेयो-पादेयका विवेक करके स्वात्मा और परमात्माका निर्णय किया गया है। यदि लौकिक उदाहरण द्वारा इसे समझना चाहें तो यों कहा जा सकता है कि जैसे किसी गृहस्थका एक मकान है। उसमें उसके पढ़ने-लिखने और उठने-बैठनेका स्वतन्त्र कमरा है। वह घरके अन्य भागको छोड़कर उसीमें निरन्तर उठता-बैठता और पढ़ता-लिखता है। वह कदाचित् मकानके अन्य भागमें भी जाता है। उसकी सार-सम्हाल भी करता है। परन्तु उसमें उसकी विवक्षित कमरेके समान आत्मीय बुद्धि न होनेसे वह मकानके शेष भागमें रहना नहीं चाहता। ठीक यही अवस्था सम्य-ग्दृष्टिकी होती है। जो उसे वर्तमानमें नर-नारक आदि वर्तमान पर्याय मिली हुई है। वह उसीमें रह रहा है। अभी उसका पर्यायरूपसे त्याग नहीं हुआ है। परन्तु उसने अपनी बुद्धि द्वारा द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत ज्ञायकस्वभाव आत्मा ही मेरा स्वात्मा है ऐसा निर्णय किया है, इसलिए वह व्यवहारनयके विषयभूत अन्य अशेष परभावोंको गौण कर मात्र उसीका आश्रय लेता है। कदाचित् रागरूप पर्यायकी तीव्रतावश वह अपने स्वात्माको छोड़कर परात्मामें भी जाता है तो भी वह उसमें क्षणमात्र भी टिकना नहीं चाहता। उस अवस्थामें भी वह अपना तरणो-पाय स्वात्माके अवलम्बनको ही मानता है। अतएव इस दृष्टिकोणसे विचार करने पर सम्यग्दृष्टिका विवक्षित आत्मा स्वात्मा अन्य परात्मा यही अनेकान्त फलित होता है। इसमें 'आत्मा कथंचित् ज्ञायक भावरूप है और कथंचित् प्रमत्तादि भावरूप है' इसकी स्वीकृति आ ही जाती है, परन्तु ज्ञायकभावमें प्रमत्तादिभावोंकी 'नास्ति' है, इसलिए इस अपेक्षा-से यह अनेकान्त फलित होता है कि 'आत्मा ज्ञायक भावरूप है अन्य रूप नहीं।' आचार्य अमृतचन्द्रने आत्माको ज्ञायकभावरूप मानने पर

अनेकान्तकी सिद्धि किस प्रकार होती है इसका निर्देश करते हुए लिखा है— 4-2-88

तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात् वहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात् सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंश-समुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूप-पर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभवनशक्तिस्वभावत्त्वेन सत्त्वात् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनासत्त्वात् अनादिनिधनाविभागैकवृत्ति-परिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्य-त्वात्तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव ।

आत्माके ज्ञानमात्र होने पर भी भीतर प्रकाशमान ज्ञानरूपसे तत्पना है और वाहर प्रकाशित होते हुए अनन्त ज्ञेयरूप आकारसे भिन्न पररूपसे अतत्पना है। सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चैतन्य अंशोंके समुदायरूप अविभागी द्रव्यकी अपेक्षा एकपना है और अविभागी एक द्रव्यमें व्याप्त हुए सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चैतन्य-अंशरूप पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकपना है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला होनेसे सत्पना है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप नहीं होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला होनेसे असत्पना है तथा अनादि-निधन अविभागी एक वृत्तिरूपसे परिणत होनेके कारण नित्यपना है और क्रमशः प्रवर्तमान एक समयवर्ती अनेक वृत्त्यंशरूपसे परिणत होनेके कारण अनित्यपना है, इसलिए ज्ञानमात्र आत्मवस्तुको स्वीकार करने पर तत्-अतत्पना, एक-अनेकपना, सदसत्पना और नित्यानित्यपना स्वयं प्रकाशित होता ही है।

अतएव अनेकान्तके विचारके प्रसंगसे मोक्षमार्गमें निश्चयनयके विषयको आश्रय करने योग्य मानने पर एकान्तका दोष कैसे नहीं आता इसका विचार किया। इसके विपरीत जो वन्धु अनेकान्तको एक वस्तु-के स्वरूपमें घटित न करके 'भव्य भी हैं और अभव्य भी हैं' इत्यादि रूप-से या 'कुछ पर्यायें अमुक कालमें अमुकरूप हैं और कुछ पर्यायें तद्भिन्न दूसरे कालमें दूसरेरूप हैं' इत्यादि रूपसे अनेकान्तको घटित करते हैं उन्हें अनेकान्तको शब्द श्रुतमें वाँधनेवाली स्याद्वादकी अंगभूत सप्तभंगी-का यह लक्षण ध्यानमें ले लेना चाहिये।

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यवरोधेन विधि-प्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।

प्रश्नके अनुसार एक वस्तुमें प्रमाणसे अविरुद्ध विधि और प्रतिषेध-रूप धर्मोंकी कल्पना सप्तभंगी है।

सप्तभंगीमें प्रथम भंग विधिरूप होता है और दूसरा भंग निषेधरूप होता है। विधि अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा प्रतिषेध्य अर्थात् पर्यायार्थिक। आचार्य कुन्दकुन्दने द्रव्यार्थिकको प्रतिषेधक और व्यवहारको प्रतिषेध्य इसी अभिप्रायसे लिखा है। जिस दृष्टिमें भेदव्यवहार है उसके आश्रयसे बन्ध है और जिसमें भेदव्यवहारका लोप है या अभेदवृत्ति है उसके आश्रयसे बन्धका अभाव है यह उनके उक्त कथनका तात्पर्य है। इस प्रकार अनेकान्त और उसे वचनव्यवहारका रूप देनेवाला स्याद्वाद क्या है उसकी संक्षेपमें मीमांसा की।

केवलज्ञानस्वभावमीमांसा

दर्पणमें ज्यों लसत है सहज वस्तुका विम्ब।
केवलज्ञान पर्यायमें निखिल ज्ञेय प्रतिविम्ब ॥

१. उपोद्घात

अव जो अपरिमित माहात्म्यसे सम्पन्न है ऐसे केवलज्ञान स्वभावकी मीमांसा करते हैं। यह तो हम इन्द्रियोंसे ही जानते हैं कि जब जिन पदार्थोंका सम्वन्ध स्पर्शन इन्द्रियसे होता है तव उन पदार्थोंके स्पर्श तथा हलके-भारीपन आदिका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे होता है। जव जिन पदार्थोंका सम्वन्ध रसना इन्द्रियमे होता है तव उन पदार्थों के खट्टे-मीठे आदि रसका ज्ञान रसनेन्द्रियसे होता है। जव जिन पदार्थोंका सम्वन्ध घ्राण इन्द्रियसे होता है तव उनके गन्धका ज्ञान घ्राण इन्द्रियसे होता है। जव जो पदार्थ आखोंके सामने आते हैं तव उनके वर्ण और आकार आदिका ज्ञान चक्षु इन्द्रियसे होता है और जव जिन शब्दोंका सम्वन्ध श्रोत्र इन्द्रियसे होता है तब उनका ज्ञान श्रोत्र इन्द्रियसे होता है। ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको ग्रहण करनेमें सक्षम हैं।

साथ ही हम यह भी जानते हैं कि निकटवर्ती या दूरवर्ती, अतीतकालीन, वर्तमानकालीन या भविष्यकालीन इत्थंभूत या अनित्थंभूत जव जो पदार्थ मनके विषय होते हैं तव वे मनसे जाने जाते हैं। उक्त पाँच इन्द्रियाँ तो केवल वर्तमान कालीन अपने-अपने विषयोंको ही जानती हैं, जव कि मन वर्तमान कालीन विषयोंके साथ अतीतकालीन और भविष्यकालीन विषयोंको भी जानता है, क्योंकि जो पदार्थ मनके द्वारा जाने जाते हैं वे विकल्पद्वारा ही जाने जाते हैं।

इससे हम जानते हैं कि ज्ञानमें तो सबको जाननेकी स्वभावभूत शक्ति है, मात्र व्यवहारसे पराश्रितपनेकी भूमिकामें ही वह युगपत् समग्र विषयको ग्रहण करनेमें स्वयं समर्थ नहीं होता। क्षयोपशमरूप पर्यायका स्वभाव ही ऐसा है। यह तथ्य है जिसे ध्यानमें लेनेसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो ज्ञान स्वयं पराश्रितपनेसे मुक्त होकर जानता है उसमें पराश्रितपनेके आधारपर यह भेद करना सम्भव नहीं है कि वह इस समय केवल स्पर्शको ही जाने, रसादिको न जाने। या वर्तमानकालीन

अर्थको ही जाने, अतीत-अनागत कालीन अर्थको न जाने। या निकट-वर्ती पदार्थको ही जाने, दूरवर्ती पदार्थको न जाने, क्योंकि पराश्रितपने-के व्यवहारसे मुक्त होनेके कारण उसमें उक्त प्रकारसे सीमा निर्धारित करना सम्भव ही नहीं है। अतः केवलज्ञान त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जानता है यह सिद्ध होता है। आगे इसीको बतलाने वाले हैं।

२. चेतनपदार्थका स्वतन्त्र अस्तित्व

यह अनुभवसिद्ध बात है कि ज्ञान जड़ पदार्थोंका धर्म तो नहीं है, क्योंकि वह किसी भी जड़ पदार्थमें उपलब्ध नहीं होता। वह जड़ पदार्थोंके रासायनिक प्रक्रियाका भी फल नहीं है, क्योंकि जहाँ चेतनाका अधिष्ठान होता है वहीं उसकी उपलब्धि होती है। जब हम जड़ पदार्थों-का अस्तित्व मानते हैं तो उसके प्रतिपक्षभूत चेतनपदार्थ अवश्य होना चाहिये, अन्यथा पाषाण आदिको जड़ कहना नहीं बनता। जड़ पदार्थोंसे चेतन पदार्थ स्वतन्त्र हैं इसकी पुष्टि करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकायमें कहते हैं—

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥ १२२॥

जो जानता-देखता है, सुखकी इच्छा करता है और दुःखसे डरता है, कभी हितरूप कार्य करता है और कभी अहितरूप कार्य करता है तथा उनके फलको भोगता है वह जीव है॥१२२॥

यहाँ जितने विशेषणों द्वारा जीवका स्वरूपाख्यान किया गया है वे सब धर्म जीवके स्वतन्त्र अस्तित्वको सूचित करते हैं। विषापहार स्तोत्र-में इसी तथ्यको इन शब्दोंमें उद्घाटित किया गया है—

स्ववृद्धि-निःश्वास-निमेषभाजि प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः॥ २२॥

अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्वास और पलकोंके उघड़ने-बन्द होनेको धारण करनेरूप आत्माके प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर भी मूढ़जन क्या समस्त ज्ञेय और उनकी पर्यायोंके बोधस्वरूप आत्माको प्रत्यक्ष अनुभवते हैं? अर्थात् नहीं अनुभवते॥२२॥

इस प्रकार उक्त कथनसे हम जानते हैं कि जानना-देखना, इच्छा करना, सुख-दुःखका अनुभवना इन सब धर्मोंकी जड़के साथ व्याप्ति नहीं है, क्योंकि ये सब धर्म जड़ पदार्थोंमें दृष्टिगोचर नहीं होते। इनको जड़

पदार्थोंके रासायनिक संयोगोंका फल भी नहीं कह सकते, क्योंकि जहाँ चेतनाका अधिष्ठान होता है वहीं उनकी उपलब्धि होती है। विश्वमें अबतक अनेक प्रकारके प्रयोग हुए। उन प्रयोगों द्वारा अनेक प्रकारके चमत्कार भी सामने आये। हाइड्रोजन बम बने, परमाणुके विस्फोटकी भी बात कही गई। दूरबीन और ऐसी खुर्दबीन भी बनी जिनसे एक वस्तुको हजार-लाख गुणा बड़ा करके देखनेकी क्षमता प्राप्त हुई। ऐसे बाण भी छोड़े गये जो पृथिवीकी परिधिके बाहर गमन करनेमें समर्थ हुए। वैज्ञानिकोंने यन्त्रोंकी सहायतासे प्रकृतिके अनेक रहस्योंको जाननेके नये-नये तरीके खोजे आदि।

किन्तु आजतक कोई भी वैज्ञानिक यह दावा न कर सका कि मैंने चेतनाका निर्माण कर लिया है। इतना सब कुछ करनेके बाद भी आज भी भौतिकवादियोंके लिये चेतना रहस्यका विषय बना हुआ है। वर्तमान कालमें ही क्या अतीत कालमें भी वह इनके लिये रहस्यका विषय बना रहा है। और हम तो अपने अन्तःसाक्षीस्वरूप अनुभवके आधार पर यह भी कह सकते हैं कि भविष्यकालमें भी वह इनके लिये रहस्यका विषय बना रहेगा, क्योंकि जो स्वयं जाननेवाला होकर भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता नहीं वह इन भौतिक पदार्थोंके आलम्बनसे उसे पकड़नेकी जितनी भी चेष्टाएँ करेगा वे सब विफल होंगी।

जड़ पदार्थोंके समान आत्माका अस्तित्व यह सनातन सत्य है। अतीत कालमें ऐसे अगणित मनुष्य हो गये हैं जिन्होंने उसका साक्षात्कार किया और लोकके सामने ऐसा मार्ग रखा जिस पर चलकर उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। किन्तु शुद्ध भौतिकवादी इसपर भरोसा नहीं करते और नाना युक्तियों-प्रयुक्तियों द्वारा उसके अस्तित्वके खण्डन-में लगे रहते हैं। वे यह अनुभवनेकी चेष्टा ही नहीं करते कि जिस बुद्धिके द्वारा मैं इसके लोप करनेका प्रयत्न करता हूँ बुद्धिका आधार-भूत वह मैं पदका वाच्य ही तो आत्मा है जो शरीरसे सर्वथा पृथक् है। दूधमें पद्मराग मणिके निक्षिप्त करनेपर वह अपनी प्रभासे जैसे दूधको व्याप लेती है वैसे ही यह आत्मा भी अपने प्रदेशों द्वारा शरीरको व्याप रहा है। हाँ वह शरीरसे अत्यन्त भिन्न ही, क्योंकि मुर्दा शरीरसे चेतनसे अधिष्ठित शरीरमें जो अन्तर प्रतीत होता है वह एकमात्र उसीके कारण प्रतीत होता है। यह अन्तर केवल शरीरमेंसे प्राणवायुके निकल जानेके कारण नहीं होता। किन्तु शरीरको व्यापकर जो स्थायी तत्त्व

निवास करता है उसके निकल जानेके कारण ही होता है। इस प्रकार ऊहापोह द्वारा निर्णय करनेपर ज्ञानस्वरूप स्वतन्त्र तत्त्वके अस्तित्वकी सिद्धि होती है।

३. आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है

यद्यपि आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ है तो भी वह अनादिकालसे अपने अज्ञानवश पुद्गल द्रव्यके साथ एक क्षेत्रावगाहसम्बन्धको प्राप्त होनेके कारण अपने स्वरूपको भूलकर हीन अवस्थाको प्राप्त हो रहा है। किन्तु जब वह अपने स्वस्वरूपके भानद्वारा अपनी इस संयोगकालमें होने-वाली विविध अवस्थाओंका अन्तकर सहज स्वभाव अवस्थाको प्राप्त होता है तब उसके ज्ञानमें पर्यायरूपसे आई हुई न्यूनता या विविधता भी निकल जाती है और इस प्रकार उसके करण, क्रम और व्यव-धानका अभाव हो जानेसे वह अलोक सहित त्रिलोकवर्ती समस्तपदार्थों-को युगपत् जानने लगता है।

इसी तथ्यको हेतुपुरस्सर स्पष्ट करते हुए आचार्य पुष्पदन्त-भूतवली वर्गणाखण्डके प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहते हैं—

सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडि-सेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्स द विहरदि त्ति ॥ ८२ ॥

स्वयं उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवलदर्शनसे युक्त भगवान् देव-लोक, असुरलोक और मनुष्यलोकके साथ समस्तलोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक्प्रकारसे युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं ॥८२॥

इस सूत्रके प्रारम्भमें 'सइं' पद आया है, जिससे इस तथ्यकी सूचना मिलती है कि पर्यायदृष्टिसे भगवान् बननेका यदि कोई मार्ग है तो वह मात्र अपने त्रिकाली ध्रुवस्वभावका आश्रय करना ही है, क्योंकि यह आत्मस्वरूपसे भगवान् है, इसलिये जो भगवान्स्वरूप अपने आत्माका आश्रय कर उसमें लीन होता है अर्थात् तत्स्वरूप होकर परिणमता है वही पर्यायमें भगवान् बन सकता है, अन्य नहीं।

आगममें जो जीवकी विभाव पर्याय और स्वभावपर्यायके भेदसे दो प्रकारकी पर्यायें बतलाई हैं सो ऐसे बतलानेका जो कारण है उसे हमें समझना चाहिये। मूलकारण यह है कि जो पर्याय परके लक्ष्यसे उत्पन्न होती है वह विभावपर्याय है और जो पर्याय अपने त्रिकाली-स्वभावके लक्ष्यसे उत्पन्न होती है वह स्वभावपर्याय है। यतः यह जीव अपने भगवत्स्वरूप स्वभावके लक्ष्यसे भगवान् बनता है अतः उसके ज्ञान-दर्शन आदिरूप जो भी पर्याय उत्पन्न होती हैं वे सब स्वभावके अनुरूप ही होती हैं। उन्हें चाहे स्वभावपर्याय कहो और चाहे पर निरपेक्ष पर्याय कहो, दोनोंका अर्थ एक ही है। आगममें केवलज्ञान और केवलदर्शनको जो असहाय ज्ञान-दर्शन कहा गया है सो उसका आशय भी यही है। इस प्रकार जो केवलज्ञान और केवलदर्शन है एक तो वह इन्द्रियोंके माध्यमसे पदार्थोंको न जानकर स्वयं जाननक्रिया-रूप प्रवृत्त होता है, इसलिये तो उसे इन्द्रियातीत कहा गया है, दूसरे विषयके आलम्बनसे उपयोगकी पलटन नहीं होती, इसलिये उसे क्रमरहित स्वीकार किया गया है और तीसरे वह बाह्यान्तर प्रतिबन्धक-का अभाव होनेपर होता है, इसलिये वह देश और काल आदिके व्यवधानसे रहित होकर अलोकसहित त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको युगपत् जानता है यह सिद्ध होता है। इसी तथ्यको संक्षेपमें स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें कहते हैं—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्व-पज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं॥ २१॥

केवली जिनके नियमसे अन्य निरपेक्ष ज्ञानपरिणाम होता है, इसलिए उनके सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें प्रत्यक्ष हैं। वे उन्हें अवग्रह आदि क्रियाओं द्वारा नहीं जानते॥२१॥

केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको युगपत् जानता है इसे स्पष्ट करते हुए उसी प्रवचनसारमें वे पुनः कहते हैं—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं दु सव्वगयं॥ २३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है और ज्ञेय लोका-लोक है, इसलिये ज्ञानसर्वगत है अर्थात् ज्ञान समस्त लोकालोकको अपने जाननेरूपसे व्याप्त करके अवस्थित है।

आचार्य गृद्धपिच्छ भी इसी विषयको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थसूत्रमें कहते हैं—

सर्वद्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ॥ १-२९ ॥

केवलज्ञान सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंको जानता है ॥१-२९॥

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिमें कहते हैं—

जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि, पुद्गलद्रव्याणि च ततोऽप्यनन्तानन्तानि अणु-स्कन्धभेदभिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासंख्येयः। तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभुवः प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु। द्रव्यं पर्यायजातं वा न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमित-माहात्म्यं हि तत्।

जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं, पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, उनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये मिल कर तीन हैं, और काल द्रव्य असंख्यात है। इन सब द्रव्योंकी पृथक् पृथक् तीनों कालोंमें होनेवाली पर्यायें अनन्तानन्त हैं। इन सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको केवलज्ञान जानता है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न कोई पर्यायसमूह है जो केवलज्ञानके विषयके बाहर हो। वह नियमसे अपरिमित माहात्म्यवाला है।

४. अन्य प्रकारसे महिमावन्त केवलज्ञानका समर्थन

केवलज्ञान ऐसा महिमावन्त है यह केवल अध्यात्म जगत्में ही स्वीकार किया गया हो ऐसा नहीं है, दार्शनिक जगत्से भी इसका समर्थन होता है। स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामें कहते हैं—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ ५ ॥

जो सूक्ष्म पदार्थ हैं, जो अन्तरित पदार्थ हैं और जो दूरवर्ती पदार्थ, हैं, वे किसीके प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि वे अनुमानके विषय हैं। जो अनुमानके विषय होते हैं वे किसीके प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय अवश्य होते हैं। जैसे अग्नि आदि।

यहाँ सूक्ष्म कहनेसे परमाणु आदि वे पदार्थ लिये गये हैं जो स्वभावसे इन्द्रिय अगोचर होते हैं। अन्तरित कहनेसे वे पदार्थ लिये गये हैं जो अतीत-अनागत कालवर्ती होनेसे इन्द्रिय अगोचर होते हैं। तथा दूर कहनेसे वे पदार्थ लिये गये हैं जो क्षेत्रकी अपेक्षा दूरवर्ती होते हैं।

ये तीनों प्रकारके पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमानसे जाने

जाते हैं। जो जो अनुमानके विषय होते हैं वे सब किसीके प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय भी होते हैं। जैसे किसी प्रदेश विशेषमें अनुमान प्रमाणसे अग्निका सद्भाव जान कर उसे प्रत्यक्षसे उपलब्ध कर लिया जाता है। उसी प्रकार वे सूक्ष्म आदि पदार्थ अनुमानके विषय होनेसे किसीके प्रत्यक्षके विषय हैं यह निश्चित होता है। इससे हम जानते हैं कि जो इन अतीन्द्रिय पदार्थोंको साक्षात् जानता है वही सर्वज्ञ है और वही सातिशय केवलज्ञान-विभूतिसे सम्पन्न है, क्योंकि इन दोनोंमें समव्याप्ति है।

वात यह है कि इन्द्रियाँ स्वयं जड़ हैं। वे जानती नहीं, जानता तो स्वयं ज्ञान है। इसलिये जिन पुरुषोंने आत्मपुरुषार्थको जागृत कर सब प्रकारके वाह्याभ्यान्तर प्रतिवन्धोंके अभावपूर्वक इन्द्रियोंको निमित्त किये विना अतीन्द्रियज्ञान प्राप्त कर लिया है वे सूक्ष्मादि पदार्थोंको इन्द्रियोंको माध्यम किये विना साक्षात् जानने लगते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

शंका—जब कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है और इन्द्रियाँ आत्माका स्वभाव नहीं है। ऐसी अवस्थामें आत्मा स्वरूपसे ही सर्वज्ञस्वभाव है, फिर यहाँ उसे सिद्ध करनेसे क्या प्रयोजन है ?

समाधान—जो दर्शन आत्मासे ज्ञानकी उत्पत्ति न मान कर परसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानते हैं उन्हें लक्ष्यकर यह वचन कहा गया है। उन दर्शनोंका नेता मीमांसक है। उसने धार्मिक जगत्में वेदोंकी प्रतिष्ठा करनेके अभिप्रायसे अपने दर्शनको यह रूप दिया है। किन्तु उसका यह कथन अन्योन्याश्रित है, क्योंकि जिस तर्कसे वह ज्ञानको पराश्रित सिद्ध करता है उस तर्कके पराश्रित सिद्ध होने पर ज्ञानकी पराश्रितता सिद्ध होवे और ज्ञानके पराश्रित सिद्ध होने पर ज्ञानको पराश्रित सिद्ध करने वाले तर्ककी पराश्रितता सिद्ध होवे। और ज्ञानको पराश्रित सिद्ध करने-वाले उस तर्कको यदि स्वाश्रित स्वीकार किया जाता है तो ज्ञानको ही स्वाश्रित मान लेनेमें क्या आपत्ति है। इस प्रकार जीवस्वभावको ध्यानमें रख कर विचार करने पर यही निश्चित होता है कि प्रत्येक आत्मा स्वरूपसे सर्वज्ञस्वभाव है। संसार अवस्थामें जो पराश्रितपना दृष्टिगोचर होता है वह वस्तु स्वरूपको जान कर तदनुरूप श्रद्धा, ज्ञान और स्थिति न करनेका ही फल है।

५. दर्पण और ज्ञानस्वभाव

ज्ञानका स्वभाव दर्पणके समान है। जैसे स्वच्छ दर्पणके सामने आये

हुए अनेक पदार्थ उसमें यथावत् रूपसे युगपत् प्रतिविम्बित होते हैं। वैसे ही केवलज्ञानमें अलोकसहित तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ यथावत् रूपसे युगपत् प्रतिभासित होते हैं। इसीलिये स्वामी समन्तभद्रने अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्धमानकी मंगलस्तुति करते हुए उनके ज्ञानको दर्पणकी उपमा दी है। इसी तथ्यका समर्थन पुरुषार्थसिद्धयुपायमें कहे गये आचार्य अमृतचन्द्रके इस मंगलसूत्रसे भी होता है—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

जिसमें दर्पणके तलके समान समस्त पदार्थसमूह त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंके साथ युगपत् प्रतिविम्बित (प्रतिभासित) होता है वह उत्कृष्ट केवलज्ञान ज्योति जयवन्त वर्तो ॥ १ ॥

आचार्य अमृतचन्द्रने केवलज्ञान रूपसे परिणत हुए ज्ञानस्वभावकी महिमा क्या है इसे इस मंगलसूत्र द्वारा पूरी तरहसे स्पष्ट कर दिया है।

आशय यह है कि अलोक सहित त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ केवलज्ञानमें ऐसे ही प्रतिभासित होते हैं जैसे दर्पणके सामने आया हुआ पदार्थ उसमें प्रतिविम्बित होता है। यद्यपि दर्पण अपने स्थान पर रहता है और प्रतिविम्बित होनेवाला पदार्थ अपने स्थानपर रहता है। न तो दर्पण पदार्थमें जाता है और न ही पदार्थ दर्पणमें आता है, फिर भी इन दोनोंमें सहज ही ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि पदार्थके दर्पणके सामने आने पर स्वभावसे दर्पणकी स्वच्छता स्वयं प्रतिविम्बरूप परिणम जाती है। उसी प्रकार केवलज्ञानका स्वभाव सब द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायोंको जानने देखने-का है। दर्पणके समान यहाँ भी न तो सब पदार्थ केवलज्ञानमें आते हैं और न केवलज्ञान सब पदार्थोंमें जाता है। फिर भी केवलज्ञान और सब पदार्थोंके मध्य ऐसा सहज ही ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है कि केवलज्ञानके प्रकट होते ही उसी समयसे वह सब पदार्थों और उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायोंको सहज ही युगपत् स्वयं जानने-देखने लगता है।

उक्त मंगलसूत्रमें आचार्य अमृतचन्द्रने केवलज्ञानको परमज्योति पदसे अभिहित किया है सो इसका यह आशय है कि जैसे सूर्य लोकमें स्थित समस्त पदार्थोंको अपने आलोक द्वारा प्रकाशित करता है वैसे ही केवलज्ञान भी चराचर समस्त विश्वको प्रकाशित करता है, जानता-देखता है। यहाँ केवलदर्शनसे अभेद करके यह कथन किया है।

६. शंका-समाधान

शंका—विश्वके समस्त पदार्थ पर हैं, केवलज्ञान उन्हें कैसे जानता है ?

समाधान—केवलज्ञान जानता तो स्वयंको ही है। किन्तु प्रतिसमय जो जाननेरूप पर्याय होती है, वह प्रतिबिम्बरूप आकारको लिये हुए दर्पणके समान सब पदार्थोंको जाननेरूप ही होती है। इसलिए प्रत्येक समयमें उसके इस प्रकार जाननेरूप होनेसे व्यवहारसे यह कहा जाता है कि केवलज्ञान प्रत्येक समयमें सब द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायोंको युगपत् जानता है। ज्ञानमें ऐसी अपूर्व सामर्थ्य है इसका भान तो छद्मस्थोंको भी होता है। उदाहरणार्थ चक्षु इन्द्रियको लीजिये। हम देखते हैं कि वह पदार्थोंके पास जाती नहीं, फिर भी वह योग्य सन्निकर्षमें स्थित पदार्थोंके रूप, आकार आदिके साथ उन पदार्थोंको जानती है। इससे सिद्ध है कि वह अपने स्थानमें रहकर भी अपनेमें प्रतिभासित होनेवाले सब पदार्थोंको जानता है।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्द नियमसारमें कहते हैं—

> जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
> केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९ ॥

केवली जिन व्यवहारनयसे सब पदार्थोंको जानते-देखते हैं। किन्तु निश्चयनयसे केवली जिन आत्माको जानते-देखते हैं ॥१५९॥

केवली जिनके समय-समय जो ज्ञान परिणाम होता है वह स्वयं होता है। बाह्य पदार्थ हैं, इसलिए वैसा ज्ञान परिणाम होता है ऐसा भी नहीं है और प्रतिसमय ज्ञान परिणाम होता है इसलिए वैसे बाह्य पदार्थ हैं ऐसा भी नहीं है। प्रतिसमय बाह्य पदार्थ स्वयं हैं और प्रतिसमय ज्ञान-परिणामका होना स्वयं है। कोई किसीके अधीन नहीं है। इसलिए जब परमार्थसे विचार किया जाता है तो समय-समय जो केवलज्ञान परिणाम होता है वह स्वयंको जाननेरूप ही होता है। इसीको निखिल ज्ञेयोंकी अपेक्षा व्यवहारसे यों कह सकते हैं कि जितना कुछ ज्ञेय है उसको जाननेरूप होना है। इसी तथ्यको यहाँ पर आचार्यदेवने आत्मज्ञ और सर्वज्ञ पद द्वारा स्पष्ट किया है। वस्तुतः देखा जाय तो स्वयंको जानना ही सबको जानना है। ये दो नहीं हैं। जब परकी अपेक्षा कथन करते हैं तो वह सबको जानता-देखता है ऐसा कहा जाता है और जब स्वकी अपेक्षा कथन करते हैं तो स्वयंको जानता-देखता है ऐसा कहा जाता है।

ज्ञेय दो प्रकारका है—अन्तःज्ञेय और वहिःज्ञेय। ज्ञेयको जाननेरूप स्वयं जो ज्ञानपरिणाम हुआ तत्स्वरूप अन्तःज्ञेय है, इस अपेक्षा केवली जिन स्वयंको जानते-देखते हैं यह निश्चित होता है। और वहिःज्ञेय लोकालोकवर्ती समस्त पदार्थ हैं। अतः उसी वातको जव इनकी अपेक्षा कथन करते हैं तव केवली जिन लोकालोकको जानता-देखता है यह कहा जाता है। वस्तु एक है उसका कथन दो प्रकारसे किया गया है यह इसका तात्पर्य है।

केवलज्ञान स्वयंको जानता-देखता है इसका अर्थ ही यह है कि वह अलोकसहित लोकके समस्त पदार्थोंको प्रतिसमय युगपत् जानता-देखता है, क्योंकि सभी पदार्थ ज्ञानगत होनेसे केवलज्ञान सव पदार्थोंको जानता-देखता है, परसापेक्ष यह व्यवहार किया जाता है।

शंका—वस्तुतः यदि ज्ञान स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं है तो संसार अवस्थामें इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति क्यों मानी जाती है?

समाधान—किसी भी ज्ञानकी उत्पत्ति होती तो स्वयं ही है, इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं। इसलिये वे चेतनके किसी भी धर्मको उत्पन्न करनेमें स्वयं असमर्थ हैं। केवल विवक्षित ज्ञानके साथ विवक्षित इन्द्रियका अविनाभाव देखकर यह व्यवहार किया जाता है कि चक्षुसे रूपकी उपलब्धि हुई आदि।

शंका—केवली जिनके इस प्रकारके व्यवहारको स्वीकार करनेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—ऐसा स्वीकार करने पर संसार और मुक्त ये दो अवस्थाएँ नहीं वनतीं। इतना ही नहीं, किसी भी द्रव्यको परमार्थसे स्वसहाय मानना भी नहीं वन सकता। इसलिये यही मानना उचित है कि अपने-अपने स्वभावानुसार जव जिस द्रव्यका जो परिणाम होता है वह स्वयं होता है। संयोगकालमें अविनाभावसम्वन्धवश वाह्य पदार्थ मात्र उसका सूचक होता है।

शंका—जीव पदार्थ द्रव्यार्थिकनयसे भले ही स्वसहाय रहा आवे। पर वह पर्यायार्थिकनयसे भी स्वसहाय है यह मानना उचित नहीं है?

समाधान—धर्मादि द्रव्योंके समान जीव पदार्थ भी उत्पाद-व्यय ध्रौव्यस्वरूप है। इनमेंसे ध्रौव्यरूपसे वस्तुको स्वीकार करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और उत्पाद-व्ययरूपसे वस्तुको स्वीकार करनेवाला

पर्यायार्थिकनय है। यह दृष्टिभेदसे प्रत्येक द्रव्यको देखनेकी पद्धति है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु अखण्ड एक है और परिणामी-नित्य है, इसलिये अपने इस स्वभावके कारण वह ध्रुव रहते हुए भी प्रति समय स्वयं उत्पाद-व्ययरूप अवस्थाको प्राप्त होता रहता है। अतएव जीव पदार्थ स्वयं पराश्रित नहीं है। संयोगके कालमें प्रयोजनविशेषसे पराश्रयपनेका व्यवहार किया जाता है।

शंका—वह प्रयोजन विशेष क्या है जिससे जीवमें इस प्रकारका व्यवहार किया जाता है?

समाधान—जिस जीवने अज्ञानवश अभी तक अपने पृथक् एकत्वको उपलब्ध नहीं किया और विषय-कषायसे अभिभूत हो रहा है, उसकी यह पराश्रितता स्वभावसे जायमान नहीं है, किन्तु अज्ञानवश परमें इष्टानिष्ट बुद्धिका फल है, यह वह प्रयोजन है जिसको लक्ष्यमें रखकर संसारी जीवको पराश्रित कहा गया है।

शंका—जो जीव परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध कर लेता है, उसको नियमसे उस भवको धारण करना पड़ता है यह एक उदाहरण है। ऐसी अवस्थामें संसारी जीवको वस्तुतः पराश्रित मान लेनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये?

समाधान—जीवशास्त्रका ऐसा नियम है कि इस जीवको जो लेश्या परभवसम्बन्धी आयुके बन्धमें निमित्त होती है, मरणके अन्तर्मुहूर्त पहले तज्जातीय लेश्याके होनेपर ही मरणकर वह जीव भवान्तरको प्राप्त करता है। इससे सिद्ध है कि संसारी जीव आयुबन्धके कारण परभवको नहीं प्राप्त होता, किन्तु उसका मुख्य कारण तज्जातीय लेश्या ही है।

शंका—ऐसा माननेमें क्या लाभ है?

समाधान—यह मान्यता नहीं है, वस्तुस्थिति है। यह जीव स्वयंकृत अपराधके कारण संसारी बना हुआ है और अपने सहज स्वभावको जानकर स्वभावके अनुकूल पुरुषार्थ करनेसे अपराधवृत्तिसे मुक्त होता है, ऐसा स्वीकार करना यही लाभ है और यही मोक्षका उपाय है।

शंका—केवली जिन छह द्रव्य और उनकी वर्तमान पर्यायोंको जानें इसमें किसीको विवाद नहीं है। किन्तु जो अतीत पर्यायें विनष्ट हो गई हैं, और भविष्यत्पर्यायें उत्पन्न नहीं हुई हैं, केवली जिन उनको भी जानते हैं ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है।

समाधान—किन्तु उनकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जो सब द्रव्योंको जानता है वह उनकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायोंको भी जानता है, क्योंकि तीनों कालकी पर्यायोंके तादात्म्यरूपसे समुच्चयका नाम ही द्रव्य है, इससे जिसने सभी द्रव्योंको जाना उसने उनकी सब पर्यायोंको भी जाना यह सिद्ध होता है, क्योंकि पूरे द्रव्यके जाननेमें उसकी तीनोंकाल सम्बन्धी पर्यायोंका जानना अन्तर्निहित है ही। इस तथ्यको आचार्य अमृतचन्द्रदेवने प्रवचनसार गाथा ३७ की तत्त्वप्रदीपिका टीकामें अनेक प्रकारसे स्पष्ट करके बतलाया है। इसके लिये एक उदाहरण उन्होंने चित्रपटका लिया है। वे लिखते हैं—

चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते तथा संविद्भित्तावपि।

उपयुक्त ज्ञान चित्रपटस्थानीय है। जैसे चित्रपटमें अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन वस्तुओंके चित्र साक्षात् एक समयमें ही प्रतिभासित होते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें भी सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें प्रतिभासित होती हैं।

इसी तथ्यको वे और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकत्वाविरोधात्। यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति।

वस्तुस्थिति यह है कि जितने भी ज्ञेयाकार हैं उन सबके वर्तमानकालीनरूपसे प्रतिभासित होनेमें कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि जैसे अतीत और अनागत वस्तुओंके चित्र वर्तमान ही हैं, उसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायसम्बन्धी ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।

इस तथ्यकी पुष्टि छद्मस्थज्ञानसे भी होती है। छद्मस्थके ज्ञानमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो लिये ही गये हैं, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानका भी ग्रहण होता है। ये दोनों ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाके साथ अतीत और अनागत पर्यायोंको भी जानते हैं। मतिज्ञान भले ही योग्य सन्निकर्षमें स्थित इन्द्रियों द्वारा वर्तमान विषयको जानता है, पर श्रुतज्ञान मात्र वर्तमान विषयको ही जानता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो घटना पहले कभी हो गई हो उसका ख्याल आने पर

वर्तमानमें हो रही घटनाके समान उसका प्रतिभास होने लगता है। चाहे अतीत पर्यायें हों या भविष्यत् पर्यायें हों उनके ज्ञानमें प्रतिभास वर्तमानवत् ही होता है, क्योंकि अतीत और अनागत विषयको जाननेवाली ज्ञानपर्याय वर्तमान है, इसलिए विषयकी अपेक्षा भले ही विषयको अतीत-अनागत कहा जाय, परन्तु उनको वर्तमानमें जाननेवाले ज्ञानपरिणामको अतीत-अनागत नहीं कहा जा सकता, इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान अतीत-अनागत विषयोंको वर्तमानवत् जानता है यह स्वीकार किया गया है।

७. कुतर्काश्रित मतका निरसन

१. वहुतसे मनीषियोंका ऐसा भी कहना है कि आकाश अनन्त है, अतीत-अनागत काल भी अनन्त है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य भी अनन्त हैं। ऐसी अवस्थामें केवलज्ञानके द्वारा यदि उन अनन्त पदार्थोंका पूरा ज्ञान मान लिया जाता है तो उन सवको अनन्त मानना नहीं वनता। यदि उनकी इस बातको और अधिक फैला कर देखा जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि यदि केवलज्ञान सव द्रव्यों और उनकी सव पर्यायोंको युगपत् जानता है तो न तो जीव पदार्थ ही अनन्त माने जा सकते हैं और न पुद्गल द्रव्य ही अनन्त माने जा सकते हैं। अकाशद्रव्य तथा भूत और भविष्यत् काल अनन्त है यह भी नहीं कहा जा सकता है।

२. उनका यह भी कहना है कि जव प्रत्येक छह मास और आठ समयमें छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं तब एक समय ऐसा भी आ सकता है जव मोक्षका मार्ग ही वन्द हो जायगा। संसारमें केवल अभव्य जीव ही रह जावेंगे।

यों तो जो अपने छद्मस्थ ज्ञानके अनुसार अनन्तकी सीमा बाँधनेमें और केवल ज्ञानकी सामर्थ्यके निष्कर्ष निकालनेमें पटु हैं उनके द्वारा इस प्रकारके कुतर्क पहले भी उठाये जाते थे। किन्तु जवसे सब द्रव्योंकी पर्यायें क्रमनियमित (क्रमवद्ध) होती हैं यह तथ्य प्रमुखरूपसे सबके सामने आया है तवसे वर्तमानमें भी ऐसे कुतर्क उन विद्वानोंके द्वारा उपस्थित किये जाने लगे हैं जिनके मनमें यह शल्य घर कर गई है कि केवलज्ञानको सव द्रव्यों और उनकी सव पर्यायोंका ज्ञाता मान लेने पर सोनगढ़के विरोधमें जो हमारी ओरसे हल्ला किया जा रहा है वह निर्बल पड़ जायगा। वे नहीं चाहते कि आम जनतामें सोनगढ़का प्रभाव बढ़े, इसलिए वे केवलज्ञानकी सामर्थ्य पर ही उक्त प्रकारके कुतर्क करने लगे हैं।

किन्तु वे इस प्रकारके कुतर्क करते हुए यह भूल जाते हैं कि जैनधर्ममें तत्त्वप्ररूपणाका मूल आधार ही केवलज्ञान है। उस केवलज्ञानके द्वारा जानकर ही केवली जिनने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा यह प्ररूपणा की कि जीव अनन्तानन्त हैं, वे संसारी और मुक्तके भेदसे दो प्रकारके हैं। पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं आदि। उन्होंने यह भी वतलाया कि इनमेंसे प्रत्येक द्रव्यके गुण और पर्यायें भी अनन्त हैं। यह वस्तुस्थिति होते हुए भी उन महाशयों द्वारा वही केवलज्ञान वर्तमान समयमें कुतर्कका विषय बनाया जा रहा है। इसे समयकी विडम्बना ही कहनी चाहिए कि जो केवलज्ञानकी सत्ता ही स्वीकार नहीं करते उनके द्वारा तो यह कहा नहीं जा रहा है, किन्तु जो इन्द्रियातीत निरावरण केवलज्ञानकी सत्ता स्वीकार करते हैं उनकी ओरसे ऐसे कुतर्क किये जा रहे हैं यह आश्चर्य की बात है।

हम यह तो मानते हैं कि केवलज्ञानके सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जाननेवाला होनेपर भी क्रमनियमित पर्यायोंकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आधारसे ही न करके कार्य-कारण परम्पराको ध्यानमें रखकर भी की जानी चाहिये, जैसा कि हम क्रमनियमित पर्यायमीमांसा अध्यायमें कर आये हैं। परन्तु केवल पर्यायोंकी क्रमनियमितता न सिद्ध हो जाय, मात्र इस डरसे केवलज्ञानकी सामर्थ्य पर ही कुतर्क करना उचित नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि केवलज्ञान एक निरावरण स्वच्छ और सांगोपांग दर्पणके समान है। जिस प्रकार उक्त प्रकारके दर्पणके सामने जितने पदार्थ होते हैं वे सब उसमें अखण्डभावसे प्रतिबिम्बित होते है। ठीक यही स्वभाव केवलज्ञानका है, क्योंकि वह छह द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंको प्रतिभासित करनेमें समर्थ है। अतीत और अनागत पर्यायें पर्यायदृष्टिसे विनष्ट और अनुत्पन्न कही जा सकती है, द्रव्यरूपसे नहीं। इसलिए जब कि केवलज्ञान प्रत्येक द्रव्यको पूरी तरहसे जानता है तो उसने तीनों कालसम्वन्धी सब पर्यायोंके साथ ही प्रत्येक द्रव्यको जाना यह सुतरां सिद्ध हो जाता है। जाननेकी अपेक्षा अतीत-अनागत पर्यायें वर्तमानमें जानी गईं इसलिए वे वर्तमानके समान ही हैं।

जैसे क्षेत्रकी अपेक्षा मेरु आदि अन्तरित पदार्थ केवलज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं, क्षेत्रका व्यवधान होनेपर भी इसमें कोई बाधा नहीं आती।

वैसे ही कालकी अपेक्षा अन्तरित पदार्थ भी केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं इसमें भी कोई बाधा नहीं आती। यदि ज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा अन्तरितपदार्थोंको जान सकता है तो वह कालकी अपेक्षा अन्तरित पदार्थोंको क्यों नहीं जान सकता, अर्थात् अवश्य जान सकता है। छद्मस्थोंके परोक्ष ज्ञानसे भी इसकी पुष्टि होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमानज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अतीत पर्यायोंका संधारण करनेपर ही ये सब ज्ञान उत्पन्न होते हैं। यदि वर्तमान समयमें अतीत पर्याय लक्ष्यमें न आवे तो इन ज्ञानोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकेगी, अर्थात् नहीं हो सकेगी। इससे सिद्ध है कि जब हम छद्मस्थोंका ज्ञान अतीत और अनागत पर्यायोंके जाननेमें समर्थ है तब केवलज्ञानको ऐसी सामर्थ्यवाला माननेमें आपत्ति ही क्या हो सकती है।

वस्तुस्थिति यह है कि केवलज्ञानकी प्रत्येक समयमें जो पर्याय होती है वह अखण्ड ज्ञेयरूप प्रतिभासको लिए हुए ही होती है और ज्ञानका स्वभाव जानना होनेके कारण केवलज्ञान अपनी उस पर्यायको समग्रभावसे जानता है, इसलिए केवलज्ञानी अपने इस ज्ञान परिणाम द्वारा छह द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंका ज्ञाता होनेसे सर्वज्ञ संज्ञाको धारण करता है।

दर्पण और ज्ञानमें यह अन्तर है कि दर्पणमें अन्य पदार्थ प्रतिबिम्बित तो होते हैं, परन्तु वह उनको जानता नहीं। किन्तु केवलज्ञानमें अन्य अनन्त जड़-चेतन सभी पदार्थ अपने-अपने शक्तिरूप और व्यक्तरूप सभी आकारोंके साथ प्रतिभासित भी होते हैं, और वह उनको जानता भी है, इसलिये केवलज्ञानने आकाशकी अनन्तताको जान लिया, या तीनों कालोंकी अनन्तताको जान लिया, अतः उनको अनन्त मानना ठीक नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जो पदार्थ जिसरूपमें हैं उसीरूपमें वे केवलज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं ऐसा नियम है। इसी तथ्यको शंका—समाधानपूर्वक स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० ९ में लिखते हैं—

अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति चेत्? न, अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्। स्यादेतत् सर्वज्ञेनानन्तं परिच्छिन्नं वा अपरिच्छिन्नं वा। यदि परिच्छिन्नं उपलब्धावसानत्वात् अनन्तत्वमस्य हीयते। अथापरिच्छिन्नम्, तत्स्वरूपानवबोधात् असर्वज्ञत्वं स्यात्? तन्न, किं कारणम्? अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्। यत्तत्केवलिनां ज्ञानं

क्षायिकं अतिशयवत् अनन्तानन्तपरिमाणं तेन तदनन्तमवबुध्यते साक्षात् । तदुपदेशादितरैरनुमानेनेति न सर्वज्ञत्वहानिः । न च तेन परिच्छिन्नमित्यर्थः सान्तम्, अनन्तेनानन्तमिति ज्ञातत्वात् ।

आकाशके प्रदेश अनन्त हैं, इसलिये उनका ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सातिशयज्ञानके द्वारा उसकी अनन्तता ज्ञात है ।

शंका—सर्वज्ञने अनन्तको जाना या नहीं जाना । यदि जान लिया तो अनन्तका अवसान (छोर) उपलब्ध हो जानेसे अनन्तकी अनन्तताकी हानि होती है और यदि नहीं जाना तो अनन्तके स्वरूपका ज्ञान नहीं होनेसे सर्वज्ञताकी हानि होती है ।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अतिशयज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ अनन्तको जानते हैं । जो यह केवलियोंका ज्ञान है वह क्षायिक, अतिशयसहित और अनन्तानन्त परिमाणवाला है, इसलिये वह (ज्ञान) अनन्तको साक्षात् जानता है । तथा सर्वज्ञके उपदेशसे दूसरे मनुष्य अनुमानसे जानते हैं. इसलिये सर्वज्ञत्वकी हानि नहीं होती । तथा सर्वज्ञने अनन्तको जान लिया इसलिये अर्थ सान्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान स्वयं अनन्तरूप है, इसलिये उसके द्वारा अर्थ अनन्त है यह ज्ञात हो जाता है ।

यहाँ जो कुछ कहा गया है उसका सार यह है कि किसी वस्तुका अन्त उसकी उत्तरोत्तर हानि होनेसे ही होता है, जाननेसे उसका अन्त नहीं होता । ज्ञानका तो काम है कि जो जिसरूपमें है उसे उसीरूपमें जाने । एकको एकरूपमें जाने, संख्यातको संख्यातरूपमें जाने, असंख्यातको असंख्यातरूपमें जाने और अनन्तको अनन्तरूपमें जाने । जो जिसरूपमें अवस्थित है उसको उसीरूपमें जान लिया इसलिये अर्थ हो गया ऐसा नहीं है । द्रव्यप्रमाणानुगम (संख्याप्ररूपणा) में प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणास्थानमें जीवोंको संख्याका निर्देश करते हुए श्री षट्खण्डागममें जिस गुणस्थान या मार्गणास्थानमें जीवोंकी संख्या अनन्त है उसका कालकी अपेक्षा निर्देश करते हुए बतलाया है कि अनन्त कालके द्वारा भी यदि इस गुणस्थान या मार्गणास्थानवर्ती जीवोंकी संख्याको उत्तरोत्तर कम करते जायें तो भी उसका अन्त प्राप्त होना सम्भव नहीं है, इसलिये इस गुणस्थान या मार्गणास्थानवर्ती जीवोंकी संख्या अनन्त है ।

श्री धवलाजी प्रथम पुस्तकके अन्तमें शंका-समाधान करते हुए

बतलाया है कि अनादिकालसे अब तक जितने जीव मुक्त हुए, संसार राशिमेंसे उतने जीवोंके कम होनेपर भी संसार राशि पूर्ववत् अनन्तानन्त बनी हुई है। प्रमाणमें यह वचन पर्याप्त होगा—

> एयणिगोदसरीरे दव्वपमाणदो दिट्ठा।
> सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण विदीदकालेण ॥

निगोद जीवोंके एक शरीरमें सर्वज्ञदेवने सिद्धोंसे और पूरे अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव देखे हैं।

कहीं-कहीं शास्त्रकारोंने अर्धपुद्गल परिवर्तनकालका प्रमाण अनन्त बतलाया है। इसपर शंका-समाधान करते हुए मूलाचार (आचारांग) की टीकामें लिखा है कि अर्धपुद्गल परिवर्तनकालका वास्तविक प्रमाण असंख्यात ही है, अनन्त नहीं। अनन्त तो उस प्रमाणका नाम है जिसमें-से उत्तरोत्तर हानि होनेपर भी कभी उसका अन्त नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार उक्त आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें हम जानते हैं कि छह माह आठ समयमें ६०८ जीवोंके मोक्ष जानेपर भी न तो अनन्त संख्या-प्रमाण संसार राशिका ही कभी अन्त प्राप्त होता है और न ही केवल-ज्ञानके द्वारा अनन्तका ज्ञान हो जानेमात्रसे वह अपने अपरिच्छिन्न प्रमाणको छोड़कर परिच्छिन्न प्रमाणवाली हो जाती है। ज्ञानका काम-मात्र इतना है कि जो जिसरूपमें है उसको उसीरूपमें जाने।

देखो, केवलज्ञानकी ऐसी अपरिमित सामर्थ्य है कि वह छह द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायरूप जितना भी वहिःज्ञेय है उसे अपने ज्ञानपरिणाममें अन्तर्लीन करके पृथक्-पृथक् रूपसे प्रत्यक्ष जानता है। बाह्य और आभ्यन्तर ऐसा कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं रहता जो उसकी इस सामर्थ्यका व्याघात करनेमें सफल हो सके। इसके लिये हमें द्विरूपवर्गधाराके प्रसंगसे त्रिलोकसारमें वर्णित कथन पर दृष्टिपात करना चाहिये। जब दो अंकको आदि कर उत्तरोत्तर वर्ग करते हुए प्रवाहरूपसे उत्पन्न हुई राशियोंका विचार किया जाता है तब वह द्विरूपवर्गधारा कह-लाती है। जैसे २ का वर्ग २ × २=४ होता है औ ४ का वर्ग ४ × ४ = १६ होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्ग करते हुए उत्पन्न हुई राशियोंका विचार द्विरूपवर्गधारामें किया जाता है। इसी प्रसंगसे उस अन्तिम राशिका भी निर्देश किया गया है जहाँ जाकर द्विरूपवर्गधाराका अन्तिम विकल्प प्राप्त होता है और वह राशि है प्रत्येक समयमें होनेवाले केवलज्ञानके अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद।

प्रत्येक द्रव्य या गुणकी प्रत्येक समयमें जो पर्याय होती है वह यद्यपि अखण्ड और एक ही होती है। पर आगे-पीछे होनेवाली पर्यायोंके तारतम्यको ध्यानमें रख कर बुद्धिसे विचार करने पर वह पूर्व पर्यायसे कितने अंशमें बड़ी या छोटी है यह अविभाग प्रतिच्छेदोंके द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पर्यायमें तारतम्यको लक्षित कर जो जघन्य अंशकी कल्पना की जाती है उसका नाम अविभाग-प्रतिच्छेद है। इस दृष्टिसे समस्त ज्ञेयको सामने रख कर केवलज्ञानका विचार करते हैं तो विदित होता है कि जितने भी ज्ञेय हैं उनसे केवलज्ञान अपने अविभाग प्रतिच्छेदों (जाननेमें समर्थ पर्यायशक्त्य) की अपेक्षा अनन्तगुणा है। त्रिलोकसारके द्विरुपवर्गधारा प्रकरणमें इसी तथ्यको इस प्रकार स्पष्ट करके बतलाया गया है—

तिविह जहण्णाणंतं वग्गसलादलछिदी सगादिपदं ।
जीवो पोग्गल काला सेढी आगास तप्पदरं ॥ ६९ ॥
धम्माधम्मागुरुलघु इगजीवस्सागुरुलघुस्स होंति तदो ।
सुहुमाणि अपुण्णणाणे अवरे अविभागपडिच्छेदा ॥ ७० ॥
अवरा खाइयलद्धी वग्गसलागा तदो सगद्धछिदी ।
अइसगछप्पणतुरियं तदियं विदियादि मूलं च ॥ ७१ ॥
सइमादिमूलवग्गे केवलमंतं पमाणजेट्ठमिणं ।
वरखइयलद्धिणामं सावग्गसला हवे ट्ठाणं ॥ ७२ ॥

द्विरूप वर्गधारामें उत्तरोत्तर वर्गरूप स्थानोंके क्रममें तीन प्रकारके जघन्य अनन्तरूप वर्गस्थान उत्पन्न होते हैं। उसके बाद जीवराशि सम्बन्धी वर्गशलाका अर्धच्छेद और प्रथम वर्गमूल उत्पन्न होता है। उसके बाद प्रथम वर्गमूलको प्रथम वर्गमूलसे गुणा करने पर जीवराशि उत्पन्न होती है। पश्चात् जीवराशिसे अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर पुद्गलराशि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर अनन्त अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर क्रमसे कालके समय, श्रेणिरूप आकाश उत्पन्न होता है। पश्चात् जगच्छ्रेणिको जगच्छ्रेणिसे गुणा करने पर जगतप्रतर उत्पन्न होता है। उसके बाद अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर धर्म-अधर्म द्रव्यके अगुरुलघु अविभागप्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उनसे अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर एक जीवके अगुरुलघु अविभागप्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उससे अनन्त वर्गस्थान आगे जाने पर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीवके जघन्य पर्यायज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं।

उनसे अनन्त वर्गस्थान आगे जानेपर तिर्यंच अविरत सम्यग्दृष्टिके जघन्य क्षायिक लब्धिके अविभागप्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उसके बाद वर्गशलाका आदिके क्रमसे आगे जाने पर केवलज्ञानके अर्धच्छेदोंका क्रमसे आठवाँ, सातवाँ, छठा, पाँचवाँ, चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला वर्गमूल उत्पन्न होता है। पश्चात् इस प्रथम वर्गमूलको प्रथम वर्गमूलसे गुणा करने पर केवलज्ञानके अर्धच्छेद उत्पन्न होते हैं। यही उत्कृष्ट-क्षायिकलब्धि है तथा यही द्विरूप वर्गधाराका अन्तिम स्थान है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो केवलज्ञानके विषयके वाहर है। उसका माहात्म्य अपरिमित है। इसी माहात्म्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें कहते हैं—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥
दव्वं अणंतपज्जयमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ ४९ ॥

जो तीन लोक और त्रिकालवर्ती पदार्थोंको युगपत् नहीं जानता, वह समस्त पर्याय सहित एक द्रव्यको नहीं जान सकता। इसी प्रकार जो अनन्त पर्याय सहित एक द्रव्यको तथा अनन्त द्रव्य समूहको यदि युगपत् नहीं जानता तो वह सबको कैसे जान सकेगा ॥४८-४९॥

यह एक ऐसा प्रमाण है जिससे इस तथ्यकी पुष्टि होती है कि जो अपनी समग्र पर्यायसहित स्वयंको पूरी तरहसे जान लेता है वह अलोक सहित तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जाननेमें पूरी तरहसे समर्थ है। इसलिये जो महाशय अपने छद्मस्थज्ञानके वल पर यह कल्पना करते हैं कि केवलज्ञान वर्तमान पर्यायोंको तो समग्र भावसे जानता है, अतीत और अनागत पर्यायोंको वह मात्र शक्तिरूपसे ही जानता है उनकी यह कल्पना सुतरां खण्डित हो जाती है। विज्ञेषु किमधिकम्।

कुछ महाशय यह भी प्रचारित करते रहते हैं कि केवलज्ञानमें अनागत पर्यायें नियत क्रमसे ही प्रतिभासित मान ली जाय तो इससे एक तो एकान्त नियतिवादका प्रसंग आता है दूसरे आगे किये जानेवाले कार्योंके लिए पुरुषार्थ करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। इसलिये अनागत पर्यायोंके विषयमें यही मानना उचित है कि जब जैसी सामग्री मिलती है, कार्य उसीके अनुसार होता है और केवलज्ञान भी ऐसा ही जानता है।

अब देखना यह है कि उन महाशयोंका यह कहना कहाँ तक तर्क-संगत हैं, क्योंकि उनके इस कथनको स्वीकार करने पर पूरी की पूरी तत्त्वव्यवस्था गड़बड़ा जाती है, क्योंकि उनके इस कथनको स्वीकार करने पर एक तो वस्तुगत योग्यताका अभाव मानना पड़ता है जो युक्तियुक्त नहीं है। जो भी कार्य होता है वह वस्तुगत योग्यताके अनुसार ही होता है इसे समन्तभद्र आदि सभी आचार्योंने दृढ़तासे स्वीकार किया है। यदि आचार्य समन्तभद्र रचित आप्तमीमांसाकी 'बुद्धिपूर्वापेक्षायाम्' इस कारिका पर ही ध्यान दिया जाय तो मालूम पड़ेगा कि उन्होंने जीवके प्रत्येक कार्यके प्रति पुरुषार्थ और दैव (योग्यता[1]) को गौण-मुख्यभावसे स्वीकार कर प्रकारान्तरसे पुरुषार्थके साथ सम्यक् नियतिका ही समर्थन किया है।

दूसरे इन महाशयोंके उक्त कथनको स्वीकार करनेपर कार्योंके प्रति पुरुषार्थके लिए भी कोई स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि जब उनके मतानुसार अनियमसे सामग्रीकी प्राप्ति स्वीकार कर उसके अधीन कार्यकी उत्पत्ति मानी जाती है तब पुरुषार्थको माननेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु उनका यह मानना भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि जीवोंके योगसे जो भी कार्य होता है उसमें कहीं मुख्यरूपसे और कहीं गौणरूपसे पुरुषार्थ है ही इसका भी समन्तभद्र आदि सभी आचार्योंने दृढ़तासे समर्थन किया है यह 'बुद्धिपूर्वापेक्षायाम्' इसी कारिकासे स्पष्ट हो जाता है।

इसलिए यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य होता तो वस्तुगत योग्यताके अनुसार ही है। और जिस समय योग्यतानुसार जो कार्य होता है उस समय अपनी-अपनी सुनिश्चित योग्यतानुसार अन्य सामग्रीका योग भी मिलता है। कथनमें गौण-मुख्यभाव हो सकता है, पर वस्तुस्थिति यही है। इसलिये भविष्यकालीन पर्यायोंका होना अपने-अपने कालमें सुनिश्चित होनेसे केवलज्ञान उनको सुनिश्चितरूपमें ही जानता है यह सिद्ध हो जाता है।

माना कि केवलज्ञान मात्र जानता है और सकल पदार्थ उसके ज्ञेय हैं, इसलिये केवलज्ञानसे जैसा जानते हैं, मात्र इसी कारण पदार्थोंका वैसा परिणमन नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञान ज्ञापक है, कारक नहीं। पदार्थोंका परिणमन अपनी अपनी कार्य-कारणपरम्पराके अनुसार ही होता

---

१. यहाँ योग्यता पदसे द्रव्य-पर्याय उभयरूप योग्यता ली गई है।

है और उन पदार्थोंका जैसा परिणमन होता है, केवलज्ञान उसी रूपमें जानता है। केवलज्ञान उन्हें परिणमाता हो यह भी नहीं है, और वे परिणमन करते हैं, इसलिये केवलज्ञान जानता है यह भी नहीं है, क्योंकि जहाँ प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन करनेमें स्वतन्त्र हैं, वहाँ केवलज्ञान उनको जाननेमें स्वतन्त्र है। इससे यह अवश्य ही फलित होता है कि प्रत्येक वस्तुका जैसा परिणमन होता है, उसी प्रकार केवलज्ञान जानता है। इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि जिस प्रकार केवलज्ञान जानता है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुका परिणमन होता है। इसीलिये फलितार्थ रूपमें भैया भगवतीदासने जो यह वचन कहा है—

> जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे।
> अनहोनी कवहुँ न होसी काहे होत अधीरा रे॥

सो ठीक ही कहा है। सम्यग्दृष्टिकी ऐसी ही श्रद्धा होती है। तभी उसके जीवनमें वस्तुस्वभावकी दृढ़ प्रतीतिके साथ केवलज्ञान स्वभावकी प्रतीति दृढ़मूल होकर वह उसके उत्थानमें सहायक वनती है। हमें वस्तुस्वभावकी दृढ़ प्रतीतिके साथ पर्यायरूपमें ऐसे केवलज्ञान स्वभावकी शीघ्र ही प्राप्ति होओ यही कामना है।

परिशिष्ट

उपादान-निमित्तसंवाद

[भैया भगवतीदास जी]

मंगलाचरणपूर्वक उपादान-निमित्तसंवाद कथनकी प्रतिज्ञा—

पाद प्रणमि जिनदेवके एक उक्ति उपजाय।
उपादान अरु निमित्तको कहूँ संवाद वनाय ॥१॥

जिनेन्द्रदेवके चरणोंको प्रणामकर तथा एक उक्तिको उपजाकर उपादान और निमित्तका संवाद बनाकर कहता हूँ ॥ १ ॥

प्रश्न

पूछत हैं कोऊ तहाँ उपादान किह नाम।
कहो निमित्त कहिये कहा कबकै हैं इह ठाम ॥२॥

संवादके प्रारम्भमें कोई पूछता है कि उपादान किसका नाम है और बतलाओ निमित्त किसे कहते हैं। ये दोनों इस लोकमें कबके हैं ॥ २ ॥

समाधान

उपादान निज शक्ति है जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग तैं बन्यो अनादि बनाव। ३॥

उपादान अपनी शक्तिका नाम है, वह जीवका मूल स्वभाव है तथा पर संयोगका नाम निमित्त है। इन दोनोंका यह बनाव अनादिकालसे बन रहा है ॥ ३ ॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

निमित्त कहै मोकों सबै जानत हैं जगलोय।
तेरो नाव न जान ही उपादान को होय ॥४॥

निमित्त कहता है कि जगके सब लोग मुझे जानते हैं, परन्तु उपादान कौन है इस प्रकार तेरा नाम भी कोई नहीं जानते ॥ ४ ॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै रे निमित्त तू कहा करै गुमान।
मोकों जानैं जीव वे जो हैं सम्यक्‌वान ॥५॥

उपादान कहता है हे निमित्त ! तूँ क्या गुमान करता है, जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं वे मुझे जानते हैं ॥ ५ ॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहैं जीव सब जगत को जो निमित्त सोई होय।
उपादानकी बात को पूछे नाहीं कोय ॥६॥

जगतके सब जीव कहते है कि जो (जैसा) निमित्त होता है वही (वैसा ही) कार्य होता है। उपादानकी बातको कोई नहीं पूछता ॥ ६ ॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान विन निमित्त तू कर न सके इक काज।
कहा भयौ जग ना लखै जानत हैं जिनराज ॥७॥

उपादानके विना हे निमित्त ! तूँ एक भी कार्य नहीं कर सकता। इसे जगत नहीं देखता तो क्या हुआ, यह सब जिनराज जानते हैं ॥ ७ ॥

[यहाँपर निमित्तमें कर्तृत्वका आरोपकर कविवरने उपादानके द्वारा यह कहलाया है कि उपादानके विना हे निमित्त ! तूँ एक भी कार्य नहीं कर सकता।]

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

देव जिनेश्वर गुरु यती अरु जिन आगम सार।
इह निमित्त तैं जीव सब पावत हैं भवपार ॥८॥

जिनेश्वर देव, दिगम्बर गुरु और उत्कृष्ट जिनागम इन निमित्तोंसे सब जीव इस लोकमें संसारसे पार होते हैं ॥ ८ ॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

यह निमित्त इस जीव के मिल्यो अनन्तीवार।
उपादान पलटयो नहीं तो भटक्यो संसार ॥९॥

ये निमित्त इस जीवको अनन्तवार मिले है किन्तु उपादान नहीं पलटा, अतः संसारमें भटकता रहा ॥ ९ ॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कै केवलि कै साधुके निकट भव्य जो होय।
सो क्षायिक सम्यक् लहै यह निमित्त बल जोय ॥१०॥

या तो केवली भगवान्‌के निकट या साधु (श्रुतकेवली) के निकट

जो भव्य जीव होता है वह क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, इसे निमित्तका बल जानना चाहिए ॥१०॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

केवलि अरु मुनिराज के पास रहे बहु लोय।
पै जाकौ सुलटचो धनी क्षायिक ताकों होय ॥११॥

केवली भगवान् और मुनिराजके पास बहुतसे लोग रहते है, परन्तु जिसका आत्मा सुलट जाता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है ॥११॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

हिंसादिक पापनि किये जीव नर्कमें जाहिं।
जो निमित्त नहिं काम को तो इम काहे कहाहिं ॥१२॥

जो निमित्त कार्यकारी नहीं है तो यह क्यों कहा जाता है कि हिंसादिक पाप करनेसे जीव नरकमें जाते हैं ॥१२॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

हिंसामें उपयोग जहां रहे ब्रह्मके राच।
तेई नर्कमें जात हैं मुनि नहिं जाहिं कदाच ॥१३॥

जहाँ आत्माका उपयोग हिंसामें रममाण होता है वही नरकमें जाता है, मुनि (भावमुनि) कदापि नरकमें नहीं जाते ॥ १३ ॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

दया दान पूजा किये जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूठी कहो यह क्यों माने लोय ॥१४॥

दया, दान और पूजा करनेसे जीव जगमे सुखी होता है। यदि निमित्तको झूठा कहते हो तो लोग इसे क्यों मानते हैं ॥१४॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

दया दान पूजा भली जगत माहिं सुखकार।
जहं अनुभवको आचरण तहं यह बन्ध विचार ॥१५॥

दया, दान और पूजा भली है तथा जगतमें सुखकी करनेवाली है। किन्तु जहाँ पर अनुभवके आचरणका ऊहापोह करते हैं उस अपेक्षा विचार करने पर यह बन्धरूप ही है ऐसा जानना चाहिए ॥१५॥

[दया, दान और पूजादिरूप रागांश सांसारिक सुखका कारण भले

ही हो, परन्तु स्वानुभवरूप आचरणकी दृष्टिमें वह बन्धका ही कारण है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।]

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

यह तो वात प्रसिद्ध है सोच देख उर मांहि।
नरदेहीके निमित्त विन जिय मुक्ति न जांहि ॥१६॥

यह वात प्रसिद्ध है कि मनुष्य देहके निमित्त विना जीव मुक्तिको नहीं प्राप्त होता, सो क्यों ? इसे तूँ (उपादान) अपने मनमें विचार कर देख ॥१६॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

देह पींजरा जीवको रोकै शिवपुर जात।
उपादानकी शक्ति सों मुक्ति होत रे भ्रात ॥१७॥

हे भाई ! देहरूपी पिंजरा जीवको शिवपुर जानेसे रोकता है[1] मात्र उपादानकी शक्तिसे मोक्ष होता है ॥१७॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

उपादान सव जीव पै रोकनहारो कौन।
जाते क्यों नहि मुक्तिमें विन निमित्तके हौन ॥१८॥

उपादान तो सव जीवोंमें है, उन्हें रोकनेवाला कौन है ? जव विना निमित्तके मुक्ति होती है तो फिर वे मोक्षमें क्यों नहीं जाते ॥१८॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान सु अनादिको उलट रह्यो जगमाहि।
सुलटत ही सूधे चलै सिद्धलोकको जांहि ॥१९॥

जगतमें उपादान अनादिकालसे उल्टा हो रहा है, उसके सुलटते ही वह सीधे (सच्चे) मार्गपर चलने लगता है और सिद्धलोकको जाता है ॥१९॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहुं अनादि विन निमित्त ही उलट रह्यो उपयोग।
ऐसी वात न संभवै उपादान ! तुम जोग ॥२०॥

---

१. देह पिंजरा जीवको रोकता है यह व्यवहार कथन है। आशय यह है कि जीव शरीरकी ओर झुकाव करके शरीरममत्व द्वारा स्वय विकारमें रुक जाता है तव देहपिंजरा जीवको रोकता है ऐसा उपचारसे कहा जाता है।

अनादिकालसे कहीं बिना निमित्तके ही उपयोग उल्टा हो रहा है ? ऐसी बात हे उपादान ! तुम्हारे लिए योग्य नहीं है ॥२०॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै रे निमित्त ! हम पै कही न जाय ।
ऐसी ही जिन केवली देखे त्रिभुवन राय ॥२१॥

उपादान कहता है हे निमित्त ! वह बात मेरी कही हुई नहीं है । तीन लोकके स्वामी केवली जिनेन्द्रने इसी प्रकार देखा है ॥२१॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

जो देख्यो भगवानने सो ही सांचो आहि ।
हम तुम संग अनादिके बली कहोगे कांहि ॥२२॥

जो भगवान्ने देखा है वही सच है । किन्तु हमारा और तुम्हारा सम्बन्ध अनादिकालसे हो रहा है, इसलिये अपन दोनोंमेंसे बलवान् किसे कहना । दोनों समान हैं ऐसा तो मान लो ॥२२॥

[निमित्तके कहनेका तात्पर्य यह है कि जब हमारा और तुम्हारा अनादिकालसे सम्बन्ध हो रहा है तो केवल स्वयंको बलवान् नहीं कह सकते । कार्य उत्पत्तिमें दोनोंका स्थान बराबर है ।]

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै वह बली जाकौ नाश न होय ।
जो उपजत विनसत रहे बली कहातैं सोय ॥२३॥

उपादान कहता है कि जिसका नाश नहीं होता वह बलवान् है । जो उत्पन्न होता है और विनाशको प्राप्त हो जाता है वह बलवान् कैसे हो सकता है ॥२३॥

निमित्तकी ओरसे उत्तर

उपादान ! तुम जोर हो तो क्यों लेत अहार ।
पर निमित्तके योग सों जीवत सब संसार ॥२४॥

हे उपादान ! यदि तुम बलवान् हो तो आहार क्यों लेते हो ? सब संसारी जीव पर निमित्तके योगसे जीते हैं ॥२४॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

जो अहार के जोग सों जीवत हैं जगमाहिं ।
तो वासी संसार के मरते कोऊ नाहिं ॥२५॥

यदि आहारके योगसे जगतमें सब जीव जीते है तो संसारवासी कोई भी जीव नहीं मरता ॥२५॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

सूर सोम मणि अग्नि के निमित्त लखें ये नैन।
अंधकार में कित गयो उपादान दृग दैन ॥२६॥

ये नेत्र सूर्य, चन्द्रमा, मणि ओर अग्निके निमित्तसे देखते हैं। यदि विना निमित्तके देखा जा सकता है तो दृष्टि प्रदान करनेवाला उपादान अन्धकारमें कहाँ चला जाता है ॥२६॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

सूर सोम मणि अग्नि जो करे अनेक प्रकाश।
नैनशक्ति विन ना लखैं अंधकार सम भास ॥२७॥

सूर्य, चन्द्रमा, मणि और अग्नि अनेक प्रकारका प्रकाश करते हैं तथापि देखनेकी शक्तिके विना दिखलाई नहीं देता, सब अन्धकारके समान भासित होता है ॥२७॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहै निमित्त वे जीव को मो विन जगके माहिं।
सर्व हमारे वश परे हम विन मुक्ति न जाहिं ॥२८॥

निमित्त कहता है कि जगत्‌में वे जीव कौन हैं जो मेरे बिना हों? सब जीव हमारे वश पड़े हुए हैं। मेरे बिना मोक्ष भी नहीं जाते ॥२८॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै रे निमित्त! ऐसे बोल न बोल।
तोको तज निज भजत हैं ते ही करें किलोल ॥२९॥

उपादान कहता है कि हे निमित्त! ऐसी वाणी मत बोल। जो तुझे त्यागकर अपने आत्माका भजन करते हैं वे ही किलोल करते हैं— अनन्त सुखका भोग करते है ॥२९॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहै निमित्त हमको तजैं ते कैसे शिव जात।
पंच महाव्रत प्रगट है और हु क्रिया विख्यात ॥३०॥

निमित्त कहता है कि जो हमारा त्यागकर देते हैं वे मोक्ष कैसे जा

सकते हैं ? मुक्तिके लिए निमित्तरूपसे पाँच महाव्रत तो प्रगट हैं ही और दूसरी क्रियाएँ भी प्रसिद्ध हैं ॥३०॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

पंच महाव्रत जोग त्रय और सकल व्यवहार ।
परकौ निमित्त खपायके तव पहुंचे भव पार ॥३१॥

पाँच महाव्रत, तीन योग और सकल व्यवहाररूप जो परनिमित्त है उसे खपा करके ही यह जीव संसारसे पार होता है ॥३१॥

[यहाँपर पाँच महाव्रत आदिरूप वाह्य व्यापारसे चित्तवृत्ति हटाकर अन्तर्दृष्टि होना ही निमित्तोंको खपा देना है ।]

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहै निमित्त जगमें वड्यौ मोतें वड़ो न कोय ।
तीन लोक के नाथ सव मो प्रसाद तें होय ॥३२॥

निमित्त कहता है कि जगत्में मैं बड़ा हूँ, मुझसे बड़ा कोई नहीं है, जो-जो तीन लोकके नाथ होते हैं वे सब मेरे प्रसादसे होते हैं ॥३२॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै तू कहा चहुँ गतिमें ले जाय ।
तो प्रसाद तें जीव सव दुःखी होहिं रे भाय ॥३३॥

उपादान कहता है कि तूँ कौन है ? तूँ ही तो चारों गतियोंमें ले जाता है । हे भाई ! तेरे ही प्रसादसे सब जीव दुखी होते हैं ॥३३॥

[निमित्ताधीन दृष्टि होनेसे यह जीव चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है और अनन्त दुःखोंका पात्र होता है यह दिखलानेके लिए यहाँ पर ये कार्य व्यवहारनयसे निमित्तके कहे गये है]

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहै निमित्त जो दुख सहै सो तुम हमहि लगाय ।
सुखी कौन तें होत है ताको देहु वताय ॥३४॥

निमित्त कहता है कि जीव जो दुख सहता है उसका दोष तुम हमी पर लगाते हो । किन्तु किस कारणसे जीव सुखी होता है उस कारणको भी तो वतलाओ ॥३४॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

जो सुख को तूं सुख कहै सो सुख तो सुख नाहिं ।
ये सुख दुख के मूल है सुख अविनाशी माहिं ॥३५॥

जिस सुखको तूँ सुख कहता है वह सुख सुख नहीं है। ये सांसारिक सुख दुखके मूल (कारण) हैं। सच्चा सुख अविनाशी आत्माकी प्राप्तिमें है ॥३५॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

अविनाशी घट घट वसे सुख क्यों विलसत नाहिं ।
शुभ निमित्त के योग विन परे परे विललाहिं ॥३६॥

अविनाशी आत्मा घट-घटमें निवास करता है फिर सुख प्रकाशमें क्यों नहीं आता। शुभ निमित्तका योग न मिलनेसे परे परे विललाते है अर्थात् दुखी होते हैं ॥३६॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

शुभ निमित्त इस जीव को मिल्यो कंइ भवसार ।
पै इक सम्यग्दर्श विन भटकत फिर्यो गँवार ॥३७॥

इस जीवको शुभ निमित्त कई भवोंमें मिले, परन्तु एक सम्यग्दर्शनके विना यह मूर्ख हुआ भटक रहा है ॥३७॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

सम्यग्दर्श भये कहा त्वरित मुक्ति में जाहिं ।
आगे ध्यान निमित्त है ते शिव को पहुँचाहिं ॥३८॥

सम्यग्दर्शन होनेसे क्या जीव शीघ्र ही मोक्षमें चले जाते हैं ? आगे ध्यान निमित्त है। वह मोक्षमें पहुँचाता है ॥३८॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

छोर ध्यान की धारणा मोर योग की रीत ।
तोरि कर्म के जाल को जोर लई शिव प्रीत ॥३९॥

जो जीव ध्यानकी धारणाको छोड़कर और योगकी परिपाटीको मोड़कर कर्मके जालको तोड़ देते हैं वे मोक्षसे प्रीति जोड़ते हैं अर्थात् मोक्ष जाते हैं ॥३९॥

निमित्तकी हारमें उपादानकी जीत

तब निमित्त हार्यो तहाँ अब नहिं जोर बसाय।
उपादान शिवलोक में पहुँच्यो कर्म खपाय ॥४०॥

तब वहाँ निमित्त हार जाता है। अब उसका कुछ जोर नहीं चलता। और उपादान कर्मोंका क्षयकर शिवलोकमें पहुँच जाता है ॥४०॥

उपादान जीत्यो तहां निज बल कर परकास।
सुख अनन्त ध्रुव भोगवे अंत न बरन्यो तास ॥४१॥

उस अवस्थाके होनेपर अपने बल (वीर्य) का प्रकाश कर उपादान जीत जाता है और उस अनन्त शाश्वत सुखका भोग करता है जिसका अन्त नहीं कहा गया है ॥४१॥

अन्तिम निष्कर्ष

उपादान अरु निमित्त ये सब जीवन पै वीर।
जो निज शक्ति संभार ही सो पहुँचे भवतीर ॥४२॥

उपादान और निमित्त ये सभी जीवोंके हैं, किन्तु जो वीर अपनी शक्तिकी सम्हाल करते हैं वे संसारसे पार होते हैं ॥४२॥

उपादानकी महिमा

'भैया'[1] महिमा ब्रह्म की कैसे बरनी जाय।
वचन अगोचर वस्तु है कहि वो वचन बताय ॥४३॥

हे भाई! ब्रह्म (आत्मा) की महिमाका कैसे वर्णन किया जाय? वचन-अगोचर वस्तु है, उसको वचन बनाकर कही है ॥४३॥

संवादका फल

उपादान अरु निमित्त को सरस बन्यौ संवाद।
समदृष्टि को सरल है मूरख को बकवाद ॥४४॥

उपादान और निमित्तका यह सरस संवाद बना है। यह सम्यग्दृष्टि-के लिए सरल है। परन्तु मूर्ख (अज्ञानी) के लिए बकवाद प्रतीत होगा ॥४४॥

---

१. 'भैया' यह कविवरकी स्वयंकी उपाधि है। वे इस दोहेमें अपनेको सम्बोधित करके कह रहे हैं।

संवादकी प्रामाणिकताका निर्देश

जो जानै गुण ब्रह्म के सो जानै यह भेद।
साख जिनागमसो मिलै तो मत कीज्यो खेद ॥४५॥

जो ब्रह्मके गुणोंको जानता है वही इसके रहस्यको जान सकता है। इस (संवाद) की साक्षी जिनागमसे मिलती है, इसलिए खेद नहीं करना ॥४५॥

ग्रन्थकर्ताका नाम और स्थान

नगर आगरा अग्र है जैनी जन को वास।
तिह थानक रचना करी 'भैया' स्वमति प्रकाश ॥४६॥

आगरा नगर मुख्य है। जहाँ जैनी लोगोंका निवास है। उस स्थानमें भैया भगवतीदासने अपनी मतिके प्रकाशके अनुसार यह रचना की है ॥४६॥

रचनाकाल

संवत् विक्रम भूप को सत्तरहसै पंचास।
फाल्गुन पहले पक्ष में दशों दिशा परकाश ॥४७॥

विक्रम सम्वत् १७५० के फाल्गुन मासके प्रथम पक्षमें दशों दिशामें प्रकाशके अर्थ इस संवादकी रचना की गई है ॥४७॥

कविवर भैया भगवतीदासने उपादान और निमित्तका यह संवाद लिखा है। यह केवल संवाद ही नहीं है। किन्तु इसमें उन्होंने विवेचन-का जो क्रम रखा है उससे प्रतीत होता है कि संसारी जीवके मोक्ष-मार्गके सन्मुख होनेपर उसके मनसे निमित्तका विकल्प किस प्रकार हटकर उपादानका जोर बढ़ जाता है। उनके विवेचनकी खूबी यह है कि बाह्यमें कहाँ किस अवस्थाके होनेमें कौन निमित्त है इसे भी वे बतलाते जाते हैं और साथ ही वे यह भी बतलाते जाते हैं कि उपादानकी तैयारी किये विना तदनुरूप अन्तरङ्ग अवस्थाका प्रकाश होना त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है, इसलिए जो उपादानकी तैयारी है वही उस अवस्थाके प्रकाशका मुख्य हेतु है। यदि उपादानकी वैसी तैयारी न हो तो उस अवस्थाके अनुरूप बाह्य निमित्त भी नहीं मिलते, इसलिए कार्य सिद्धिमें मुख्य प्रयोजक उपादानको ही समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीवको इस सत्यका दर्शन हो जाता है, इसलिए वह अपने अन्तरङ्गकी तैयारीको ही कार्यका प्रयोजक मानकर उसीकी उपासनामें दृढ़ प्रतिज्ञ

होता है। वह बाह्य निमित्तोंके मिलानेकी फिक्रको छोड़ देता है। निमित्त पर हैं, उनमेंसे कब कौन पदार्थ किस कार्यके होनेमें निमित्त होनेवाला है यह साधारणतया छद्मस्थके ज्ञानके बाहर है, क्योंकि जो पदार्थ लोकमें लघु माने जाते हैं वे भी कभी कभी उत्तम कार्यके होनेमें निमित्त होते हुए देखे जाते हैं। साथ ही जो पदार्थ लोकमें अमुक कार्यके होनेमें निमित्त रूपसे कल्पित किये गये हैं उनके सद्भावमें वह कार्य होता ही है यह निर्णय करना भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार जहाँ बाह्य निमित्तोंके विषय में यह स्थिति है वहाँ उपादानके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस उपादानसे जो कार्य होता है वह निश्चित है। इसलिये जो मोक्ष-मार्गके इच्छुक प्राणी हैं उन्हें बाह्य निमित्तों मिलानेकी फिक्र छोड़कर अपने उपादानकी सम्हालकी ओर ही ध्यान देना चाहिए। उसकी सम्हाल होने-पर बाह्य निमित्तोंकी अनुकूलता अपने आप बन जाती है। उनके लिए अलगसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उदाहरणार्थ मान लो एक आदमीको शव देखनेसे वैराग्य धारण करनेकी इच्छा हुई, दूसरे आदमीको अपना सफेद केश देखनेसे वैराग्यको धारण करनेकी इच्छा हुई, तीसरे आदमी-को घरकी कलहसे ऊबकर वैराग्यको धारण करनेकी इच्छा हुई और चौथे आदमीको दूसरेका वैभव देखनेसे वैराग्यको धारण करनेकी इच्छा हुई। अब यहाँपर विचार कीजिये कि ये सब वैराग्यको धारण करनेकी इच्छाके अलग अलग निमित्त होते हुए भी इनमेंसे किस निमित्तको बुद्धि-पूर्वक मिलाया गया है। यहाँ यही तो कहा जायगा कि उन मनुष्योंके वैराग्यके योग्य भीतरकी तैयारी थी, इसलिये वैसी इच्छा होनेमें ये निमित्त हो गये और यदि उस योग्य भीतरकी तैयारी न होती तो ये होते हुए भी निमित्त नहीं होते।

उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य बाह्य रूपमें मुनिलिङ्गको स्वीकार करता है पर उसके भावलिङ्ग नहीं होता। इसके विपरीत कोई मनुष्य जिस कालमें भावलिङ्गको स्वीकार करता है उस कालमें उसके द्रव्यलिङ्ग होता ही है। इससे स्पष्ट है कि उपादानके साथ कार्यकी व्याप्ति है निमित्तके साथ नहीं। इसलिए इससे यही तो निष्कर्ष निकला कि कार्यकी सिद्धि-में जैसा उपादानका नियम है वैसा बाह्य निमित्तका कोई नियम नहीं है और जो जिसका नियामक नहीं वह उसका साधक नहीं माना जाता। अतएव कार्य अपने योग्य उपादानसे ही होता है यही निर्णय करना चाहिए। सम्यग्दृष्टिका यही भाव रहता है, इसलिए वह संसारसे पार हो जाता है और मिथ्यादृष्टि बाह्य निमित्तोंकी उठाधरीमें लगा रहता है,

इसलिए वह संसारमें ही गोते लगाता रहता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य निमित्तोंकी उठाधरीकी फिक्रसे मुक्त होकर एकमात्र अपने उपादानकी सम्हाल करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। जिस प्रकार पण्डित प्रवर भैया भगवतीदासजीने इस अन्तरंग रहस्यको प्रकाशमें लानेके लिए यह संवाद लिखा है उसी प्रकार पण्डितप्रवर बनारसीदासजोने भी इस विषयकी मीमांसा करते हुए सात दोहे लिखे हैं जो इस प्रकार है—

[पण्डित प्रवर बनारसीदासजी]

निमित्तकी ओरसे अपना समर्थन

गुरु उपदेश निमित्त विन उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पांव विन चलवे को आधीन ॥१॥
हो जाने था एक ही उपादान सों काज।
थकै सहाई पौन विन पानी मांहि जहाज ॥२॥

जैसे आदमी दूसरे पैरके विना चलनेके लिए पराधीन है उसी प्रकार गुरुके उपदेशके विना उपादान भी बलहीन है ॥१॥

अकेले उपादानसे ही कार्य हो जाना चाहिए था (परन्तु देखनेमें तो ऐसा आता है कि) पानीमें पवनकी सहायताके बिना जहाज थक जाता है ॥२॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

ज्ञान नैन किरिया चरण दोऊ शिवमग धार।
उपादान निश्चय जहां तहां निमित्त व्यवहार ॥३॥

सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र और सम्यक्चारित्ररूपी पग ये दोनों मिलकर मोक्षमार्गको धारण करते हैं। जहाँ उपादानस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहाँ उसके निमित्तस्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग होता ही है ॥३॥

उक्त तथ्यका पुनः समर्थन

उपादान निजगुण जहां तहं निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाणविधि विरला बूझे कोय ॥४॥

जहाँ पर उपादानस्वरूप आत्मगुण होता है वहाँ परपदार्थ निमित्त स्वतः होता है। यह भेदज्ञानरूप प्रमाणकी विधि है। इसे कोई विरला (भेदज्ञानी) जीव ही जानता है ॥४॥

[निश्चयनय केवल उपादानको स्वीकार करता है और व्यवहारनय बाह्य निमित्तको स्वीकार करता है। यह भेदविज्ञानको प्रमाण करनेकी

विधि है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर उपादान कार्यरूप परिणत होता है वहाँ पर परपदार्थ, स्वयमेव निमित्त होता है। उसे जुटाना नहीं पड़ता।]

कार्यका विवेक

उपादान वल जहं तहां नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्र सों रथ चले रविको यहै स्वभाव ॥५॥

जहाँ तहाँ उपादानका वल है। निमित्तका दाव नहीं लगता, क्योंकि सूर्यका यही स्वभाव है कि उसका रथ एक चक्रसे चलता है ॥५॥

[यहाँ उक्त कथन द्वारा यह दिखलाया गया है कि उपादान स्वयं कार्यरूप होता है। कार्यरूप होनेमें निमित्तको कोई स्थान नहीं। वह कार्यके होनेमें निमित्त है इतने मात्रसे यह नहीं कहा जा सकता कि उससे कार्य होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तु व्यवस्थाका कोई नियामक नहीं रह जाता।]

सधै वस्तु असहाय जहां तहां निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में तिरै सहज विन पौन ॥६॥

जिस प्रकार पानीके प्रवाहमें जहाज विना पवनके सहज चलता है उसी प्रकार जहाँ प्रत्येक कार्यको दूसरेकी सहायताके विना सिद्धि होती है वहाँ वाह्य निमित्त कौन होता है ॥६॥

[यहाँपर वस्तुका असहाय स्वभाव वतलाया गया है। उत्पाद और व्यय यह पानीका प्रवाह है तथा वस्तु यह जहाज है। जिस प्रकार पानी-के प्रवाहमें जहाज स्वभावसे गमन करता है उसी प्रकार वस्तु अपनी योग्यतासे सहशपने ध्रुव रहकर उत्पाद-व्ययरूप प्रवाहमें बहती है। अन्यकी सहायता मिले तो यह परिणमन हो और अन्यकी सहायता न मिले तो परिणमन न हो ऐसा नही है। इसलिए वस्तुस्वभावकी दृष्टिसे प्रत्येक परिणमन स्वभावसे ही होता है। ऐसा समझना चाहिए।]

उपादान विधि निरवचन है निमित्त उपदेश।
वसै जु जैसे देश में धरै सु तैसे भेष ॥७॥

उपादान निरुक्तिसिद्ध विधि है और वाह्य निमित्त कथन मात्र है। जो जैसे देशमें (जिस अवस्थामें) निवास करता है (रहता है) वह उसी भेषको (उसी अवस्थाको) स्वयं धारण करता है ॥७॥